तीसरा-नेत्र

अरुण कुमार शर्मा

तीसरा नेत्र

[सिद्ध, साधक सत्संग और साधना प्रसंग]

द्वितीय खण्ड

अरूण कुमार शर्मा

तीसरा नेत्र

[सिद्ध, साधक सत्संग और साधना प्रसंग]

❖

द्वितीय खण्ड

❖

अरूण कुमार शर्मा

संकलन

मनोज शर्मा

❖

आस्था प्रकाशन

वाराणसी

❖ **प्रकाशक**

आस्था प्रकाशन
बी. 5/23 अवधगर्वी हरिश्चन्द्र रोड,
वाराणसी - 221 001, उ.प्र. (भारत)
दूरभाष - 0542 - 312293 / 275775

❖ **प्रथम संस्करण**

सन् 2000 ई०
(सर्वाधिकार लेखक के आधीन)

❖ **मूल्य** - 300/–

❖ **वर्णाक्षर संयोजन**

ग्राफिक्स मीडिया
16, रविन्द्रपुरी, वाराणसी – 5

लेखक की पूर्व अनुमति के बिना पुस्तक के किसी भी अंश का किसी भी रूप में प्रकाशन तथा किसी अन्य भाषा में अनुवाद अथवा उपयोग पूर्णरूप से प्रतिबन्धित है।

प्रकाशक

आगम निगम संस्थान

द्वारा प्रस्तुत

जिसकी प्रच्छन्न और अप्रच्छन्न कृपा, करूणा, दया, अनुकम्पा और प्रेरणा से वशीभूत होकर हिमालय एवं तिब्बत की दुर्गम हिमयात्रा की और मानवेतर शक्ति सम्पन्न उच्चकोटि के सिद्ध साधकों, सन्त, महात्त्माओं और योगीयों का दुर्लभ दर्शन लाभ किया

उस

महामाया परा शक्ति

को

अर्पित

- अरूण कुमार शर्मा

तीसरा नेत्र में मैंने जो कुछ लिखा है और जो कुछ व्यक्त किया है, उस पर आप विश्वास करें या न करें यह आपकी अन्तरात्त्मा पर निर्भर है।

अपने पाण्डित्त्य, अध्यात्त्मिक ज्ञान और अपनी विद्वता को प्रदर्शित करने का कभी भी प्रयास नहीं किया है और न तो ख्यातोपलब्धि के लिए कभी कलम उठाने का ही प्रयत्त्न किया है मैंने।

पृथ्वी विशाल है। काल का प्रवाह अनन्त है। कभी तो कोई काल के प्रवाह में पड़ कर इस पृथ्वी पर जन्म लेगा और जन्म लेकर मेरे बौद्धिक श्रम का मूल्य समझेगा। मेरे आध्यात्त्मिक ज्ञान को हृदयगम करेगा और महत्त्व देगा मेरे पाण्डित्त्य को।

- अरूण कुमार शर्मा

बसन्त पञ्चमी
"सरस्वती पूजा"
15 जनवरी 2000 ई.
काशी

मुझे मुक्ति अथवा मोक्ष नही चाहिए
मुझे चाहिए काशी में बारम्बार जन्म और
बारम्बार चाहिए मुझे भारतीय मनीषियों
के पद चिन्हों का अनुशरण।

माँ महामाया से मेरी यह अन्तिम
कामना है।

- **अरूण कुमार शर्मा**

अन्तर्वस्तु क्रम

प्रारम्भ में
अपनी बात
प्रकाशकीय
सम्मति

अध्याय १

क्रम सं.		पृष्ठ सं.
१.	महान योगात्मा चैतन्य प्रज्ञ	१
२.	एक लामा योगी का अवतरण	२
३.	आकाश मार्ग से तिब्बत गमन	३
४.	वह रहस्यमयी हिम गुफा और पदमासीन मृत काया	३
५.	चैतन्यप्रज्ञ का दीर्घ आयु सम्पन्न लामा गुरु	४
६.	बौद्ध भिक्षु कैवल्य रक्षित और लामा योगी	४
७.	कैवल्य रक्षित की दीक्षा और नामकरण	६
८.	शल्य क्रिया का आयोजन	७
९.	शल्य क्रिया का आरम्भ	८
१०.	और जब तीसरा नेत्र खुला	१०
११.	चैतन्य प्रज्ञ को उपदेश	१०
१२.	मृत्यु का साक्षात्कार	११
१३.	तिब्बत में अन्तिम संस्कार	११
१४.	जब चैतन्य प्रज्ञ ने अपने पूर्व शरीर को देखा	१२
१५.	मृत्यु के पार का अनुभव	१३
१६.	चैतन्यप्रज्ञ से साक्षात्कार	१५
१७.	अक्षय भोजन सामग्री	१७
१८.	एक सौ अस्सी वर्ष में पांच बार परकाया प्रवेश	१७
१९.	दो प्रकार का परकाया प्रवेश	१९
२०.	मृत शरीर में प्रविष्ट योगी का आचरण और व्यवहार	२०
२१.	ब्रह्मचारी भवानन्द	२२
२२.	भवानन्द की आत्मा से सम्पर्क	२४

२३.	बौद्ध योगी की मृत आत्मा से सम्पर्क	२६
२४.	चैतन्यप्रज्ञ के परकाया प्रवेश की कथा	३०
२५.	गर्भ का भी अनुभव होना चाहिए	३४
२६.	एक साथ तीन शरीर का बोध	३६
२७.	सिद्ध योगी दीपरत्न	४०
२८.	दीपरत्न का यौगिक चमत्कार	४२
२९.	अतीत का एक सत्य	४८
३०.	आन्तर्याग और बहिर्याग	४९
३१.	वाम मार्गीय साधना	४९
३२.	वाम मार्ग की अनेक शाखाएं और अनेक सम्प्रदाय	५२
३३.	तांत्रिक साधनाओं का उद्‌देश्य	५३
३४.	तीसरा नेत्र का तीन प्रकार से अनावृत्त होना	५४
३५.	योग्यता लाभ	५५
३६.	दीपरत्न को सद्‌गुरु का दर्शन	५६

अध्याय २

१.	तिब्बत के प्रच्छन्न योगी ब्रह्मार्णव परमहंस	५९
२.	योगी ब्रह्मार्णव परमहंस से साक्षात्कार	६७
३.	पूर्व जन्म में एक सन्यासी से भेंट और आध्यात्मिक सत्संग	७०
४.	समस्त विश्व ब्रह्माण्ड स्पन्दनमय	७४
५.	अक्षरानन्द सरस्वती और उनका रहस्यमय मठ	७६
६.	गुरुपूर्णिमा की रात्रि में शक्तिपात दीक्षा	७९
७.	मठ में एक महात्मा और एक सन्यासनी का आगमन	८०
८.	जब शक्तिपात दीक्षा दी गयी	८१
९.	कुण्डलिनी शक्ति साधना प्रसंग	८३
१०.	शारीरिक मानसिक ऊर्जाओं पर नियन्त्रण	८५
११.	द्रष्टा और दर्शन	८६
१२.	आन्तर्जगत के दृश्य	८७
१३.	ऊर्जा का जागरण और कुण्डलिनी	८७
१४.	जीवन ऊर्जा का कुण्ड	८८
१५.	ऊर्जा जागरण के लिए प्रयास	८९

१६.	साधना के तीन विशिष्ट मार्ग	९०
१७.	ऊर्जा का विज्ञान	९२

अध्याय ३

१.	वह रहस्यमयी बालक बालिकाएं	९४
२.	अनन्त चेतना और अनन्त शक्ति	१०३
३.	ध्यान के दो प्रकार	१०६
४.	साधना एक प्रबल युद्ध	१०८
५.	शरीर और षट्चक्र	११३
६.	पिण्ड द्वारा विश्व ब्रह्माण्ड से सम्पर्क	११६

अध्याय – ४

१.	वैदिक बिन्दु साधना और कुण्डलिनी	१३४
२.	चेतना, ओज, और प्राण	१३४
३.	ध्यान, आसन और प्राणायाम	१३५
४.	व्यष्टि चेतना और समष्टि चेतना और ओज	१३६
५.	संसार में अवतरित होने वाली दिव्यात्माएं	१३७
६.	शरीरस्थ व्यष्टि ओज	१३८
७.	शुक्र और ब्रह्मचर्य	१३९
८.	तंत्र में बिन्दु साधना के तीन क्रम	१४०
९.	सुप्त समिष्टि चेतना यानि कुण्डलिनी जागरण	१४१
१०.	बिन्दु का उत्थान क्रम और लोक-लोकान्तरों से सम्बन्ध	१४१
११.	काम केन्द्र की सीमा का अतिक्रमण	१४२
१२.	सद्‌गुरु का दर्शन	१४३
१३.	गुरुदेव का आगमन	१४३
१४.	स्वामी ब्रह्मार्णव परमहंस के सानिध्य में	१४५
१५.	मेरे लिए भविष्यवाणी	१४६
१६.	दीक्षा का प्रभाव	१४६
१७.	पुस्तक लिखने की प्रेरणा	१४७

१८.	महान योगी हरिसिद्ध स्वामी	१४७
१९.	तीसरा नेत्र और उसकी उपलब्धियाँ	१४९
२०.	तिब्बत की रहस्यमयी झील	१५०
२१.	रहस्यमयी झील की चर्चा	१५१
२२.	केवल दलाई लामा को अकेले मन्दिर में जाने का अधिकार	१५२
२३.	रहस्यमयी झील का वातावरण और सिद्ध साधकों का निवास	१५३
२४.	सिद्ध योगिनी की रहस्यमयी गुफा	१५४
२५.	हरिसिद्ध स्वामी और वह तांत्रिक देवी	१५५
२६.	कापालिकों की रहस्यमयी शव साधना स्थलि	१५७
२७.	काशी के शव साधक धूमेन्द्र नाथ अवधूत	१५७
२८.	शव साधना	१५८
२९.	तिब्बत में दो प्रकार के लामा	१५८
३०.	महायोगी मणिसम्भव	१५९

अध्याय – ५

१.	दिव्यमाया की महासमाधि	१६१
२.	दिव्यमाया का पूर्व पार्थिव शरीर	१६२
३.	समाधि और उसके पश्चात	१६५
४.	सिद्धयोगी लामा हूंग च्यांग	१६६
५.	ऊर्जा नियन्त्रण तीसरा नेत्र और ध्यान	१६७
६.	समाधि और तीसरा नेत्र	१६९
७.	तीसरा नेत्र का बराबर स्मरण	१७०
८.	तीसरा नेत्र की प्रतीति	१७०
९.	ध्यान साधना के पूर्व श्वास-प्रश्वास क्रिया	१७२
१०.	जीवन और मृत्यु	१७३
११.	समाधि एक अद्‌भुत शब्द	१७३
१२.	ध्यान का प्रथम चरण	१७४
	दूसरा चरण	१७४
	तीसरा चरण	१७५
	चौथा चरण	१७५
१३.	ध्यान, मृत्यु में प्रवेश का मार्ग	१७६

१४. ध्यान में वैज्ञानिक दृष्टि १७८
१५. मस्तिष्क के दो भाग १७८
१६. जीवन में तनाव रहित सफलता कैसे सम्भव है १७९
१७. गर्भस्थ शिशु की मस्तिष्क तरंगे १८०
१८. ध्यान की स्थिति में १८१
१९. सामूहिक ध्यान का परिणाम १८२
२०. एक आकाशगामी योगी का आगमन १८३
२१. योगी मणिपद्म सेंग १८३
२२. सिद्ध योगी लामा तिंग लम छेम १८५
२३. ज्ञान के लिए श्रद्धा आवश्यक १८७
२४. राजविद्या और राजयोग १८८
२५. गुरु शिष्य संबंध १८९
२६. श्रद्धा का जन्म १९०
२७. वैज्ञानिकों की समस्या १९१
२८. गुप्त और रहस्यमय ज्ञान की सूत्रबद्धता १९२
२९. शास्त्र लिखने की विवशता १९३
३०. दुख का कारण अज्ञान १९४
३१. सेवा भाव का भी महत्व १९५
३२. स्मृति ज्ञान नही १९७

अध्याय ६

१. तिलक, टीका और त्रिपुण्ड का तांत्रिक रहस्य १९९
२. संकल्प बिन्दु और आज्ञा चक्र २०२
३. हम परतंत्र है २०३
४. काशी के परम साधक सोमेश्वर नाथ ब्रह्मचारी २०४
५. टीका का प्रयोग विशेष कर स्त्रियों के लिए २०६
६. स्त्री का आज्ञा चक्र संवेदनशील होना आवश्यक क्यों २०७
७. पति-पत्नी के मध्य टीका २०९
८. टीके का प्रयोग उचित स्थान पर आवश्यक २१०
९. जब इन्द्रियों की शक्तियां स्वयं बढ़ जाती है। २११
१०. सर्वप्रथम 'अणु' की खोज २१३

११.	तीसरा नेत्र और तिब्बत	२१५
१२.	क्या हिटलर तांत्रिक था	२१७
१३.	आज्ञा चक्र के भेदन के लिए भारत में भी शल्य क्रिया हो सकती थी।	२१९
१४.	तीसरे नेत्र के प्रति भारत का साधनागत उद्देश्य	२२०
१५.	दुख की विस्मृति और सुख की स्मृति	२२१
१६.	तिलक का संबंध सुख के साथ	२२२
१७.	तिलक के साथ सुख, जोड़ने का प्रयोजन	२२२
१८.	तीसरे नेत्र पर जोर कब पड़ता है।	२२३
१९.	जिसने कभी किसी जन्म से तीसरे नेत्र पर अभ्यास किया है	२२३
२०.	योग की रहस्यमयी पर्णावटी साधना	२२४
२१.	योग तंत्र में शक्तिपात	२२५
२२.	ब्रह्माण्ड के तीन धाम	२२६
२३.	शक्तिपात के लिए कुण्डलिनी जागरण आवश्यक	२२७

अध्याय – ७

१.	सूक्ष्म शरीर द्वारा तिब्बत के रहस्यमय क्षेत्र की यात्रा	२२९
२.	देवी का वह भयानक रूप	२३२
३.	क्या वह नर बलि थी	२३३
४.	एक अज्ञात रहस्यमय प्रदेश में प्रवेश	२३६
५.	सृष्टि शास्त्र का अणु-परमाणु सिद्धान्त	२४२
६.	गर्सियांग मठ के लिए प्रस्थान	२४५
७.	दुर्गम और रहस्यमय गर्सियांग	२४९
८.	कापालिक भैरवानन्द और बिन्दुमति	२५१
९.	वैदिक धर्म और बौद्ध धर्म का संघर्ष	२५४
१०.	तंत्रो का युग	२५५
११.	कुल और अकुल का अर्थ और साधना की योग्यता	२५६
१२.	कौल सम्प्रदाय	२५९
१३.	पंचमकार का आध्यात्मिक स्वरूप	२६०
१४.	तंत्र की दृष्टि में पाप और पुण्य	२६१
१५.	कौलाचार और समयाचार	२६३
१६.	कापालिक सम्प्रदाय का केन्द्र	२६६

अध्याय – ८

१.	कापालिक सम्प्रदाय का प्राचीन नागचण्डी मठ	२७७
२.	सन्त और संसारी में भेद	२८०
३.	सांख्य का पुरूष प्रकृति और तंत्र का शिव शक्ति	२८७
४.	पदार्थ विज्ञान की दृष्टि में	२९०
५.	डॉ. फ्रायड का मत	२९१
६.	जोजांग के लिए प्रस्थान	२९८
७.	योग साधिका गौरी माँ	२९९
८.	दो प्रकार के नाम	३०७
९.	तीन शरीर और चार अवस्थाएं	३०९
१०.	तिब्बत का वारदो प्रयोग	३१२
११.	स्वामी शंकर भारती जी महाराज	३१५
१२.	सर्वोत्तम योग क्रिया योग	३१७
१३.	गीता में क्रिया योग	३१८
१४.	प्रणव वाचक 'ओम'	३१९
१५.	वारदो का प्रयोग हिप्नोमिडिया	३२१
१६.	अवतारी पुरूष कौन	३२४
१७.	ईश्वराशं की अभिव्यक्ति	३२५
१८.	जाग्रत स्वप्न और सुषुप्ति में मनुष्य का जन्म	३२७
१९.	जाग्रत जन्म का आध्यात्मिक रहस्य	३२८
२०.	सम्भोग के तीन तल	३२९
२१.	सम्भोग का आत्मिक तल और तंत्र-योग	३३०
२२.	स्त्री-पुरुष के विभिन्न चार शरीर और योग तांत्रिक साधना	३३०
२३.	मानवेतर आत्माओं का मानव शरीर में जन्म	३३३
२४.	तीन शरीर और तीन अवस्थाएं	३३५
२५.	मादक द्रव्य और तांत्रिक साधना	३३७
२६.	विज्ञान की सीमा और मन के दो रूप	३३८
२७.	कारण शरीर और उसके कार्य	३४३
२८.	कारण शरीर का निर्माण	३४६
२९.	कारण शरीर का आवरण सूक्ष्म शरीर	३४७
३०.	कारण शरीर एक संग्रहालय	३४८

३१.	मनुष्य का एक मात्र उद्देश्य पूर्णत्व प्राप्ति	३४९
३२.	कारण शरीर किसे कहते हैं	३५०
३३.	कौन थी वह किशोरी कन्या	३५३

अध्याय - ९

१.	जोजांग से नेपाल की ओर	३५६
२.	आस्था, विश्वास और श्रद्धा	३५७
३.	मनुष्य की पूर्णता	३६१
४.	मानव जीवन में कर्म प्रधान	३६३
५.	लामा रिनचेन और उनका चमत्कारी दर्पण	३६५
६.	दो प्रकार का कर्म	३६९
७.	जीवन को अभिनय के रूप में स्वीकार करें	३७०
८.	निष्कर्म क्या है?	३७३
९.	योग की पूर्णावस्था	३७४
१०.	महान साधिका ज्योत्सना माँ	३७६
११.	मनुष्य में स्वभाव का अभाव	३८०
१२.	चक्र और कुण्डलिनी	३८४
१३.	और मृत्यु के समय	३८५
१४.	राजकुमारी सी च्यांग की आत्मा से भेंट	३८८
१५.	आकाशगामिनी विद्या का रहस्य	३९२
१६.	धु-धूं कर जलती रहीं प्राचीन विद्याएं	३९३
१७.	आज भी हिमालय और तिब्बत में आकाशगामिनी विद्या जीवित है	३९४
१८.	आकाशगमन गुटिका	३९५
१९.	उड़ने की शक्ति का रहस्य	३९५
२०.	वैज्ञानिक दृष्टि	३९६
२१.	जड़ी-बूटी का चमत्कार	३९७
२२.	अद्भुत चमत्कार	३९९
२३.	और अब अन्त में ...	३९९

प्रारम्भ में

यदि वैज्ञानिक दृष्टि से विचार पूर्वक देखा जाय तो मनुष्य अविश्वसनीय रूप से प्रत्येक क्षेत्र में उन्नति और प्रगति करता हुआ ग्रहो और नक्षत्रों पर अपना अधिकार प्राप्त करने का प्रयत्न कर रहा है। नित्य नये-नये अविष्कार कर रहा है वह वैज्ञानिक क्षेत्र में, किन्तु आश्चर्य की बात तो यह है कि मनुष्य अपने इतिहास के प्रारम्भिक काल में जहाँ जिस स्थान पर था आज भी वहीं है वह - लड़ाकू, झगड़ालू, ईर्ष्यालु, कामुक, व्यभिचारी, लोभी, दम्भी, अहंकारी, कपटी और परम दुख, पीड़ा और कष्ट से बोझिल। जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त परम दुख, परम कष्ट और परम क्लेश का जीवन व्यतीत करता है वह। किसी के पाण्डित्य पूर्ण विचार अथवा ज्ञान उसके जीवन को प्रभावित और परिवर्तित कर सकने में असमर्थ सिद्ध होते हैं।

बिल्कुल स्पष्ट है कि मनुष्य का जीवन कितनी अशान्ति कितना एकाकीपन और कितना अन्तर्विरोध से भरा हुआ हैं। जो जीवन मनुष्य जी रहा हैं वह नितान्त निरर्थक हैं, उसमें कोई तत्व नहीं। भले ही मनुष्य बाहर से पूर्ण सन्तुष्ट तृप्त और प्रसन्न हो, लेकिन जब अपने भीतर झांक कर देखता है तो अपने आपको शून्य और एकाकी पाता है वह।

मनुष्य को अच्छी तरह ज्ञात है कि सम्पूर्ण जगत में चतुर्दिक वास्तविक रूप में क्या हो रहा है? क्या-क्या घटित हो रहा है? व्यापक अस्त-व्यस्तता, अव्यस्था घोर अन्याय, निपट स्वार्थपरता, हिंसा, सामूहिक नर संहार, क्रूरता विनाश और उग्रतम विध्वन्स का ताण्डव नृत्य। इन सबका अन्तिम परिणाम उसे ज्ञात है - भयंकर महायुद्ध। सच तो यह है कि मनुष्य का जीवन असाधारण रूप से अस्त-व्यस्त, विश्रृंखला, संघर्षपूर्ण तरह-तरह की विसंगतियों से भरा हुआ और लक्ष्यहीन है। वह कहाँ जा रहा हैं? उसका लक्ष्य क्या है? उसका उद्देश्य क्या है? और स्वयं वह क्या करना चाहता है? स्वयं उसे ज्ञात नहीं। समस्त नैतिक मूल्य क्षण प्रति क्षण परिवर्तित हो रहे हैं। श्रद्धा, विश्वास, मान-सम्मान आदि की भावना जैसे लुप्त हो गया है। सत्ता का भी अस्तित्व नहीं रह गया है कहीं। किसी भी वस्तु में मनुष्य की आस्था, विश्वास और श्रद्धा ही नहीं रह गयी हैं - न मन्दिर में, न देवता में, न पूजा-पाठ में न साधना-उपासना में, और न ही किसी आध्यात्मिक अथवा दार्शनिक प्रणाली में। व्यवस्था नाम की तो कोई वस्तु जैसे रह ही नहीं गयी हैं संसार में। अतः ऐसे अस्त-व्यस्त और निरंकुश संसार में मनुष्य करे तो क्या करें? इसे जानने समझने के लिए नितान्त अकेला रह गया है वह।

जगत की समस्त वस्तुएं क्षणभंगुर और नाशवान हैं। आज नहीं तो कल उनका नाश होना निश्चित हैं। इस क्षण भंगुरता का अनुभव करते हुए क्या मनुष्य किसी ऐसी वस्तु को उपलब्ध हो सकता है? जो समय का अंग न हो और समय की परिधि अथवा सीमा के अन्तर्गत न आता हो। मानव मस्तिष्क समय का ही परिणाम है। मस्तिष्क एक ऐसी अपने आपमें रहस्यमयी वस्तु है जो हर युग में हर काल में हर अवस्था में और हर स्थिति में रही हैं।

मस्तिष्क के ही कारण आत्मा जन्म लेती है, मस्तिष्क के ही कारण आत्मा मृत्यु को उपलब्ध होकर पुनर्जन्म ग्रहण करती है। और मस्तिष्क के ही कारण अच्छे बुरे कर्मो का फल भी भोगती है। हजारों वर्ष की अपनी दीर्घ यात्रा के फलस्वरूप मनुष्य का मस्तिष्क एक प्रकार से संस्कारबद्ध हो चुका है। हर युग का हर काल का हर अवस्था का और हर स्थिति का संस्कार विद्यमान हैं मानव मस्तिष्क में, इसमें सन्देह नहीं। मस्तिष्क की मुख्य उत्पत्ति विचार हैं। और वस्तुतः विचार, स्मृति, ज्ञान और अनुभव की ही प्रतिक्रिया है, इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं। जिसे 'योग' निर्विचार कहता हैं - वह विचार की स्मृति शून्य, ज्ञान शून्य, भाव शून्य और अनुभव शून्य अवस्था हैं। विचार किसी नई वस्तु की खोज नहीं कर सकता। और न तो किसी नई वस्तु का निर्माण ही कर सकता हैं। उसका आविर्भाव मस्तिष्क के संस्कारों के कारण होने के फलस्वरूप वह जो भी खोज करेगा अथवा निर्माण करेगा वह पुराना का पुराना ही रहेगा। मस्तिष्क में विचार के रूप में जो कुछ भी आविर्भूत होता है वह न मौलिक होता है और न तो नवीन। मस्तिष्क के किसी अज्ञात क्षेत्र में पहले से ही उसके संस्कार बने रहते हैं। विचार जिस वस्तु का प्रक्षेपण करता हैं वह मस्तिष्कीय संस्कार जन्य और समय की सीमा के भीतर ही होती हैं।

विचार में कई हजार वर्षो की स्मृतियों का भण्डार भरा हुआ होता है, इसी प्रकार अनुभवों का भी विशाल भण्डार है विद्यमान उसमें। और उसी के आधार पर विचार ईश्वर, परमेश्वर, भगवान स्वर्ग-नर्क और यहाँ तक कि विभिन्न लोक लोकान्तरों का भी आविष्कार कर सकता हैं और कल्पना कर सकता हैं एक समयातीत अवस्था की भी। परन्तु ध्यान रहे ये सब कुछ उसकी अपनी ही उपज हैं। वह स्वयं इन सबका जन्मदाता हैं। यदि विचारपूर्वक देखा जाये तो ये सब कुछ व्यतीत हुए समय यानी अतीत के हिस्से हैं। इसलिए अवास्तविक हैं और हैं असत्य।

यह बात नहीं, मनुष्य ने समय के स्वरूप को नहीं पहचाना और समय के परे का अनुभव नहीं किया। उसने पहचानते हुए और अनुभव करते हुए सदैव ऐसी

वस्तु की खोज करने की चेष्टा की है जो समय की सीमा से परे हो और मुक्त हो समय के बंधन से भी। लेकिन जब भी वह उसको खोजने के लिए निकलता हैं तो मार्ग में भिन्न-भिन्न प्रकार के विश्वासों के बंधन में बंध जाता हैं। किसी अज्ञात भय के कारण अपनी कल्पना के आधार पर किसी एक अद्‌भुत और विचित्र देवी, देवता का निर्माण कर उसे अपना इष्ट बना लेता है और उसकी पूजा करता हैं। ऐसा आविष्कार किसी ध्यान पद्धति के माध्यम से भी सम्भव है। यदि ध्यान के द्वारा आविष्कार होता है तो ध्यान उसके लिए एक महत्वपूर्ण कृत्य बन जाता है। ध्यान उसके लिए एक अति महत्वपूर्ण वस्तु बन जाती हैं। ध्यान ही उसके लिए सब कुछ हो जाता हैं। इसलिए कि ध्यान उसके मन को एक विशेष सीमा तक शान्त शिथिल मन्द और संवेदनशून्य बना देता है, उसी प्रकार जैसे कोई नशीली वस्तु खाने पर होता है।

वर्तमान में जिस ध्यान पद्धति से जन-मानस परिचित है वास्तव में वह बार बार दोहराने वाली वस्तु है। दोहराने के कारण ध्यान एक यांत्रिकी क्रिया के अतिरिक्त और कुछ नहीं रह जाता। जैसे मनुष्य किसी मंत्र का जप करता है। मंत्र जप का फल उसे मिले या न मिले लेकिन मंत्र के बार-बार दोहराने के कारण मन एक यंत्र अवश्य बन जाता है उसका। स्मरण रखना चाहिए कि बार-बार दोहरायी जाने वाली कोई भी क्रिया मन को 'यंत्र' बना देती है। यंत्र के समान हो जाता है मन। यांत्रिकी ही नहीं बन जाता बल्कि बुद्धिहीन मन्द और नासमझ भी बन जाता है वह। कहने की आवश्यकता नहीं ऐसा ही यांत्रिकी मन किसी अलौकिक और रहस्यपूर्ण भावातीत अवस्था - जिसे आज का जन मानस भावातीत ध्यान की भी संज्ञा देने लगा है - की कल्पना कर उसमे सानन्द विचरण भी करने लगा जाता है। लेकिन यांत्रिकी मन से उत्पन्न अवस्था को ध्यान कभी भी नहीं समझना चाहिए। यदि कोई समझता है तो अपने को धोखा देता हैं। वास्तव में ऐसा ध्यान आत्म सम्मोहन की एक विशेष अवस्था है जो किसी गहरी नशीली वस्तु के सेवन से भी उपलब्ध हो सकती हैं। ऐसे ध्यान से मानसिक उन्नति होती है और न तो होता है आत्म ज्ञान की वृद्धि ही।

इसी प्रसंग में मैं दिव्य दर्शन की भी चर्चा करूंगा। आध्यात्मिक समाज में प्राय: दिव्य दर्शन शब्द अत्यधिक प्रचलित है। वह क्या है? कभी किसी ने उसे समझने का प्रयत्न ही नहीं किया। वह आत्म सम्मोहन की स्थिति में संस्कारों द्वारा उपलब्ध अपने इष्ट देव अथवा अन्य किसी देवी, देवता का मानस पटल पर दर्शन के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। क्रिश्चियन को ईसा का दिव्य दर्शन होता है। हिन्दू को राम या कृष्ण का दर्शन होता है। शास्त्रों के अनुसार असंख्य देवी देवता हैं। जिसने जिसको अपना मान कर इष्ट बना लिया हैं उसको उसी का दिव्य दर्शन

होगा। परन्तु स्मरण रखना चाहिए कि इनमें से कोई भी वस्तु ध्यान की परिभाषा में नहीं आती।

मन का अर्थ मन ही नहीं है हृदय भी हैं। मेरे कहने का तात्पर्य है मनुष्य को मन शारीरिक और प्राकृतिक दृष्टि से अत्यन्त संवेदनशील होना चाहिए। और संवेदनशीलता में ही 'प्रज्ञा' निहित है। ज्ञात होना चाहिए कि जीवन में जितनी भी परम अद्‌भुत वस्तुएं है उनमें एक 'ध्यान' भी है। 'ध्यान' जीवन को स्वर्ग बना देने वाला एक परम और सर्वोच्च साधना है। इतना ही नही संसार से सदैव के लिए मुक्त कर देने वाला भी हैं। मैं उस ध्यान का यहां गुणगान नहीं कर रहा हूँ जो केवल आत्मवंचना हैं और आत्म सम्मोहन की ओर ले जाकर मन को पलायन वादी बना देता हैं। एक साधारण और निकृष्ट मन भले ही चित्त को एकाग्र करने का कला कौशल सीख ले और तथा कथित ध्यान का अभ्यास भी कर ले, लेकिन फिर भी मन निम्नस्तर का और निकृष्ट ही बना रहेगा।

अधिकांश मनुष्य के पास बहुत ही कम ऊर्जा होती हैं। इसका कारण है। अपनी काफी ऊर्जा मनुष्य द्वन्द्व और मानसिक संघर्ष में खर्च कर देता हैं। वह ऊर्जा का अपव्यय अपनी काम वासना में सर्वाधिक करता हैं। उसके बाद अपव्यय उस विसंगति और विभाजन में करता हैं जिससे द्वन्द्व का जन्म होता हैं। द्वन्द्व के द्वारा ऊर्जा का अपव्यय बहुत बड़ा अपव्यय हैं। ध्यान के लिए एक सशक्त, सक्षम और अत्यधिक स्पष्ट के अतिरिक्त स्वस्थ, अविकृत, भावुकता, भावना आदि से मुक्त, किन्तु करुणा और प्रेम से परिपूर्ण मन की आवश्यकता हैं और यह तभी सम्भव है जब मनुष्य के पास प्रबल शारीरिक और मानसिक ऊर्जा होगी। बिना दोनों ऊर्जा के मनुष्य उस ओर यात्रा नहीं कर सकता - जिसे ध्यान कहते हैं। मनुष्य प्राणायाम कर सकता है। पद्‌मासन पर बैठ सकता है। और अन्य यौगिक क्रियाएं भी कर सकता है, लेकिन उन सबसे 'ध्यान' तक कभी भी पहुंच नहीं सकता।

जैसा कि मैंने कहा - ध्यान एक परम अद्‌भुत वस्तु है। अति मूल्यवान हैं। इसी कारण सभी धर्मो ने और सभी साधना मार्गो ने तथा सभी सम्प्रदायों ने उसे एक स्वर में स्वीकार किया है क्योंकि बहिर्जगत से आन्तर्जगत में प्रवेश करने का ध्यान ही एक मात्र द्वार हैं।

ध्यान का अर्थ है मन की परम निश्छलता और मस्तिष्क की परम निश्चेष्टता

इसके लिए शरीर को असाधारण रूप से संवेदनशील होना चाहिए। शरीर को अधिक से अधिक संवेदनशील बनाना अत्यन्त कठिन कार्य है। क्योंकि मनुष्य ने अपने शरीर की प्रज्ञा को शराब, सिगरेट आदि नशीली वस्तुओं के सेवन और

अत्याधिक सुखोपयोग द्वारा नष्ट कर दिया हैं। उसने अपने शरीर को बराबर स्थूल ही बनाने का प्रयास किया है। शरीर को तो सदैव सजीव और संवेदनशील होना चाहिए। मनुष्य यदि अपने शरीर को देखे तो पायेगा कि उसने उसकी कितनी दुर्गति कर रखी हैं। मन और शरीर बराबर एक दूसरे पर अपना प्रभाव डालते हैं। इसलिए सम्पूर्ण शरीर का सर्वाधिक संवेदनशील होना आवश्यक है और तभी मनुष्य ध्यान की ओर अग्रसर हो सकेगा अन्यथा नहीं।

संवेदनशीलता उपवास आदि से उत्पन्न नही होती। इसके लिए मन को शान्त कर शरीर और उसके प्रत्येक अंग का निरीक्षण करना चाहिए। इसके अतिरिक्त अपने प्रत्येक दैनिक कार्य का भी निरीक्षण करना चाहिए। मनुष्य जैसा जीवन नित्य व्यतीत कर रहा हैं उसका धीरे-धीरे रूपान्तरण करना चाहिए। उसके भीतर उपस्थित घृणा, द्वेष, हिंसा, चिन्ता, अपराध भाव आदि के साथ जीवन में सफल होने की जो सहज प्रेरणा है - उसे भी समाप्त कर देना चाहिए। अधिक से अधिक मौन रहना चाहिए। भोजन की मात्रा कम और फलाहार होना चाहिए। दूध का सेवन एक बार रात्रि में करना चाहिए। और किसी भी विषय पर अधिक सोच विचार अथवा चिन्तन-मनन भी नहीं करना चाहिए। इन सबके बिना संवेदनशीलता की अनुभूति सम्भव नहीं।

ध्यान के लिए मनुष्य के पास ऐसा मन होना चाहिए जो पूर्ण रूप से एकाकी होने में समर्थ हो। किसी के विचारों और अनुभवों से भरा हुआ न हो। ध्यान का अर्थ है - मन का पूर्ण रूप से खाली हो जाना। मन की अन्तर्वस्तु समय का परिणाम है। मेरे कहने का तात्पर्य यह हैं कि जिसे विकास कहते हैं - वह हजारो, लाखो अनुभवों का परिणाम है। वह ज्ञान और स्मृतियों का विशाल संग्रहालय है, भण्डार हैं। मन अतीत के भार से दबा हुआ हैं। अतीत के भार से बोझिल हैं। मन का वह भार ज्ञान है, स्मृति है और है अनुभव। समस्त ज्ञान अतीत है, समस्त स्मृति अतीत है और समस्त अनुभव भी है अतीत। कहने की आवश्यकता नहीं इन सबका जो संचित परिणाम है - वही ज्ञात हैं। उस ज्ञात के परे क्या है? उसको जानना ही परम ज्ञान हैं। और उस परम ज्ञान को जानने का एक मात्र साधन 'ध्यान' हैं। ध्यान द्वारा समय की सीमा लांघ कर जिस अवस्था को मन उपलब्ध होता हैं - उसी अवस्था में परम ज्ञान का बोध होता हैं उसको। लेकिन इसके लिए मन का पूर्ण रूप से निर्दोष होना आवश्यक हैं निर्दोष मन ही परम ज्ञान को उपलब्ध होता है। परम ज्ञान के परे गुह्य ज्ञान हैं। जिसकी उपलब्धि मन को ध्यान की सर्वोच्च अवस्था में होती हैं। वह सर्वोच्च अवस्था क्या है? वह निर्विचार की अथवा निर्विकल्प समाधि की अवस्था है।

उच्चतम ध्यान की अवस्था में चेतन मन और अचेतन मन दोनों अतीत से पूर्ण रूप से रिक्त हो जाते हैं। लेश मात्र ज्ञान नहीं रह जाता तब। इसी को मन की निर्दोष अवस्था कहते है। मन को इस प्रकार निर्दोष कर देना ही ध्यान का एक मात्र उद्देश्य है। दोष रहित होते ही मन का अस्तित्व आत्मा में लीन हो जाता हैं, तब केवल रह जाती हैं आत्मा की सत्ता मात्र।

समस्त योगों में ध्यान योग सर्वोच्च योग है, क्योंकि ध्यान योग ही अन्य योगों की सफलता की एक मात्र कुंजी है। ध्यान योग का प्रथम और मुख्य उद्देश्य हैं मन को पूर्ण निश्चल करना और साथ ही मस्तिष्क को पूर्ण रूप से निश्चेष्ट करना। लेकिन इसके लिए एक विशेष प्रकार का अनुशासन आवश्यक हैं। हम किसी प्रकार की नियमबद्धता किसी प्रकार का दमन और किसी प्रकार की सत्ता के अनुशरण की बात नहीं कह रहे हैं। हमारे असाधारण अनुशासन का अर्थ हैं - सीखने की वह प्रक्रिया जो विचार की प्रत्येक गति के विषय में हर क्षण चलती रहती हैं। जिसके फलस्वरूप मन में एकता की एक धार्मिक गुणवत्ता आविर्भूत होती हैं जिससे ऐसी क्रिया का जन्म होता हैं जो विरोधात्मक नहीं है।

हमे अपने प्रत्येक दिन के जीवन के क्रिया कलापों पर ध्यान देना चाहिए। हम कैसा और किस प्रकार का व्यवहार करते है कौन हमारे साथ क्या और कैसा व्यवहार करता है? हम दिन भर में कौन-कौन से विषय पर सोचते-विचारते हैं? क्या-क्या सुनते हैं? हम किससे किस रूप में और किस प्रसंग में बाते करते हैं? हम जो काम करते हैं, उसके संबंध में हमारे मन में कौन-कौन से और कैसे कैसे भाव अथवा विचार उत्पन्न होते हैं। ऐसी और ऐसी ही अन्य दैनिक क्रियाओं के प्रति भी बराबर सतर्क और सजग रहना चाहिए। इतना ही नहीं हमारे मन को भी उन क्रियाओं से मुक्त रहना चाहिए। इस प्रकार मन अपने आप धीरे-धीरे स्थिर होने लगेगा और ध्यान की परिधि में भी प्रवेश करने लगेगा। लेकिन यदि हम हिंसक हैं, क्रोधी है, आलसी हैं और अस्थिर अथवा चंचल चित्त है तो कभी भी ध्यान में प्रवेश नहीं कर सकते क्योंकि तब हमारे लिए ध्यान का न कोई मूल्य होगा और न तो महत्व ही। यदि हमारे भीतर कोई वैज्ञानिक भय विद्यमान है तो स्पष्ट है कि वह ध्यान हमारे लिए पलायनवादी बन जायेगा।

इस प्रसंग को पढ़ कर आपके मन में यह जिज्ञासा सम्भवत: उत्पन्न हो सकती है कि हम जिस ध्यान के विषय में चर्चा कर रहे हैं उस ध्यान की पद्धति क्या है?

इस प्रश्न के उत्तर में हम स्वयं आपसे प्रश्न कर सकते हैं कि आप ध्यान के अर्थ के विषय में क्या जानते हैं? निश्चय ही विभिन्न प्रकार के ध्यान के विषय

में आप बहुत कुछ जानते समझते हो, और सम्भव है आप ध्यान करते भी हों। यदि आप हमारे ध्यान की पद्धति के विषय में जिज्ञासु हैं तो आपको ज्ञात होना चाहिए कि हमारे ध्यान की कोई पद्धति नहीं हैं। पद्धति का अर्थ है एक विधि, जिसका आप अभ्यास बराबर करते हैं, इसलिए कि अन्त में कुछ फल की प्राप्ति हो सके। जैसाकि हम बतला चुके हैं कि किसी भी वस्तु का बार-बार अभ्यास उस वस्तु को यांत्रिकी बना देता हैं।

आप जिस ध्यान के विषय में जानते हैं - वह ध्यान मन को यांत्रिकी बना देता है। विधि और पद्धति का पालन करने के लिए ध्यान मन को प्रशिक्षित करता हैं। मन को तोड़ता-मरोड़ता हैं। परेशान करता है। इसलिए कि इसका अन्तिम परिणाम सुखद होगा। किसी विशेष फल की उपलब्धि होगी। जरा आप ही सोचिए ऐसा 'मन' कभी स्वतंत्र हो सकता है? कभी निर्दोष हो सकता है? और हो सकता है 'ज्ञात' से मुक्त? असम्भव है।

आपको ज्ञात हो कि पूर्व और पश्चिम के न जाने कितने देशों में सैकड़ों हजारों ध्यान केन्द्र हैं इस समय। उन सभी केन्द्रों में विभिन्न प्रकार के ध्यान की विधि और पद्धति बतलायी जाती है। उन विभिन्न प्रकार के ध्यानों के अपने अपने नाम हैं अपनी अपनी विधि हैं और हैं अपनी अपनी पद्धति भी। समझिए कितनी भयंकर बात हैं यह? क्या होगा भविष्य में इसका परिणाम? हाथ खाली का खाली रहेगा। किसी भी प्रकार का परिवर्तन नहीं होगा न बाहर और न तो भीतर। हां! यह अवश्य होगा कि 'मन' और जटिल हो जायेगा। अपनी मुक्ति और अपनी स्वतंत्रता गँवा बैठेगा। निर्दोष होने के बजाय और दोष युक्त हो जायेगा। कई प्रकार के सामयिक विकार उत्पन्न हो जायेंगे उसमें।

हम अपने प्रस्तुत प्रसंग में जब 'ध्यान' शब्द का प्रयोग करते हैं तो हमारा तात्पर्य किसी ऐसी वस्तु से नहीं होता है, जिसकी कोई विधि विधान है और हैं कोई पद्धति। सजग होना ही हमारा ध्यान है। आप जो कुछ भी कर रहे हैं। जो कुछ भी सोच रहे है। आप जो कुछ अनुभव कर रहे हैं - इन सबके प्रति सजग रहना। उनका एकाग्रभाव से अवलोकन करना और निरीक्षण करना। ध्यान का अर्थ है अपने संस्कारों के प्रति सजग रहना। आपको आपके समाज ने और आपके धर्म ने भी अपने-अपने संस्कारों में बांध रखा है - उनके प्रति भी सजग रहना - यह सोचते हुए - काश जिन अवस्थाओं और जिन स्थितियों में जी रहा हूं - वह भिन्न होती और कुछ और ही होती। कहने की आवश्यकता नहीं इसी सजगता से सावधानी का जन्म होता है और जिसका अर्थ हैं पूर्णतया सावधान होने की क्षमता। और

पूर्ण सावधानी की क्षमता जब आपको उपलब्ध होगी उस समय से आप अपने आप में पूर्ण स्वतंत्रता और पूर्ण मुक्ति का अनुभव करने लग जायेंगे जिसके परिणाम स्वरूप जो वस्तु विकृत हैं उसके मूल रूप को देख सकेंगे और इतना ही नही तब आपका मन भी भ्रान्ति मुक्त स्पष्ट, स्वच्छ, और संवेदनशील हो जायेगा। इस प्रकार का ध्यान, मन की एक आश्चर्यजनक और अनोखी गुणवत्ता को जन्म देगा, वह गुणवत्तापूर्ण मौन की होगी। परन्तु उसका अर्थ और मूल्य ही क्या है, जब वह आपके पास न होगी। अब प्रश्न यह है कि ध्यान के क्रम में स्वप्न की क्या भूमिका है? यदि विचार पूर्वक देखा जाय तो आपका मन कभी किसी क्षण भी शान्त और स्थिर नहीं रहता। किसी भी अवस्था में निश्चल नहीं रहता वह। आपकी दिन भर की गतिविधि आपके दिन भर का क्रिया कलाप निद्रा की अवस्था में भी बराबर चलता रहता हैं, इतना ही नही स्वप्न में नाना प्रकार के प्रतीकों के रूप में और अधिक प्रखर भी हो उठता है वह।

दूसरा प्रश्न यह है कि क्या निद्रा की अवस्था में मन शान्त, निश्चल और स्थिर हो सकता है? हाँ, यह सम्भव है। लेकिन तभी जब दिन भर की गति विधि और क्रिया-कलापों के अन्तर्गत आने वाले प्रत्येक दुख, सुख, पीड़ा, शोक, चिन्ता, कष्ट आदि को उसी समय समझ कर उसके अस्तित्व को समाप्त कर दें। उनका भार न ढोयें, उनका बोझ न उठायें। आपका कोई अपमान करता है। कोई आपका सम्मान करता है। कोई प्रशंसा करता है। कोई आपके साथ बुरा व्यवहार करता है और कोई आपकी निन्दा करता है तो आप उसी समय तत्काल उसे समाप्त कर दें। उन सबको प्रवेश ही न करने दे अपने मस्तिष्क में। उनके अस्तित्व को सदैव के लिए नष्ट कर दें। इससे आपको लाभ यह होगा कि आपका मन अच्छी, बुरी सभी प्रकार की समस्याओं और उलझनों से सतत् मुक्त रहेगा जागृत अवस्था में भी और निद्रा की अवस्था में भी। और तब आपके अन्तःकरण में एक ऐसी गुणवत्ता जन्म लेगी जो आपके मन को परम शान्ति और परम विश्राम प्रदान करेगी।

यदि आप ऐसा सब कुछ कर सकने में समर्थ हो जाते हैं तो सर्वप्रथम आपको यह ज्ञात होगा कि 'ध्यान' मन की वह गुणवत्ता है जो समस्त ज्ञान से पूर्णतया मुक्त हैं। वस्तुतः यही मन की निश्चल और मस्तिष्क की निश्चेष्ट अवस्था हैं। यदि आप इस ढंग से अपने जीवन को जीने लगेंगे तो आपका जीवन एक अनर्वचनीय सौन्दर्य से भर उठेगा अपने आप। सर्वथा भिन्न होगा वह सौन्दर्य। उसकी कोई कल्पना भी नहीं कर सकता। और उसी के साथ एक ऐसा प्रेम जन्म लेगा जो न सुख हैं और न तो हैं आकांक्षा। सुख और आकांक्षा तो विचार से संबंधित हैं। और 'प्रेम' विचार की उपज नहीं है विचार से उपजने वाला प्रेम, प्रेम नहीं वासना

होता हैं। उसमें कामना, वासना स्वार्थ का दुर्गन्ध भरा हुआ होता हैं। और जब आपके जीवन में सौन्दर्य का पुष्प खिलेगा और जब प्रेम के सुगंध से भर उठेगा आपका जीवन तब एक तीसरी वस्तु आविर्भूत होगी आपके अन्त:करण में और उस वस्तु का नाम होगा 'आनन्द' जो आपका स्वभाव होगा।

सौन्दर्य प्रेम और आनन्द - ये तीनों अपरिभाषेय हैं, इनकी कोई परिभाषा नहीं। और जिसकी कोई परिभाषा नहीं उसी में परमात्मा का बोध होता हैं। और होती हैं उसकी अनुभूति।

भारतीय मनीषा की दृष्टि में सौन्दर्य, प्रेम और आनन्द - सत् चित् और आनन्द हैं। सत् का अर्थ है सत्य और चित् का अर्थ है चेतना। जहां इन दोनों का अस्तित्व है वहां आनन्द है। परमात्मा सत् चित् और आनन्द स्वरूप हैं इसलिए उसको 'सच्चिदानन्द' कहते हैं। जहां सौन्दर्य है वहां सत्य है और जहां प्रेम है वहां है चेतना। जहां इन दोनों का एक साथ बोध है - वहां है आनन्द।

भारतीय अध्यात्म का एक मात्र उद्देश्य है क्रमशः सत् चित् और आनन्द की उपलब्धि। अध्यात्मवादी के लिए सर्वप्रथम सत्य की खोज हैं। क्योंकि 'सत्य' मूल हैं। सत्य की उपलब्धि एक प्रकार से चेतना की ही उपलब्धि है जिसके फलस्वरूप आनन्द आपका स्वभाव हो जायेगा। आपका सम्पूर्ण व्यक्तित्व आनन्दमय हो जायेगा। सर्वत्र आपको आनन्द ही आनन्द दिखलायी देगा।

सत्य के बाद हैं चेतना। यदि यह कहा जाय कि सत्य और चेतना एक दूसरे के पर्याय है तो साधुतर होगा। सत्य की अनुभूति चेतना की अनुभूति हैं। चेतना का अर्थ हैं जिसके द्वारा आप अपने आपको जानते पहचानते है जिसके द्वारा आप अपने आपका अथवा अपने व्यक्तित्व का बोध करते हैं, लेकिन स्वयं अपने प्रति चेतन नहीं हो सकते हैं। आप सभी के प्रति चेतन हो सकते हैं लेकिन अपनी चेतना के प्रति चेतन नहीं हो सकते। क्योंकि जो चेतन होगा वही आपकी चेतना हैं। वह कभी भी जाने जानी वाली वस्तु नहीं हो सकती। ज्ञान होना चाहिए 'चेतना' के प्रति यह विचार योग की गहनतम धारणाओं में से एक है। योग का एक मात्र उद्देश्य हैं उसी चेतन को जानना। उसी को जानने का प्रयत्न योग है। जिसके द्वारा सब कुछ जाना जाता है और जो किसी के भी द्वारा नहीं जाना जाता। जिसके द्वारा जगत में सब कुछ जान सकते हैं केवल मात्र उसी को छोड़ कर। उसको नहीं जान सकते। क्योंकि उसको कौन जानेगा। जानने के लिए अन्तर चाहिए दूरी चाहिए, जानने वाला अलग चाहिए। ज्ञाता अलग हो, ज्ञेय अलग हो तभी उसे जाना जा सकता है। संसार के समस्त वस्तुओं को आप 'ज्ञेय' बना सकते है केवल अपनी चेतना को ज्ञेय नहीं बना सकते। इसलिए कि चेतना आपका स्वभाव हैं। इसीलिए

तो भगवान श्री कृष्ण ने गीता में कहा है - चैतन्य, चेतना, ज्ञान की शक्ति में ही हूं।''

आपके भीतर जो गहनतम केन्द्र हैं। - वह केन्द्र चैतन्य का केन्द्र हैं इसीलिए परमात्मा के लक्षण में सत्‌चित्त आनन्द कहा गया है।

सर्वप्रथम सत्य हैं। सत्य की खोज चेतन की खोज हैं सत्य की उपलब्धि चेतन की उपलब्धि है। सत्य की अनुभूति चेतन की अनुभूति हैं। यानी आत्मा की अनुभूति। परन्तु सत्य की खोज के लिए सर्वप्रथम सजग होना आवश्यक हैं। विशेष कर अपने आपके प्रति अपने जीवन के प्रति और अपने कर्म के प्रति। बिना सजग हुए सत्य की खोज असम्भव है। बिना सजगता के सत्य की खोज की यात्रा पर निकलना सम्भव नहीं।

कहने की आवश्यकता नहीं मेरे आध्यात्मिक जीवन का प्रारम्भ सत्य की खोज से ही शुरू होता है और इसके लिए हिमालय और तिब्बत की जीवन-मरण दायिनी कठिन हिम यात्रा भी की मैंने। और उस विशाल हिम प्रदेश में स्थित रहस्यमयी गिरि गुहाओं और हिममयी कन्दराओं में प्रच्छन्न और अप्रच्छन्न रूप से निवास करने वाले जिन मानवेतर शक्ति सम्पन्न कालञ्जयी सन्त महात्माओं सिद्ध साधकों और उच्च अवस्था प्राप्त महान योगियों के दुर्लभ दर्शन उपलब्ध हुए, जिनका सान्निध्य प्राप्त हुआ और जिनसे महत्वपूर्ण आध्यात्मिक लाभ हुआ मुझे। वे स्वयं सत्य के साकार रूप थे और थे परम दिव्य अवस्था प्राप्त चैतन्यमय, इसमें सन्देह नहीं और यह भी कहने की आवश्यकता नहीं कि इन सबका ही परिणाम है 'तीसरा नेत्र' जो आपके समक्ष प्रस्तुत हैं इस समय। निश्चय ही एक दिन काल के प्रवाह में प्रवाहित हो जाऊंगा मैं। काल के अथाह सागर में सदैव के लिए विलीन हो जायेगा मेरा अस्तित्व। और आप भी काल के प्रभाव के वशीभूत होकर विस्मृत कर देंगे मुझे, लेकिन 'तीसरा नेत्र' को कभी किसी अवस्था में विस्मृत न कर सकेंगे आप। इसका पूर्ण विश्वास है मेरी आत्मा को और इसी परम विश्वास के साथ . . . . .''

अध्यक्ष
आगम निगम संस्थान
बी 5/23 अवधगर्वी, हरिश्चन्द्र रोड,
वाराणसी - 221 001 (उ0प्र0), भारत
दूरभाष - 312293

विद्वद्‌गण शुभाकांक्षी
अरुण कुमार शर्मा

अपनी बात

'तीसरा नेत्र' का द्वितीय खण्ड आपके समक्ष प्रस्तुत है। इस 'खण्ड' के विषयों को संकलित करने में विशेष रूप से किसी प्रकार की समस्या उपस्थिति नहीं हुई। लेकिन संकलन काल में अनेक प्रकार की जिज्ञासाओं का उदय अवश्य हुआ हृदय में। पिता श्री अरुण कुमार जी शर्मा द्वारा उन महत्वपूर्ण जिज्ञासाओं का समाधान अति आवश्यक था। इसके लिए सर्वप्रथम मैंने अपनी प्रमुख जिज्ञासाओं की प्रश्न रूप में एक सूची बनाई और उसे पिताश्री के सम्मुख प्रस्तुत की। उन्होंने सूची देखकर कहा - ऐसे नहीं होगा। जिज्ञासा गम्भीर हैं अपने आपमें। तुम प्रश्न करो, और मैं उसका समुचित उत्तर दूंगा। यह सुनकर प्रसन्नता हुई मुझे। एक दिन अवसर देखकर मैने पूछा - हिमालय और तिब्बत यात्रा काल में आपने जिन सिद्ध साधकों और सन्त-महात्माओं का दर्शन लाभ किया। उनसे आपका साक्षात्कार पूर्ण नियोजित था अथवा उसे संयोग मात्र कहा जायेगा?

सब कुछ पूर्व नियोजित होता हैं। उसके अनुसार जब भौतिक रूप में घटना घटती हैं तो उसे संयोग कहते हैं।

क्या उन महान और दिव्य पुरुषों का अस्तित्व आज भी हैं?

अवश्य! पिताश्री ने कहा - अतीत में भी था और भविष्य में भी रहेगा उनका अस्तित्व? क्या उनका दर्शन और उनका सानिध्य लाभ सभी के लिए सम्भव नहीं है?

नहीं, वही व्यक्ति ऐसे महात्माओं के सम्पर्क में आ सकता है, उनका सान्निध्य लाभ कर सकता है और उनका दर्शन लाभ भी कर सकता है, जिसमे पिछले कई जन्मो का साधना संस्कार प्रसुप्त अवस्था में विद्यमान हैं। उसी प्रसुप्त संस्कार के उन्मेष से आत्मा में आध्यात्मिक भाव आविर्भूत होता हैं और उत्पन्न होती हैं आध्यात्मिक चेतना भी। इतना ही नहीं उससे प्रच्छन्न-अप्रच्छन्न रूप से संचरण विचरण और निवास करने वाले उच्चकोटि के दिव्य महापुरुषों के अतिरिक्त सिद्ध साधकों और सन्त-महात्माओं को जानने समझने एवं पहचानने की दृष्टि भी प्राप्त होती है।

आपने तीसरा नेत्र में तिब्बत के कई मठो और आश्रमों की चर्चा की हैं। क्या उनका अस्तित्व अभी भी है, यदि है तो क्या उनसे तिब्बत वासी परिचित हैं?

मेरे इन दोनों प्रश्नों के उत्तर में पिताश्री ने कहा - चर्चित मठो अथवा आश्रमों का अस्तित्व भौतिक सत्ता में कम और अभौतिक सत्ता में अधिक हैं। अस्तित्व

का जो अंश भौतिक सत्ता में प्रकट हैं, उस पर भी कभी किसी की दृष्टि पड़ती हैं। जहाँ तक मेरी अपनी धारणा हैं, उसके अनुसार उन सिद्ध स्थानों से तिब्बत के वे ही लोग परिचित हैं जो आध्यात्मिक संस्कार से सम्पन्न है।

आपने जिन योगी लामाओं की प्रसंगवश चर्चा की हैं क्या वे अपने पार्थिव शरीर में अभी होंगे, यदि होंगे तो आपसे उनका किसी माध्यम द्वारा सम्पर्क स्थापित होता हैं?

पिताश्री बोले - अवश्य है। सभी से तो नहीं, लेकिन दो-तीन उच्चकोटि के सिद्ध लामाओं से कभी कदा मेरा मानसिक संबंध अवश्य हो जाता है स्थापित।

आपने कुछ भारतीय सिद्ध साधकों का भी उल्लेख किया है और उनके साथ हुए सत्संग का भी। क्या उन लोगों का भी अस्तित्व होगा इस समय तिब्बत में।

निश्चय ही होना चाहिए - पिताश्री ने कहा - तिब्बत केवल लामा योगी साधकों का ही देश नहीं है, भारतीय सिद्ध साधकों और मानवेतर शक्ति सम्पन्न उच्चकोटि के योगी महात्माओं की भी परम्परागत साधना स्थलि रही हैं, और आज भी है और भविष्य में भी रहेगी वह। इसमें सन्देह नहीं। भले ही तिब्बत उन प्रच्छन्न -अप्रच्छन्न दिव्य महापुरुषों के अस्तित्व से अपरिचित हो किन्तु जो आध्यात्मिक संस्कार सम्पन्न और साधक हैं वे उनके अस्तित्व से अपरिचित नहीं, इसलिए कि ऐसे लोगो से उन लोगों का बराबर आन्तरिक संबंध बना रहता हैं।

तब तो आपसे भी उनका संबंध होगा आन्तरिक? मेरे इस प्रश्न को सुनकर पिताश्री मौन साध गये एक बारगी। बहुत देर तक शून्य में देखते रहे वह। मेरे लिए इसका 'अर्थ' था 'हाँ'।

•••

सिद्धलोक वासी योग सिद्ध महामहोपाध्याय डा. गोपी नाथ जी कविराज पिताश्री के गुरु थे और उन्ही के संकेत पर पिताश्री साधना पथ पर अग्रसर भी हुए थे। प्राय: नित्य वे कविराज जी के दर्शन लाभ के लिए उनके स्थान पर जाया करते थे। जब कविराज जी माँ आनन्दमयी आश्रम में आ गये तो पिताश्री कभी कदा मुझे भी साथ ले लिया करते थे। बाल्यावस्था थी मेरी उस समय, लेकिन कविराज जी और पिताश्री के मध्य जो साधना संबंधी आध्यात्मिक चर्चा होती थी, उसे बड़े मनोयोग से सुना करता था मैं। आश्चर्य यह था कि जब चर्चा होती थी उस समय चन्दन गुलाब केवड़ा, चम्पा, चमेली जूही आदि के मिश्रित सुगन्ध से भर उठता था वातावरण एक बारगी। एक दिन उस दिव्य सुगन्ध के विषय में जब मैंने पिताश्री से पूछा तो उन्होने बतलाया कि ऐसी आध्यात्मिक चर्चा और गूढ़ व गोपनीय साधना प्रसंग के अवसर पर वैन्दव शरीरधारी दिव्य योगात्माएं उपस्थित

होती हैं। उन्ही के शरीर से प्रस्फुटित होता हैं वह दिव्य सुगन्ध। कालान्तर में वैसे ही दिव्य सुगन्ध की अनुभूति कभी कदा मुझे पिताश्री के कमरे भी होने लगी थी। रात्रि के समय किसी कार्य वश उनके कमरे में जाता हूँ तो उसी प्रकार के दिव्य सुगन्ध से भर जाता है मेरा नासापुट। इससे मैं अनुमान लगाता हूँ कि सिद्ध मण्डली से पिताश्री का अगोचर संबंध अवश्य है और वैन्दव शरीरधारी दिव्य आत्माएं भी उनके सम्पर्क में निश्चित रूप से हैं, इसमें सन्देह नहीं। एक बार मैंने पिताश्री से तिब्बतीय तंत्र साधना के विषय में चर्चा की थी। इस संबंध में उनका कहना है कि तिब्बतीय तंत्र एक ओर बौद्ध तंत्र से प्रभावित है तो दूसरी ओर भारतीय तंत्र से। दोनों का मिश्रित रूप है। जिसे तंत्र की काली विद्या कहा जाता हैं। प्रकट में उसका प्रभाव तिब्बत में सर्वाधिक हैं। जिसका लाभ डुप्पा लामा बहुत उठाते हैं।

इसी प्रसंग में पिताश्री ने आगे बतलाया कि महाभारत काल के पूर्व भारत की जो संस्कृति थी। जो सभ्यता थी, मनुष्य का जो विकास था और जो विकास था विज्ञान का वह अपने सर्वोच्च शिखर पर था और महाभारत के पश्चात फिर कभी स्पर्श न कर सका भारत उस सर्वोच्च शिखर को। महाभारत के पश्चात भारत का जो गहन पतन हुआ और सभ्यता संस्कृति और विज्ञान का जो विनाश हुआ वह आज तक पूर्ण नहीं हुआ। आज तक उसकी क्षति पूर्ति नहीं हुई। सम्भवतः भारत के मन की गहरायी में यह बात प्रवेश कर गयी कि विज्ञान के उच्च शिखर पर पहुंचने का अन्तिम परिणाम अत्यन्त भयानक होता है। और इसी कारण भारत की प्रतिभा विज्ञान के प्रति उदासीन हो गयी। उसकी जिज्ञासा समाप्त हो गयी और समाप्त हो गयी सारी उत्सुकता भी। महाभारत के समय भौतिक समृद्धि अपनी चरम सीमा को भी पार कर गयी थी, जिसके कारण उसके पश्चात भारत के मन मे भौतिक समृद्धि की भी कोई आकांक्षा नहीं रह गयी।

यदि विचार किया जाय तो भारत की दरिद्रता और उसके अभाव ग्रस्त जीवन का मूल कारण एक मात्र 'महाभारत' हैं। 'महाभारत' काल में मनुष्य ने सभी प्रकार की समृद्धि का अन्तिम शिखर देखा था। मनुष्य द्वारा जो भी हो सकता था अपने ज्ञान-विज्ञान के द्वारा और अपनी समझ के द्वारा वह सब उसने प्राप्त कर लिया था। और प्राप्त कर पूर्ण सन्तुष्ट भी हो गया था।

सच पूछिए तो महाभारत काल में क्या नहीं था? शिक्षा थी, संस्कृति थी, सभ्यता थी, साधना थी, पूर्ण समृद्धि भी थी। किसी भी प्रकार का अभाव नहीं था। सब कुछ अतिशय था। सब कुछ अपनी चरम सीमा पर था। महाभारत के पश्चात् जो भयंकर संकट का सामना भारत को करना पड़ा। उसकी कल्पना भी

नहीं की जा सकती। महाभारत के पूर्व मानवता अपनी एक ऊँचाई पर थी। अपने शिखर पर थी। जितने अस्त्रों, शस्त्रों की खोज आज हो रही है, लगभग उनकी चर्चा महाभारत में है। भले ही उनके नाम भिन्न हों पर उनके गुण धर्म वहीं हैं। किन्तु उसका परिणाम अत्यन्त दुखद रहा। उसका फल भारत को बहुत ही कड़वा मिला। उसका अन्त अति भयंकर सिद्ध हुआ मानव जाति के लिए। महाभारत का सबसे बड़ा कुप्रभाव भारत के आध्यात्मिक क्षेत्र पर भी पड़ा शिक्षा और संस्कृति के साथ-साथ भारत के आध्यात्म का मूल स्वरूप भी एक प्रकार से नष्ट हो गया। योग और तंत्र की साधनाओं में भी भारी विकृति उत्पन्न हो गयी। उच्चकोटि के सिद्ध, साधक और सन्त-महात्मा अपनी अपनी साधना परम्परा की रक्षा के लिए हिमालय और तिब्बत की शरण में चले गये। इसके पश्चात् लगभग ऐसी ही स्थिति आदि शंकराचार्य के युग में भी उत्पन्न हुई। उस युग का प्रभाव सर्वाधिक कापालिक सम्प्रदाय पर पड़ा। उस सम्प्रदाय के जो उच्चकोटि के सिद्ध साधक थे, उन्होंने भी अपने सम्प्रदाय और अपनी साधना परम्परा की रक्षा के लिए हिमालय और तिब्बत की शरण ली उससे सुरक्षित स्थान और कोई नहीं था। उस समय। क्योंकि वहां बौद्ध धर्म का प्रभाव प्रबल था। आदि शंकराचार्य के भगवा ध्वज का कोई मूल्य और कोई महत्व नहीं था उस हिमाच्छादित पर्वतीय क्षेत्र में।

..... और तुमको ज्ञात होना चाहिए कि आदि शंकराचार्य के युग से लेकर अभी तक हिमालय और तिब्बत के अत्यन्त गोपनीय और रहस्यमय स्थानों में कापालिक सम्प्रदाय का अखण्ड दीप सर्वथा प्रच्छन्न रूप से प्रज्ज्वलित हैं और भविष्य में भी प्रज्ज्वलित रहेगा। जिसके प्रकाश से स्वयं तिब्बत निवासी अपरिचित हैं। यदि परिचित है तो केवल साधक मण्डली।

आपकी दृष्टि में संसार क्या है? और संसार से मुक्त होने का उपाय क्या है? मेरी इस जिज्ञासा के समाधान में पिताश्री ने कहा - भारतीय मनीषा की दृष्टि में विश्व ब्रह्माण्ड में जितनी भी गतियां हैं वे सब बर्तुलाकार है। सम्पूर्ण सृष्टि एक विशेष वर्तुल में घूम रही है, इसीलिए जगत को संसार कहते हैं। संसार का अर्थ हैं - वर्तुलाकार घूमने वाला, कुम्हार की चाक की तरह। भारत के राष्ट्रीय ध्वज के मध्य में जो चक्र हैं, तुम जानते हो - उसका निर्माण कभी किसी काल में बौद्ध धर्म ने संसार के प्रतीक के रूप में किया था। चक्र के समान संसार बराबर एक बिन्दु पर घूमता रहता हैं और वह बिन्दु हैं ब्रह्म। ब्रह्म संसार का केन्द्र हैं। जिसके चारो ओर संसार घूम रहा है वर्तुलाकार। बौद्ध धर्म का चक्र इसी की कल्पना है। जो इस 'चक्र' में एक बार फंस जाता है वह बराबर संसार में घूमता ही रहता हैं और काटता रहता है बराबर चक्कर। कहने की आवश्यकता नहीं। यही घूमना अथवा चक्कर लगाना ही जन्म और मृत्यु हैं। जन्म के बाद मृत्यु और मृत्यु के

बाद जन्म - इसी का नाम है भवचक्र। जीवात्मा इसी भवचक्र में वर्तुलाकार बराबर परिभ्रमण करता रहता हैं। इस भवचक्र से जो बाहर निकल जाता हैं उसी को मुक्ति कहते हैं। मुक्ति का सीधा अर्थ है जन्म और मृत्यु के बंधन से हमेशा के लिए छुटकारा पा लेना।

आपकी दृष्टि में 'मृत्यु' का क्या अर्थ है? मेरे इस प्रश्न को सुन कर कुछ क्षण पिता जी मौन रहे फिर बोले - तुम्हारे इस प्रश्न के उत्तर में तो पूरी एक पुस्तक ही लिखी जा सकती हैं। वास्तव में 'मृत्यु' के प्रति मेरी अपनी कोई दृष्टि नहीं है। धारणा अवश्य हैं और वह धारणा अपने स्वयं के अनुभव पर हैं आधारित। जिसके अनुसार 'मृत्यु' को जीवन का अन्त नहीं समझता मैं। मेरी दृष्टि में मृत्यु एक परम और गहन विश्राम से अधिक और कुछ नहीं हैं। वास्तव में निद्रा एक अल्पकालीन मृत्यु है और जागरण है एक अल्पकालीन जीवन। सोना मृत्यु है और जागना है जीवन। इस प्रकार व्यक्ति रोज मरता है और रोज जन्म लेता है। जो व्यक्ति पूरी नहीं सो सकता वह अधिक समय तक जीवित भी नही रह सकता। उसका सम्पूर्ण जीवन अस्त-व्यस्त डावाडोल और अस्थिर हो जायेगा, इसमें सन्देह नहीं। रात्रि में सोने की अपनी विशेष कला है। जो उस विशेष कला से परिचित है वही व्यक्ति अगले दिन जीने की भी कला से परिचित होता है। उसका अगला दिन उल्लासमय स्फूर्ति से भरा हुआ, तरो-ताजा और प्रफुल्ल होता हैं।

इसी प्रकार मृत्यु के पश्चात जब व्यक्ति पुर्नजन्म को उपलब्ध होता हैं तो उसका वह नया जीवन भी उल्लास, स्फूर्ति, से भरा हुआ प्रफुल्ल और तरोताजा होता हैं।

नित्य एक मृत्यु घटित होती हैं और नित्य एक नया जन्म होता हैं। भीतर जाने वाला श्वास जीवन हैं। बाहर निकलने वाला श्वास मृत्यु हैं। जब श्वास बाहर निकलती हैं तो व्यक्ति मृत्यु के क्षण में होता है और इसी प्रकार जब श्वास भीतर जाती हैं तो जीवन के क्षण में होता है वह। प्रत्येक श्वास-प्रश्वास से जीवन और मृत्यु का संबंध जुड़ा हुआ है। योग के अनुसार नासिका के भीतर जाने वाली श्वास के 'अपान' और बाहर निकलने वाली श्वास को 'प्राण' कहते हैं। नासिका के बाहर निकलने वाले प्राण की सीमा आठ अंगुल हैं। आठ अंगुल निकलता है बाहर वह। और तत्काल अपान में परिवर्तित होकर उसी मार्ग से नासिका के भीतर प्रविष्ट हो जाता हैं। आठ अंगुल की सीमा तक जीवन हैं और उसके पश्चात हैं मृत्यु। अपनी सीमा के बाहर निकलने पर 'प्राण' अपने दूसरे रूप 'अपान' में परिवर्तित नहीं हो पाता इसलिए शरीर में वापस लौटना सम्भव नहीं होता उसके लिए और यही कारण है कि मृत्यु के समय मुमुर्षु व्यक्ति लम्बी-लम्बी श्वास लेता हैं जिसके

फलस्वरूप आठ अंगुल की सीमा के पार प्राण चला जाता हैं। जैसे ही वह सीमा पार करता हैं उसी क्षण मृत्यु घटित हो जाती हैं और शरीर प्राण हीन हो जाता हैं। प्राण की सीमा आठ अंगुल हैं तो भीतर अपान की भी कोई सीमा होगी।

निश्चित ही। जैसे प्राण की सीमा बाहर आठ अंगुल हैं उसी प्रकार अपान की भी सीमा भीतर बारह अंगुल हैं। दोनों में चार अंगुल का अन्तर हैं और यही अन्तर व्यक्ति की आयु के क्षय का एक मात्र कारण हैं। प्रत्येक क्षण आयु क्षीण होती हैं और प्रत्येक क्षण व्यक्ति मृत्यु के समीप पहुंचता हैं।

योग की दृष्टि में श्वास-प्रश्वास यानी अपान और प्राण का क्या महत्व हैं? मेरा प्रश्न सुनकर पिताश्री थोड़ा हँसे, फिर बोले सम्पूर्ण योग उसी श्वास-प्रश्वास पर आधारित है। अपान और प्राण ही योग का विज्ञान है। योगीगण आन्तरिक प्राणायाम के द्वारा -जिसमे ध्यान की भी विशेष क्रिया सम्मिलित हैं - प्राण की सीमा को धीरे-धीरे बढ़ाते हैं। जैसे-जैसे प्राण की सीमा बढ़ती जाती हैं - वैसे ही वैसे भीतर अपान की भी सीमा बढ़ती जाती है। साधकों के दीर्घायु होने और उनकी कुण्डलिनी के जागरण होने का रहस्य इसी में भरा हुआ है। प्राण की सीमा बढ़ने का अर्थ हैं आयु की वृद्धि। और भीतर अपान की सीमा के बढ़ने का अर्थ है कुण्डलिनी जागरण।

भीतर अपान की सीमा हृदय केन्द्र है। जब उसके आगे बढ़ कर वह मूलाधार केन्द्र का स्पर्श करता हैं तो उससे कुण्डलिनी जागृत होती हैं।

मूलाधार केन्द्र में परम चेतना कुण्डलिनी शक्ति प्रसुप्त अवस्था में विद्यमान हैं। मूलाधार चक्र का भेदन अपान से होता हैं। चक्र का भेदन होते ही एक नीरव विस्फोट होता हैं, जिसके परिणाम स्वरूप कुण्डलिनी शक्ति चैतन्य हो उठती हैं। मेरा अगला प्रश्न था - 'देवताओं के संबंध में आपका क्या विचार है? इस प्रश्न के उत्तर में पिताश्री बोले - हिन्दू संस्कृति में देवता की पूजा का अपना महत्व है। श्री कृष्ण भी गीता में कहते है कि देवता की पूजा से मनुष्य देव योनि को उपलब्ध होता है। अपने आपमे यह बात सत्य हैं लेकिन मेरे विचार से देवता कोई ऊंची अवस्था नहीं है। उनको मुक्त होने के लिए मनुष्य शरीर धारण करना पड़ता है। मानव योनि एक चौराहे के समान हैं। देवता का एक अपना मार्ग हैं जो मानव योनि से होकर आगे की ओर जाता हैं। लेकिन देवता को मुक्त होना होता है तो उसे वापस चौराहे पर लौटकर अपनी मुक्ति का मार्ग पकड़ना पड़ता है। एक दृष्टि से देवता मनुष्य से ऊपर हैं क्योंकि वह सुखी है मनुष्य से अधिक। लेकिन एक अर्थ में मनुष्य से नीचे भी हैं। इसलिए कि उसे मुक्त होने के लिए मानव शरीर

का आश्रय किसी न किसी रूप में लेना ही पड़ेगा। देवता की बात नहीं पशु-पक्षी को भी मुक्त होना होगा तो उसे मानव योनि में आना आवश्यक होगा।

यह मैं स्वीकार करता हूँ कि मनुष्य से अधिक देवताओं के पास सुख हैं, ऐश्वर्य हैं, शक्ति है, अधिक आयु है, अधिक सुविधा है और सभी प्रकार की इच्छाओं की पूर्ति के साधन हैं। लेकिन सब कुछ होते हुए भी आत्म क्रान्ति का उपाय उनके पास नहीं है। मनुष्य द्वारा ही आत्म क्रान्ति अथवा अन्य कोई क्रान्ति सम्भव है। इसलिए देवताओं को मानव योनि की शरण लेनी पड़ती हैं।

तुमको ज्ञान होना चाहिए कि भारतीय संस्कृति ने मनुष्य को एक अर्थ में चरम माना है। इस अर्थ में चरम माना है कि केवल इस विश्व ब्रह्माण्ड में मनुष्य की आत्मा में ही मुक्त होने की आत्यन्तिक घटना घट सकती है अन्य की आत्मा में यह सम्भव नहीं। मनुष्य की आत्मा ही परम स्वतंत्रता यानी मोक्ष को उपलब्ध हो सकती है। इतना ही नही परमात्मा का दर्शन मनुष्य के साथ घटित हो सकता हैं - न पशु के साथ और न तो देवता के ही साथ। क्योंकि दोनों अज्ञान से भरे हुए है पशु भी और देवता भी। पशु दुख में जीवित है और देवता जीवित हैं परम सुख में, लेकिन है दोनों अज्ञानी। रही मनुष्य की बात उसके साथ तीनो घटना घट सकती हैं। यदि मनुष्य नीचे गिरना चाहे तो पशु से भी नीचे गिर सकता हैं। यदि ऊपर उठना चाहे तो देवताओं से भी ऊपर उठ सकता हैं। यदि जन्म मृत्यु और पुनर्जन्म से भी मुक्त होना चाहे तो हो सकता हैं समस्त बंधनों को तोड़ कर।

•••

पुनर्जन्म के संबंध में आपके क्या विचार है? पिताश्री ने कहा - 'पुनर्जन्म' है भी और नहीं भी है।

आपका तात्पर्य समझा नहीं।

जो परम सत्ता को उपलब्ध हो गया है उसके लिए पुनर्जन्म नहीं हैं। पुनर्जन्म तो उसका होता है - जो यह समझता है कि मेरा जन्म अवश्य होगा। जो पुनर्जन्म पर विश्वास करता हैं तो उसे मृत्यु का परम कष्ट भोगना ही भोगना है। जो शरीर को नहीं आत्मा को महत्व देता हैं और जिसने अपने अन्तःकरण में आत्मा की अनुभूति की हैं - उसके लिए न जन्म हैं और न तो हैं मृत्यु। उसके लिए ये दोनो घटनाएं साधारण होती हैं उसे उसकी आत्मनुभूति बतला देती हैं। तू जन्म के पहले भी था और मृत्यु के बाद भी तेरा अस्तित्व इसी प्रकार बना रहेगा। कोई अन्तर नहीं आयेगा। सच तो यह है कि आत्मानुभूति एक ऐसी परम उपलब्धि है कि उससे अखण्ड जीवन के सतत् प्रवाह का प्रत्यक्ष दर्शन होता है। उस परम दर्शन में जीवन और मृत्यु का कहीं अस्तित्व ही नहीं रहता, केवल अस्तित्व रहता है मात्र जीवन का।

हम जिस शरीर को देखते हैं अथवा हम जिस शरीर से परिचित है - वही शरीर जन्म लेता हुआ दिखलायी देता है और बाद में वही शरीर मृत्युपरान्त चितागिन में भस्म होता हुआ भी दिखलायी देता हैं। उस शरीर के भीतर कौन था? इसे कोई नहीं जानता, जन्म लेने वाला भी नहीं, और मरने वाला भी नहीं। शरीर के भीतर देखना आन्तरिक हैं और भीतर देखने की आन्तरिक दृष्टि उसी को उपलब्ध होती है जो शरीर को नहीं आत्मा को महत्व देता हैं। और जो यह कहता है पूर्ण निश्चित भाव से कि वह देह रूप नहीं आत्म रूप हैं।

यहां तुमको इस सन्दर्भ में एक बात और समझ लेना चाहिए कि ब्रह्म की सत्ता के बाद किसी की सत्ता है तो वह है प्रकृति की। बड़ा ही विचित्र है नियम प्रकृति का। वह हमे पुनर्जीवन तभी देती हैं जब हम पिछली बार जीवन से बिना कुछ सीखे बिना कुछ जाने और बिना कुछ प्राप्त किए गुजर जाते है। हमे प्रकृति उसी स्थिति में वापस संसार में नहीं भेजेगी, जब हम संसार में सीख कर जान कर और प्राप्त कर गुजर जायेंगे। तब हमे संसार में वापस फिर नहीं लौटना पड़ेगा। संसार से हमेशा-हमेशा के लिए विदा ले लेंगे हम। लेकिन हम है कि हर बार जन्म मिलने पर भी न कुछ जानने-समझने का प्रयत्न करते हैं और न तो प्रयत्न करते हैं कुछ प्राप्त करने का ही। और जब संसार से जाने का समय होता हैं तो हमारा दोनों हाथ खाली का खाली ही रहता हैं इस स्थिति में विवश होकर प्रकृति हमे पुनः भेज देती है संसार में।

जरा सोचने की बात हैं। जीवन में न जाने कितनी बार क्रोध करते हैं। क्या सीखा हमने क्रोध करके? कितनी बार प्रेम किया, कितनी बार घृणा की, कितनी बार ईर्ष्या की, क्या सीखा उन सबसे हमने? कितना लोभ किया कितना धन संग्रह किया, कितनी सम्पत्ति अर्जित की और न जाने कितना क्या-क्या किया? अन्त में उन सबका सारांश क्या हुआ? कौन सा सार तत्व हाथ लगा हमें? निचोड़ क्या था उन सबका?

यदि सारांश कुछ नहीं है, सार तत्व कुछ नहीं है और निचोड़ भी कुछ नहीं तो निश्चय ही हमें आना पड़ेगा फिर इस संसार में उन सबको जानने-समझने के लिए। सच तो यह है कि प्रकृति किसी को क्षमा नहीं करती। प्रकृति फिर अवसर देगी। प्रकृति फिर हमे संसार में भेज देगी वापस। लेकिन बार-बार अवसर प्राप्त होने पर भी रिक्त के रिक्त ही रहते है जीवन भर और अन्त में रिक्त ही संसार से चले भी जाते हैं हम।

प्रकृति निरपेक्ष हैं, लेकिन मनुष्य आदि काल से प्रकृति के आधीन है। क्या वह कभी मुक्त भी हो सकता है? क्या कोई उपाय है इसका? हां, क्यों नहीं! पिताश्री

ने कहा - चार पुरुषार्थों में 'काम' तीसरा पुरुषार्थ हैं। और अन्तिम हैं पुरुषार्थ मोक्ष। इससे यह सिद्ध होता है कि काम के द्वारा ही मोक्ष को उपलब्धि सम्भव है। इसीलिए काम को सर्वश्रेष्ठ पुरुषार्थ समझा गया है। श्री कृष्ण ने गीता में स्वयं कहा है - उत्पत्ति का हेतु मैं कामदेव हूँ। जगत में समस्त की उत्पत्ति के मूल में काम है। सृष्टि अथवा सृजन का एक मात्र सूत्र काम है। काम से केवल सन्तान ही उत्पन्न नहीं होती।

काम शक्ति से कविता का जन्म होता है। प्रतिमा बनती है। मूर्ति का निर्माण होता है। कला की उत्पत्ति होती है। संगीत का आविर्भाव होता है। जहाँ भी कोई सृजन होता है वहां काम शक्ति का अस्तित्व समझना चाहिए। उत्पत्ति अथवा सृजन मात्र काम हैं। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि काम में ही सब समाप्त हो जाता है। काम से मुक्त होने के लिए एकमात्र काम ही मार्ग है इसीलिए तांत्रिक साधना में काम से मुक्ति के लिए काम को साधना के रूप में स्वीकार किया गया। तंत्र की यावत् साधना काम पर अवालम्बित हो गयी। काम मुख्य स्थान ग्रहण कर लिया तंत्र में। एक मात्र हिन्दू धर्म ही है कि जिसने काम को अपने आपमे समाहित किया है। बड़े साहस की बात है। क्योंकि सभी अन्य धर्म काम के विरोधी ही हैं प्राय:। कोई भी धर्म क्यों न हो वह ईश्वर को कामदेव या काम का अवतार कभी भी स्वीकार नहीं कर सकता। उसके लिए यह सोचना भी असम्भव है। इसीलिए कि सभी धर्म काम के एक ही रूप से परिचित है उसके दूसरे रूप से नहीं। तुमको ज्ञात होना चाहिए मानव शरीर में एक ही ऊर्जा क्रियाशील है और वह ऊर्जा है आत्म ऊर्जा यदि वह ऊर्जा शरीर में नीचे की ओर प्रवाहित होती हैं काम वासना का रूप धारण कर लेती है। और वही यदि ऊपर की ओर उठती है तो आध्यात्मिक शक्ति के रूप में परिवर्तित हो जाती है। ऊर्जा वही है केवल आयाम अथवा दिशा उसकी बदल जाती है।

यह निश्चित है कि यदि जन्म है तो जीवन निश्चित है और जीवन है तो मृत्यु निश्चित हैं। लेकिन अज्ञानवश हम है कि इन तीनों का कारण स्वयं को समझ बैठते हैं। हम एक शिशु को जन्म देते हैं तो समझते है कि हमने जन्म दिया। यह नही सोचते हैं कि हम तो एक कारण मात्र हैं। एक साधन है और है एक उपकरण। हम अपने पुत्र के पिता तो बन जाते हैं लेकिन कभी यह विचार नही करते हैं कि हमने किया क्या है? वास्तव में एक मात्र प्रकृति ही सब कुछ करती हैं हम केवल उसके उपकरण, माध्यम अथवा साधन होते हैं, इससे अधिक और कुछ भी नहीं। प्रकृति ही जीवात्मा को उसके संस्कार के अनुरूप जन्म देती है, जीवन देती हैं अन्त में मृत्यु के समय अपने दोनों हाथ फैलाकर उसे अपने आपमे समेट लेती हैं।

किसी जीवात्मा को जन्म देने के लिए प्रकृति, स्त्री पुरुष में काम वासना इतनी प्रगाढ़ कर देती है दोनो को इतना परवश और विवश कर देती है कि वे दोनों अपना-अपना नियन्त्रण खो बैठते हैं। गर्भाधान के समय अथवा कामवासना के जागरण के समय मनुष्य भला होता कहां है उस समय और उस अवस्था में प्रकृति होती हैं, मनुष्य नहीं होता। इसीलिए एक प्रकार से सभी धर्मो ने एक स्वर में कहा है कि जब तक मनुष्य काम वासना से ऊपर नहीं उठ जाता है। उसके परे नहीं चला जाता है और उससे अपने आपको मुक्त नहीं कर लेता है तब तक 'प्रकृति' से सदैव के लिए मुक्त नहीं हो सकता है। इसीलिए तंत्र साधना में अद्वैत लाभ के लिए कामशक्ति को एक मात्र साधन बतलाया गया है। काम पर विजय पाने के लिए काम ही साधन हैं।

जीवन एक सन्तुलन है। यदि प्रकृति से मुक्त होना है तो काम से मुक्त होइये। यदि मृत्यु के भय से बचना है तो जीवन के प्रति जो मोह और आकर्षण है उनका त्याग कर दीजिये। यदि दुख से बचना है तो सुख के प्रति जो आकर्षण और लालसा हैं उसे समाप्त कर दीजिये। इसी प्रकार यदि द्वन्द से मुक्त होना है तो काम के परे चले जाइये। तब तो सम्पूर्ण जीवन में आनन्द ही आनन्द हैं। सच पूछा जाय तो यही साधना योग-तंत्र की साधना और सिद्धि हैं। इतना बोल कर पिताश्री ने मेरी ओर अपना सिर घुमाया और गम्भीर स्वर में पूछा - अभी कुछ और पूछना है?

मैंने थोड़ा विनम्र होकर कहा - अभी कुछ प्रश्न शेष हैं। यदि उनका भी उत्तर आपके मुख से प्राप्त हो जाय तो अपनी बात को और अधिक स्वारस्य की उपलब्धि हो जायेगी।

ठीक है। बोलो, कौन से प्रश्न हैं?

ध्यान के विषय में आपका क्या विचार है?

'ध्यान' के संबंध में इसी पुस्तक के 'प्रारम्भ' के अन्तर्गत थोड़ा प्रकाश डाल चुका हूँ मैं। वैसे विचार पूर्वक देखा जाय तो पचास साठ वर्ष पूर्व 'ध्यान' के प्रति इतनी जिज्ञासा इतना कौतूहल और इतना आकर्षण नही था। इसका एक मात्र कारण यह था कि उस समय इतना मानसिक कष्ट मानसिक तनाव और मानसिक चिन्ता नहीं थी। इच्छाएं कम थी और आवश्यकताएं भी अधिक नहीं थी। जितना कि वर्तमान समय में हैं। देश, काल और परिस्थिति के कुप्रभाव के फलस्वरूप बराबर जर्जर और शक्तिहीन होता जा रहा है मानव मस्तिष्क। और इसकी एकमात्र आध्यात्मिक औषधि है 'ध्यान' एक मात्र 'ध्यान'। लोगों का ध्यान के प्रति रूचि उत्पन्न होने का तथा साथ ही आकर्षित होने का एक मात्र कारण यही है। वैसे

अपनी प्रकाशनाधीन पुस्तक 'योग तांत्रिक साधना प्रसंग' में ध्यान के विषय पर सर्वाधिक प्रकाश डाला है मैंने।

•••

आपकी दृष्टि में विज्ञान और धर्म में क्या अन्तर है? मानव जीवन में दो आयाम हैं - विज्ञान और धर्म। विज्ञान का मूलभूत सिद्धान्त हैं - पहले ज्ञान तत्पश्चात् कर्म। धर्म का सिद्धान्त है कि पहले कर्म तत्पश्चात ज्ञान। विज्ञान में पहले ज्ञान हैं और बाद में है कर्म। धर्म में पहले कर्म हैं और बाद में हैं ज्ञान।

•••

दर्शन और धर्म में क्या भेद है?

एकाग्रतावस्था में मन के भीतर से जो आविर्भूत होता है - वह है दर्शन। और जो मन के पार 'अमन' की स्थिति में उत्पन्न होता हैं वह है 'धर्म'। विज्ञान वस्तु अथवा पदार्थ के साथ परिश्रम करता है जबकि धर्म व्यक्ति के साथ करता है परिश्रम। विज्ञान की खोज पदार्थ और ऊर्जा की खोज है और धर्म की खोज है 'चेतना'।

बीतराग का क्या है अर्थ?

सबसे बड़ा त्याग है भोग का त्याग और उस महात्याग का भी त्याग करना परम त्याग हैं। इसी को बीतराग कहते हैं। जो परम त्याग करता है वही बीतरागी है।

•••

जीवन में परम गोपनीय वस्तु क्या है?

मौन! भगवान श्रीकृष्ण ने गीता में कहा हैं, गोपनीय भावो में मैं मौन हूँ। यदि हम अपने मन की खोज करें तो हम अपने जीवन का अधिक से अधिक भाग सपनो और कल्पनाओं में व्यतीत कर दिया करते हैं। बहुत ही कम भाग बाहर व्यतीत होता है। अज्ञान रूप से हमारे भीतर एक सतत वार्तालाप चल रहा है। एक सतत चर्चा भी चल रही हैं। वह वार्तालाप और चर्चा हमारी ही कल्पना हैं। इसलिए जैसा कि हम मौन चाहते है वैसा मौन हम रह नहीं पाते। वह चर्चा वह वार्तालाप हमारे मौन को बीच-बीच में खण्डित कर देता है। मौन का अर्थ हैं, हमारे भीतर कोई विचार न रहे कोई भाव न रहे कोई वार्ता न रहे और किसी भी प्रकार का कम्पन भी न रहे। हमारा अन्तराल किसी शान्त नीरव झील के समान होना चाहिए, जिसमे कोई लहर भी न उठती हो। ऐसी अवस्था को मौन कहते हैं।

•••

तीसरा नेत्र में प्रसंगवश कई महात्माओं ने आपसे पुनः साक्षात्कार करने लिए कहा है। क्या उनका साक्षात्कार सम्भव हो सका?

हां! क्यों नहीं। पिछले चालीस वर्षो के अन्तराल में कई सन्त महात्मा और योगी साधक मिले मुझसे। लेकिन पार्थिव शरीर से नहीं।

ऐं! क्या कहा आपने, पार्थिव शरीर से नहीं, चौक पड़ा मैं एक बारगी।

पिताश्री ने कहा - कोई सूक्ष्म शरीर से मिला, कोई वैन्दव शरीर से मिला तो कोई अपनी योग काया के माध्यम से। तीन चार उच्च कोटि की ऐसी आत्माएं थीं, जिनको मुझसे सम्पर्क स्थापित करने के लिए मोह वश पुनर्जन्म लेना पड़ा।

क्या पुनर्जन्म लेकर आपसे मिलने वाली दिव्य आत्माएं अभी भी अपने पार्थिव काया में विद्यमान हैं?

हां! है? और मेरे बीच हैं लेकिन कारण विशेष से बतलाया नहीं जायेगा. मुझसे। रहस्य, रहस्य ही रहें तो अच्छा हैं।

•••

राजकुमारी सी-च्यांग ने जन्म ले लिया कि अभी तक आत्म रूप में ही हैं?

मुझसे अलग होने पर नेपाल में उसने अवश्य जन्म लिया था, लेकिन भौतिक वातावरण उसके अनुकूल न होने कारण शरीर त्याग दिया उसने अट्ठारह वर्ष की अवस्था में। इस समय तो आत्मरूप में ही हैं और कभी कदा मुझसे सम्पर्क स्थगित करने का प्रयास भी करती हैं।

•••

पद्मगन्धा से अवश्य आपका अगोचर संबंध होगा?

पहले था, अब नहीं है। इस समय उच्च लोक में है।

•••

आपने तीसरा नेत्र में कई स्थानों पर अलौकिक रहस्यमय और चमत्कार पूर्ण घटनाओं का उल्लेख किया हैं। जिन पर सहसा लोगो का विश्वास होना सम्भव नहीं।

प्रकृति की सीमा में न कोई रहस्यमय है न कुछ अलौकिक है और न तो कुछ चमत्कारपूर्ण ही है। सब सत्य है और सत्य को प्रमाण की आवश्यकता नहीं पड़ती क्योंकि वह स्वयं प्रमाण है।

•••

जैसा कि आपने तीसरा नेत्र में लिखा है उसके अनुसार आपने अपने पिछले जन्मों की घटनाओं का अनुभव किया और उसमे सोचा भी। यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है। योग बल से यह सम्भव हैं। वैसे भी संयोगवश कभी कदा कोई अपने जीवन के अतीत में सहज ही प्रवेश कर जाता हैं और जब वापस लौटता है तो स्वयं आश्चर्य से भर उठता है वह।

पिताश्री ने थोड़ा रूक कर आगे कहा परामनोविज्ञान इसे रिग्रेशन यानी प्रतीप गमन कहता हैं। जाग्रतावस्था में सचेत रहते हुए दृश्य परिवर्तन द्वारा भूतकाल में भ्रमण को परामनोविज्ञान की भाषा टाइम स्लिप कहते हैं। मैं टाइम स्लिप के ही प्रभाव में था उस समय।

तुमको ज्ञात होना चाहिए कि अध्यात्म में इस पहेली का उत्तर 'हां' में ही है। यौगिक साधनाओं के अनुसार न केवल समय के पीछे जाकर बल्कि समय से बहुत आगे निकल कर भी भूत अथवा भविष्य में घट रही घटनाओं को प्रत्यक्ष रूप से देखा जा सकता है।

•••

आपको अपने साथ जो कापालिक भैरवी जिस रहस्यमय स्थान पर ले गयी थी उसे आपने सूक्ष्म जगत बताया है। क्या सूक्ष्म जगत का अस्तित्व है? पाठकों के मन में स्वभावतः यह प्रश्न उठ सकता है, इस संबंध आपका क्या विचार है।

पिताश्री बोले - कई बार सूक्ष्म जगत का अनुभव किया है मैंने इस संबंध में संक्षिप्त में केवल इतना ही कहा जायेगा कि इस संसार के भीतर ही कुछ ऐसी सूक्ष्म तथा अदृश्य सत्ताओं का अस्तित्व हैं जिन्हें अभी तक भौतिक विज्ञान जान नहीं पाया है। अभी वह उसकी पकड़ के बाहर हैं। वह अदृश्य और सूक्ष्म सत्ताएं मानव जाति के लिए कल्याणकारी भी हैं और विनाशकारी भी।

जैसे मानवीय सत्ता के तीन पर्तें है - स्थूल, सूक्ष्म और कारण। उसी प्रकार इस जगत के भी तीन पर्तें है - स्थूल, सूक्ष्म और कारण। परामनोविज्ञानिको ने इसे स्वीकार किया है। और मान्यता भी दी है। मरने के बाद व्यक्ति अपने सूक्ष्म शरीर के द्वारा दूसरे पर्ते में प्रवेश कर जाता हैं लेकिन पहले पर्त से उसका बराबर सम्पर्क बना रहता है। संसार की दृष्टि में भले ही वह मर गया होता है, लेकिन वह जीवित रहता अपने आपमे सूक्ष्म पर्त के भीतर। वैसे भी देखते ही देखते पदार्थो तथा मनुष्यों को अदृश्य हो जाने वाली आश्चर्य जनक घटनाएं प्रायः पढ़ने-सुनने को मिलती है। जिसके पीछे सूक्ष्म पर्त का ही क्रिया कलाप समझा जाता है। इस संबंध में हम केवल आश्चर्य ही प्रकट कर सकते हैं। क्योंकि विज्ञान इस प्रकार की घटनाओं की व्याख्या करने में अभी असमर्थ है। जबकि योग विज्ञान हजारों वर्ष पूर्व कर चुका हैं इसकी व्याख्या।

•••

रात के दस बजे थे। पिताश्री के विश्राम का समय हो गया था। एक बार मेरी ओर उन्होंने देखा और विषण्ण भाव से पूछा - अब बस, न कि और कुछ!

संकोच भरे स्वर में मैंने कहा - छोटे मोटे दो एक प्रश्न और हैं। यदि उनका उत्तर आपसे प्राप्त हो जाय तो 'अपनी बात' को सार्थक समझता मैं। मेरा पहला

प्रश्न हैं आप पिछले लगभग पांच दशक से लेखन कार्य कर रहे हैं। भारत की कोई ऐसी पत्र-पत्रिका नहीं, जिसमें आपका लेख, निबन्ध, और कथाएं प्रकाशित न हुई हो, लेकिन पुस्तक लेखन में इतना विलम्ब क्यों? अब तक तो आपकी बहुत सारी पुस्तकें प्रकाशित हो जानी चाहिए। इसका कारण अतिशय महत्व का है - पिताश्री थोड़ा गम्भीर स्वर में बोले - मेरे गुरुदेव ने मुझे परामर्श दिया था कि पचास वर्ष की आयु के उपरान्त अध्ययनशील और चिन्तन-मननशील व्यक्ति ज्ञान, अनुभव, विचार और बुद्धि के क्षेत्र में पूर्ण परिपक्व हो जाता हैं और तब वह जो कुछ लिखता हैं तो उसमें विषय की गम्भीतर प्राञ्जलता स्पष्ट रूप से झलकती है और स्पष्ट रूप से झलकता है विषय सौष्ठव। जिसके फलस्वरूप विषय उपादेय सिद्ध होता हैं पाठकों के लिए। कहने की आवश्यकता नहीं उस अवस्था का उलंघन हो जाने के पश्चात ही पुस्तक लिखने की ओर अग्रसर हुआ मैं।

•••

क्या लिखने पढ़ने की रुचि अभी समाप्त नहीं हुई आपकी? मैं देखता हूं अभी इस अवस्था में भी आप घंटो एक आसन पर बैठे लिखते-पढ़ते रहते हैं। आपको थकान का अनुभव नहीं होता। क्या क्लांत नही होता आपका मस्तिष्क? मेरी बात सुनकर पिताश्री ने मेरी ओर एक बार स्थिर दृष्टि से देखा और फिर कहा - मानव जीवन अति दुर्लभ है। जीवन का प्रत्येक क्षण अति महत्वपूर्ण और अति मूल्यवान है। जो जीवन का महत्व समझता है और जो समझता है जीवन के क्षण का मूल्य वही व्यक्ति जीवन के किसी भी क्षेत्र में पूर्ण सफलता प्राप्त कर सकने में समर्थ होता हैं। रही अपनी बात। मेरा जीवन और मेरे जीवन का प्रत्येक क्षण अध्ययन, चिन्तन-मनन, सत्संग और लेखन के प्रति शुरू से समर्पित रहा है। और आज भी है। रही थकान और क्लान्त होने की बात, वह तो शरीर से संबंधित हैं मुझसे नहीं। रही रुचि वह तो कभी भी समाप्त नहीं होने वाली हैं। मैं तो बार-बार मां महामाया से यही कहता हूं कि मेरे शरीर को स्वस्थ और निरोग रखें और जीवन में थोड़ा और समय दे दें ताकि पुस्तक रूप में अपनी अनुभवपूर्ण आध्यात्मिक सम्पत्ति अधिक से अधिक अर्पित कर सकूं उसे। मां महामाया पराशक्ति से मेरी यही अन्तिम याचना हैं प्रार्थना है और हैं अन्तिम अनुरोध।

अपनी बात अब यही समाप्त होती हैं। शीघ्र ही भविष्य में पिताश्री की नवीन कृति 'अभौतिक सत्ता में प्रवेश' और 'मरणोत्तर जीवन का रहस्य' प्रस्तुत करुंगा मैं पाठकों के सम्मुख।

- नम्र

मनोज शर्मा

व्यवस्थापक
आगम निगम संस्थान, वाराणसी

प्रकाशकीय

पं. अरुण कुमार शर्मा योग, तंत्र, दर्शन आदि विषयों के निष्णात् विद्वान और प्रसिद्ध लेखक हैं। पिछले पचास वर्षों से आपकी लेखनी गतिमान है। गूढ़ विषयों को सरल और हृदयगम् बना देना आपकी लेखनी की सबसे बड़ी विशेषता है। भाषा पर तो आपका पूर्ण अधिकार है ही। वर्तमान में अपनी नवीनतम कृति 'अभौतिक सत्ता में प्रवेश' को पूर्ण करने की ओर अग्रसर हैं। उनके 'तीसरा नेत्र' के प्रथम खण्ड का रसास्वादन तो आपने किया ही है और अब उसके द्वितीय खण्ड का आनन्द प्राप्त करें।

प्रथम खण्ड से द्वितीय खण्ड में अधिक विषय सामग्री है जिसके फलस्वरूप पृष्ठ संख्या का भी अधिक होना स्वाभाविक है। इस दृष्टि से द्वितीय खण्ड की मूल्य वृद्धि करनी पड़ी हमें। आशा है आपको इससे कोई असुविधा न होगी और आपका स्नेह और सद्भाव पूर्ववत् बना रहेगा।

प्रकाशक

आस्था प्रकाशन
बी. 5/23 अवधगर्वी, हरिश्चन्द्र रोड
वाराणसी 221001 (उ.प्र.) भारत
दूरभाष 275775

सम्मति

पं. अरुण कुमार शर्मा योग और तन्त्र के गहन और गूढ़ विषयों के गम्भीर लेखक हैं। उनके लेखन में अध्ययन, अनुभव, चिन्तन और साधना का सार्थक आधार है जिससे न केवल सम्बद्ध क्षेत्र के ज्ञान की वृद्धि होती है बल्कि उसकी विश्वसनीयता को भी बल मिलता है। उन्होंने योग तन्त्र के दार्शनिक पहलू को गहरे चिन्तन और विधायक तर्कों के आधार पर स्पष्ट करने का प्रयास किया है तथा उसके रहस्यात्मक पक्ष पर जमे घने कोहरे को भी छाँटा है जिससे प्रच्छन्न तथ्य आर-पार दिखाई पड़ सके; साथ ही, उसकी सांस्कृतिक भूमिका की भी तलाश की है जो ऐतिहासिक और सामाजिक पृष्ठभूमि में मनुष्य की अवस्था, जिज्ञासा और विकास की संभावना को अपने में समेटती है। उन्होंने जिन विषयों को अपने लेखन का विषय बनाया है, ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में उनकी परम्परा की भी पहचान की गई है, और विज्ञान के निकर्ष पर उन्हें परखते हुए विज्ञान के साथ तुलनात्मक दृष्टि भी अपनाई गई है। परिणामत: अन्ध विश्वास और रुढ़िवादिता का अंधेरा छँटता है और तथ्य का सही स्वरूप उभर कर सामने आता है।

गम्भीर और गूढ़ विषयों के लेखन में रचनात्मकता प्राय: समाप्त हो जाती है। किन्तु शर्मा जी के लेखन की एक ध्यातव्य विशेषता है कि उसमें रचनात्मकता हमेशा मौजूद अनवरत संचार होता रहता है। उनके लेखन की रसवत्तका भी यही कारण है। दूसरी बात कि यथार्थ उनके अनुभव के पथ से गुजरकर आता है और अनुभव की उष्मा विश्वसनीयता को सहज आधार मिल जाता है, फिर कोई भी पाठक एक विश्वास के साथ उसमें अवगाहन कर सकता है। विषय और लेखन दोनों दृष्टियों से यह कोई छोटी सफलता नहीं है।

शर्मा जी के भीतर एक कलाकार भी है इसलिए उनके लेखन में कला अनायास रूप से अपना काम करती है। कला की सिद्धि के बिना अभिव्यक्ति सफल नहीं होती। उनकी अभिव्यक्ति की सफलता में कला का पर्याप्त योगदान है। यही कारण है कि गूढ विषय होने के बावजूद अभिव्यक्ति केवल बोझिल होने से ही नहीं बच गई है बल्कि उसमें एक प्रवाह, पारदर्शिता और सहजता भी आ गई है। कठिन विषय को सहज ढंग से प्रस्तुत करना कला की एक बड़ी ऊँची गुणवत्ता है। शर्मा जी के लेखन में यह है और इसी कारण उसमें निर्बाध सम्प्रेषण का गुण भी समविष्ट हो गया है। प्राञ्जलता के साथ उनकी भाषा में आत्मीयता भी है जो सम्प्रेषण को सहज बनाने के अतिरिक्त पाठकों के साथ जोड़ती भी है। संवाद-शैली पाठकों को करीब लाती है और घटना की पुन: सृष्टि रचनात्मक

धरातल पर होने के कारण, संभावना और परिवेश के साथ अपने पूरे आयाम में प्रभाव उत्पन्न करती है जो पठनीयता के लिए भी उपयोगी है और जिज्ञासा की निरन्तरता के लिए भी।

मेरी आन्तरिक कामना है, शर्मा जी पूर्णत: स्वस्थ रह कर परमायुष्य प्राप्त करें और उनकी लेखनी निर्बाध चलती रहे।

डॉ. मारुतिनन्दन पाठक
प्रोफेसर, संस्कृत विभाग
मगध विश्वविद्यालय,
बोधगया, गया
पिन 824234

१

अध्याय

महान योगात्मा चैतन्यप्रज्ञ

तिब्बत प्रवास काल में प्रच्छन्न भाव से निवास करने वाले जिन योगात्माओं का दर्शन लाभ किया मैंने, उनमें चैतन्यप्रज्ञ का नाम सर्वोपरि है, निश्चय ही चैतन्य प्रज्ञ महान योग सिद्ध पुरुष थे, इसमें सन्देह नहीं।

तिब्बत के योग-तांत्रिक जीवन से जिनका थोड़ा बहुत भी परिचय है, उन्हें चैतन्यप्रज्ञ के संबंध में मैं जो कुछ लिखूंगा - वह आश्चर्यजनक कौतूहल पूर्ण और अविश्वसनीय प्रतीत न होगा।

चैतन्य प्रज्ञ का पूर्व नाम कमलेश्वर था और वे बिहार और बंगाल की सीमा पर स्थित किसी गांव के निवासी थे, गांव के ही एक पाठशाला में पढ़ाते थे कमलेश्वर, वर्ण से ब्राह्मण होने के कारण पूरे गाँव में उनका सम्मान था। गाँव वाले उन्हें आदर की दृष्टि से देखते थे। वे अकेले थे। माता-पिता की मृत्यु बाल्यावस्था में ही हो चुकी थी। भाई-बहन थे ही नहीं। विवाह भी नहीं किया था उन्होंने। पाठशाला से लौटकर आते अपने हाथ से भोजन बनाते और भोजनोपरान्त थोड़ा अध्ययन करने के पश्चात सोने के लिए जाते। प्रातः काल नित्य क्रिया से निवृत्त होकर थोड़ा पूजा पाठ करते भगवान का स्मरण करते और झोला बगल में लटकाकर पाठशाला चले जाते। यही था नित्य का कार्य कमलेश्वर महाशय का।

प्रथम विश्वयुद्ध उस समय प्रारम्भ नहीं हुआ था लेकिन आसार नजर अवश्य आ रहे थे शुरू होने का। एक दिन सायंकाल के समय गाँव के बाहर टहलते हुए चले गये कमलेश्वर और एक आम के वृक्ष के नीचे जाकर बैठ गए। चारो

ओर नीरवता बिखरी हुई थी वातावरण में। सिर घुमाकर उन्होंने दूर-दूर तक देखा कोई नजर नहीं आया। न जाने कब तक बैठे रहे चुपचाप मौन साधे वृक्ष के नीचे वह।

एक लामा योगी का अवतरण

उस समय उनकी आँखे बन्द थी और वे कुछ सोच विचार कर रहे थे। उसी समय किसी अनर्वचनीय सुगन्ध से नासापुट भर गया उनका। तुरन्त 'उन्होंने आँखे खोली और देखा कि उनके सामने एक पीत वस्त्रधारी भिक्षु शान्त भाव से खड़ा उनकी ओर अपलक देख रहा था। वह लामा था और अति वृद्ध था। उसके हाथ में केवल एक मामूली झोला था बस।

अभी तक अपने जीवन में किसी बौद्ध भिक्षु अथवा लामा को देखा नही था कमलेश्वर ने इसलिए आश्चर्यचकित होना स्वाभाविक था उनका। वह रहस्यमय लामा कहाँ से आया क्यों आया और उनके सामने इस प्रकार क्यों खड़ा है? इस प्रकार के अनेक प्रश्न उठने लगे कमलेश्वर के मन में। वे भी एकटक निहारने लगे लामा की ओर, सहसा उन्हें लगा जैसे वह उस वृद्ध लामा को जानते है। पूर्व परिचित है वह उनके लिए।

धीरे-धीरे लामा ने बोलना शुरू किया गम्भीर स्वर में ''पिछले एक सौ अस्सी वर्षो से तुमको खोज रहा हूँ मैं। तुम्हारा वास्तविक नाम चैतन्यप्रज्ञ है कमलेश्वर नहीं। तुम एक बौद्ध भिक्षु हो किसी ब्राह्मण परिवार के सदस्य नहीं। तुमको मैंने लामा धर्म की दीक्षा दी थी। मैं तुम्हारा गुरू हूँ। मैं यह स्वीकार करता हूँ कि तुम एक भारतीय बौद्ध भिक्षु थे कभी, लेकिन लामा धर्म की दीक्षा तो मैने ही दी थी तुमको। इसे भूलना नहीं चाहिए। इस समय तुम पच्चीस वर्ष के युवक हो। एक सौ अस्सी वर्ष पूर्व तुमने एक लामा के रूप में शरीर त्याग किया था और तभी से तुमको मैं खोज रहा था कि आखिर तुम्हारी पवित्र आत्मा गयी कहाँ, तिब्बत के आध्यात्मिक वातावरण को छोड़कर और अन्त में तुम मिले भी तो इस रूप में।

मुँह बाये सुन रहे थे वह वृद्ध की बातें। वे क्या बोले? क्या कहे? उनकी समझ में नहीं आ रहा था कुछ।

एकाएक वह वृद्ध लामा भूमि के नीचे बैठ गया पद्मासन की मुद्रा में, कमलेश्वर के ठीक सामने और अपनी उंगली से उनके मस्तक का स्पर्श किया उसने और स्पर्श करते ही कमलेश्वर महाशय एक बारगी झुक गये उस वृद्ध लामा के चरणो पर और उसकी आँखों से फूट पड़ी आँसू की अविरल धारा। अन्त

में हिलक-हिलक कर रोते हुए अवरुद्ध कण्ठ से बोले कमलेश्वर, अब आगे क्या होगा गुरूदेव?

होगा क्या चलो अपने स्थान पर - लामा गम्भीर स्वर में बोला।

लेकिन कैसे? इतनी दुर्गम कठिन और कष्टदायिनी हिमयात्रा कैसे कर सकूँगा मैं? यह सुनकर हो-हो कर एक बार लामा हंसा फिर गम्भीर स्वर में बोला - आकाशमार्ग से। तुम अपनी आँखे बन्द करो और मेरी गोद में आकर बैठ जाओ।

ऐसा ही किया कमलेश्वर ने। आँखे बन्द कर लामा की गोद में बैठ गये एक बालक की तरह। उसके बाद फिर उन्हे किसी प्रकार का बाह्य ज्ञान नहीं रहा।

आकाश मार्ग से तिब्बत गमन

लगभग एक घंटे बाद कमलेश्वर को आँखे खोलने का आदेश मिला और जब उन्होंने आँखे खोली तो आश्चर्यचकित रह गये। वे तिब्बत के एक अति दुर्गम प्रदेश में थे। सिर घुमा कर चारों ओर देखा उन्होने लेकिन उनका लामा गुरू जिसके साथ वे आकाश मार्ग से आये थे - वह कहीं नजर नहीं आया। कमलेश्वर को घोर आश्चर्य हुआ। उस हिम प्रान्त में अकेले थे वे। झिर-झिर कर बर्फ के कण आकाश से गिर रहे थे उस समय। चारो तरफ घोर तिस्तब्धता छायी हुई थी वातावरण में। न जाने क्या सोच कर धीरे-धीरे एक ओर बढ़ने लगे कमलेश्वर।

वह रहस्यमयी हिम गुफा और पद्मासीन मृतकाया

काफी देर चलने के बाद कमलेश्वर को एक गुफा दिखलाई दी। गुफा का द्वार तो छोटा था। लेकिन एक व्यक्ति आसानी से प्रवेश कर सकता था उसमें। वे गुफा के सामने खड़े होकर यह सोचने लगे कि गुफा के भीतर प्रवेश करे या न करे और तभी अचानक एक बर्फीला तूफान आया और उड़ा ले गया कमलेश्वर को। बेहोश हो गये कमलेश्वर और जब उनको होश आया तो यह देखकर आश्चर्य चकित रहे गये कि उनका शरीर बर्फ से ढंका हुआ है और उसे वह देख रहे है आश्चर्य से, उनको आश्चर्य और कौतूहल इस बात की हो रही थी कि वे अपने शरीर से अलग कैसे है? क्या वे तूफान में फँस कर मर चुके हैं? हाँ। मर चुके थे। शरीर से उनका अब कोई संबंध नहीं रह गया था लेकिन उनके अपने आप में कोई परिवर्तन नहीं हुआ था। वे जैसे जीवित अवस्था में थे वैसे ही मृत अवस्था में भी थे। कोई किसी भी प्रकार का परिवर्तन नहीं हुआ था उनमें।

लेकिन हल्कापन अधिक अनुभव कर रहे थे कमलेश्वर। एकाएक उन्हे उस गुफा की याद आयी। थोड़ी ही देर बाद पहुँच गये वह गुफा के सामने और किसी अज्ञात प्रेरणा के वशीभूत होकर उसके भीतर चले गये और कुछ ही दूर जाने पर एक पत्थर की बेदी पर पद्मासन की मुद्रा में नेत्र बन्द किये एक महात्मा को देखा उन्होंने बैठे हुए।

उस महात्मा को देखकर उनको घोर आश्चर्य हुआ, इस बात का आश्चर्य हुआ कि वह महात्मा अन्य कोई नहीं, स्वयं वे ही थे - पाषाण की बेदी पर बैठे पद्मासन की मुद्रा में, एंक सौ अस्सी वर्ष पूर्व उसी काया का त्याग किया था उन्होंने और तब वे अविचल बैठी हुई थी उनकी वह काया मृतवत्।

अपनी पूर्व मृत काया को देखकर कमलेश्वर की आत्मा विह्वल हो उठी एक बारगी और प्रबल आकर्षण के वशीभूत होकर उस मृतकाया में प्रविष्ट हो गयी और उसी के साथ वह मृत काया पुनःजीवित हो उठी एक बारगी। जिसके भीतर थी कमलेश्वर की नहीं बल्कि एक महान योगी की आत्मा जिसका एक सौ अस्सी वर्ष पूर्व गुरू प्रदत्त नाम था चैतन्यप्रज्ञ।

चैतन्य प्रज्ञ का दीर्घ आयु सम्पन्न लामा गुरू

कमलेश्वर को अपने साथ रहस्यमस ढंग से उन्हें अपना गुरू बतला कर तिब्बत ले गया था जो लामा वह निश्चय ही दीर्घ आयु सम्पन्न एक परम सिद्ध योगी था। अनेक प्रकार की जड़ी बूटियों का ज्ञाता, अनेक प्रकार के रस रसायन का पण्डित और तंत्र विद्या का मर्मज्ञ तो था ही, इसके अतिरिक्त शल्य क्रिया द्वारा किसी भी योग्य और संस्कार सम्पन्न व्यक्ति का तीसरा नेत्र खोलने का रहस्य भी जानता था वह। तिब्बत के कई लामाओं का तीसरा नेत्र खोल चुका था वह अपनी रहस्यमयी शल्य क्रिया से। तंत्र विद्या के अतिरिक्त योग की भी कई दुर्लभ सिद्धियाँ उपलब्ध थी उसे। जिसकी सहायता से परकाया प्रवेश, आकाश गमन आदि असम्भव कार्य करता था कभी-कभी। उसका अटपटा सा नाम था, जिसे मैं भूल गया हूँ। यहाँ सहूलियत के लिए मैं उसे लामा योगी के नाम से ही सम्बोधित करूँगा।

बौद्ध भिक्षु कैवल्य रक्षित और लामा योगी

यह उस समय की बात है जब भारत में इस्ट इण्डिया कम्पनी का पैर जम चुका था। और भारत के आध्यात्मिक वातावरण में युद्ध के बादल मडराने लगे

थे। चारो ओर अशान्ति और त्राहि-त्राहि मचा हुआ था। उसी समय कलिम्पांग मार्ग से तीन लामा तिब्बत से पदयात्रा कर भारत में प्रविष्ट हुए। जिनमें एक लामा योगी भी था। उन तीनो लामाओं का संबंध, न इष्ट इंडिया कम्पनी से था, न अंग्रेजो से था और न तो था भारत के गृह युद्ध से, उनंका तो संबंध था भगवान तथागत के बतलाये हुए सिद्धान्तो से और उपदेशो से। वे पहले कुशीनगर गये। वहाँ कुछ समय व्यतीत करने के बाद बौद्ध गया में भी दो वर्ष रहे, और वहाँ से आये भगवान तथागत की तप:स्थली और धर्म चक्र प्रर्वतन भूमि सारनाथ (वाराणसी)। सारनाथ में उन तीनों की बड़ी शान्ति मिली। उनकी आत्मा जो चाहती थी वह उपलब्ध होने लगी उन्हे। सारनाथ के चारो ओर मीलो तक घना जंगल था। कई बौद्ध सन्यासियों की झोपड़ियाँ थी उस जंगल में। वे उनमे रह कर साधना करते थे।

ऐसी ही एक झोपड़ी में एक युवा बौद्ध सन्यासी भी रहता था नाम था कैवल्य रक्षित, वह सुदर्शन युवक था। लम्बी चौड़ी काठी का शरीर गौर वर्ण मुण्डित सिर तेजस्वी मुख मण्डल और बड़े-बड़े स्वप्निल नेत्र और शरीर पर कषाय वस्त्र।

एक दिन सहसा लामा योगी की दृष्टि पड़ी कैवल्य रक्षित पर, देखा तो बस देखता ही रह गया वह तांत्रिक योगी। शायद ऐसा सुदर्शन व्यक्तित्व कभी नहीं देखा था उसने।

जब कैवल्य रक्षित को यह ज्ञात हुआ कि वह लामा योगी सिद्ध पुरुष है और अपने दोनो साथियो को लेकर तिब्बत से वहाँ आया है - तो वह भी आकर्षित हुए बिना न रह सका। उसने कभी सपने में भी कल्पना नहीं की थी कि तिब्बत के किसी महातांत्रिक और सिद्ध योगी से जीवन में साक्षात्कार होगा। कहने की आवश्यकता नहीं, बौद्ध पूर्णिमा के पर्व पर कैवल्य रक्षित ने अपनी झोपड़ी में तीनो लामाओ को सादर आमंत्रित किया और छाछ, गुड़ और दही से स्वागत किया उनका। उस दिन से लामा योगी और कैवल्य रक्षित की धीरे-धीरे प्रगाढ़ता बढ़ने लगी। पूरे परिवार से आज्ञा लेकर ही कोई व्यक्ति बौद्ध सन्यास ग्रहण कर सकता है। एक दिन अवसर देखकर लामा योगी ने कैवल्य रक्षित से पूछा - क्या तुमने परिवार से आज्ञा लेकर सन्यास ग्रहण किया है? यह सुनकर कैवल्य रक्षित कुछ क्षण मौन रहा फिर धीमें किन्तु गम्भीर स्वर में बोला - परिवार में भला है ही कौन जिससे आज्ञा लेता। अन्तिम में माता जीवित थी और जब उनकी भी मृत्यु हो गयी तो चिता की अग्नि में उनके शव को जलते हुए देखकर मन में वैराग्य उत्पन्न हो गया। फिर श्मशान से घर वापस नही गया, सीधे यहाँ चला आया और सन्यास ले लिया मैंने।

किसको सन्यास गुरू बनाया था? किससे लिया था तुमने सन्यास - लामा योगी ने प्रश्न किया।

किसी से नहीं, किसी को अपना गुरू नहीं बनाया था, मैंने। मेरी कल्पना में मेरा कोई गुरू थे भी तो वह थे स्वयं भगवान तथागत - एक सांस में बोल गया इतना, कैवल्य रक्षित और फिर सिर झुका कर न जाने क्या सोचने लगा वह।

लेकिन बिना दीक्षा प्राप्त किये सन्यास मार्ग पर चलना धर्म के विरूद्ध है, तुमको दीक्षा लेनी चाहिये - लामा योगी गम्भीर स्वर में बोले।

तो आप ही दे दीजिये दीक्षा। आपसे अधिक योग्य गुरू कहाँ मिलेगा मुझको सिर उठाकर लामा योगी की ओर स्थिर दृष्टि से देखते हुए बोला कैवल्य रक्षित।

ठीक है तुमको दीक्षा दूँगा मैं लेकिन मेरे साथ तुमको चलना पड़ेगा तिब्बत, मेरे मठ में उसके लिए।

कहने की आवश्यकता नहीं चार-पाँच महीने बाद तीनों लामाओं के साथ चल पड़ा वह युवा बौद्ध सन्यासी तिब्बत की जीवन-मरण दायिनी हिम यात्रा पर।

कैवल्य रक्षित की दीक्षा और नामकरण

एक दिन अनुकूल समय देखकर लामा योगी ने दीक्षा प्रदान की कैवल्य रक्षित को दीक्षा के माध्यम से उसके सारे शरीर में एक विशेष प्रकार की दिव्य ऊर्जा फैल गयी और आत्मा उद्भासित हो उठी एक बारगी आध्यात्मिक शक्ति से। फिर कैवल्य रक्षित सहज न रह सका। तत्काल समाधिस्त हो गया वह। चार दिन के बाद जब उसकी समाधि भंग हुई तो लामा गुरू ने उसका नाम रखा चैतन्य प्रज्ञ।

प्रथम समाधि के बाद से साधारण मानव नहीं रह गये थे चैतन्य प्रज्ञ। एक दिन उनसे लामा योगी ने कहा - तुम अपने आपको साधारण व्यक्ति मत समझो अब तुम एक योगी पुरुष हो। तुम्हारे भीतर जो आध्यात्मिक संस्कार है और साधना की योग्यताएँ हैं, वह बिरले ही किसी मनुष्य के पास होता है। मनुष्य का शरीर एक आवरण है - जिसे एक महान शक्ति संचालित और परिचालित करती है और उसी शक्ति का नाम आत्मा है, आत्मा को यह स्वतंत्रता और सामर्थ्य उपलब्ध है कि कभी किसी समय भी शरीर को छोड़कर अलग हो सकती है उससे। आत्मा की वह स्वतंत्रता और वह सामर्थ्य एक योगी भी साधना बल पर प्राप्त कर सकता है जिससे जब चाहे तब अपना शरीर छोड़कर उससे अलग हो सकता है और पुनः उसमें इच्छानुसार प्रवेश भी कर सकता है। इतना ही नहीं किसी योग्य व्यक्ति की मृतकाया में भी प्रवेश कर जीवित हो सकता है वह। योग-तंत्र की यह अमोघ

और अति महत्वूपर्णे सिद्धि है। इसी सिद्धि के अन्तर्गत है - दूर श्रवण, दूर बोध, दूरस्थ ज्ञान आदि उप सिद्धियाँ भी।

थोड़ा रूककर लामा योगी ने आगे कहना शुरू किया - इन सब उपलब्धियों के लिए सर्वप्रथम आत्म ज्ञान और आत्म साक्षात्कार आवश्यक है और यह तभी सम्भव है जब तीसरा नेत्र खुलता है योगी का।

तीसरा नेत्र क्या है - थोड़ा उत्सुक होकर पूछा चैतन्य प्रज्ञ ने।

शिव का तीसरा नेत्र - लामा योगी बोला - वह नेत्र भ्रूमध्य के ऊपर सभी मनुष्यों के पास है लेकिन बन्द है। उसे खोलना पड़ता है।

कैसे खुलता है - चैतन्य प्रज्ञ ने प्रशन किया?

भारतीय योग साधना में षट् चक्रों का वर्णन है। उसी में एक चक्र है "आज्ञाचक्र"। अन्य चक्रों के भेदन के पश्चात अन्त में आज्ञाचक्र का भेदन होता है, और उसके भेदन होते ही तीसरा नेत्र खुलता है। यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो भारतीय योग-साधना की यह अति दीर्घ यात्रा है। कई जन्म जन्मान्तरो के पश्चात कभी किसी योगी का तीसरा नेत्र खुलता है। लेकिन वह निश्चित नहीं है वह भी एक प्रकार से सन्दिग्ध ही है।

तब कैसे क्या होगा - चैतन्य प्रज्ञ थोड़ा व्यग्र होकर प्रशन किया?

लामा योगी कुछ क्षण मौन रहा और फिर गम्भीर स्वर में बोला - हमारी तिब्बतीय योग-तांत्रिक साधना परम्परा में तीसरे नेत्र को खोलने की एक क्रिया है और वह क्रिया है शल्य क्रिया। भारतीय योग साधना द्वारा जो उपलब्धि कई जन्म जन्मान्तरों के पश्चात योगी को होती है और जिसके लिए साधक को साधना मार्ग की अन्त हीन यात्रा करनी पड़ती है - वह उपलब्धि शल्य क्रिया से सम्भव हो जाती है थोड़े समय में और थोड़ी सी साधना से।

यह सुनकर पुलकित हो उठा चैतन्य प्रज्ञ, गद्-गद् होकर बोला वह - क्या आप शल्यक्रिया द्वारा मेरा तीसरा नेत्र खोल सकेंगे? क्या वे समस्त सिद्धियाँ उपलब्ध करायेंगे आप मुझको? यह सुनकर स्थिर दृष्टि से एक बार चैतन्य प्रज्ञ की ओर देखा लामा योगी ने और फुसफुसाहट भरे स्वर में बोला -- इसी कार्य के लिए तुमको यहाँ लाया हूँ चैतन्य प्रज्ञ तुम संस्कार सम्पन्न योग्य पात्र हो इसके लिए।

मै तैयार हूँ गुरूदेव हर्षित होकर बोला चैतन्य प्रज्ञ। आप जो आज्ञा देंगे उनका पालन तन, मन, आत्मा से करूँगा मैं।

शल्य क्रिया का आयोजन

दूसरे ही दिन से मठ में आयोजन शुरू हो गया चैतन्य प्रज्ञ की शल्य क्रिया के लिए। उस रहस्यमय गुप्त मठ में एक ऐसा कक्ष था - जिसके भीतर अन्धकार

ही अन्धकार भरा था। प्रकाश की एक पतली सी रेखा भी नही। सर्वप्रथम चैतन्य प्रज्ञ के ललाट पर अनेक प्रकार की वनौषधियों और जड़ी-बूटियों का लेप लगा कर उसी अन्धकार में डूबे कक्ष में बन्द कर दिया गया। दूसरे दिन प्रातः काल कक्ष का कपाट खोला गया। उस समय लामा योगी के साथ तीन और लामा वहाँ उपस्थित थे - जो उस आयोजन में सम्मिलित होने के लिए किसी अन्य गुप्त मठ से आये थे। तीनो लामाओं को यह देखकर आश्चर्य हुआ कि पूरी रात अन्धकार में डूबे हुए प्रकोष्ठ में अकेले रहने के पश्चात भी मन्द-मन्द मुस्कुरा रहा था चैतन्य प्रज्ञ। उन दोनों आगन्तुक लामाओं के सामने लामा योगी ने चैतन्य प्रज्ञ को सम्बोधित करते हुए सर्वप्रथम ''शल्य क्रिया'' की प्रक्रिया समझायी फिर कहना शुरू किया इस शल्य क्रिया से तुमको असहनीय शारीरिक कष्ट होगा, असहनीय वेदना होगी और होगी असह्य शारीरिक यंत्रणा भी किन्तु तुमको इस बात का पूर्ण विश्वास होना चाहिए कि तुमको जो कष्ट वेदना और यंत्रणा प्राप्त होगी वे सब मिलकर तुम्हारे लिए परम सिद्धि का मार्ग प्रशस्त करेगी। इसमें सन्देह नहीं। यह तुम्हारी कठिन से कठिन परीक्षा है। अब तुमको इस परम सत्य को स्वीकार कर लेना चाहिए कि तुम्हारा यह पार्थिव शरीर ''तुम'' नहीं हो इसलिए समस्त कष्टों समस्त वेदनाओं और समस्त यंत्रणाओं का प्रभाव अपने मन और अपनी आत्मा पर पड़ने नहीं दोगे। और पूर्ण मनोबल और पूर्ण आत्मबल से सब कुछ सहन कर लोगे तुम।

चैतन्य प्रज्ञ पूर्ववत् मुस्कुराते हुए सब कुछ सुनता रहा। उसे तो साधना की चरम सीमा पर पहुँचना था। परम दुर्लभ सिद्धियों को प्राप्त करना था। और होना था परम ज्ञान को उपलब्ध, इसलिए वह उत्साहित था और था प्रसन्न। सभी प्रकार के कष्टों और सभी प्रकार की यंत्रणाओं को सहने के लिए बिल्कुल तैयार था वह। अपने गुरू के शब्दों से उसे और बल प्राप्त हुआ। सिर झुकाकर स्वीकृति की सूचना दी उसने।

शल्य क्रिया का आरम्भ

प्रातः काल का समय। घने कुहरे की सफेद चादर फैली हुई थी धरती और पहाड़ो पर। पूरब का आकाश रक्ताभ हो चुका और सूर्योदय होने ही वाला था। मठ के भीतर गहन निस्तब्धता बिखरी हुई थी। अब तक न जाने कैसे और कहाँ से बीस - पच्चीस की संख्या में लामा एकत्र हो गये थे वहाँ, सभी खड़े होकर मौन साधे मन ही मन किसी मंत्र का जप कर रहे थे। एक ऊँची पाषाण वेदी पर शान्त और निर्विकार बैठा उन लामाओं को अपलक देख रहा था चैतन्य प्रज्ञ।

उसी समय गुरू लामा योगी ने एक चमकीला औजार निकाला जो आरी जैसा था और उसके दाँत पैने थे। सामने धधकती हुई अग्नि में उस औजार को खूब गर्म किया गया और खूब तपाया गया और उस तपते हुए औजार को चैतन्य प्रज्ञ के ललाट के मध्य में धीरे से रखा गुरू लामा योगी ने और रखते ही औजार के आरी जैसे पैने दाँत ललाट की हड्डी को धीरे-धीरे काटने लगे। असीम पीड़ा का अनुभव होना चाहिए था चैतन्य प्रज्ञ को लेकिन नहीं, असीम पीड़ा के स्थान पर उसे केवल साधारण सी मीठी यंत्रणा के अतिरिक्त और कोई अनुभूति नहीं हुई। ललाट की हड्डी कट जाने के पश्चात गुरू लामा योगी ने उस औजार को बाहर निकाल लिया। ललाट के मध्य में उस औजार ने एक छेद बना दिया था जो भीतर गहरा था लेकिन उसका मुख छोटा था। उस छेद के कारण चैतन्य प्रज्ञ को ऐसा लगा जैसे उसकी आन्तरिक स्थिति में परिवर्तन हुआ है और वह थोड़ा ऊँचा उठ गया है पहले से।

गुरू लामा योगी ने अब औजार को रखकर एक लकड़ी हाथ में ली वह लकड़ी शलाका जैसी थी। उसे उसने अग्नि में तपाया और फिर दिव्य औषधियों के जल से छिड़क कर उसे पवित्र किया और फिर चैतन्य प्रज्ञ के ललाट में हुए छेद के भीतर उस लकड़ी की शलाका डाल दी। ज्यों ही उस शलाका का स्पर्श कपाल प्रदेश के एक विशेष आन्तरिक भाग से हुआ उसी क्षण चैतन्य प्रज्ञ ने अपने नेत्रो में एक अनर्वचनीय दिव्य प्रकाश का और साथ ही अपनी नासिका में एक दिव्य सुगन्ध का अनुभव किया। और उन दोनो अनुभवों के परिणाम स्वरूप चैतन्य प्रज्ञ को लगा कि बाह्य जगत में अब तक जो कुछ देख रहा था वह सब अब एक नये रूप में परिवर्तित हो गये है। कहने की आवश्यकता नहीं, उस परिवर्तन का प्रतिफल और प्रभाव चैतन्य प्रज्ञ के गम्भीर मुख मण्डल पर भी पड़ा था। जिसे देखकर उसके गुरू लामा योगी मधुर वाणी में बोले - चैतन्य प्रज्ञ अब तुमने वह ''स्तर'' प्राप्त कर लिया है जिस ''स्तर'' पर हम सब लोग है। अब तुमको वह दिव्य दृष्टि प्राप्त हो गयी है जिसके द्वारा तुम संसार के वास्तविक रूप के अतिरिक्त मनुष्य के भी वास्तविक रूप से पूर्ण रूप से परिचित हो सकोगे।

यह सुनकर असीम सुख और असीम आनन्द का अनुभव किया चैतन्य प्रज्ञ ने।

लकड़ी के उस रहस्यमयी शलाका को ललाट के बाहर निकाला नही गया। उसी में रहने दिया गया। बल्कि उस स्थान पर रहस्यमयी तांत्रिक जड़ी-बूटियों और औषधियों का लेपकर एक पट्टी बांध दी गयी।

और जब तीसरा नेत्र खुला

दो सप्ताह बाद ललाट की बंधी पट्टी खोली गयी। उस समय उच्च कोटि के लामा साधको की वहाँ एक प्रकार से भीड़ इकट्ठी थी। पट्टी हटने के पश्चात सर्वप्रथम अपने लामा गुरू पर दृष्टि पड़ी चैतन्य प्रज्ञ की। उसने उनके मुख पर एक सुनहला गोलाकार प्रभा मण्डल देखा - जो उनके शारीरिक और मानसिक पवित्रता का परिणाम था।

अब तक काफी दुर्बल हो गया था चैतन्य प्रज्ञ लेकिन उसकी बुद्धि तेज हो गयी थी। इच्छा शक्ति प्रबल हो गयी और बढ़ गया था आत्म बल। अपने तीसरे नेत्र से किसी भी व्यक्ति के अन्तःकरण को देखने-समझने की योग्यता उसे उपलब्ध हो गयी थी धीरे-धीरे रंगो व आभासो के व्यक्ति के विचारों भावनाओं, इच्छाओं को तत्काल जान समझ लेता था। कुछ समय पश्चात उसे इतनी शक्ति प्राप्त हो गयी कि किसी भी व्यक्ति के मनोभावो को अपने अन्तःकरण में प्रति फलित कर लेता था।

चैतन्य प्रज्ञ को उपदेश

कुछ समय के पश्चात चैतन्य प्रज्ञ को दीक्षा देने का समय आ गया। मठ में दीक्षा का आयोजन शुरू हो गया। जो पहले लामाओं की मण्डली आयी थी वह चली गयी थी, दीक्षा के अवसर पर अनेक गुप्त मठों से लामाओं का आगमन शुरू हो गया। निश्चित समय पर लामा गुरू के गुरू जो सर्वोच्च लामा थे, उन्होंने कहा - चैतन्य प्रज्ञ तुमको पारलौकिक जगत की दुर्लभ सिद्धि प्राप्त हो चुकी है तुम्हे उसका उपयोग अपनी आत्म मुक्ति के साथ-साथ लोकोपकार के लिए करना होगा। स्वार्थ सिद्धि के लिए नही। तुमको जो दिव्य दृष्टि उपलब्ध हुई है उसके द्वारा तुम जो कुछ जान समझ सकोगे और जो कुछ देख सुन सकोगे उसको प्रकट करने से यदि किसी की हानि होती प्रतीत हो तो उसे कभी भी प्रकट मत करना। किसी के शारीरिक और मानसिक कष्टो का निवारण तुमसे यदि हो सके तो कर देना लेकिन किसी के जीवन मार्ग को परिवर्तित करने का प्रयत्न कभी मत करना। ऐसा तुमसे कदापि नहीं होना चाहिए। क्योंकि अदृश्य और अलौकिक शक्तियों को यह अभीष्ट नही होता। वे नही चाहती कि कोई शक्ति सम्पन्न किसी की नियति को परिवर्तित करने की चेष्टा करे। फिर थोड़ा रूककर उस सर्वोच्च लामा ने कहना शुरू किया - तुम्हारे पूर्व जन्मों के सारे वृतान्त मुझे ज्ञात है। तुमको तो पहले से ही दिव्य दृष्टि प्राप्त है। किन्तु तीसरा नेत्र प्राप्त कर लेने के पश्चात तुम्हारी शक्ति में आशातीत् वृद्धि हुई है। फिर भी तुमको जीवन में अनेक प्रकार

की कठोर परिस्थितियों का सामना करना पड़ेगा। मैं जानता हूँ कि तुम्हारा जीवन मार्ग सुगम न होगा लेकिन अपने महान कार्य में सफलता अवश्य प्राप्त होगी इसमें सन्देह नहीं।

मृत्यु का साक्षात्कार

थोड़ा मौन रह कर सर्वोच्च लामा ने गम्भीर स्वर में कहा - चैतन्य प्रज्ञ अब वह समय आ गया है जन तुम मृत्यु का साक्षात्कार करोगे।

यह बात समझ में नहीं आयी चैतन्य प्रज्ञ को।

वह बोला - कैसे?

सर्वोच्च लामा ने कहा - शीघ्र ही एक आत्मा पार्थिव शरीर का त्याग करने वाली है। शरीर त्याग की इस क्रिया को देखना और समझना ही मृत्यु से साक्षात्कार करना है।

जिस लामा को अपना शरीर छोड़ना था वह सुदूर एक मठ में रहते थे। चैतन्य प्रज्ञ को लामा योगी अपने साथ उस मठ में ले गये। मरणासन्न लामा पद्मासन की मुद्रा में पाषाण बेदी पर बैठे थे। चैतन्य प्रज्ञ ने देखा कि उस मरणासन्न लामा के शरीर की सुनहली आभा धुंधली हो गयी है। उनके सामने पूरी रात बैठा रहा चैतन्य प्रज्ञ लेकिन आत्मा ने शरीर का त्याग नहीं किया। किन्तु प्रातः काल होते ही उनके शरीर की जो शेष बची स्वर्णाभा थी - वह अचानक गायब हो गयी और कपाल प्रदेश से एक अण्डाकार स्वर्ण वर्ण का प्रकाश पुञ्ज निकलता हुआ दिखलाई दिया चैतन्य प्रज्ञ को। वह प्रकाश पुंज धीरे-धीरे चलकर आकाश में विलीन हो गया।

तिब्बत में अन्तिम संस्कार

तिब्बत में सामान्यजन का मृतशरीर कुछ दिनो तक घर में रखकर बाद में जीव-जन्तुओं के आहार के लिए किसी निर्जन स्थान पर रख दिया जाता है। लेकिन योगियों और सिद्ध पुरुषों के मृत काया के साथ ऐसा व्यवहार नहीं होता। वह काया अत्यन्त पवित्र मानी जाती है और उसे दीर्घकाल तक सुरक्षित रखने की व्यवस्था की जाती है। इसी नियम के अनुसर पद्मासन से बैठे उस लामा की मृतकाया को एक गहरे भूतल में बने कक्ष में पहुँचाया गया।

वह कक्ष भूमि से लगभग चालिस फुट नीचे था और था अत्यन्त रहस्यमय। कक्ष की दीवारों पर चारो ओर सैकड़ो दीपाधार बने हुए थे - जिनपर घी के दीपक प्रज्जवलित थे। जिनके सम्मिलित प्रकाश से पूरा कक्ष उद्भासित था। वातावरण

में गहरी नीरवता बिखरी हुई थी। वैसे शव के साथ सैकड़ो लामा वहाँ गये हुए थे लेकिन बाद में केवल तीन को छोड़कर सभी वापस लौट गये। वे तीन लामा शव को सुरक्षित रखने की क्रिया को जानते थे। उनके साथ चैतन्य प्रज्ञ वहाँ ठहर गया।

मृत लामा के शव के भीतरी भाग को निकाल कर एक बड़े से घड़े में रखा गया और फिर एक विशेष विधि से उस घड़े के मुँह को बन्द कर दिया गया। उसके पश्चात उनकी त्वचा को अच्छी तरह धो पोछकर उसमें जड़ी बूटियों से बना एक तरह पदार्थ भर दिया गया। जो देखते ही देखते गाढ़ा होकर जम गया। जिसके फलस्वरूप शरीर का बाहरी रूप ठीक वैसा ही हो गया जैसा जीवन काल में था। इसके पश्चात त्वचा के ऊपर भी एक लेप लगाया गया। लेप थोड़ी देर बाद गाढ़ा होकर जम गया। मृत काया को पूरी रात सूखने के लिएं छोड़ दिया गया। दूसरे दिन उसे एक ऐसे कक्ष में रख दिया गया जो काफी गर्म था। मृत काया को चारो ओर से वनौषधियों और वनस्पतियों से ढक दिया गया। पूरे बारह दिनों तक मृत काया उस कक्ष में पकती रही। तेरहवें दिन उसे बाहर निकाला गया और निकाल कर सोने का वर्क उस पर चढ़ाया गया। जिसके फलस्वरूप मृत काया की एक-एक रेखा पहले की तरह स्पष्ट हो गयी।

जब चैतन्य प्रज्ञ ने अपने पूर्व शरीर को देखा

इस प्रकार जब मृत लामा के पार्थिव शरीर का पूर्ण उपचार हो गया तो उसके पश्चात उसे उठाकर एक अन्य कक्ष में ले जाया गया। वह कक्ष भी भूतल में था। और काफी लम्बा - चौड़ा था। मगर गहन अन्धकार में डूबा हुआ था। एक लामा ने थोड़ा आगे बढ़कर मुख्य द्वार के समीप रखे हुए एक विशाल नगाड़े पर मुंगरी से चोट की और उस चोट की गम्भीर ध्वनि ने पूरे विशाल कक्ष में एक बारगी गूंज उठी और उसी के साथ पूरे कक्ष में हल्का नीला प्रकाश फैल गया। काफी प्रखर था वह हल्का नीला प्रकाश। चैतन्य प्रज्ञ ने देखा कि कक्ष में कई पाषाण वेदियाँ बनी हुई थी और प्रत्येक वेदी पर उसी प्रकार का स्वर्ण शरीर पद्मासन की मुद्रा में बैठा हुआ था। जो वेदियाँ खाली थी, उनमें से एक पर उस लामा के स्वर्ण शरीर को बैठा दिया गया।

चैतन्य प्रज्ञ को ऐसा प्रतीत हुआ कि पंक्तिबद्ध बैठे हुए वे स्वर्ण शरीर एक साथ चैतन्य हो उठेंगे। लेकिन ऐसा हुआ नहीं। उसे यह भी प्रतीत हुआ कि वह स्वयं सशरीर परलोक पहुँच गया है। टहलते हुए जब वह एक विशेष शरीर के सामने पहुँचा तो उसके भीतर एक प्रबल आकर्षण की अनुभूति हुई। लामा

योगी ने आगे बढ़कर चैतन्य प्रज्ञ की पीठ थपथपाते हुए कहा – यह पूर्व जन्म का तुम्हारा ही शरीर है और एक दूसरे शरीर की ओर उन्होने संकेत करके कहा – यह मेरा परित्यक्त शरीर है।

मृत्यु के पार का अनुभव

एक दिन लामा योगी ने कहा – चैतन्य प्रज्ञ, स्वयं मृत्यु के द्वार पर गये बिना तुम्हे इस बात की प्रतीति नहीं होगी कि वास्तव में मृत्यु का कोई अर्थ नहीं है। इसलिए अब तुमको उपमृत्यु का वरण करना होगा। इसके बाद लामा योगी ने चैतन्य प्रज्ञ को पूरे छः मास तक अपने निर्देशन में गुह्य साधना कराते रहे। साधना के साथ-साथ चैतन्यप्रज्ञ के शरीर को भीतर और बाहर से विभिन्न प्रकार की जड़ी बूटियों से स्वच्छ और निर्मल भी किया गया। अन्त में उसे ध्यान की विशेष स्थिति में रखा गया।

एक दिन लामायोगी चैतन्य प्रज्ञ को साथ लेकर यात्रा पर निकला। वह यात्रा काफी लम्बी और अत्यन्त कष्टदायिनी थी। अन्त में दोनो ने एक गुहा में प्रवेश किया। गुहा का प्रवेश मार्ग काफी संकरा और लम्बा था। मार्ग जहाँ समाप्त होता था – वहाँ काफी लम्बा चौड़ा विशाल हाल था – जिसके ऊपरी भाग में आकाश में चमकने वाले नक्षत्रों की तरह हजारों नक्षत्र चमक रहे थे। उस हाल के मध्य में भगवान बुद्ध की एक विशाल स्वर्ण प्रतिमा स्थापित थी। प्रतिमा लगभग बीस फुट ऊँची थी और स्वर्ण मण्डित बेदी पर बैठी हुई थी पद्मासन की मुद्रा में। हाल के बाद एक मार्ग और भीतर जाने के लिए था। वह भी संकरा था। उस मार्ग पर चलकर दोनों गुरू-शिष्य एक ऐसे स्थान पर पहुँचे – जिसकी भूमि आबनूस की तरह चमक रही थी और जिसकी दीवारों पर विभिन्न प्रकार के रत्न जड़े हुए थे। उन रत्नों से विभिन्न रंगो की प्रकाश किरण फूँट रही थीं। चैतन्य प्रज्ञ ने देखा कि वहाँ भूमि पर तीन रत्न जड़ित वेदियाँ थी। वे वेदियाँ दो फुट ऊँची, दो फुट चौड़ी और पाँच फुट लम्बी थीं। जिन पर तीन स्वर्ण मंडित मृत शरीर शयन की मुद्रा में लेटे हुए थे। उन तीनो मृत शरीर से सुनहले रंग की आभा निकल कर उनके चोरा ओर फैल रही थी। लामा योगी कुछ देर तक उन तीनों मृत शरीर के सामने खड़े होकर मन ही मन आँखे बन्द किए कोई मन्त्र•जपता रहा और फिर आँखे खोलकर चैतन्य प्रज्ञ की ओर देखते हुए उसने कहा ये तीनो आदि देवता है। ये अतीत के उस काल से हैं जिस काल में समुद्र तट पर तिब्बत था और समुद्र की उत्ताल तरंगे तिब्बत की भूमि के पग पखारती थी। उस काल में सप्तर्षि के आकार बहुत बड़े थे। आकाश में दूसरे

प्रकार के तारे जगमगाते थे और दिव्य लोकों से महात्माओं का आगमन आकाश मार्ग से तिब्बत में होता था। वे महात्मा यहाँ के सिद्ध साधकों के साथ सत्संग के लिए आते थे। इन तीनो मृत शरीर की आत्मा कहाँ होगी इस समय? चैतन्य प्रज्ञ के इस प्रश्न के उत्तर में लामा योगी बोले - ध्रुव मण्डल के समीप ऋषि मण्डल है उसी मण्डल में उनकी आत्माएँ निवास कर रही है अति दीर्घ काल से।

वे क्या लौटेंगी कभी?

हाँ लेकिन उस समय जब संसार में महाभारत जैसा भयंकर विनाश कारक युद्ध के परिणाम स्वरूप अनाधिकारी रूप से धरती पर रहने वाले कुटिल और नीच मनुष्यो का नाश हो जायेगा समूल। इसके अतिरिक्त देव नदियों के जल निर्मल हो जायेंगे। उनकी धारायें काफी चौड़ी और प्रखर हो जायेंगी। प्राचीन काल की लुप्त हो गयी जड़ी बूटियों और बनौषधियों का जब पुन: अविर्भाव होगा इसके अतिरिक्त भारत संयुक्त रूप से एक विशाल अखण्ड राज्य होगा, उस समय ये तीनो मृत शरीर अपने आप जीवित हो उठेंगे। और उनकी आत्मा अपने-अपने शरीर के माध्यम से सप्त पवित्र नदियों में स्नान करेंगे। स्नान के पश्चात ब्रह्माण्ड की यात्रा पर निकल पड़ेंगे। तुमको ज्ञात होना चाहिए कि इन आदि देवताओं का दर्शन अधिकार दीक्षित को ही होता है। इसके पश्चात लामा योगी चैतन्य प्रज्ञ को आवश्यक गोपनीय निर्देश देने के बाद वहाँ से चले गये।

लामा योगी के निर्देश के अनुसार चैतन्य प्रज्ञ गुहा के बाहर निकला और एक विशाल शिला खण्ड पर पद्मासन की मुद्रा में बैठ गया ध्यानस्थ। शीघ्र ही उसे ऐसा अनुभव हुआ कि जैसे ऊपर उठ रहा है धीरे -धीरे वह। एकाएक उसने अपने आपको शून्य से अवस्थित पाया। उसे काल और स्थान का ज्ञान नहीं रहा। उसने देखा - ब्रह्माण्ड में सभी ग्रह नक्षत्रों के विशाल पिण्ड एक दूसरे के चारो ओर तीव्र गति से चक्कर काट रहे थे। पृथ्वी सूर्य के निकट परिक्रमा कर रही थी। सर्वत्र जल प्लावन और भूकम्प देखा उसने। सर्वत्र प्रकृति को हाहाकार करते हुए पाया उसने। धीरे-धीरे आकाश में तारो और ग्रह नक्षत्रों के अस्तित्व मिटते जा रहे थे और उनके स्थान पर स्याह कालिमा की चादर फैलती जा रही थी। बड़ा ही भयानक और ह्दय कम्पी दृश्य था ब्रह्माण्ड का। और फिर सारा लोम हर्षक दृश्य एकाएक समाप्त हो गया। चैतन्य प्रज्ञ को उसके बाद ऐसा लगा कि उसका शरीर शीतल और निष्प्राण होकर शिला खण्ड पर पड़ा है। उसके नेत्र खुले। चेतना लौटते ही अपने सामने अपने गुरू लामा योगी को

खड़े देखा उसने। वह मुस्कुरा रहे थे। अब तक उसकी चेतना वापस लौट चुकी थी पूरी तरह। मृत्यु के पार के अनुभव कर चुका था वह।

चैतन्य प्रज्ञ से साक्षात्कार

चैतन्य प्रज्ञ की यह आश्चर्यजनक और अविश्वसनीय आध्यात्मिक कथा सुनकर स्तब्ध और अवाक रह गया मैं। जिस महाशय ने यह कथा सुनाई थी मुझे, वह स्वयं एक भारतीय योगी थे और कुछ समय से तिब्बत में रह रहे थे। उनका नाम था दीपरत्न। मैने सहज भाव से पूछा क्या चैतन्य प्रज्ञ का दर्शन लाभ सम्भव है?

मेरे इस प्रश्न के उत्तर में दीप रत्न बोले, क्यों नहीं! लेकिन मार्ग कठिन है और यात्रा भी थोड़ी लम्बी है क्या आप चल सकेंगे?

क्यों नहीं! एक उच्चकोटि के योगी के दर्शन की तुलना में मार्ग की कठिनाई और लम्बी यात्रा का कोई महत्व व मूल्य नहीं है।

मेरी बात सुनकर गहरी दृष्टि से न जाने क्यों मेरी ओर देखा एक बार दीपरत्न ने और फिर कहा - ठीक है। याक की व्यवस्था करता हूँ, कल प्रातः ही चल देंगे हमलोग।

दूसरे दिन याक पर बैठकर मैं चल पड़ा यात्रा पर दीपरत्न के साथ। सचमुच यात्रा अत्यन्त कष्ट दायिनी थी। एक लम्बा हिमपठार पार करने के बाद ऊँची चढ़ाई थी। उसके बाद चैतन्य प्रज्ञ का स्थान था। तीसरे दिन गुहा के सामने पहुँचा मैं दीपरत्न के साथ वातावरण में गहरी नीरवता व्याप्त थी। और उसी के साथ व्याप्त थी एक अबूझ सी खिन्नता भरी उदासी भी। झिर-झिर कर बर्फ गिर रहा था। एक नमक के व्यापारी ने कुछ दूर पर अपना पड़ाव डाला था। उस व्यापारी ने हम दोनो का स्वागत किया और व्यवस्था की भोजन इत्यादि की। मैं काफी थक गया था। भोजन करते ही सो गया कम्बल बिछाकर। दीपरत्न ध्यान में बैठ गये थे। दूसरे दिन प्रातः दीपरत्न ने मुझे लेकर गुफा में प्रवेश किया गुफा का मार्ग काफी संकरा और लम्बा था। अन्धकार में डूबा था ही। किसी प्रकार पहुँचा मैं एक विशाल आंगन में। आंगन के एक ओर दो तीन कमरे थे। पत्थर की दीवारो और पत्थर के फर्श भी। शीत से रोम-रोम कांपने लगा था। लेकिन जब दीपरत्न मुझे एक कमरे में ले गये तो वहाँ गरमी का अनुभव हुआ मुझे। गरमी के अतिरिक्त कुछ और भी अनुभव हुआ था मुझे लेकिन उस अज्ञात अनुभव को बतला नहीं सकता मैं। कमरे में अंधेरा था हल्का सा पर बाद में धीरे-धीरे अपने आप चारो ओर हल्के रंग का गुलाबी प्रकाश फैलने लगा। समझ

न सका कि वह प्रकाश कहाँ से आ रहा था? प्रकाश थोड़ा तीव्र होकर स्थिर हो गया। चारो ओर सिर घुमाकर देखने लगा मैं। तभी दीपरत्न ने फुसफुसाकर मेरे कान में कहा - उधर सामने देखे। दीपरत्न के कहते ही देखा मैंने सामने एक ऊँची बेदी पर एक महात्मा चादर ओढ़े ध्यानावस्था में बैठे हुए थे। उनके शरीर के चारो ओर गोलाकार प्रभा मण्डल था हल्का नीले रंग का। कहने की आवश्यकता नही, वे ही थे महान और परम योगी चैतन्य प्रज्ञ! भूमि पर साष्टांग लेट कर प्रणाम किया मैंने। कितना भाग्यवान था मैं कितना संस्कारी था मैं और कितना पुण्य किया था मैंने, जिनके फलस्वरूप ऐसे उच्च कोटि के दुर्लभ योगी का दर्शन लाभ हो रहा था मुझे। उस समय स्थिर भाव से एकाग्र चित्त से अपलक निहारता रहा मैं उस दीर्घ आयु सम्पन्न एक महान आत्मा की ओर न जाने कब तक।

बहुत देर बाद चैतन्य प्रज्ञ की समाधि भंग हुई। शान्त वातावरण में एकाएक गम्भीर वाणी गूंजी - आओ दीपरत्न। यह कौन है? तुम्हारे साथ !

दीपरत्न थोड़ा आगे बढ़ गये। सिर झुकाकर और दोनो हाथ पीछे कर परम्परा के अनुसार प्रणाम किया पहले दीपरत्न ने और फिर मधुर स्वर में कहा - मेरी ओर संकेत करते हुए - ये महाशय काशी से चलकर तिब्बत आये हुए हैं। पिछले दो वर्ष से तिब्बत में विचरण कर रहे है, लालसा और कामना लिए प्रच्छन्न सिद्ध साधकों और सन्त-महात्माओं के दर्शन की और साथ ही सत्संग की।

दीपरत्न की बात सुन कर गम्भीर भाव से और गहरी दृष्टि से मेरी ओर देखते हुए महान योगी चैतन्यप्रज्ञ मन्द स्वर में बोले - इतनी कष्ट दायिनी यात्रा कर तुम जिस स्थान से यहाँ आये हो उस स्थान की पवित्र भूमि पर अतीत के किसी काल में भगवान तथागत को चरण चिन्ह अंकित हुए थे। कभी उस महान आत्मा ने उसी भूमि पर धर्म चक्र प्रवर्तन किया था और भिक्षाटन किया था कभी अपने शिष्यों के साथ। मैंने भी कभी किसी समय वहाँ निवास किया था एक बौद्ध भिक्षु के रूप में।

मुझे ज्ञात है - विनम्र भाव से मैं बोला - आपके विषय में दीपरत्न ने अपने ज्ञान के अनुसार थोड़ा बहुत बतलाया है मुझे।

मेरी बात सुनकर वह महान साधक कुछ बोले नहीं मौन रहे फिर अपनी आँखे बन्द कर ली उन्होंने। सहज ही गम्भीर हो उठा वातावरण। थोड़ी देर बाद तीन साधक वहाँ उपस्थित हुए। तीनो के सिर मुड़े हुए थे और शरीर पर कषाय वस्त्र थे। उनके चेहरे पर गम्भीरता थी। वे किसी से कुछ बोल नहीं रहे थे। मैंने देखा - उन तीनो के हाथ में विभिन्न प्रकार के खाद्य पदार्थो से

भरी थालें थीं। थालों को मेरे और दीपरत्न के सामने रखकर वे तीनो तत्काल वापस लौट गये।

अक्षय भोजन सामग्री

ये हम दोनो के लिए भोजन है जब तक हम सब यहाँ रहेंगे ये भोजन सामग्री समाप्त न होगी - दीपरत्न बोले। समझा नहीं मैंने कहा।

दीपरत्न थोड़ा मुस्कुराये और धीरे से बोले - आपको समझाना होगा यहाँ से काफी दूर पर एक गुप्त मठ है। वे तीनो व्यक्ति उसी मठ से ये खाद्य सामग्री लेकर आये थे। ये अक्षय भोजन सामग्री है। कभी समाप्त न होगी।। थाल सदैव भरा रहेगा जब तक हम दोनो यहाँ रहेंगे।

बड़े आश्चर्य की बात है। कैसे ज्ञात हुआ उस मठ के तीनो व्यक्तियों को हम दोनों के संबंध में, कैसे वे जान पाये कि हम दोनों को भोजन की आवश्यकता है? और फिर ये भोजन अक्षय कैसे बना रहेगा?

मेरी बात सुनकर थोड़ा मुस्कुराये दीपरत्न और फिर बोले - इसी को कहते है योग सिद्धि, बस आपके सारे प्रश्नो और सारी जिज्ञासाओं का समाधान मेरे इसी शब्द से हो जायेगा, ऐसी आशा है अब भोजन करिये।

मैं कुछ बोला नहीं, सिर झुकाकर भोजन करने लगा। दीपरत्न भी भोजन करने लगे मेरे साथ। भोजन स्वादिष्ट था। विभिन्न प्रकार के व्यंजन थे। वर्णन नहीं कर सकता। सबसे आश्चर्यजनक अलौकिक बात तो यह थी कि दीपरत्न के साथ पूरे सत्रह दिन रहा मैं उस गुह-नुमे मठ में और उस दिव्य पुरुष के सम्पर्क में इस अवधि में वे तीनो थाल विभिन्न प्रकार के स्वादिष्ट भोजनो व्यंजनो और खाद्य सामग्रियों से कभी भी रिक्त नहीं हुआ। दूसरी बात यह कि हम दोनो को जिस दिन जो खाने की इच्छा होती वहीं खाना तीनो थालों में आ जाता अपने आप। अति प्रसन्न हुए। योग सिद्धि का प्रत्यक्ष प्रमाण देखकर मेरी आत्मा चमत्कृत हो उठी थी।

एक सौ अस्सी वर्ष में पाँच बार परकाया प्रवेश

उस गुहानुमा रहस्यमय मठ में महात्मा चैतन्य प्रज्ञ के साथ चार-पाँच जन और रहते थे। वे लामा कम भारतीय साधु अधिक प्रतीत होते थे। आश्चर्य की बात तो यह थी कि कोई किसी से बोलता चालता नहीं था। सभी अपने आप में लीन रहते थे, मौन और एकाग्र। सब कुछ संकेत से होता था।

क्या मैं महात्मा से अपनी कुछ जिज्ञासाओं का समाधान प्राप्त कर सकता हूँ - एक दिन मैंने दीपरत्न से पूछा?

क्यों नहीं - दीपरत्न बोले - निस्संकोच और निर्भय होकर अपनी जिज्ञासा प्रकट कर सकते है आप। मेरे मन में प्रथम प्रबल जिज्ञासा यह थी कि पूरे एक सौ अस्सी वर्ष महात्मा चैतन्य प्रज्ञ कहाँ थे? किस अवस्था में थे? और क्या कर रहे थे? लामा योगी से उनका सम्पर्क क्यों नहीं हुआ?

कौतूहल पूर्ण मेरी जिज्ञासाओं को सुनकर उस महान योगी ने स्थिर भाव से एक बार मेरी ओर देखा और उसी समय उनके ललाट के मध्य से जौ के आकार की एक नीले रंग की ज्योति प्रकट हुई। अत्यन्त प्रखर और तीव्र थी वह ज्योति। दो तीन क्षणो के बाद लुप्त हो गयी वह।

दीपरत्न ने कहा - यही नील ज्योति महात्मा का तीसरा नेत्र है।

तीसरे नेत्र के संबंध में अब तक बहुत कुछ पढ़ा और सुना था लेकिन उसे देखने का अवसर पहली बार मिला मुझे। चमत्कृत था मैं।

मेरी जिज्ञासाओं का समाधान करते हुए महापुरुष ने कहना शुरू किया - योगी के लिए आन्तर ज्ञान के साथ ही साथ बहिर्ज्ञान भी आवश्यक है। तभी योगी का व्यक्तित्व पूर्ण होता है और उसकी योग-यात्रा भी सफल होती है। और लक्ष्य की भी सिद्धि होती है। शरीर की आन्तरिक स्थितियों का ज्ञान, मन और उसके विधि रूपो का ज्ञान, प्राण और उसके भी विविध रूपों का ज्ञान और अन्त में आत्मा और उसके संबंधित ज्ञान - जिसे आध्यात्म ज्ञान कहते है - आन्तर ज्ञान है। इसी प्रकार सुख-दुख का अनुभव, परिवार का अनुभव, समाज का अनुभव और संसार का अनुभव बहिर्ज्ञान है। किन्तु बहिर्ज्ञान तभी लाभदायक और उपयोगी सिद्ध होता है जब उसके प्रति तटस्थता और निरपेक्षता रहती है। संसार में तटस्थ भाव और निरपेक्ष भाव से रहने वाला योगी ही संसार का वास्तविक अनुभव प्राप्त करता है और उसके वास्तविक स्वरूप से भी परिचित होता है। संसार पर जो माया का आवरण है उससे मुक्त होना आवश्यक है। और यह तभी सम्भव है जब पूर्ण रूप से बाह्य ज्ञान योगी को हो जाता है। उसी बाह्य ज्ञान को प्राप्त करने के लिए एक सौ अस्सी वर्षो में पाँच बार परकाया प्रवेश किया। इस प्रसंग में तुमको एक बात बतला देना आवश्यक है कि जन्म अथवा पुनर्जन्म नियति के अन्तर्गत है। कर्मजनित संस्कार के आधार पर नियति जन्म और पुनर्जन्म निश्चित करती है। कर्मजनित संस्कार के आधार पर जाति, धर्म, परिवार, समाज, पुत्र, धन, पत्नी आदि की उपलब्धि होती है। जबकि एक योगी से नियति का कोई बंधन नही है। जब 'नियति' के नियम में बंधा रह गया तो वह योगी फिर कैसा?

प्रकृति पर विजय प्राप्त करने वाला योगी ही सच्चा योगी है और ऐसा सच्चा योगी ही नियति को अपने अनुकूल कर लेता है। वह अनाशक्त भाव से और पूर्ण निरपेक्ष भाव से – केवल जागतिक अनुभव प्राप्त के उद्देश्य से इच्छानुसार किसी के भी शरीर में प्रवेश कर उस शरीर द्वारा अपने अनुभवों के भण्डार को भरने में समर्थ होता है।

वह दूसरे के शरीर में चाहे वह जीवित शरीर हो या मृत – प्रवेश करने के लिए जैसे स्वतंत्र रहता है उसी प्रकार शरीर से बाहर निकलने के लिए भी स्वतंत्र रहता है। शरीर में रहने के लिये किसी भी प्रकार की मोह, माया उसे अपनी ओर आकर्षित नही कर सकती। मोह-माया से मुक्त रहता है वह। इसी कारण बिना किसी आकर्षण के शरीर का तत्काल त्याग कर स्वतंत्र हो जाती है योगी की आत्मा। मूल में ये सब ही एक मात्र कारण है कि पिछले शरीर की पिछले जीवन की ओर पिछले ज्ञान की पूरी की पूरी स्मृति बनी रहती है योगी के मस्तिष्क में। पिछली स्मृतियों के बने रहने के कारण सबसे बड़ा लाभ यह था कि कोई भी भौतिक वस्तु या पदार्थ मुझे किसी भी रूप में आकर्षित नहीं कर पाता था। मेरा उससे निस्पृह संबंध रहता था और यही कारण था कि सब कुछ होते हुए भी मैं अपने आप में एकाकी और शून्यवत् था।

दो प्रकार का परकाया प्रवेश

योग सिद्ध पुरुष ही परकाया प्रवेश कर सकने में समर्थ होते है। परकाया प्रवेश के लिए योगी को स्थूल शरीर की आन्तरिक संरचना के साथ-साथ मस्तिष्क की क्रियाशीलता का ज्ञान होना आवश्यक है। इसके अतिरिक्त तंत्रिका तंत्र, परतंत्र तंत्रिका तंत्र और स्वतंत्र तंत्रिका तंत्र जो मुख्य है। शरीर के अतिरिक्त भाग की गति-विधि से भी उसे परिचित होना आवश्यक है। तभी मृत या जीवित शरीर में प्रवेश कर सकना सम्भव होता है।

परकाया प्रवेश मृत शरीर और जीवित शरीर दोनों में होता है। लेकिन प्रवेश में अन्तर है। शरीर मृत होने पर दो घंटे तक आन्तरिक रूप से ज्ञानेन्द्रियों के साथ मस्तिष्क की तन्तुएं जीवित और सक्रिय रहती हैं। मृत शरीर में तत्काल या दो घंटे के अन्दर ज्ञानेन्द्रियों द्वारा प्रवेश किया जाता है। मुख और नेत्र ये दो मार्ग प्रवेश के लिए श्रेष्ठ बतलाये गये हैं। यह भी समझ लेना चाहिए कि धनंजय प्राण जो मस्तिष्क में रहता है - वह अन्य प्राणो के निकलने के बाद शरीर से निकलता है। योगी इसी प्राण सूत्र के सहयोग से मृत शरीर में प्रवेश करता है। प्रवेश करते ही धनंजय प्राण अन्य प्राणो को - जो अभी तक चारो ओर

वातावरण में विखरे हुए होते है - उन्हें आकर्षित कर लेता है। जिसके फलस्वरूप शरीर में सभी प्राण पूर्ववत् काम करने लग जाते है। और उनके आन्तरिक प्रभाव से हृदय धड़कने लगता है। श्वास-प्रश्वास की क्रिया शुरू हो जाती है। शरीर में वायु और रक्त का संचार शुरू हो जाता है। और उसी के साथ मृत शरीर की वास्तविक आत्मा के स्थान पर योगी की आत्मा कार्य करने लग जाती है और सारा शरीर उसके प्रभाव से चैतन्य हो उठता है एक बारगी। संसार की दृष्टि में मृत शरीर जीवित हो उठता है। लोग समझते है कि मृत व्यक्ति जीवित हो उठा। लेकिन वहाँ तो बात दूसरी ही होती है। कौन भला जानता है कि शरीर में आत्मा किसी और की है?

जीवित शरीर में प्रवेश करना थोड़ा कठिन होता है योगी के लिए और कठिन होता है जीवित शरीर में अधिक समय तक रहना भी। इसीलिए परकाया सिद्ध योगी किसी विशेष उद्देश्य अथवा किसी विशेष कार्य की सिद्धि के लिए जीवित शरीर में प्रवेश करते है और इसके बाद बाहर निकल आते है और अपने पूर्व शरीर में प्रविष्ट हो जाते हैं।

मृत शरीर में प्रविष्ट योगी का आचरण और व्यवहार

योगी जब किसी के मृत शरीर में प्रवेश करता है तो उसका आचरण व्यवहार और स्वभाव मृत व्यक्ति जैसा होता न होगा, उसका अपना जैसा होता होगा, इस स्थिति को वह कैसे संभालता होगा - मैंने प्रश्न किया? आचरण व्यवहार स्वभाव आदि तो आत्मा का विषय है। मन के विषय में परिवर्तन एक सीमा तक सम्भव है लेकिन जहाँ तक संबंध आत्मा का है - उसके विषय अपरिवर्तनीय है।

परकाया प्रवेश एक बहुत बड़ी योगिक सिद्धि है। साधारण योगियों के बस की बात नही है। परकाया प्रवेश के कई भिन्न-भिन्न उद्देश्य है। इसी तिब्बत में कई ऐसे योगी है जो देश काल की दृष्टि से लम्बी यात्रा नही कर सकते है और उनके मन में किसी देश में भ्रमण की इच्छा है तो ऐसे योगी अपने पार्थिव शरीर को अपने मठ में छोड़कर अनुकूल किसी सद्यः मृत काया की खोज में निकल पड़ते हैं। यदि अनुकूल मृत शरीर प्राप्त हो गया तो तुरन्त उसमें प्रवेश कर जाते हैं और संसार की दृष्टि में वह व्यक्ति जीवित हो उठता है जो कुछ समय पूर्व मर चुका होता है। जीवित हो उठने पर योगी की आत्मा अपने संस्कार के अनुसार उसके शरीर को संचालित करती है और अपनी इच्छानुसार उससे काम लेती है जब उद्देश्य पूरा हो जाता है तो उस शरीर का त्याग कर अपने निज शरीर में वापस लौट आती है।

चैतन्य प्रज्ञ ने कहा - मेरे इसी स्थान के योगी अपने-अपने निज शरीर को यहाँ छोड़कर पूरे पन्द्रह वर्षो से पश्चिमी देशों में परकाया प्रवेश कर ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा ग्रहण कर रहे है और भौतिक विज्ञान की गति-विधि को समझने का प्रयत्न कर रहे हैं जिनके शरीरों में उन लोगों ने प्रवेश किया है - वे युवा अमेरिकन है और विज्ञान के स्नातक हैं। वे दोनो युवा अमेरिकन एक दुर्घटना में मारे गये थे। उसी समय दोनो योगी समाधि में बैठे हुए थे और परकाया प्रवेश के लिए योग्य पात्र की खोज कर रहे थे उसी अवस्था में। वे दोनो तत्काल शून्य मार्ग में दुर्घटना स्थल पर पहुँच कर दोनों वैज्ञानिकों के मृत शरीर में प्रवेश कर जी उठे। लेकिन पूरे बारह वर्ष लग गये उन दोनों योगियों को उन दोनों युवा वैज्ञानिकों के उन ज्ञान-विज्ञान की स्मृतियों को अपनी स्मृति बनाने में - जो दोनों की मृत्यु तक उनके पास थी। दोनों वैज्ञानिकों के परिचित और स्वजन परिजन आदि इस रहस्य से अपरिचित हैं कि उन दोनों युवकों के शरीर में उनकी नहीं बल्कि अलग-अलग दो योगियों की आत्माएँ है।

वे दोनो योगी कब तक अपने निज शरीर में लौटेंगे मैंने पूछा?

कुछ निश्चित नही है।

क्या मैं उनके निज शरीर का दर्शन कर सकता हूँ?

क्यो नहीं।

चैतन्य प्रज्ञ के संकेत पर मठ का एक युवा साधक मुझे अपने साथ एक अंधेरे प्रकोष्ठ मे ले गया। वहाँ भूमि पर चार पाषाण वेदियाँ बनी हुई थी क्रम से। जिनके एक ओर सोने के दीपाधार पर घी के चार दीपक जल रहे थे। जिनके प्रकाश में उन वेदियों पर चार योगियों को पीठ के बल निर्विकार भाव से लेटे हुए देखा मैंने। चारो के मुख पर जीवित शान्ति थी और तेज भी था। लगता था 'जैसे सो रहे है' वे, और अभी अभी उठ बैठेंगे। और ये दो कौन है - मेरे पूछने पर साथ आये युवा साधक ने धीमे स्वर में कहा - ये दो योगी भी पिछले पच्चीस साल से परकाया प्रवेश के माध्यम से भ्रमण कर रहे हैं।

इस समय दोनों महात्मा कहाँ होंगे - मैंने पूछा?

युवा साधक बोला - महात्मा चैतन्य प्रज्ञ ने अपनी दिव्य दृष्टि से देखकर एक बार बतलाया था कि एक तो साधु के शरीर में प्रवेश कर हरिद्वार के किसी आश्रम में हैं और दर्शन शास्त्र का अध्ययन और अध्यापन कर रहे हैं। दूसरे महाशय हैं आपके काशी में ही और वह भी है किसी साधु सन्यासी के शरीर में। दूसरे महाशय की प्रबल इच्छा थी कि काशी में कुछ समय व्यतीत कर वेद-वेदान्त का गहन अध्ययन करूँ, इसके लिए सुना है उन्होंने सूक्ष्म शरीर द्वारा कई बार काशी

की परिक्रमा की थी लेकिन योग्य और अनुकूल मृत पात्र नहीं मिला था। अन्त में अवसर प्राप्त हो ही गया। एक ब्रह्मचारी साधु था। सुन्दर सुदर्शन युवक था। षट् शास्त्रो में उसकी रूचि थी श्रावण का महीना था। किसी बनिया के यहाँ से भोजन कर साधु महाशय आये। बनिया का अन्न उनको पचा नहीं हैजा हो गया और उसी हैजे के कारण उनकी मृत्यु हो गयी। डॉक्टर वैद्य उनको बचा न सके। लेकिन जब उनकी पार्थिव शरीर को गंगा में विसर्जन के लिए ले जाया जा रहा था, उसी समय अचानक उनके मृत शरीर में प्राण का संचार हो उठा। यानि ब्रह्मचारी साधु जीवित हो उठे। थोड़ा हंसकर उस युवा साधक ने कहा - जीवित क्यों न होते उस समय दूसरे महात्मा वहीं थे। उनको तो उसी प्रकार की मृतकाया की आवश्यकता थी ही अवसर देखकर तुरन्त प्रवेश कर गये। लोगों ने समझा कि ब्रह्मचारी साधु जीवित हो गये है। प्रसन्न हो उठे लोग। भला वे लोग क्या जानते थे कि ब्रह्मचारी साधु के मृत शरीर में किसी बौद्ध सन्यासी की आत्मा ने प्रवेश किया है।

ब्रह्मचारी भवानन्द

उस युवा साधक के मुख से ये सारा वृत्तान्त सुनकर एक बारगी चौक सा पड़ा मैं। लगभग सात आठ वर्ष पूर्व वाराणसी के कवि और साहित्यकार श्री माली ने काशी के अहिल्या बाई घाट पर एक ब्रह्मचारी सन्यासी से मेरा परिचय कराया था। सन्यासी का नाम था भवानन्द। प्राय: नित्य उनके साथ सत्संग होता था गंगा तट पर। भवानन्द युवक थे। सुन्दर थे, सुदर्शन व्यक्तित्व था उनका। लम्बे गौर वर्ण के शरीर पर कषाय वस्त्र बड़ा ही भव्य लगता था। मुण्डित सिर और मस्तक पर त्रिपुण्ड की रेखायें उनके व्यक्तित्व को और निखार देती थी, सांख्य और वेदान्त के प्रकाण्ड विद्वान थे भवानन्द। विशेष कर सांख्य दर्शन पर ही मेरी चर्चा उनसे होती थी। सुना था शायद श्री माली जी ने ही बतलाया था कि अधिक भोजन करने के कारण हैजा हो गया था और उसी हैजे के कारण उनकी मृत्यु हो गयी थी। काफी दवा दारू करने के बाद भी बच न सके महाशय। लेकिन आश्चर्य की बात तो यह थी कि सायं काल जब उनके पार्थिव शरीर को परम्परा के अनुसार गंगा में विसर्जन के लिए ले जाया जा रहा था, उसी समय अचानक जीवित हो उठे महाशय। सभी लोग आश्चर्य चकित रह गये। किन्तु उसी समय से भवानन्द में अनेक परिवर्तन हो गये। कम बोला कम सोना कम बाहर निकलना और अधिक से अधिक समय वेद वेदान्त के अध्ययन में व्यतीत करना उनका स्वभाव बन गया था। पहले तो हम सब लोगों ने इस पर कोई विशेष ध्यान

नहीं दिया था, सोचा था मृत्यु के बाद पुनर्जीवित होने के कारण ऐसा परिवर्तन हो गया हो। परन्तु कुछ दिनो के बाद पूर्ण रूप से एकान्त सेवी और अध्ययन शील हो गये वह। किसी से अधिक मिलते जुलते नहीं थे बस एक मैंही था जिससे थोड़ी बातें करते थे। और गंगा तट पर मेरे साथ कभी कदा चले जाया करते थे।

कहने की आवश्यक नहीं, सारा रहस्य अनावृत्त हो चुका था मेरे सामने अब। उस दूसरे महात्मा की आत्मा भवानन्द के शरीर में थी इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं रह गया था मेरे मन में। हिमालय और तिब्बत यात्रा से लौटते ही मैं भवानन्द का पता लगाया। काशी में एक मासिक पत्रिका निकलती थी हिन्दी में। नाम था गीता धर्म। पत्रिका काशी के गीताधर्म मन्दिर संस्था से प्रकाशित होती थी। कभी मै। भी पत्रिका से जुड़ा हुआ था। श्रीमाली जी उस पत्रिका के सम्पादक थे। उनसे भवानन्द का पता चल गया। उस समय वे मीर घाट के एक आश्रम में रहते थे। जब में आश्रम में गया तो उस समय अपने कमरे में सो रहे थे भवानन्द, आहट पाकर उठे और आश्चर्य के भाव से देखने लगे मेरी ओर फिर गम्भीर स्वर में बोले पूरे छः वर्षो के बाद मिले हो, कहाँ थे इतने वर्ष? सुना था कि हिमालय की ओर चले गये हो।

आपने ठीक सुना था। हिमालय ही नहीं, तिब्बत भी गया था मैं। फिर थोड़ा रूककर भवानन्द के चेहरे पर अपनी दृष्टि गड़ाते हुए मैने आगे कहा - यदि तिब्बत न गया हो ता तो आपके वास्तविक स्वरूप से कैसे परिचित होता मैं। और कैसे देखता आपके महासमाधि में लेटे हुए पूर्व पार्थिव शरीर को कन्दरानुमा रहस्यमय मठ के अन्धकार में डूबे हुए प्रकोष्ठ में।

मेरी बात सुनकर एक बारगी स्तब्ध और अवाक रह गये भवानन्द महाशय। फिर निर्विकार हो गया दूसरे क्षण उनका मुख। भाव शून्य दृष्टि से एक बार मेरी ओर देखा उन्होंने मौन रहे बोले नहीं कुछ।

विवश होकर मुझे ही बोलना पुड़ा - बारह वर्ष पूर्व श्री माली जी ने जिस भवानन्द से मेरा परिचय कराया था, वह भवानन्द नहीं है, भवानन्द का केवल पार्थिव शरीर है और जिसके भीतर तिब्बत का एक परकाया प्रवेश सिद्ध योगी की आत्मा निवास कर रही है। काश इस गोपनीय रहस्य से उस समय परिचित हो गया होता मैं। थोड़ा रूककर भवानन्द की ओर देखते हुए आगे कहना शुरू किया मैंने - आप महात्मा है, योगी है और है सिद्ध साधक! आपने ज्ञानार्जन के लिए परकाया प्रवेश किया है। यह अपने स्थान पर सत्य है लेकिन आप इस रहस्यमय सत्य से भी परिचित होंगे कि जब से आप भवानन्द के पार्थिव शरीर पर अधिकार

जमाये हुए हैं तब से निश्चय ही भवानन्द की आत्मा मुक्त नहीं हुई होगी और पागलों की तरह भूमण्डल में कहीं भटक रही होगी। और तब तक भटकती रहेगी जब तक उस की भौतिक काया का यथोचित संस्कार सम्पन्न न होगा।

तुम जो कुछ कह रहे हो वह सत्य है इसमें सन्देह नहीं - भवानन्द कुछ सोचते हुए बोले - लेकिन मैं विवश हूँ।

क्यों किस लिए? मैंने प्रश्न किया।

एक सौ वर्ष बाद ही अपने निज शरीर में प्रवेश कर सकता हूँ इसके पूर्व नहीं। अभी तो केवल पैतीस वर्ष ही व्यतीत_हुए है-। इतना कहकर मौन होकर शून्य में देखने लगे भवानन्द। लेकिन पैसठ वर्ष तक यह शरीर आपका साथ तो नहीं देगा। मानव शरीर की अपनी सीमा है - मैंने कहा।

ठीक कहा तुमने। पर योगबल से इस काया को अपने अनुकूल बनाये रखूँगा। तुम चिन्ता मत करो। परन्तु इस रहस्य को कभी किसी के सामने प्रकट न करना कि भवानन्द की काया में किसी लामा की आत्मा का वास है।

यह सुनकर एक प्रकार से निरूत्तरित सा हो गया मैं। वापस लौट आया। लेकिन नींद नहीं आयी। जागता ही रह गया पूरी रात, कारण क्या था, समझ में नहीं आया। भोर के समय थोड़ी झपकी लगी और उसी अवस्था में भवानन्द की आत्मा को देखा।

भवानन्द की आत्मा से सम्पर्क

पहले मेरे सामने एक रूपहला प्रकाश पुंज प्रकट हुआ। फिर धीरे-धीरे वह प्रकाश पुंज मानवाकार हो गया। और थोड़ी देर बाद उस मानवाकार में भवानन्द का व्यक्तित्व प्रकट हुआ। पहले शान्त और निर्विकार दृष्टि से भवानन्द मेरी ओर देखते रहे। फिर धीरे-धीरे मद्धिम स्वर में कहने लगे तुम तो अब समझ ही गये कि वह असली भवानन्द के चोले में नकली आत्मा है। केवल तुमको छोड़कर कोई भी परिचित नहीं है इस रहस्य से यदि किसी से इस रहस्य को बतलाया भी जाय तो क्या कोई विश्वास करेगा? नही, कोई भी विश्वास नहीं करेगा बन्धु और मैं इस प्रकार भटकता रहूँगा पागलों की तरह। इतना बोलकर थोड़ी देर भवानन्द मौन साधे रहे। फिर धीमे स्वर में कहने लगे - तुम मेरे मृत पार्थिव शरीर को बाहर से जितना स्वस्थ और निरोग देख रहे हो उतना वह है नहीं। वह जर जर हो चुका है और पूर्ण रूप से काल का प्रभाव भी पड़ने लगा है। उस योगात्मा ने अपनी प्रबल शक्ति और बल से उस ढाँचे को इसलिए खड़ा कर रखा है कि पूरे पैसठ वर्ष उसको उसमें रहना है।

हाँ, यह तो मैं जानता हूँ। मैंने कहा। फिर मन ही मन में सोचने लगा कि भवानन्द की परलोक गत आत्मा ने मुझसे क्यों सम्पर्क स्थापित किया? क्या चाहती है ये मुझसे? और तभी भवानन्द का गम्भीर स्वर सुनाई पड़ा - तुम मेरी एक सहायता करोगे? यदि कर सकोगे तो एक साधु की आत्मा की सारी वेदना और सारी यातना समाप्त हो जायेगी। उसका कल्याण होगा और उसकी मुक्ति भी हो जायेगी। बड़ा उपकार होगा तुम्हारा। कहिए क्या सहायता कर सकता हूँ? क्या सहयोग दे सकता हूँ मैं? मेरे योग्य जो भी होगा वह करूँगा आपके लिए - मैंने कहा।

मेरी बात सुनकर भवानन्द बोले - उस तिब्बती बौद्ध लामा की कुछ ऐसी भौतिक लालसा और कामनाएँ है जिनको पूर्व करने के लिए वह व्याकुल है। वह चाहता तो अन्य किसी व्यक्ति की मृतकाया में प्रवेश कर अपने उद्‍देश्य की पूर्तिकर सकता था लेकिन ऐसा सम्भव नहीं है उसके लिए।

क्यों? मैंने पूछा।

इसलिए कि एक ही बार किसी की मृतकाया में प्रवेश करने का सामर्थ्य है उसमें। हाँ, किसी के जीवित शरीर में प्रवेश कर अपनी लालसा और कामनाओं का अवश्य पूर्णकर सकता है वह। ऐसा करने के लिए अवसर की प्रतीक्षा कर रही है वह योगात्मा।

ठीक है। समझ गया मैं। लेकिन मुझे क्या करना होगा - थोड़ा सहिष्णु होकर पूछा मैंने? बताता हूँ, बताता हूँ - भवानन्द बोले - बौद्ध पूर्णिमा की रात्रि में चार घंटे की मृत समाधि लगायेगा वह और उसी अवस्था में अनुकूल किसी जीवित व्यक्ति के शरीर में प्रविष्ट होकर अपनी लालसा अथवा अपनी कामना को पूर्ण करने का प्रयत्न करेगा वह। ऐसा वह सम्भवतः कई बार करेगा। करना ही पड़ेगा उसे। क्योंकि एक ही बार में क्या होने वाला है? चार घंटे का समय है ही कितना?

थोड़ा रूक कर कुछ सोचते हुए भवानन्द आगे बोले - मृत समाधि की अवस्था में योगी पूर्ण रूप से मृत हो जाता है। तुम ऐसे ही अवसर पर उसके आश्रम में पहुँचना और वहाँ उपस्थित जनों में यह प्रचार कर देना कि स्वामी जीने चोला छोड़ दिया। अब इनके शव को गंगा में विसर्जित कर देना चाहिये।

आप जैसा कह रहे हैं, वैसा तो कर दूँगा लेकिन इससे होगा क्या - मैंने पूछा?

बहुत कुछ होगा - भवानन्द बोले - गंगाजल मे शव के विसर्जित हो जाने पर योगी की आत्मा से मेरे शरीर का संबंध समाप्त हो जायेगा और मुझे हमेशा के लिए मुक्ति मिल जायेगी भौतिक संसार से।

बौद्ध योगी की मृत आत्मा से सम्पर्क

बौद्ध पूर्णिमा!

स्वामी भवानन्द आश्रम की छत पर बने एक कमरे में रहते थे। बिना उनकी आज्ञा के न कोई ऊपर जाता था और न तो उनसे कोई मिलता ही था। आश्रम में पाँच छः ब्रह्मचारी रहते थे। जिनमें एक ब्रह्मचारी युवक का नाम था, सत्यव्रत गोस्वामी। उससे मेरा अच्छा परिचय हो गया था। वही स्वामी भवानन्द का भोजन बनाता था और उनका अन्य कार्य भी करता था। वह सीधा सादा युवक था। किसी भी प्रकार का छल कपट नहीं था उसमें।

मैं जब आश्रम में पहुँचा तो आंगन में सत्यव्रत गोस्वामी मिल गया। मुस्कुराकर स्वागत किया मेरा उसने। ज्ञात हुआ कि इस समय स्वामी भवानन्द अपने कमरे में हैं और समाधि में लीन हैं। सीढ़ियाँ चढ़कर ऊपर गया मैं। कमरा भीतर से बन्द था। बन्द खिड़की के झरोखे से भीतर झाँक कर देखा मैंने। स्वामी भवानन्द अपने तख्त पर पद्मासन की मुद्रा में ध्यानस्थ बैठे थे। समझते देर न लगी मुझे। निश्चय ही इस अवस्था में यह सन्यासी किसी व्यक्ति की काया में प्रविष्ट होकर अपने किसी उद्देश्य की पूर्ति में संलग्न होगा। कहने की आवश्यकता नहीं, दूसरे ही दिन इसका समाधान भी हो गया।

शहर में एक बहुत बड़ा व्यापारी था। भारी कृपण था। दान पुण्य और धरम-करम में उसकी कोई रूचि नहीं थी। एकाएक उस व्यापारी के विचारो में परिवर्तन आ गया। चार घंटे के अन्दर उसने इतना दान दिया और गरीबों को इतना अन्न वस्त्र दिया उसने कि उसके स्वजन और परिजन आश्चर्यचकित हो गये। लेकिन चार घंटे के पश्चात फिर हो गया पहले जैसा महा कृपण व्यापारी। उसे स्वयं आश्चर्य होने लगा कि ये सब कैसे हो गया उससे? इतना सत्कार्य करना कभी सपने में भी नहीं सोचा था उसने? इसका कारण क्या था? कोई नहीं समझा लेकिन मैं सब कुछ समझ गया। स्वामी भवानन्द के शरीर में स्थिति तिब्बत की उसी योगात्मा ने उस व्यापारी के शरीर में कुछ समय के लिए प्रविष्ट होकर उसके द्वारा वह सत्कार्य किया था, इसमें सन्देह नहीं।

जैसा कि मैंने कहा - वह व्यापारी भारी कृपण था लेकिन धन वैभव आदि से पूर्ण सम्पन्न था। शहर में जहाँ उसकी कृपणता प्रसिद्ध थी, वहीं शहर का सबसे बड़ा रईस और धनाढ्य भी समझा जाता था वह। कहने की आवश्यकता नहीं चार बार उस योगात्मा ने उस कृपण व्यापारी को अपना माध्यम बनाकर मन्दिर धर्मशाला और पाठशाला बनवाया। दरिद्रों गरीबों और कंगालों को भर पेट स्वादिष्ट भोजन कराया। इसके अतिरिक्त अनाथों को आश्रय दिया। कई गरीब ब्राह्मण

कन्याओं का विवाह कराया। इन सब कार्यो से पूरा शहर स्तब रह गया एक बारगी। सभी को इस बात का आश्चर्य था कि इतना भारी कृपण बनिया, इतना बड़ा दानवीर कैसे हो गया। लोग उसे कलियुग का कर्ण कहने लगे। निश्चय ही उस योगात्मा की जो लालसा थी और जो थी कामना वह सब उस बनिये के द्वारा साकार हो रही थी। कहने की आवश्यकता नहीं सारे रहस्यों से परिचित होते हुए भी मौन था मैं।

शहर के निकट एक गाँव में एक गरीब परिवार था ब्राह्मण का। ब्राह्मण की चार युवा कन्याएँ थी। उसकी गरीबी चरम सीमा पर थी। कभी-कभी तो पूरे परिवार को उपवास करना पड़ जाता था। उस व्यापारी ने उस गरीब ब्राह्मण परिवार की भरपूर सहायता की। चारो कन्याओं का विवाह कराया। उनको काफी दान दहेन दिया। इतना ही नहीं उस ब्राह्मण के लिए एक नया मकान भी बनवा दिया और उसकी आर्थिक सहायता भी की।

एक वर्ष के अन्दर भवानन्द के मृत शरीर में प्रविष्ट उस तिब्बती योगात्मा ने सभी प्रकार से सम्पन्न कई लोगो के शरीर में प्रवेश कर उनके द्वारा अनेक कल्याणकारी कार्य करवाये समाज और धर्म के हित में।

एक बार बाहर से एक सेठ आया था अपने परिवार के साथ। बहुत बड़े होटल में ठहरा हुआ था। वह आया तो था तीर्थ करने मात्र केवल लेकिन सहसा उसके विचार बदल गये। तीर्थ तो किया ही उसके अतिरिक्त एक हजार सन्यासियों और एक हजार ब्राह्मणों को भोजन कराया पहले उसने फिर बाद में काफी दान पुण्य किया। जिसमें लाखों रूपये खर्च हुए उस परदेसी सेठ के। निश्चय ही उसी योगात्मा की लीला थी वह।

एक दिन आश्रम में गया। ब्रह्मचारी सत्यव्रत से ज्ञात हुआ कि स्वामी जी अब बाहर बहुत कम ही निकलते है। हमेशा अपने कमरे में बन्द रहते है। न जाने कौन सी साधना करते है यह किसी को ज्ञात नहीं। अन्त में ब्रह्मचारी सत्यव्रत ने बतलाया कि अब वह भी बहुत कम ही ऊपर जाता है। स्वामी जी जब कभी बुलाते है तभी जाता है वह।

श्रावण मास शुरू हो गया था। आश्रम में बाहर से कई साधु सन्यासी और ब्रह्मचारी आ गये थे। एक प्रकार से भर गया आश्रम साधु महात्माओं से। मैं सोचने लगा था कि कैसे क्या करना चाहिए। क्योंकि भवानन्द की आत्मा बराबर प्रेरित कर रही थी मुझे और मैं असमंजस में पड़ा हुआ था। तभी नियति ने मेरा साथ दिया। जो मुझे करना चाहिए था उसे नियति ने बड़ी सरलता और बड़ी सहजता से कर दिया।

बाहर से आने वाले साधु सन्यासियों में एक जरा उग्र स्वभाव का सन्यासी था। नाम था ब्रह्मानन्द लम्बी चौड़ी काठी थी उसकी। शरीर से स्वस्थ था। गौर वर्ण का था ही। अपने आपको बहुत बड़ा विद्वान और साधक समझता था वह। आयु यही रही होगी चालीस के लगभग। हमेशा अहंकार में डूबा रहता था वह। विश्वस्त सूत्र से ज्ञात हुआ कि आश्रम और आश्रम से संबंधित जमीन जायदाद को हथियाना चाहता था। इसके लिए स्वामी भवानन्द से मिलने के लिए आतुर है। एक दिन खट्-खट् कर सीढ़ियाँ चढ़ता हुआ स्वामी भवानन्द के कमरे में जा पहुँचा वह। उस समय स्वामी भवानन्द संयोग से गहरी समाधि में लीन थे और सुदूर किसी व्यक्ति के शरीर में प्रविष्ट होकर उसके द्वारा अपनी किसी कामना की पूर्ति में लगे हुए थे। उस दिन भीतर से दरवाजा बन्द करना भूल गये थे महाशय। स्वामी ब्रह्मानन्द कमरे में जब प्रविष्ट हुआ तो उसे यह देखकर घोर आश्चर्य हुआ कि स्वामी भवानन्द मृतवत् लेटै हुए थे अपने तख्त पर। उसे क्या मालूम था कि वह गहरी मृत समाधि में लीन है। घबड़ा गया स्वामी ब्रह्मानन्द, उसने स्वामी भवानन्द को मृत समझ कर हाहाकार मचा दिया पूरे आश्रम में। जो सुनता था वह एक बारगी स्तब्ध रह जाता था फिर जो होना था वह हुआ। तुरन्त एक समारोह का आयोजन हुआ और पूरी साज सज्जा के साथ जल समाधि दे दी गयी स्वामी भवानन्द के पार्थिव शरीर को सायंकाल केदार घाट के सामने गंगा में। जिस समय बजड़े पर भवानन्द की पार्थिव शरीर को फूल मालाओं से सजा कर शंख ध्वानि के साथ गंगा की धारा बीच ले जाया जा रहा था, उस समय केदार घाट की सीढ़ियों पर गाल पर हाथ धरे सोच रहा था मैं - भवानन्द तो बनिया का भोजन कर न जाने कब के मर चुके थे लेकिन उनका शव आज जल समाधि ले रहा है। संसार कितना रहस्यमय है? कितना रहस्य भरा है संसार में? उसके रहस्य के सागर में कितनी ऐसी घटनाएं घट जाती है, जिनका ज्ञान कभी भी मनुष्य को हो नहीं पाता। भवानन्द के शरीर में कौन आत्मा थी? किसकी आत्मा थी भला कौन जानता था इस रहस्य को?

भवानन्द की आत्मा को निश्चय ही मिल गयी होगी मुक्ति और सम्भवतः योग्य गर्भ को भी उपलब्ध हो गयी होगी उसकी आत्मा। लेकिन मैं एक चिन्ता कारक विषय में उलझ गया। जिसके कारण महीनो परेशान रहा मैं।

तिब्बती योगात्मा जब दस घंटे के बाद एक विशेष धार्मिक और आध्यात्मिक कार्य को सम्पन्न कर वापस लौटी तो भवानन्द के शरीर को न पाकर उसकी स्थिति मणि विहीन सर्प की जैसी हो गयी। कई दिनो तक वह खोजती रही भवानन्द की काया को और जब उसे ज्ञात हुआ कि भवानन्द को मृत समझ कर जल समाधि

दे दी गयी तो उसकी स्थिति ऐसी हो गयी जिसे बतलाया नहीं जा सकता। और उसी स्थिति में वह मुझसे मिली। पहले करूण दृष्टि से मेरी ओर एक बार देखी और फिर अवरूद्ध कण्ठ से बोली - अब कहाँ जाऊँ मैं। कोई आश्रय नहीं रह गया मेरे लिए। दीर्घ काल तक बिना शरीर के भटकना पड़ेगा काल के अन्तहीन प्रवाह मे तुम्ही बतलाओ। तुम्ही कोई मार्ग निर्देशित करो। मेरी तो अब कुछ समझ में नहीं आता, मौन रहा मैं।

कुछ बोला न गया मुझसे। सोचने लगा - भला मैं क्या कर सकता हूँ इस तिब्बती योगात्मा के लिए।

योगात्मा स्वयं बोली - किसी की मृत काया में प्रवेश करने का तो अब कोई प्रश्न ही नहीं है। रही जीवित काया की बात, उसमें अधिक समय तक ठहर सकता नहीं मैं। अब तो इतना लम्बा समय व्यतीत करने के लिए योग्य गर्भ द्वारा जन्म लेना ही उचित होगा।

लेकिन इतना शीघ्र योग्य गर्भ उपलब्ध होगा कहाँ? मैंने कहा। आपको प्रतीक्षा करनी होगी और जब तक आपकी प्रतीक्षा पूरी नहीं हो जाती तब तक आप समय पर जीवित पर काया प्रवेश कर अपनी कामना लालसा आदि को पूर्ण करते रहिए। और साथ ही मुझसे सम्पर्क भी बनाये रखिये। सम्भवतः मैं इस दिशा में कोई सहायता कर सकूँ।

कहने की आवश्यकता नहीं, पूरे पाँच वर्ष व्यतीत हो गये। इस अवधि में उस योगात्मा ने कभी किसी के और कभी किसी के जीवित शरीर में प्रवेश कर अपना मनोवांछित कार्य पूर्ण करती रही। अभी उसे साठ वर्ष का समय व्यतीत करना था। संयोग ही कहा जायेगा कि मेरे प्रयास से योग्य गर्भ की व्यवस्था हो गयी और यथा समय उसने एक बालक के रूप में संसार में जन्म लिया। जन्म के समय एक रूपहला प्रकाश फैल गया था वातावरण में। वह बालक 36-37 वर्ष का प्रौढ़ युवक है इस समय। लेकिन वह अपने विषय में कुछ नहीं जानता और यह भी नहीं जानता कि उसकी आत्मा एक तपस्वी योगात्मा है जिसका पूर्व पार्थिव शरीर सुदूर तिब्बत स्थित एक हिमाच्छादित गुप्त आश्रम की एक अन्धकार में डूबी हुई कन्दरा में पुनर्जीवित होने की प्रतीक्षा में दीर्घकाल से लेटी हुई है।।

जब कभी मैं उस सुदर्शन युवक को देखता हूँ तो सोचने लगता हूँ कि सौ वर्ष की अवधि पूरी हो जाने पर जब वह योगात्मा इस शरीर को छोड़कर अपने निज शरीर को ग्रहण करेगी, तब क्या कोई इस रहस्यमय सत्य को जान पायेगा कि इसके शरीर में अब तक कोई दिव्य योगात्मा निवास करती थी और अब इस पार्थिव काया को छोड़कर चली गयी हमेशा-हमेशा के लिए। कोई न जान पायेगा,

कोई नहीं। काश, उस समय मै रहता! लेकिन मैं कैसे रहूँगा? मैं तो चिता पर लेटा हुआ हूँ! किसी भी समय चिता की लपटों में भस्म हो सकता है मेरा शरीर! कुछ कहा नहीं जा सकता।

चैतन्य प्रज्ञ के परकाया प्रवेश की कथा

चैतन्य प्रज्ञ के तीसरे नेत्र की शल्य क्रिया का विवरण सुनकर योग सिद्धियों का चमत्कार देखकर और फिर अन्त में उन चारों योगियो के मृत समाधि में लीन शरीर को देखकर स्तब्ध सा हो गया था मैं। उसी समय महात्मा चैतन्य प्रज्ञ का गम्भीर स्वर सुनाई दिया मुझे। वह कह रहे थे - तुम एक पथ भ्रष्ट योगी हो। अपने पिछले सोलह जन्मों के साधना - संस्कारों के कारण अपनी आध्यात्मिक जिज्ञासाओ के समाधान के लिए बाल्यावस्था से ही भटक रहे हो तुम। लेकिन जिस कारण के फलस्वरूप तुम पथ भ्रष्ट हुए हो उसका भी परिणाम इसी जन्म में भोगना पड़ेगा तुम्हें। इस संसार में तुम्हारे लिए कुछ भी नहीं है सिवाय उस परिणाम को भोगने के अतिरिक्त। सब कुछ रहते हुए भी जीवन का कोई सुख और कोई आनन्द उपलब्ध नहीं होगा और न तो उपलब्ध होगी तुमको शान्ति ही।

यह सुनकर चौक पड़ा मैं। सिर घुमाकर दीपरत्न की ओर देखा। वे सम्भवतः मेरे मन के भाव को समझ गये, धीरे से बोले - आपके लिए ही ये सब कहा है महात्मा ने।

ऐं। मेरे लिए आश्चर्य चकित होकर बोल पड़ा मैं।

हाँ। यह कहकर देखने लगे मेरी और दीप रत्न।

कहने की आवश्यकता नहीं, उस परम दिव्य पुरुष की वाणी के एक-एक अक्षर सत्य सिद्ध हुए मेरे जीवन में। इस समय जीवन की लम्बी यात्रा से थका हारा मृत्यु के तट पर अवश्य खड़ा हूँ मैं। किसी भी समय और किसी भी क्षण उसकी कोई भी लहर बहा कर ले जायेगी मृत्यु की गोद में मुझे। सचमुच जीवन की लम्बी यात्रा में न कोई सुख मिला न कोई आनन्द मिला और न तो किसी भी प्रकार की शान्ति ही मिली।

हाँ, यह सत्य है कि तन को सुख न मिला हो, मन को शान्ति न मिली हो और आत्मा को आन्नद न मिला हो, लेकिन 'जीवन की लम्बी यात्रा में जो आध्यात्मिक लाभ हुआ मुझे उसके सामने समस्त भौतिकोपलब्धि व्यर्थ है।।

सायंकाल का समय हो गया था। बर्फ गिरने लगी थी। थोड़ा विषण्ण हो गया था अवश्य मेरा मन, इसलिए बाहर निकल कर बैठ गया था एकान्त स्थान में। थोड़ी देर बाद दीप रत्न को भेजकर महात्मा ने बुलाया मुझे और जब उनके

सम्मुख पहुँचा तो अपने आसन पर ध्यानस्थ बैठे थे वह। मेरी उपस्थिति का आभास लग गया उन्हे सम्भवतः। धीरे-धीरे नेत्र खुले उनके। मुझे सामने देखकर पहले हल्के से मुस्कुराये फिर बोले - मेरे परकाया प्रवेश की कथा बड़ी लम्बी है। समझ ले एक सौ अस्सी वर्ष की दीर्घ इतिहास है वह। यदि पूरा सुनाऊँगा तो एक बहुत बड़ा ग्रन्थ तैयार हो जायेगा इसलिए संक्षिप्त में ही उसकी चर्चा करूँगा आपसे।

सर्वप्रथम मुझे भौतिक सुखों की उपलब्धि करनी थी, इसलिये एक दिन परम समाधि की अवस्था में मैंने सूक्ष्म शरीर का आश्रय लेकर पार्थिव शरीर का त्याग कर दिया। अपने अनुकूल और योग्य मृत शरीर की खोज में भ्रमण करता हुआ एक ऐसे महानगर में पहुँचा - जो समुद्र तट पर बसा हुआ था। बाद में पता चला कि उस महानगर का नाम था मुम्बई। मैं अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिए नगर भ्रमण करता रहा कई दिनों तक। एक दिन मेरी दृष्टि सहसा एक मारवाड़ी धनी सेठ पर पड़ी। अन्तर्चक्षु से ज्ञात हुआ कि उसकी मृत्यु सन्निकट है। भौतिक सुख को चरम पराकाष्टा तक भोगना चाहता था मैं। उसके लिए ऐसा अवसर कहाँ मिलने वाला था मुझे। सेठ के पीछे लग गया मैं नगर के बाहर समुद्र तट पर सेठ का भव्य महलनुमा मकान था। मकान के चारो ओर बाग बागीचे थे। मकान के सामने फौव्वारा था। और था बड़ा सा लोहे का फाटक। सेठ की चमचमाती गाड़ी जैसे ही फाटक के सामने पहुँची, उस क्षण इधर-उधर से तीन चार दरवान आये और फाटक खोलकर सेठ की गाड़ी के समीप पहुँचे। लेकिन सेठ जैसे ही गाड़ी का दरवाजा खोलकर गाड़ी के बाहर निकला - उसी समय उसकी हृदयगति सहसा बन्द हो गयी और वह एक ओर लुढ़क गया। नौकर चाकर कुछ समझे कि उसके पूर्व सेठ के मृत शरीर में मैं प्रवेश कर गया। उसके शरीर का स्वतंत्र तंत्रिका तंत्र क्रियाशील था उस समय, इसलिए शरीर में प्रवेश करने में मुझे कोई बाधा नही हुई। सेठ का नाम था दामोदर लाल। मैं सेठ दामोदर लाल के शरीर में पूरे साठ वर्ष रहा और संसार का सब सुख और सब आनन्द प्राप्त किया इनके अतिरिक्त संसार के कई रूप भी देखे। अब मुझे घोर दरिद्रता और घोर गरीबी का अनुभव करना था इसलिये एक दिन सेठ दामोदर लाल के शरीर से निकल कर बाहर आ गया। मेरे लिए तो सेठ दामोदर लाल साठ वर्ष पहले ही मर चुके थे, लेकिन संसार की दृष्टि में अब मरे थे महाशय। सेठ जी की शव यात्रा में मैं भी था। बड़ी भीड़ थी शव यात्रा में। श्मशान में जब सेठ जी का शव जल रहा था, उस समय एक व्यक्ति पर मेरी दृष्टि पड़ी। सिर के बाल उलझे हुए थे, दाढ़ी बढ़ी हुयी थी, आँखे धँसी हुयी थी, रूखे सुखे चेहरे पर गरीबी और दरिद्रता की स्पष्ट झलक थी। शरीर पर एक चिथड़ा लिपटा हुआ

था। वह एक हाथ में लाठी और दूसरे हाथ में आलमूनियम का कटोरा लिए श्मशान में आये हुए लोगों से भीख मांग रहा था कातर स्वर में बाबूजी चार दिन से बच्चे भूखे हैं, दया करो बाबू जी - भगवान के नाम कुछ दे दो बाबा। अन्तर्चक्षु से देखा मैंने। वास्तव में वह भिखारी सच कह रहा था। उसकी पत्नी, स्वयं वह और उसके चारो बच्चे चार दिनों से भूखे थे। और वह निस्सहाय और निरीह प्राण किसी भी क्षण दम तोड़ने वाला था भूख प्यास से।

सेठ दामोदर लाल की चिता बुझ चुकी थी। शव यात्रा में आये हुए लोग वापस लौट गये थे। श्मशान में चारो ओर गहरी निस्तब्धता छायी हुयी थी। सांझ की स्याह कालिमा धीरे-धीरे फैलने लगी थी श्मशान की धरती पर। वह भूखा भिखारी हाथ में लाठी और कटोरा लिये कांपता हुआ अपने स्थान पर मौन साधे खड़ा देख रहा था चारो तरफ असहाय आँखो से, सहसा वह अपने स्थान पर खड़ा खड़ा लड़खड़ाया और गिरकर तत्काल मर गया। मैंने तुरन्त अवसर से लाभ उठाया और उस भिखारी के शरीर में प्रविष्ट हो गया। उसे कोई भयंकर रोग था इसलिए मुझे पहले थोड़ी परेशानी हुई। अन्तर्चक्षु से उसके निवास का पता लगाया। वह एक झोपड़ी में रहता था, जहाँ वैसी ही सैकड़ो झोपड़ियाँ थी गरीबों की और उस जैसे भिखारियों की। अब उस भिखारी की लाठी और उसका आलमूनियम का कटोरा मेरे हाथ में था।

उस भिखारी का शरीर रोगग्रस्त और अत्यन्त जरजर था इसलिए उसके शरीर में दस वर्ष से अधिक न रह सका मैं। लेकिन उन दस वर्षो में गरीबी और अभाव का असली और वास्तविक रूप देखा मैंने, उसके भौतिक ज्ञान का एक रिक्त पात्र भर गया मेरा।

अब मेरी आत्मा पुनः स्वतंत्रा हो गयी थी। एक दिन बम्बई छोड़कर एक ऐसे नगर में पहुँच गया जिस का नाम था नासिक। नासिक का वातावरण अत्यन्त शान्त और आध्यात्मिक प्रतीत हुआ मुझे। वहीं रम गया मैं। एक दिन सहसा मेरी दृष्टि एक युवती पर पड़ी। वह अपने मकान में बैठी करूण स्वर में विलाप कर रही थी। परिवार के लोग उसे समझा रहे थे और सान्त्वना दे रहे थे। पता चला कि उसका एक मात्रा नौ वर्षीय पुत्र की किसी बिमारी के कारण मृत्यु हो गयी है और उसके अन्तिम संस्कार के लिए लोग उसके शव को श्मशान में ले गये हैं।

मैंने श्मशान में जाकर देखा तो शव को चिता में जलाने की व्यवस्था की जा रही थी। बालक अति सुन्दर था। उसके सद्यः शव के निकट उसकी आत्मा खड़ी थी सूक्ष्म शरीर में। प्रतीक्षा कर रही थी शव के अन्तिम संस्कार की। मैं बालक के निकट गया और पूछा - किस कारण तुमने शरीर का त्याग किया?

बालक की आत्मा ने कहा - पिछले जन्म में मैंने अपनी पूरी आयु से नौ वर्ष कम आयु का भोग किया था। उसी नौ वर्ष की आयु को पूरा करने के लिए मुझे जन्म लेना पड़ा था।

अब क्या विचार है - मैंने पूछा?

बालक की आत्मा बोली - मैं वेदपाठी अग्निहोत्री ब्राह्मण की आत्मा हूँ। अपने योग्य गर्भ उपलब्ध होने पर जन्म लूंगी और जब तक नहीं मिलेगा तब तक प्रतीक्षा करूँगी।

कुछ समय के लिए तुम्हारे इस निर्जिव शरीर का उपभोग भौतिक ज्ञानोपलब्धि के लिए करूँगा मैं। यदि तुमको योग्य गर्भ उपलब्ध हो जाय तो मुझसे अवश्य सम्पर्क स्थापित करना और बतलाना कि तुमको योग्य गर्भ प्राप्त हो गया - मैंने कहा। मेरी बात सुनकर बालक की आत्मा ने स्वीकृति दी और हवा में तैरता हुआ उसका सूक्ष्म शरीर गायब हो गया। और मैं तुरन्त बालक के शव में प्रविष्ट होकर भौतिक जगत में जीवित हो उठा। बालक का नाम था प्रकाश चन्द्र शर्मा। ब्राह्मण कुल का मेघावी बालक था वह। उसके शरीर में पूरे पचास वर्ष रहा मैं। इस अवधि में मैंने विद्याध्ययन किया, मेरा यज्ञोपवीत हुआ, विवाह हुआ और गृहस्थ जीवन शुरू हुआ मेरा। मेरी पत्नी का नाम था गायत्री। वह अत्यन्त विनम्र, सुशील और आज्ञाकारिणी महिला थी। उससे मुझे एक पुत्री और तीन पुत्र हुए। कहने की आवश्यकता नहीं, प्रकाशचन्द्र शर्मा के शरीर द्वारा मैंने बाल्यावस्था से जठरावस्था तक का जीवन व्यतीत किया और उस जीवन का भरपूर अनुभव भी प्राप्त किया। मैं योगी था इसलिये निरपेक्ष था। मोह-माया और आकर्षण से दूर। और एक मात्र यही कारण था कि एक दिन प्रकाश चन्द्र शर्मा का अतिवृद्ध शरीर त्याग कर स्वतंत्र हो गया मैं और उसी समय मुझे ज्ञात हुआ कि प्रकाश चन्द्र शर्मा की आत्मा ने एक योग्य और अनुकूल ब्राह्मण कुल में जन्म ले लिया है काशी में। अब तक मैं एक सौ बीस वर्ष का भौतिक जीवन व्यतीत कर चुका था और भर चुका था भौतिक अनुभवों का भण्डार भी। प्रकाशचन्द्र की आत्मा को नए शरीर में देखने की इच्छा से काशी चला गया मैं। उस समय छः मास का शिशु था प्रकाशचन्द्र। शिशु के शरीर में स्थिति प्रकाश चन्द्र की आत्मा से सम्पर्क स्थापित कर उससे बात की मैंने। उसने बतलाया कि उसके पिता रामदयाल उपाध्याय की अवस्था इस समय केवल तीस वर्ष है। शीघ्र ही उनकी हृदय गति रूक जाने से उनकी मृत्यु होने वाली है। वह अपने पिता के स्नेह और वात्सल्य से वंचित नहीं होना चाहता था। उनके अभाव में बड़ा ही दारूण कष्ट होगा उसे। फिर अन्त में विनयपूर्वक अनुरोध भरे स्वर में प्रकाशचन्द्र की आत्मा ने

कहा - पिताजी की मृत्यु होते ही उनके शरीर में प्रवेश कर उसे अनाथ होने से बचा लूँ मैं।

न जाने क्यों प्रकाशचन्द्र की आत्मा के अनुरोध को टाला न गया मुझसे। तीन मास पश्चात वास्तव में रामदयाल उपाध्याय की हृदय गति बन्द होने के कारण एकाएक उनकी मृत्यु हो गयी और उनके पार्थिव शरीर में तुरन्त प्रवेश कर गया मैं योगबल से।

जन्म से दो वर्ष तक बालकों को अपने पूर्व जन्म की स्मृति बराबर बनी रहती है। प्रत्येक महत्वपूर्ण घटना भी याद रहती है। दो वर्ष तक शिशु के रूप में जन्म लेने वाली प्रकाश चन्द्र की आत्मा यह जानती रही कि मैं एक योगात्मा हूँ और उसके पिछले जन्म के शरीर में जीया हूँ और इस जन्म में भी उसके पिता के मृत शरीर में निवास कर रहा हूँ, उसके बाद वह सब कुछ भूल गयी लेकिन मैं कहाँ भूलने वाला था। मुझे तो सब कुछ याद था। सब कुछ सामने था चित्रपट की तरह। पूरे तीस वर्ष तक रहा मैं रामदयाल उपाध्याय के मृत शरीर में और इस अवधि में उनके पुत्र जिसका नाम उसकी माँ ने रखा था दीनदयाल उपाध्याय - को पिता का भरपूर स्नेह और प्रेम प्रदान किया मैंने। उसको किसी भी प्रकार का अभाव न होने दिया मैंने। एक पिता का जो कर्तव्य होता चाहिए उसका मैंने पूर्णरूपेण पालन किया इसमें सन्देह नहीं। अब तक रामदयाल के शरीर की आयु साठ वर्ष की हो चुकी थी। एक दिन निस्पृह भाव से उसका त्याग कर दिया मैंने।

गर्भ का भी अनुभव होना चाहिए

अब तक चार बार परकाया प्रवेश कर चुका था और क्रम से एक सौ पचास वर्ष का भौतिक जीवन जी चुका था मैं। गर्भ में आत्मा कैसे प्रवेश करती है? गर्भ में आत्मा क्या अनुभव करती है और किस स्थिति अथवा किस अवस्था में रहती है वह? अब इन सबका अनुभव प्राप्त करना चाहता था मैं और इसके लिए भटकने लगा इधर-उधर और उसी सिलसिले में एक गाँव पर मेरी दृष्टि पड़ी, किसी पहाड़ी नदी के तट पर बसा था वह गाँव। घने वृक्षों की लम्बी-लम्बी कतारे थी गाँव के चारो ओर और उन्ही हरे-भरे फलों-फूलों से लदे वृक्षों के झुरमुट में था एक छोटा सा शिव मन्दिर और उस शिव मन्दिर से कुछ ही दूर पर था पाठशाला। अधिकतर ब्रह्मणों के घर थे उस गाँव में। पण्डित शिवशंकर पाण्डेय गाँव के सम्मानित व्यक्ति थे। लम्बी चौड़ी काठी का शरीर, गौर वर्ण, आकर्षक व्यक्तित्व, कन्धे पर जनेऊ मुण्डित सर लम्बी शिखा, मस्तक पर भस्म का त्रिपुण्ड,

गले में रूद्राक्ष की माला और पैरों में खड़ाऊँ। सबसे आकर्षक था पण्डित जी का सौम्य शान्त तेजोमय मुख मण्डल। आयु यही लगभग चालीस वर्ष। वेद, शास्त्र, पुराण, धर्म दर्शन आदि के विद्वान तो थे ही, इसके अतिरिक्त आयुर्वेद के भी ज्ञाता थे। प्राचीन जड़ी-बूटियों और औषधियों का अच्छा अनुभव था उन्हें और उसी अनुभव के बल पर पूरे गाँव वालों का रोग हरण करते थे महाशय। शिव मन्दिर दोनो समय जाकर भगवान शंकर की पूजा करना और पूरे छः घंटे पाठशाला में ब्राह्मण बालकों को पढ़ाना, उनका नित्य कर्म था। परिवार में पत्नी थी बस। नाम था राधा, जैसे पति वैसी पत्नी, पूर्ण धर्म पारायणा थी राधा देवी, किन्तु पैंतीस वर्ष की आयु पार करने के पश्चात भी सन्तान का मुख देखने से वंचित थी वह विदुषी।

धर्म परायणा और पति परायणा उस नारी के देवी तुल्य व्यक्तित्व को देखकर मैं मन ही मन सोचने लगा - यह पतिव्रता विदुषी नारी मेरी माता होती और इसके गर्भ से जन्म लेने का गौरव मुझे प्राप्त होता तो वास्तव में अपने आपको परम धन्य समझता मै।

यह एक योगी की इच्छा थी और योगी की प्रत्येक इच्छा शक्ति से युक्त होती है, इसलिये वह व्यर्थ सिद्ध नहीं होती। तत्काल साकार हो उठती है। ऐसा ही हुआ। मेरी इच्छा शक्ति साकार हो उठी। उसी दिन गर्भवती हो गयी राध ा देवी लेकिन आश्चर्यचकित उस समय हुआ, जबकि मैंने देखा कि राधा देवी के गर्भ स्थापित होते ही हर समय उनके चारो ओर अच्छी बुरी आत्माएँ मंडराने लगीं। जब अपने अन्तचर्क्षु से देखा तो ज्ञात हुआ कि वे सब आत्माएँ गर्भ में प्रवेश करने के अवसर की प्रतीक्षा कर रही है। मानवात्माएँ किस प्रकार पुनर्जन्म के लिए चिन्तित और व्याकुल रहती है? इसका ज्ञान पहली बार हुआ मुझे। उध र अपने स्थान पर गर्भ धीरे-धीरे परिपक्व हो रहा था। उसका बन रहा था ध ीरे धीरे आकार। जन्म लेने के दो घंटे पूर्व गर्भ में प्रवेश करती है आत्मा। यथा समय और यथावसर गर्भ में प्रविष्ट हो गया मैं। मेरे प्रवेश करते ही अन्य आत्माएँ तिरोहित हो गयी वहाँ से। एक प्रकार से यह पाँचवा परकाया प्रवेश था मेरा। क्योंकि गर्भस्थ शरीर में माता-पिता के संस्कार से मिलती जुलती आत्मा को प्रवेश करना चाहिए था। जबकि मेरे संस्कार से उन दोनो पति-पत्नि के संस्कारों का कोई तालमेल नहीं था। फिर भी मैंने प्रवेश किया अनुभव के लिए।

थोड़ा रूककर महात्मा आगे बोले- गर्भस्थ शिशु के शरीर में प्रवेश करते ही मुझे भारी बंधन का अनुभव हुआ। ऐसा लगा मानो किसी छोटे से पिंजड़े में बन्द हो गया हूँ मैं। घबड़ाहट और बेचैनी का भी अनुभव हो रहा था मुझे।

अब मेरी आत्मा से गीता देवी की आत्मा का संबंध स्थापित हो गया था। इसलिए अब घबड़ाहट और बेचैनी के स्थान पर परम शान्ति का अनुभव होने लगा था मुझे। जिस समय उस परम शान्ति के सागर में तैर रहा था मैं, उसी समय एक झटका सा लगा और उसी झटके के साथ माता के शरीर सं बाहर निकल आया मैं गीता देवी के पुत्र के रूप में और मेरा नाम रखा गया कमलेश्वर।

एक साथ तीन शरीर का बोध

शरीर के साथ भौतिक जगत में आते ही मेरी आत्मा प्रकृति के नियम में बंध गयी और उसी के साथ मेरी आत्मा ने अपने लिये तीन शरीर का बोध किया। पहला था कारण शरीर दूसरा था सूक्ष्म शरीर और तीसरा था स्थूल शरीर। पहली बार मेरी समझ में वेदान्त का यह वाक्य आया कि तीनो शरीर आत्मा के आवरण है।

यह तथ्य अपने स्थान पर सत्य है कि आत्मा बिना शरीर के रह नहीं सकती। बिना शरीर की आत्मा को मुक्तात्मा कहते हैं। लेकिन मैं मुक्तात्मा नहीं था। मेरी आत्मा अपने निज आत्म शरीर में थी। आत्म शरीर के कारण ही वह परकाया प्रवेश कर सकने में समर्थ थी। अब वह अपने अन्य शरीर के साथ कारण शरीर का भी बोध करने लगी थी। वह बोध बड़ा ही विचित्र था। वह बोध जिसके माध्यम से हो रहा था, वह था "मन"। उसी मन के माध्यम से मेरी आत्मा कारण शरीर के अतिरिक्त सूक्ष्म शरीर और उसके बाद स्थूल शरीर का एक साथ बोध कर रही थी। स्थूल शरीर के बाहर यानी बाहरी जगत में जो घटनाएँ घटती थीं उसका बोध और ज्ञान क्रम से तीनों शरीरों से होते हुए आत्मा तक पहुँचता था। लेकिन आत्मा तक पहुँचते-पहुँचते अत्यन्त क्षीण हो जाता था वह। सबसे बड़े अनुभव की बात तो यह थी कि तीनों शरीरों को आत्मा से बांधने वाला जो सूत्र था वह प्राण सूत्र था। प्राण अपने आकर्षण बल पर जहां तीनो शरीरों को बांध हुए था एक दूसरे से, वहीं दूसरी ओर आत्मा से उनका संबंध भी बनाए हुए था।

थोड़ा हंस कर महात्मा बोले -प्रकृति की अद्‌भुत लीला देखी मैंने। यदि माता के गर्भ से जन्म न लेता और अन्तर्चक्षु न होता तो प्रकृति की वह अद्‌भुत और विचित्र नैसर्गिक लीला शायद ही देखने को मिलती मुझे।

कौन सी लीला - मैंने पूछा?

प्राण का व्यापार और मन का व्यापार अपने आप या यों कहिए नैसर्गिक रूप से हो रहा था अपने अपने स्थान पर। जहाँ एक ओर प्राण आत्मा से तीनो

शरीरो को बाँधे हुए था वहीं दूसरी ओर मन अपनी शक्ति से अन्तर्जगत और बहिर्जगत दोनो में क्रियाशील था। उसी के द्वारा दोनों जगत का संबंध आत्मा से बना हुआ था। केवल अन्तर यही था कि आन्तरजगत का बोध ज्ञान और अनुभव आत्मा को सीधे मन के द्वारा होता था। जबकि बहिर्जगत का बोध ज्ञान और अनुभव, तीनो शरीरों के माध्यम से मन के द्वारा होता था। मन की शक्ति को चेतना कहते हैं। जो चेतना आन्तर जगत में काम करती है उसे आन्तर चेतना जो चेतना बहिर्जगत में काम करती है उसे बहिर्चेतना कहते हैं। इन्ही दोनों का नाम है अचेतन मन और चेतन मन।

मैं ! मन की दोनों चेतनाओं के द्वारा दोनों जगत से संबंध स्थापित किये हुए था। लेकिन जन्म के दो वर्ष तक। उसके बाद सब कुछ विस्मृत हो गया। अतीत की सारी स्मृतियाँ जैसे किसी गहन अन्धकार में डूब गयी। जैसे अस्तित्व ही समाप्त हो गया उनका। बस, कमलेश्वर रह गया मैं। एक साधारण मानव मात्र। समझते देर न लगी मुझे। जन्म के समय और मृत्यु के असह्य मानसिक और शारीरिक कष्ट और पीड़ा और उसी वेदना के प्रभाव से पिछला जन्म विस्मृत हो जाता है। पिछले जीवन की सारी स्मृतियाँ लुप्त हो जाती हैं। मुझे भी जन्म के समय असहनीय पीड़ा असहनीय वेदना हुई थी और हुआ था असहनीय कष्ट। निश्चय उसी कारण अपने यौगिक स्वरूप को भी भूल गया था और भूल गया था अपने लक्ष्य को भी।

एक सौ अस्सी वर्ष की अवधि में आपके गुरू आपसे सम्पर्क क्यों नहीं साथ सके - मेने यह पूछने पर महात्मा ने कहा - परकाया प्रवेश के कारण, जब मैने कमलेश्वर के रूप में जन्म लिया तो तत्काल उनको मेरा पता चल गया और अपने स्पर्श दीक्षा से मेरे अन्धकार में डूबे हुए अतीत को उद्भासित कर दिया और जागृत कर दिया जन्म-जन्मान्तर की सारी स्मृतियों को उन्होंने एक बारगी।

इन सारी अविश्वसनीय और चमत्कार पूर्ण कथा को सुनकर सोचने लगा मैं, संसार कितना रहस्यमय है और मानव जीवन उससे भी कितना अधिक है रहस्यमय। मानव जीवन के आस पास बराबर ऐसा कुछ होता रहता है, जिसके पीछे कोई तर्कसंगत कारण नहीं होता। समझ और व्याख्या से परे अज्ञात अलौकिक शक्तियों एवं प्रभावों से यह संसार भरा पड़ा है। अलौकिक रहस्यों की दिशा में विज्ञान की गति बहुत धीमी है। न जाने कितने विश्वासों घटनाओं संयोगो और रहस्यमयी स्थितियों के विषयों में हमें आधुनिक विज्ञान कोई रोशनी नहीं दे पाता है। हम ब्रह्माण्ड में एक कण की भाँति है। अपने जागृत अहं और ज्ञान-चेतना के अति विकासित होने पर भी हम असहाय होते है। हमारी चेतना का पक्षी

एक गहरे धुन्ध से टकरा कर लौट आता है। हमारी बुद्धी रहस्यों का स्याह किन्तु चमकदार आवरण को भेद नहीं पाती और हम भ्रमित होते रहते है। विज्ञान कैसे का केवल उत्तर देता है। क्यों के सामने वह बगले झांकने लगता है। अलौकिक शक्तियों के विषय में चमत्कृत और विवश होने के सिवाय हम कुछ भी नहीं कर पाते है।

बौद्ध लामाओं का जीवन अलौकिक रहस्यों से घिरा होता है। उन रहस्यों को तर्क की कसौटी पर नहीं कसा जा सकता। तिब्बत अद्‌भुत चमत्कारों और अवतारों की रहस्यमयी परम्पराओं का देश रहा है। वह सदा से अलौकिक शक्तियों की क्रीडा स्थली रहा है इसमें सन्देह नहीं।

महात्मा ने स्वयं कहा कि अधिकांश लोगो को तिब्बत की आध्यात्मिकता दिव्य दृष्टि और सुदूरवर्ती मन को प्रभावित करने की क्षमता में विश्वास नहीं होगा। लेकिन ये बातें तिब्बत के लिए उतनी ही सत्य है जितनी की सूर्य के द्वारा प्रकाश फैलाने की बात सबके द्वारा स्वीकृत है। तिब्बत में ऐसे लामाओं का अभाव नहीं है जो बर्फ के ऊपर बिना किसी वस्त्र के बैठकर अपने शरीर का तापमान इतना अधिक बढ़ा लेते हैं जिससे बर्फ गल जाती है। तिब्बत में ऐसे लामाओं का भी अभाव नहीं है - जो जमीन के ऊपर उठकर शून्य में अवस्थित रहते हैं। लेकिन ये सब सामान्य सिद्धियाँ है और जो वस्तुत: सिद्ध पुरुष है वे इस तरह के खिलवाड़ नहीं किया करते। इसी प्रसंग में महात्मा ने आगे कहा - तिब्बत की मान्यता है कि शरीर आत्मा को धारण करने वाला एक पिंजरा मात्र है। आवश्यकता केवल यह सीखने की होती है कि उस पिंजरे का द्वार खोलकर उससे बाहर आया जाया जा सके। ऐसा हो जाने पर शारीरिक संबंध टूट जाते है। विचारों की गति के सहारे मनुष्य स्वेच्छा से सर्वत्र भ्रमण कर सकता है। विचार शक्ति की तरंगे है और पदार्थ घनीभूत शक्ति है। विचारों पर नियन्त्रण हो जाने पर कितनी भी दूर अवस्थित किसी भी व्यक्ति को अपनी मन:शक्ति से प्रभावित करना कठिन नहीं है।

हम मानते है कि मनुष्य अमर है और शरीर का परिवर्तन उसी प्रकार होता है, जिस प्रकार वस्त्र बदला जाता है। मृत्यु और जन्म परस्परावलम्बित और संबंधित है। जीवन एक चक्र के समान निरन्तर घूमता रहता है। शरीर नष्ट होने पर उसकी आत्मा नया शरीर धारण करती है।

महात्मा का प्रवचन बड़े मनोयोग से सुन रहा था मैं। उनके प्रवचन का प्रत्येक शब्द यथार्थ से जगा हुआ था। उन्होंने आगे कहा - हम यह नहीं मानते कि मनुष्य का पूर्व जन्मों में किए गये कर्मो के अनुसार नये जन्म में सुख-दुख

प्राप्त होता है। कर्म शरीर के साथ ही नष्ट हो जाते है। आत्मा का अस्तित्व बना रहता है। आत्मा में एक प्रकार की ज्योति होती है जो शरीर को भेदकर प्रकाशित होती है। यह ज्योति मृत्यु के समय मन्द पड़ जाती है। शरीर से निकलने के पश्चात अपनी स्वतंत्र प्रकृति के कारण आत्मा प्रेत का रूप धारण करती है और अनेक प्रकार के प्रलोभनों के चलते भटकती रहती है। तिब्बती लामाओं को ऐसी अनेक धार्मिक क्रियाओं का ज्ञान है जिनके द्वारा इस प्रकार के प्रेतों का मार्ग दर्शन किया जाता है। तिब्बती लामाओं का पुनर्जन्म पर विश्वास है किन्तु यह आवश्यक नहीं कि वह जन्म इसी पृथ्वी पर हो। ऐसी अनेक पृथ्वियाँ है, ब्रह्माण्ड में जहाँ प्राणियों का निवास है। वहाँ भी जन्म और मृत्यु का चक्र है। कुछ पृथ्वी के निवासी इस पृथ्वीवासियों से भी अधिक उन्नत स्थिति में है। तिब्बत में एक ऐसे लामा योगी है जिन्होंने उन पृथ्वी समूह में से कई पृथ्वियों से सम्पर्क स्थापित किया है। उनका कहना है कि वहाँ के निवासी हमें कौतूहल की दृष्टि से देखते है।

शरीर का बंधन टूट जाने पर आत्मा इस बात के लिए स्वतंत्र हो जाती है कि जैसे भूत, भविष्य, वर्तमान वैसी ही लोक परलोक में भी समान रूप से विचरण कर सकें। यह स्वतंत्रता कठिन साधना के द्वारा जीवित अवस्था में प्राप्त किया जा सकता है और अनेक सिद्ध पुरुषों ने वैसी सिद्धियाँ प्राप्त की है। निद्रावस्था में शरीर से अलग होकर जब आत्मा बाहर विचरण करती है तो एक अदृश्य रूपहले तार से शरीर और आत्मा का संबंध बराबर बना रहता है। इस तार के टूटने को ही मृत्यु की संज्ञा दी जाती है। ये साधनाएँ और से सिद्धियाँ अत्यन्त दुष्कर है और लाखों करोड़ों में से विरला व्यक्ति ही ऐसी सिद्धि प्राप्त करने का अधिकारी बनता है।

ये सब सारी बातें सुनकर-कहने की आवश्यकता नहीं - पहले से भी अधिक विचार मग्न हो गया मैं। सोचने लगा महात्मा ने जिन दुष्कर और दुर्लभ सिद्धियों की चर्चा की है क्या मुझे किसी ऐसे योगी और सिद्ध का दर्शन लाभ हो सकता है जिनको वे दुष्कर और दुर्लभ सिद्धियाँ प्राप्त हो। एक दिन दीपरत्न को अपने मन की यह बात बतलायी मैंने। दीपरत्न ने कहा - तिब्बत में भारतीय योगियों और सिद्धों का अभाव नहीं है। तिब्बती लामा योगियों और सिद्धों की तरह उनका भी अस्तित्व सदा से यहाँ है, लेकिन बन्धु, वे गुप्त हैं और है प्रच्छन्न। समझ गये न, जिन सिद्धियों की चर्चा महात्मा ने की है - वे सभी सिद्धियाँ निश्चय ही उन्हे उपलब्ध हैं।

यह आप कैसे कह सकते है - मैंने जिज्ञासु भाव से पूछा? ऐसे दो तीन सिद्ध साधकों का दर्शन लाभ हुआ है मुझे और उनकी सिद्धियों को भी देखा है मैंने इसी लिए कह रहा हूँ मैं।

सिद्धयोगी दीपरत्न

यह सुनकर स्तब्ध भाव से देखने लगा मैं दीपरत्न की ओर। अविश्वास का कोई प्रश्न ही नहीं था, क्योंकि दीपरन्त एक उच्च कोटि के सिद्ध योगी थे। सुमति प्रज्ञ से आशीर्वाद और आज्ञा प्राप्त कर किशोरी माँ तो नेपाल चली गयी और मैं चक्रेश्वरी मठ के लिए चल पड़ा। लेकिन चक्रेश्वरी मठ पहुँच न सका मैं। रास्ते में ही भेट हो गयी दीपरत्न से मेरी।

पहले लेह स्थित एक बौद्ध मठ में रहते थे दीपरत्न। वही एक लामा योगी से योग दीक्षा लेकर उनके निर्देशन में तीस वर्ष तक योगसाधना की उन्होंने और फिर तिब्बत आ गये और एक गुप्त मठ में रहने लगे। गुरू का अदृश्य रूप से साधना निर्देश प्राप्त होता रहा और उनकी साधना बढ़ती रही आगे। अन्त में उसके परिणाम स्वरूप कुछ महत्वपूर्ण और दुर्लभ सिद्धियाँ प्राप्त हो गयी उन्हें। और समाधि में रहने लगे वह। जब मेरा परिचय और उद्देश्य का पता दीपरत्न को लगा तो वे अपने स्थान पर ले गये मुझे। वैसे उनकी अवस्था कितनी थी, यह तो वे ही जानते थे, लेकिन देखने में युवक प्रतीत होते थे महाशय।

गुफा नुमा था दीपरत्न का स्थान, अकेले रहते थे वे। सिद्ध साधको और महात्माओं की चर्चा के प्रसंग में उन्होने चैतन्य प्रज्ञ की कथा मुझे सुनाई थी। अब और जिज्ञासु बना दिया था उन्होने मुझे। थोड़ा मौन रहने के पश्चात दीपरत्न बोले - आज अमावास्या है।

हाँ, अश्विन मास की अमावास्या - मैंने कहा।

भारतीय योगियो और सिद्ध महात्माओं के विषय में बाद में चर्चा करूँगा, पहले आप आज की रात्रि में कापालिकों की शव साधना का रोमांचकारी और अविश्वसनीय दृश्य देखे।

क्या कहा आपने? शव साधना ... कापालिकों की ... शव साधना ... समझ में नहीं आया - मैं बोला।

आपको ज्ञात होना चाहिए कि गुप्त रूप से कापालिकों का भी निवास है, तिब्बत और सिक्किम के बीच। 32 मील की सीमा भूमि है, जो अपने आप में अतिदुर्गम स्थली है। उसी दुर्गम स्थलि में सर्वथा प्रच्छन्न भाव से और पूर्ण गोपनीय ढंग से दुर्घर्ष कापालिक सम्प्रदाय के साधकगण और गुह्य साधनाओं और भयंकर तांत्रिक क्रियाओं में रत हैं। इस रहस्य से बहुत ही कम लोग परिचित

है। स्वयं तिब्बत और सिक्किम के निवासी अनभिज्ञ है उन दुर्धर्ष महासाधकों से।

दीपरत्न बोले - अब मैं आपको सिक्किम के प्राकृतिक और भौगोलिक वातावरण के विषय में भी थोड़ा बतला दूँ। कापालिकों का तो अपना रहस्यमय संसार है ही, इसके अतिरिक्त बौद्ध धर्म का महायान मार्ग की अलौकिक और कठिन साधनाओं का भी कम प्रभाव नहीं है वहाँ। महायान मार्गीय लामाओं के रहस्यों में उलझे हुए गूढ़ तत्व विभिन्न चमत्कारी शक्तियों में परिलक्षित होते है। आलौकिक़ माया से सिद्ध लामा योगी हवा में भी उड़ सकते है। महायानी पूजा विधियों एवं अनेको तांत्रिक अनुष्ठानों के अतिरिक्त सिक्किम के वायु मण्डल में काले जादू, दुष्ट प्रेतात्माओं, डायनो और इन्द्रजाल का भी भारी प्रभाव है।

धार्मिक विश्वासो की अलौकिकता को सत्य से अलग करना कभी-कभी असम्भव हो जाता है। जीवन के किसी भी पड़ाव पर अदृश्य शक्तियों की शुभाशुभ प्रेरणाएं असाधारण प्रयोग बनकर मनुष्य को प्रभावित करती है। ऐसी परिस्थितियों में बुद्धि काम नही करती। यथार्थ परक विवेक पीछे हट जाता है और मनुष्य की अन्तरात्मा चींख-चींख कर किन्ही अज्ञात अदृश्य शक्तियों का आह्वान करने लगती है। अन्ततः मनुष्य की सम्पूर्ण मानसिक चेतना को अलौकिक रहस्यों में ही भटक कर असहाय हो जाना पड़ता है।

सिक्किम लगभग सात हजार वर्ग किलोमीटर का भयंकर पहाड़ी प्रदेश है। राजधानी गंगटोक है। गंगटोक के अतिरिक्त सम्पूर्ण प्रदेश ऊँचे नीचे पर्वत शिखरो का दुर्गम भण्डार है। समझ लें कि तिब्बत का छोटा भाई है सिक्किम। वहाँ भी मुलायम रेशमी बालों वाली सुरा गायें मिलती है। पान के पत्तों के जैसी बड़ी बड़ी रंग बिरंगी तितलियों के झुण्ड चारो ओर उड़ते हुए दिखलायी देते है। विभिन्न रूप और रंग के फूलो के पौधे, मीठे रसीले संतरे, मीलों तक फैले हुए इलायची के बाग और पर्वत शिखरों को चूमते हुए रेवत चीनी के लम्बे वृक्ष, मनुष्य क्या देवताओ के मन को भी मोह लेते हैं। तिब्बत की ही तरह सिक्किम भी अद्भुत विश्वासों एवं अलौकिक प्रथाओं का देश है।

कंचन जंघा की हिम मण्डित पर्वत श्रंखला देवों की निवास भूमि मानी जाती है। दुग्ध धवल शिखर ही वरदानों, अभिशापों की वासन्ती या हिमानी हवाएं प्रवाहित करते है। कंचनजंघा के पांच शिखर सिक्किम के पर्वतीय जनों के लिए पाँच देवताओं के समान है। एक अदृश्य हिम केशरी को वे अपने देश का प्रहरी देवता मानते है। शायद हिमालय की दुर्गम घाटियों में विचरण करने वाले हिम मानव या यति को ही वहाँ हिम केशरी के रूप में पूजा जाता हो।

सिक्किम के एक पर्वत शिखर पर काले रंग का एक विशाल शिलाखण्ड है। कभी उस शिला खण्ड पर एक विशाल वृक्ष था और उस पर एक वृहदाकार अशुभ पक्षी निवास करता था। वह दानवाकार विशाल पक्षी नरभक्षी भी था। उस पक्षी से मुक्ति पाने के लिए लोगो ने तांत्रिक अनुष्ठान किया था जिसके फलस्वरूप देवताओं ने उस पक्षी का नाश किया था। अन्त में तिस्ता नदी के तट पर भागता हुआ, वह पक्षी मारा गया था। उसी के मृत शरीर से मच्छर, जोंक, खटमल आदि सिक्किम में उत्पन्न हुए। गरमी के दिनों में वहाँ इनकी भरमार हो जाती है।

जिस महाश्मशान की चर्चा मैंने आपसे की है, वह कंचनजंघा की सुनसान, वदियों और नथुला की बर्फ से हमेशा ढंकी पहाड़ियों से घिरा हुआ है। वहाँ तक पहुँचने के लिए भयानक ढलानों वाला एक संकरा सा मार्ग है।

दीपरत्न का यौगिक चमत्कार

आज अमावास्या की रात्रि में उस महा श्मशान में कापालिकों की शव साधना के रोमांचकारी दृश्य को देखने के लिए कैसे और किस साधन से चलेंगे हम लोग मैंने उत्सुक होकर पूछा?

कहीं जाना आना न होगा – दीपरत्न थोड़ा मुस्कुरा कर बोले – जैसे मैं प्रत्येक वर्ष उस अलौकिक और अविश्वसनीय दृश्य को देखता हूँ उसी प्रकार आप भी देखेंगे।

यह सुनकर आश्चर्यचकित हो उठा मैं एक बारगी। मेरी समझ में कुछ नहीं आया।

सांझ की स्याह चादर फैल चुकी थी उस रहस्यमयी गुफा के चारों ओर हिमाच्छादित धरती पर। अपने प्रकोष्ट में अपने आसन पर समाधि में लीन बैठे हुए थे महाशय चैतन्य प्रज्ञ।

आईये, चलिए मेरे प्रकोष्ट में दीपरत्न इतना कहकर अपने स्थान से उठे और चल दिये। मैं भी उनके पीछे चला गया। नित्य की तरह भोजन की थाली आ गयी। पहले हम दोनों ने भोजन किया, उसके पश्चात अपने आसन पर पद्मासन की मुद्रा में बैठ गये दीपरत्न नेत्र बन्द करके और मुझसे उन्होंने कहा उनके दोनों भौहो के मध्य में मन को स्थिर कर देखूँ मैं।

वैसा ही किया मैंने। पहले तो मन स्थिर नही हुआ लेकिन थोड़ा प्रयास करने पर हो गया एकाग्र। अब तक प्रकोष्ठ में अंधकार घनीभूत हो चुका था। कुछ ही देर बाद सहसा हल्के गुलाबी रंग के प्रकाश से भर गया पूरा प्रकोष्ट।

एकाग्र चित्त होकर बराबर अपलक देख रहा था मैं, दीपरत्न के दोनों भौहो के मध्य में। पाँच-छः फिट की दूरी पर बैठा था मैं, उनके बिल्कुल सामने। थोड़ी देर बाद वह गुलाबी धीरे-धीरे सिमटने लगा और पूरी तरह सिमट कर दीपरत्न के दोनों भौहो के मध्य एक चमकीले प्रभामय बिन्दु के रूप में स्थित हो गया। और कुछ ही क्षणो के बाद वह चमकीला प्रभामय बिन्दु घनीभूत होकर उज्जवल शुभ्र प्रकाश पुंज के रूप में परिवर्तित हो गया। फिर बढ़ने लगा अपने स्थान पर वह प्रकाश पुंज। अन्त में लगभग दो फुट के गोलाकार रूप में परिवर्तित हो गया वह।

हे भगवान! अब क्या देख रहा था मैं उस गोलाकार प्रकाश पुंज में?

कापालिकों की शव साधना का वह अद्‌भुत और अविश्वसनीय दृश्य

दीपरत्न का अस्तित्व नगण्य हो गया था मेरे लिए। अब था केवल मात्र वह रहस्यमय गोलाकार प्रकाश पुंज। अब मैं समझ गया कि सिक्किम के विषय में क्यों बतलाया था मुझे दीपरत्न ने, इसलिए कि मैं उस प्रकाश पुंज में जो दृश्य देखूँ उसे समझ सकूँ भली-भाँति। सचमुच सिक्किम के उसी हिमाच्छादित पर्वतीय वातावरण में आकण्ठ डूबे हुए प्राकृतिक दृश्यों को देख रहा था मैं उस प्रकाश पुंज में - जिसका वर्णन किया था दीपरत्न ने। वहाँ अंधकार नहीं था अमावस्या की काली स्याह रात का। वहाँ तो शुभ्र ज्योत्स्ना बिखरी हुई थी चारो तरफ काफी दूर-दूर तक फैले हुए इलायची के बाग और उसके बाद घने जंगलो का लम्बा सिलसिला जिसे एक पहाड़ी नदी अपने गोद में समेटे हुए अजगर की तरह आगे बढ़ गयी थी। अब वह प्रकाश पुंज थोड़ा विस्तृत हो गया और थोड़ा हल्का भी।

अब मेरे सामने विस्तृत मैदान था - जिसके चारो ओर ऊँचे-ऊँचे पेड़ हवा में पागलो की तरह झूम रहे थे। सहसा एक अद्‌भुत दृश्य उभरा मेरे सामने। मैंने देखा-उस विस्तृत मैदान की उबड़-खाबड़ जमीन को फोड़-फोड़ कर विकृत रूप रंग वाली औरतें निकलने लगी और निकल कर अपने-अपने स्थानों पर झूम-झूम कर पागलों की तरह नाचने कूदने लगी। उनकी संख्या बढ़ती ही जा रही थी। अब पच्चीस-तीस से कम न होगी वे। सभी के काले लम्बे बाल हवा में लहरा रहे थे। उनके कद छोटे थे, रंग बिल्कुल काला था, चेहरा चपटा था, नीचे का जबड़ा झूल रहा था, नाक चमटी थी, आँखे गोल और बड़ी-बड़ी थी, और डरावनी लग रही थी। माथा काफी चौड़ा था। उनके लम्बे-लम्बे बेडौल स्तन पेट पर झूल रहे थे। वे सभी नग्न थीं और उनका व्यक्तित्व भयानक और रोमांचक था। कुछ क्षण बाद, उनके हाथों में एक बड़ा सा पात्र आ गया न जाने कहाँ से। जिसमें जिस्सन्देह सुरा भरा था। वे सभी एक साथ उस रहस्यमय पात्र को मुख से लगाती

और गट-गट कर मदिरा पान करती। पहले से अधिक बढ़ गयी थी उन सब की उछल कूद अब।

सहसा एक विशाल काय हाथी पर सवार एक भयंकर व्यक्ति प्रकट हुआ उन सब पिशाचिनों के बीच। हाथी का रंग बिल्कुल काला था उसी तरह उस पर सवार भीमकाय मोटा ताजा वह व्यक्ति भी काला था। उसका सिर मुड़ा हुआ कोहड़े जैसा था। उसके गले में रूद्राक्ष की मालाओं के साथ एक बड़ा सा नरमुण्ड भी झूल रहा था। उसके चौड़े मस्तक पर त्रिपुण्ड था और कानो में शंख के वलय लटक रहे थे। अपनी लाल-लाल आँखें से चारो ओर घूर रहा था वह व्यक्ति। उसका रूप-रंग और आकार-प्रकार इतना भयंकर और वीभत्स था कि बार-बार रोमांचित हो उठता था मेरा सारा शरीर।

वह भयानक काला कलूटा व्यक्ति अचानक धम्म से कूद पड़ा हाथी पर से जमीन पर। अब मैंने देखा उसके हाथ में लम्बा सा त्रिशूल और मानव खोपड़ी थी। उसी समय न जाने किधर से दो व्यक्ति वहाँ आ गये। वे भी मोटे ताजे और काले रंग के थे। उनके भी सिर मुड़े हुए थे और गले में रूद्राक्ष के साथ नर मुण्ड लटक रहा था। कुल मिलाकर उन दोनों का भी व्यक्तित्व अति भयानक और वीभत्स था।

हाथी से कूद कर तना हुआ खड़ा था वह व्यक्ति और उन दोनों व्यक्तियों की ओर देखकर बोला-ऐं चण्डानन्द, मुण्डानन्द उसकी गम्भीर आवाज वातावरण में एक बारगी गूंज उठी जैसे।

तत्काल चण्डानन्द और मुण्डानन्द नामक दोनो व्यक्ति उस विशाल काय भैंसे जैसे व्यक्ति के सामने खड़े हो गये आकर। दोनों का सिर झुका था और क्रूर, डरावने चेहने पर नम्रता थी। मेघ की तरह फिर गरज कर बोला वह महिषासुर जैसा व्यक्ति - शीघ्र आसन की व्यवस्था करो। यह सुनते ही चण्डानन्द और मुण्डानन्द लगभग दौड़ते हुए एक ओर चले गये और जब थोड़ी देर बाद वापस लौटे तो उनके साथ एक व्यक्ति और था। उस व्यक्ति का सारा शरीर पानी से भींगा था जैसे अभी नहाकर आया हो और उसके भींगे शरीर पर एक सफेद चादर चिपका हुआ था। उसका सिर सामने की ओर लटक कर झूल रहा था। लगता था उसका सिर मानो शरीर से अलग हो। चण्डानन्द और मुण्डानन्द उस व्यक्ति को दोनों बाजुओं से उठाये हुए धीरे-धीरे ला रहे थे। वह व्यक्ति जैसे लड़खड़ाता हुआ चल रहा था, ऐसा लगता था, मानो उसके सारे शरीर में शक्ति न हो।

वास्तव में उस व्यक्ति के शरीर में शक्ति का अभाव था और पूर्ण रूप से प्राणहीन था और था चेतना शून्य। वह एक शव था, शव के सिवाय और कुछ

नहीं था। दोनों उस शव को अपने कन्धों पर उठाये चले आ रहे थे। वही शव आसन था उस दैत्याकार व्यक्ति का।

पिशाचिनी जैसी औरतों का नाचना और मदिरा पान करना बन्द हो गया था अब। वे सभी शान्त भाव से खड़ी थीं अपने अपने स्थान पर।

उस समय मुझे घोर आश्चर्य हुआ जबकि मैंने देखा कि वे सभी औरतें नर कंकालों के रूप में परिवर्तित हो गयी। हे भगवान। यह कैसे हो गया? उन नर कंकालों में से एक नर कंकाल ने आगे बढ़कर शव को थाम लिया और भूमि पर लिटा दिया उसे।

अब आगे का कार्य शुरू हुआ।

हाथी पर चढ़कर आने वाले उस दैत्याकार व्यक्ति का नाम था कापालिक अघोरेश्वरानन्द। वह कापालिकों का गुरू था। वह भयंकर शव साधक था। अपनी कठोर साधना के बल पर कई दुर्लभ सिद्धियाँ प्राप्त की थी उसने। उसके परम इष्ट थे कपाल भैरव। प्रत्येक दीपावली की महानिशा बेला में नरबलि दिया करता था वह अपने इष्ट देव को प्रसन्न करने के लिए।

ये सारी बातें उस समय मुझे कैसे मालूम हुई यह स्वयं नहीं बतला सकता मैं। अन्तर्यामी ही जाने इस रहस्य को।

मैने देखा - चण्डानन्द ने भूमि पर एक लम्बा सा सफेद चादर बिछाया और उस पर शव को उठाकर लिटा दिया। मुण्डानन्द ने स्नान कराया शव को। उसी समय न जाने कहाँ से शव के निकट पूजन की सामग्री से भरी एक थाली आ गयी। अब कापालिक अघारेश्वरानन्द पद्मासन की मुद्रा में बैठ गया अपने शवासन पर। उस समय उसकी मुख मुद्रा अति भयंकर और कठोर लग रही थी। सारा दृश्य रामांचकारी था, इसमें सन्देह नहीं। कापालिक ने अपने हाथ के त्रिशूल को भूमि में गाड़ दिया और खोपड़ी को अपने बगल में रखा। फिर शुरू हुई तमोगुणी तांत्रिक पूजा, शव के मस्तक पर लाल सिन्दूर का टीका लगाया। गले में माला पहनायी। आँखो में काजल लगाया। और फिर सिर पर ढेर सा कपूर जलाया। जलते हुए कपूर की हल्के पीले प्रकाश शव का चेहरा विकृत हुआ दिखलायी दिया मुझे। उसका मुख अपने आप खुल गया था। और कापालिक ने उस खुले हुए मुख में कपालपात्र द्वारा मदिरा उड़ेलने लगा। उसी समय सभी नरकंकाल पिशाचिनी जैसी औरतों के रूप में अपने आप परिवर्तित हो गये और अब वे सभी पिशाचिनियाँ पहले की तरह वीभत्स ढंग से नृत्य करने लगीं। शवासन पर बैठे कापालिक अघारेश्वरानन्द के चारो ओर घूम-घूम कर। कुल मिलाकर वहाँ का दृश्य अति रोमांचकारी था।

अचानक महाश्मशान का शान्त वातावरण भयंकर अट्टहास से गूंज उठा। वह अट्टहास शव ने किया था, ऐसा लगा मुझे। लेकिन उस भयंकर अट्टहास का प्रभाव कापालिक पर नहीं पड़ा। वह मंत्र जपता रहा बराबर और बीच-बीच में शव के खुले हुए मुख में उड़ेलता रहा मदिरा।

मैंने देखा श्मशान के ऊपर का काला स्याह आकाश का एक कोना फट सा गया और फटा हुआ भाग लाल हो उठा, बिल्कुल ताजे खूल की तरह लाल। और फिर उसी फटे हुए भाग से सोने के सिंहासन पर बैठी देवी जैसी एक सुन्दर युवती बाहर निकली। सिंहासन तो तेजोमय था ही इसके अतिरिक्त स्वयं उस देवी के सारे शरीर से दिव्य आभा प्रकट हो रही थी। उस देवी की मुखाकृति इतनी सुन्दर और आकर्षक थी कि मोहाविष्ट सा हो गया मैं। वह लाल रेशमी साड़ी पहने हुए थी। उसके मस्तक पर सिन्दूर का गोल टीका लगा था। गले में विभिन्न रत्नों की मालायें थी। मन्द-मन्द मुस्कुरा रही थी वह देव कन्या जैसी बाला। उसका सिंहासन धीरे-धीरे नीचे उतर रहा था। और अन्त में एक स्थान पर आकर रूक गया।

अरे यह क्या? सिंहासन के आकाश में रूकते ही सभी पिशाचिणियाँ सुन्दर युवतियों के रूप में परिवर्तित हो गयी और उस देवी की ओर हाथ उठाकर प्रणाम करने लगीं। देवी कभी उन युवतियों की ओर तो कभी शवासन पर बैठा कापालिक की ओर देखतीं। कापालिक अपनी साधना में पूर्ण मग्न था। और अपने स्थान पर शव हिल रहा था बराबर। बीच-बीच में जब अपने आप उसका मुख खुलता तो उसके खुले मुख में मदिरा उड़ेल देता कापालिक।

नृत्य करती हुई युवतियों के हाथ अब न जाने कहाँ से सुगन्धित पुष्पों की मालाएँ आ गयी और वे सभी अपनी-अपनी मालाओं को आकाश की ओर उछाल कर देवी को पहनाने का प्रयत्न करने लगीं। आकाश में देवी तो बहुत दूर थीं, लेकिन आश्चर्य तो इस बात का था कि सभी मालाएँ देवी के गले में पड़ती जा रही थी एक-एक कर।

सहसा घोर चीत्कार कर उठा शव। महाश्मशान के वातावरण में एक बारगी गूंज उठी उसकी ध्वनि। और उसी समय मैंने देखा आकाश का एक कोना खून की तरह लाल हो उठा सहसा और वहाँ विशाल शरीर वाले अनेको मांसखोर पक्षी अपने बड़े-बड़े डैने फैलाएँ चक्कर काटने लगे। बड़ा ही भयंकर वह दृश्य था इसमें सन्देह नहीं।

सहसा आकाश में देवी का गम्भीर स्वर गूंज उठा। वह मधुर और कोमल वाणी में कह रही थी - ऐं, अघारेश्वरानन्द तू आज अमावास्या की महानिशा बेला

में जो कठोर और दुर्लभ शव साधना कर रहा है – उसके तमोगुणी प्रभाव से मेरे लोक में हलचल मच गया है। वहाँ के निवासी अशान्त हो उठे है। लोग त्राहि-त्राहि कर रहे हैं। इसलिए मुझे विवश होकर दिव्यौद्यपथ से यहाँ आना पड़ा है। मैं जानती हूँ कि तू मेरा प्रत्यक्ष दर्शन का अभिलाषी है। लेकिन यह कैसे सम्भव है। योगिनियों में श्रेष्ठ टहा विद्या हूँ मैं। भू-मण्डल की सीमा में प्रवेश नहीं कर सकती। मेरी अपनी मर्यादा है। मैं अपनी मर्यादा का उलंघन नहीं कर सकती। कोई-कोई ही देवी शक्ति परब्रह्म परमेश्वर के किसी महत्वपूर्ण कार्य सम्पादन के निमित्त भू मण्डल में प्रवेश कर सकने में समर्थ होती है।

थोड़ा रूककर देवी की वाणी फिर सुनाई दी – तेरी साधना के आकर्षण के वशीभूत हूँ मैं। बोल – क्यों मेरा प्रत्यक्ष दर्शन चाहता है तू?

यह सुनकर घोरगर्जन करता हुआ वह भयंकर कापालिक आकाश की ओर मुख उठाकर बोला – माँ, मैं जानता हूँ – तू, महायोगिनी टहा विद्या है। यह भी जानता हूँ कि कापालिनी के रूप में कापालिक सम्प्रदाय की अधिष्ठात्री भी तू ! है। वैसे तो भू सीमा के बाहर आकाश पटल पर तेरा दर्शन कर ही रहा हूँ मैं। भले ही प्रत्यक्ष प्रकट न हो मेरे सामने लेकिन दीर्घकाल से जिस अभिलाषा और जिस कामना को अपने हृदय में संजोये हुए हूँ, उसे तो साकार कर दे माँ, बस मैं यही चाहता हूँ तुझसे। बोल, कौन सी अभिलाषा और कौन सी कामना है तेरी – देवी की गम्भीर वाणी सुनाई दी।

इस संसार से हमेशा के लिए मुक्त होकर तुम्हारे निज लोक को प्राप्त करना चाहता हूँ मैं – विगलित स्वर में याचना की उस कठोर कापालिक ने।

नहीं, यह अभी सम्भव नहीं है – देवी का उत्तर था। 'क्यों? माँ, मेरी साधना में कोई त्रुटि रह गयी है – असीम करूणा का भान था, कापालिक की वाणी में। अभी दिव्यौद्यपथ प्रशस्त नहीं है तुम्हारे लिए – इतना कहकर अन्तर्ध्यान हो गयी वह रहस्यमयी देवी और देवी के विलुप्त होते ही सारे विकट वीभत्स और अविश्वसनीय दृश्य भी विलीन हो गये न जाने कहाँ? न नृत्य करने वाली युवतियाँ थी न खूनी आकाश था और न तो वहाँ उड़ते हुए मांस खोर पक्षी ही थे।

उस शान्त निस्तब्ध श्मशान के वातावरण में यदि अस्तित्व था तो केवल भूमि पर पड़े निश्चेष्ट शव का था और था उस पर आसीन कापालिक अघारेश्वरानन्द का।

मैं अभी कुछ सोचने समझने का प्रयत्न कर ही रहा था कि सहसा श्मशान के उस नीरव और निस्तब्ध वातावरण में निष्चेष्ट पड़ा शव चीत्कार कर उठा – छोड़ दो, छोड़ दो मुझे मुक्त कर दो मेरी आत्मा को ... पिछले पाँच सौ वर्षो से

तुम मेरी आत्मा को मंत्राविद्व कर मेरे शव का उपयोग अपनी तमोगुणी साधना के लिए कर रहे हो, बोलो कब तक करते रहेगो इस प्रकार? हे परमेश्वर, कब मुक्ति मिलेगी मुझे इस कापालिक से...।

उसी समय एक वीभत्स दृश्य उभरा मेरे सामने। जिसे देखकर सारा शरीर एक बारगी रोमांचित हो उठा मेरा। शव का चीत्कार सुनकर तमतमा उठा कापालिक का चेहरा, क्रोध से लाल हो उठी उसकी आँखे, और उसी समय न जाने कहाँ से आ गया उसके हाथ में एक चमचमाता हुआ विशाल खड्ग। एक बार उस विशाल खड्ग को घुमाया फिर खच की डरावनी आवाज हुई और कापालिक का सिर धड़ से अलग होकर दूसरे क्षण गिर पड़ा शव पर, कापालिक के शोणित से लाल हो उठी श्मशान भूमि और भींग उठा शव। कुछ क्षण तक बैठा हुआ कापालिक का धड़ अपने स्थान पर कांपता रहा और फिर लुड़क पड़ा शव पर।

वृत्ताकार उस प्रकाश पुंज की ओर अपलक नीहारती हुई मेरी आँखे अपने आप बन्द हो गयी और जब खुली तो मैने देखा - सामने बैठे थे पाषाण वत दीपरत्न अपने आसन पर।

हे भगवान अब तक क्या देख रहा था मैं? क्या कोई लम्बा सपना था वह? यदि सपना था तो कितना भयानक और वीभत्स था वह? काफी देर तक उसके एक-एक दृश्य तैरते रहे मेरे मानस पटल पर।

अतीत का एक सत्य

नहीं, वह सपना नहीं, वह था अतीत का एक सत्य। लगभग पाँच सौ वर्ष पूर्व कामरूप कामाख्या के महा तंत्र साधक वज्रेश्वरानन्द कापालिक ने नर बलि देकर उसके रक्त का तिलक लगाते हुए अघारेश्वरानन्द को दीक्षा दी थी कापालिक साधना पथ की और शिष्य बनाया था अपना उसको।

कहने की आवश्यकता नहीं, थोड़े ही समय में कई तांत्रिक सिद्धियाँ प्राप्त कर ली अघोरेश्वरानन्द ने। बहुत बड़ा महत्वाकांक्षी था वह। शव साधना के बल पर तंत्र की सर्वोच्च विद्य ''टहा विद्या'' को उपलब्ध कर इस नश्वर संसार से हमेशा के लिए मुक्त होना चाहता था और मुक्त होकर उस लोक में जाना चाहता था, जिसे सिद्ध लोक कहते है। अपने इसी उद्देश्य को लेकर तिब्बत की कठिन यात्रा पर निकल पड़ा वह। और जब आसाम, बंगाल, अरूणाचल और सिक्किम की दुर्गम सीमा लांघ कर कंचन जंघा की भयानक घाटी से गुजरने लगा तो सहसा उसकी दृष्टि एक ऐसे स्थान पर पड़ी जो महाश्मशान था। नाथुला की पर्वत मालाओं से घिरी वह महाश्मशान भूमि अपने आप में सिद्ध थी, यह समझते देर न लगी

उस तंत्र साधक को। चारो ओर सिर घुमा कर देखा। मोहक आकर्षक और रमणीक प्राकृतिक दृश्यों ने मन को मोह लिया एक बारगी। आगे की यात्रा स्थगित कर उसी महाश्मशान में साधना के निमित्त रहने का विचार किया उसने। एक दिन उसकी भेंट हुई एक परम शवसाधक से श्मशान में। जिसका नाम था कापालेश्वरानन्द। उच्च कोटि का तंत्र साधक था वह और शव सिद्धि थी उसे। कभी-कभी उस महाश्मशान में साधना उपासना के लिए आया करता था वह। वैसे उसकी कुटिया थी नाथुला की पहाड़ियों पर कहीं।

अघोरेश्वरानन्द को देखकर कापालेश्वरानन्द की आँखें चमक उठी। जैसे योग्य शिष्य की उसे आवश्यकता थी। वैसा ही योग्य शिष्य मिल गया उसे अघारेश्वरानन्द के रूप में। इसी प्रकार अघोरेश्वरानन्द को जैसे शव साधक गुरू की खोज थी, वैसा ही गुरू मिल गया उसको भी। अपनी-अपनी सफलता में प्रसन्न थे दोनो। शव साधना की दीक्षा प्राप्त कर, अपने गुरू के निर्देशन में शव साधना करने लगा अघोरेश्वरानन्द।

आन्तर्याग और बहिर्याग

तंत्र साधना के दो मार्ग है - योग मार्ग और तंत्र मार्ग। पहला अन्तर्याग और दूसरा बहिर्याग कहलाता है। पहले अन्तर्याग में सफल हो जाने के पश्चात बहिर्याग को स्वीकार किया जाता है। अभी अन्तर्याग की साधना का पथिक था अघोरेश्वरानन्द, इसलिए प्रत्यक्ष शव की आवश्यकता नहीं थी। अन्तर्याग में साधक अपने ही शरीर को शव के रूप में कल्पित कर शव साधना करता है। यह योग मार्ग है। अत्यन्त कठिन और दुरूह समझा जाता है। सभी के वश की बात नहीं। विरला ही कोई सफलता प्राप्त करता है इस साधना में। लेकिन सफल हो गया शव साधना के आन्तर्याग में पूरी तरह अघोरेश्वरानन्द। अब तक अपने गुरू के साथ उन्ही की कुटिया में रहता थ लेकिन बहिर्याग को अनुष्ठित करने के लिए अपनी स्वयं कुटिया बना ली उसने श्मशान के एक स्थान पर।

आन्तर्याग की तरह बहिर्याग की भी साधना अत्यन्त कठिन है। बड़ा सावधान रहना पड़ता है। पग-पग पर खतरा रहता है साधना मार्ग में।

वाममार्गीय साधना

शव साधना के बहिर्याग का संबंध तंत्र के वाममार्ग से है। वाममार्ग में भी बहिर्याग और आन्तर्याग है। दोनो में पारंगत हो जाने पर ही शव साधना के बहिर्याग में प्रविष्ट हुआ जा सकता है। उसके पश्चात उसके आन्तर्याग में।

यहाँ संक्षिप्त में यह बतला देना आवश्यक है कि तंत्र के जितने भी साधना मार्ग है उनसे प्रधान और मुख्य मार्ग वाम मार्ग को ही बतलाया गया है। वाम मार्ग के बहिर्याग में भौतिक पंच मकार का प्रयोग होता है जबकि उसके आन्तर्याग में होता है पंचमकार के आध्यात्मिक स्वरूप का। बहिर्याग का अनुष्ठित होने पर ही साधक आन्तर्याग में प्रवेश कर सकने में समर्थ होता है। वाममार्गीय साधना भूमि में पुरुष शिव का और स्त्री शक्ति का प्रतीक है।

मध्य युग में वाममार्गीय साधना अपनी चरम सीमा पर थी। विशाल शिव मन्दिर अथवा काफी लम्बे चौड़े साधना प्रांगण में उस समय वाम मार्गीय साधना का आयोजन होता था।

साधना प्रांगण के मध्य में शिव लिंग की स्थापना की जाती थी। वाम मार्गीय साधक-साधिकाएँ मध्य रात्रि के समय प्रांगण में एकत्र होते थे। अन्त में साधना प्रांगण का मुख द्वार बन्द कर दिया जाता था। उसके पश्चात शिवलिंग का पूजन और विधिवत हवन होता था। और प्रासाद के रूप में साधक-साधिकाओं को मांस मदिरा दिया जाता था। साधक और साधिकाएँ इच्छानुसार मांस भक्षण करती थीं और मदिरा पान करती थीं। जिसके फलस्वरूप वातावरण में धीरे-धीरे उत्तेजना व्याप्त होने लगती थी। वास्तव में इस अनुष्ठान के विधान के अनुरूप प्रारम्भ से ही साधना प्रांगण में विशेष वातावरण का निर्माण किय जाता था। हवन कुण्ड में जिस समीधा की आहुति दी जाती थी, उसमें कुछ ऐसी कामोत्तेजक जड़ी बूटियाँ और विशेष गन्ध द्रव्य मिले हुए होते थे कि सम्पूर्ण साधना प्रांगण धूम्र से भर जाता था। उस सुगन्धित धूम्र का औषधिक प्रभाव पड़ता था। उसकी गन्ध सांस के साथ शरीर के अन्दर जाकर अपना कामोत्तेजक प्रभाव डालता था। सभी साधक साधिकाएँ कामोत्तेजित होकर मादकता से भर जाती थीं। मांस भक्षण और मंत्र से अभिमंत्रित मदिरा के संयोग से उनके स्नायु में कामोत्तेजना और एक विशेष प्रकार की मस्ती भर जाती थी। कुछ ही देर में उनके तन-मन में काम भाव की लहरें उमड़ने लगती थीं। उनकी आँखों में वासना छा जाती थी। हर कोई उन्मुक्त होने के लिए व्याकुल हो उठता था।

इसके बाद अनुष्ठान का दूसरा चरण शुरू होता था। इस साधना के जो आचार्य होते थे। वे प्रधान उपासन होते थे। प्रधान उपासन अपने आप में भगवान शिव की अवधारण करते थे और किसी सुन्दरी नवयवना, अस्पर्शा का चयन करते थे और विशेष तांत्रिक विधि-विधान द्वारा उस अक्षत यौवना में पार्वती की अवधारणा करते थे। पार्वती के रूप में वह युवती शक्ति रूपा होती थी। उन्हे भगवान शिव

की एकान्त शयनी के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त होती थी। अनुष्ठान के दूसरे चरण में - शिव शक्ति उन्मुक्त भाव से युगत नृत्य करने लगते थे स्थापित शिव लिंग के सम्मुख। अन्य साधक-साधिकाएँ भी उनके चारो ओर घूम-घूम कर नृत्य करने लगते थे। नृत्य के साथ-साथ साधक-साधिकाओं की कामोत्तेजना और मादकता भी अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाती थी और वे तन-बदन की सुधि भूलकर वे परम कामानन्द की अनुभूति में डूबने लगते थे। तन का बन्धन मन का बन्धन और फिर लाज, संकोच का भी बंधन टूट जाता था एक बारगी। सारी जड़ता समाप्त हो जाती थी उस अवस्था में। प्रांगण के प्रकाश को मन्द से मन्दतर कर दिया जाता था। भगवान कपाल भैरव के प्रसाद के रूप में एक बार शिव शक्ति सहित सामूहिक मदिरा पान करते थे सभी लोग एक साथ। फिर शिव शक्ति के चारो ओर गोलाकार रूप में सभी साधक-साधिकाएँ बैठ जाती थी। और नेत्र बन्द कर इष्ट का स्मरण और जप करती थीं और उस समय शिव शक्ति प्रत्यक्ष रूप में समागम करते थे। और उनके अनुकरण में शेष सभी साधक-साधिकाएँ भी शिव शक्ति मय होकर समागमरत हो जाती थी। इस वाममार्गीय अनुष्ठान में मात्र एक ही प्रतिबंध था और वह यह कि शक्ति के साथ केवल शिव ही समागम कर सकते थे अन्य कोई साधक नहीं। लेकिन शेष स्त्री पुरुष के लिए यह प्रतिबंध नहीं था। तीव्र कामोत्तेजना और आवेश के क्षणों में जिस साधक के हाथ जो साधिका लगती वह उसी के साथ काम क्रीडा में मग्न हो जाता। वास्तव में यह सम्पूर्ण काण्ड एक विशेष तंत्र से संबंधित धार्मिक अनुष्ठान का एक आवश्यक अंग माना जाता था। और यह धार्मिक कृत्य समस्त सामाजिक एवं लोक प्रचलित संबंध एवं मर्यादाओं से परे होने के कारण लौकिक पाप-पुण्य की धारणाओं से भी परे थे।

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष - ये चार मानव पुरूषार्थ है। तंत्र के जितने भी साधना मार्ग है - उनमें किसी न किसी रूप में काम को ही मोक्ष और मुक्ति का साधन बतलाया गया है। धर्म के साथ भी काम अनेक स्तरों से जुड़ा हुआ है। विशेषकर वाममार्गीय अनुष्ठानों एवं साधनाओं में तो विशेष प्रकार मैथुन एक अनिवार्य साधना अंग माना जाता रहा है। तांत्रिक धर्म के अनुसार मैथुन शिव-शक्ति के समागम का पावन प्रतीक माना जाता था।

काम का केन्द्र नाभि है। जीवन की सर्वाधिक महत्वपूर्ण और सबसे बड़ी ऊर्जा काम है। काम से जीवन की उत्पत्ति होती है। जीवन उपलब्ध है, तात्पर्य यह कि काम का दूसरा नाम जीवन है। कामुकता और काम में अन्तर है। यहाँ जिस काम की चर्चा हो रही है - वह विशुद्ध है और तंत्र और धर्म की साधना

का एक प्रमुख अंग है। उसमें मस्तिष्क का कोई संबंध नहीं है क्योंकि मस्तिष्क विचार का केन्द्र है। और भाव का केन्द्र है हृदय। जब विचार का योग काम से होता है तो वह कामुकता हो जाती है। क्योंकि मस्तिष्क से काम का क्या संबंध। इसी प्रकार काम का संबंध भाव से होता है तो वह वासना हो जाती है। क्योंकि हृदय भाव भावना-कामना आदि का स्थान है। विशुद्ध काम से भाव भावना अथवा कामना आदि से क्या लेना देना?

पशुओं में भी काम है लेकिन कामुकता नही है। इसलिए पशुओ का काम भी एक सौन्दर्य है। एक अभिनव आनन्द है। इसलिए कि उनका काम मस्तिष्क और हृदय के गुणों से संबंधित नहीं नाभि से संबंधित है। क्योंकि काम केन्द्र नाभि है।

इसके ठीक विपरीत मनुष्य के काम में कामुकता है एक कुरूपता है। इसलिये उसका काम मस्तिष्क का विषय बन गया है। चिन्तन का विषय बन गया है। हृदय का विषय बन गया है। भाव-भावना का विषय बन गया है। उसके काम का उसके केन्द्र नाभि से कोई संबंध नहीं रह गया है। वाम मार्गीय साधना से जिस काम को साधना की मूल भित्ति मानी गयी है - वह तंत्र का विशुद्ध काम है। मस्तिष्क और हृदय से उसका संबंध नहीं है। अजन्ता अलोरा आदि ऐतिहासिक गुफाओं में विभिन्न रूपो में और विभिन्न आकारो में अथवा आसनों में उसी विशुद्ध काम को सजीव चित्रण किया गया है। और यही कारण है कि तंत्र में शिव-शक्ति को काम-कामेश्वरी कहा गया है। शिव साक्षात काम रूप है और शक्ति पार्वती साक्षात् कामेश्वरी।

वाममार्ग की अनेक शाखाए और अनेक सम्प्रदाय

तंत्र का सबसे प्राचीन मार्ग वाम मार्ग है। इसकी साधना इतनी रहस्यमयी गम्भीर और गहन है कि बड़े-बड़े योगियों और उच्च कोटियों के साधकों के लिए भी अगम्य है वह। कालान्तर में इसी वाम मार्ग के गर्भ से अनेक तांत्रिक साधना मार्गे और उनके अनेक सम्प्रदायों का समय-समय पर आविर्भाव हुआ। जिसमें शाक्त मार्ग और कौल मार्ग प्रमुख है। वाममार्ग की तरह ये दोनों मार्ग भी पूर्ण योग परक शिव शक्ति प्रधान है। शिव पुराण की रचना तंत्र के इन्ही दोनों मूल तत्व पर आधारित है। शिव और शक्ति जगत के दो मूल तत्व है। जिनके संयोग अथवा मिथुन भाग से सम्पूर्ण जगत की सृष्टि हुई है। शिव पुराण के अनुसार सम्पूर्ण जगत शैव शाक्ति-जगत है। शिव शक्ति के संयोग से जगत की उत्पत्ति हुई है। जगत के सभी पुरुष शिव है और सभी स्त्री शक्ति है। पुरुष परमेश्वर

है और प्रकृति परमेश्वरी है। सभी पुरुष परमेश्वर है और सभी स्त्रियाँ परमेश्वरी है। इन दोनों का मिथुनात्मक है ही मूल वासना है। वही आकर्षण है और वही काम है।

तांत्रिक साधनाओं का उद्देश्य

संक्षिप्त में यहाँ यह बतला देना आवश्यक है कि वाम मार्गीय साधना स्वयंतोयोग परम है ही इसके अतिरिक्त उससे आविर्भूत होने वाले जो भी अन्य साधना मार्ग हैं वे भी योग परक है। तंत्र की जितनी भी साधनाएँ है - उनके दो आधार है - बाह्य आधार और आन्तर आधार। बाह्य आधार का अर्थ है भौतिक आधार और इसी प्रकार आन्तर आधार का अर्थ है यौगिक क्रियाओं का आधार। यहाँ यह भी जान लेना आवश्यक है कि तंत्र के जितने भी साधना मार्ग है - उस सबका एक प्रकार से एक ही उद्देश्य है और वह है अद्धयानन्द की उपलब्धि दूसरे शब्दों में इसी का नाम है सामरस्य महामिलन अथवा शिव का शक्ति में और शक्ति का शिव में विलीनीकरण।

अद्धयानन्द का भौतिक साधन है प्रणय। जिससे त्रिपुटी का नाश हो जाता है। प्रणय के अन्तिम क्षणों में बिन्दुपात की अवस्था में जिस आनन्द की उपलब्धि होती है - उसी आनन्द को आध्यात्मिक धरातल पर विशेष यौगिक क्रियाओं द्वारा एक ऐसी विशेष स्थिति में ले जाया जाता है जहाँ वह स्थयी आनन्दानुभूति का विषय बन जाता है। योगी गण कहते है कि उस आनन्दानुभूति के चार स्तर हैं - अद्धयानुभूति, सहजानुभूति और दिव्यानुभूति। इसके पश्चात अन्तिम ब्रह्मानुभूति। इस प्रकार विचार पूर्वक देखा जाय तो एक साधारण सा भौतिक और साथ ही क्षणिक आनन्द आध्यात्मिक और यौगिक धरातल पर प्रतिष्ठित होकर क्रमशः अद्धयानन्द सहजानन्द, परमानन्द, दिव्यानन्द और अन्त में ब्रह्मानन्द में परिवर्तित हो जाता है और बन जाता है परम निर्वाण परम मुक्ति अथवा मोक्ष का एक मात्र कारण।

अघोरेश्वरानन्द अनुभवी साधक था। थोड़े ही समय में काम कामेश्वरी को प्रसन्न कर लिया वाम मार्ग के बहिर्याग द्वारा। लेकिन इसके बाद बड़ी भारी भूल हो गयी उससे। वाम मार्ग के आन्तर्याग को स्वीकार किये बिना ही शव साधना के बहिर्याग की अग्नि में कूद पड़ा वह सिद्धि की लालसा के वशीभूत होकर। उसे सिद्धि चाहिए थी लौकिक और पारलौकिक दोनों। सबसे बड़ी बात तो यह थी कि उन सिद्धियों के अतिरिक्त चौषठ योगियों में सर्वश्रेष्ठ टहा विद्या जिसे साधकगण षोडशी विद्या के नाम से भी संबोधित करते हैं का

भी कृपा प्राप्त करना चाहता था जिससे फलस्वरूप सदैव के लिए संसार से मुक्त हो सके। मगर ऐसा हुआ नहीं वाम मार्ग के आन्तर्याग की साधना में पारंगत हुए बिना दिव्यौधपथ न प्रशस्त हो सका और न तो कृपा और अनुकम्पा ही प्राप्त हो सकी उस महाशक्ति की। लौकिक और पालौकिक सिद्धियों की तो चर्चा करना व्यर्थ है। सचमुच एक परम साधक का ऐसा अन्त होगा? उसकी साधना की ऐसी परिणीत होगी? इसकी कभी कल्पना भी नहीं की जा सकती, सपने में भी नहीं।

समाधि से उठने के पश्चात इतना सब सुनाकर एक लम्बी सांस ली दीपरत्न ने फिर थोड़ी देर मौन रहे और फिर कहने लगे वह - तीसरे नेत्र द्वारा जैसे भविष्य और वर्तमान काल के दृश्यों और घटनाओं को स्पष्ट देखा जाता है उसी प्रकार सुदूर अतीत में भी झांका जा सकता है। तिब्बत में ऐसे-ऐसे सिद्ध योगी है जो बैठे-बैठे अपने प्रखर शक्ति सम्पन्न तीसरे नेत्र द्वारा सैकड़ों हजारों वर्ष आगे की घटनाओ और उनसे संबंधित समस्त दृश्यों को स्पष्ट देख सकने में समर्थ हैं। लेकिन वहाँ यह समझ लेना चाहिए कि यह शक्ति सामर्थ्य केवल उसी योगी को प्राप्त होता है जिसने कुण्डलिनी को जागृत करने के पश्चात् क्रमशः षट चक्र का भेदन करते हुए अन्त में आज्ञाचक्र का भी भेदन किया है।

तीसरा नेत्र का तीन प्रकार से अनावृत्त होना

दीपरत्न थोड़ा रूककर आगे कहने लगे - तीसरा नेत्र तीन प्रकार से अनावृत्त होता है। कुण्डलिनी जागरण षट चक्र भेदनोपरान्त आज्ञाचक्र का भेदन - यह पहला प्रकार है और इसी को सर्वश्रेष्ठ और सर्वोत्तम बतलाया गया है। दूसरा प्रकार है तिब्बती पद्धति। जिसका विवरण आपने महात्मा से सुन ही लिया है। तीसरा प्रकार है - किसी व्यक्ति ने पिछले किसी जन्म में पहले प्रकार से - जिसे भारतीय पद्धति कहते हैं - साधना की है और वर्तमान जन्म में भी साधना मार्ग में अग्रसर हैं तो सद्‌गुरू की कृपा से उसका आज्ञाचक्र भेदन सम्भव है। आज्ञाचक्र के भेदन का परिणाम है तीसरे नेत्र का जागरण।

सद्‌गुरू उपलब्ध कैसे होते है - मैंने पूछा?

सद्‌गुरू को उपलब्ध करने के लिए कोई मार्ग नहीं है यदि योग्यता लाभ है तो सद्‌गुरू स्वयं शिष्य के निकट उपस्थित होकर अपनी स्पर्श दीक्षा से शिष्य के आज्ञाचक्र का भेदन कर देते हैं। आपको ज्ञात होना चाहिए गुरू दुर्लभ नही है दुर्लभ है योग्य शिष्य। योग्य शिष्य का मिलना अति कठिन है।

योग्यता लाभ

योग्यता लाभ से आपका क्या तात्पर्य है - यह मेरा प्रश्न था?

विशुद्ध योग और तंत्र योग को समझना होगा, दीपरत्न बोले - विशुद्ध योग से तात्पर्य पातंजल योग से है जो यम से शुरू होकर निर्विकल्प समाधि से समाप्त हो जाता है, पातंजल योग का लक्ष्य है चित्त वृत्ति का निरोध। विशुद्ध योग में दूसरा स्थान है गीता का। जिसमें अट्ठारह प्रकार के योग का उल्लेख है। विशुद्ध योग के पश्चात् तंत्र योग है। जिसका भण्डार विशाल है और समुद्र के समान गहन है। जैसे गीता का उद्देश्य है ''समत्व भाव'' उसी प्रकार तंत्र योग का भी लक्ष्य है ''सामरस्यभाव अथवा अद्वैत भाव।

शक्ति के दो रूप हैं - समष्टि रूप और व्यष्टि रूप। पहला रूप सम्पूर्ण विश्व ब्रह्माण्ड में व्याप्त और क्रियाशील है जबकि दूसरा रूप मानव पिण्ड यानी शरीर में व्याप्त और क्रियाशील है, तंत्र योग में शक्ति के इसी समष्टि रूप को कुण्डलिनी शक्ति कहते हैं। इसी लिए तंत्र योग को कुण्डलिनी योग और महायोग भी कहते हैं। तंत्र योग की साधना के चार चरण है। कुण्डलिनी शक्ति का जागरण - प्रथम चरण है। कुण्डलिनी शक्ति का उत्थान - द्वितीय चरण है। कुण्डलिनी शक्ति द्वारा षट् चक्र भेदन - तृतीय चरण है। सहस्त्रार चक्र में स्थित शिव तत्व में शक्ति तत्व का विलीनी करण चतुर्थ चरण है। मूलाधार चक्र प्रथम चक्र है इसी चक्र में कुण्डलिनी रूप में शक्ति तत्व प्रसुप्त अवस्था में विद्यमान है। इसी प्रकार अन्तिम चक्र सहस्त्रार चक्र में शिव तत्व की स्थिति है। बस ये ही दो मूल तत्व हैं - शिव और शक्ति तत्व इन दोनों तत्वों का एक दूसरे में विलीनीकरण जिसे सामरस्य भाव अथवा अद्वैत भाव कहते हैं - तंत्र साधना एक मात्र उद्देश्य है। कहने की आवश्यकता नहीं, इस उद्देश्य की पूर्ति में अथवा साधना के लक्ष्य की पूर्ति में कई जन्म लग जाते हैं। कई जन्म लेने पड़ते है साधक को। यदि साधक ने साधना के दो चरणो को पार कर लिया है और उसमें आगे की साधना की योग्यता है तो सद्गुरू स्वयं उपस्थित होकर अपनी स्वयं की साधना शक्ति से स्पर्श दीक्षा द्वारा साधक के आज्ञाचक्र का भेदन कर देते हैं। इससे लाभ यह होता है कि साधक को फिर तीसरे चरण की साधना नहीं करनी पड़ती। लेकिन यह तभी सम्भव है जब कि साधक में राम कृष्ण परमहंस जैसी विह्वलता, आतुरता, व्याकुलता, कामना, लालसा होगी और होगा उनके जैसा माँ, माँ कहकर हृदय से रोने वाला।

दीपरत्न को सद्गुरू का दर्शन

अपने साधना काल में मेरी भी स्थिति अत्यन्त विचित्र हो गयी थी। मैं बतला नहीं सकता उस स्थिति को शब्द नहीं मेरे पास - दीपरत्न बोले - शक्ति के जागरण से मेरा सारा शरीर एक उत्ताप से भर गया था जैसे उस समय। हर समय भाव विह्वल सा रहने लगा था मैं। कभी-कभी मेरूदण्ड में तप्त सलाका के स्पर्श जैसा अनुभव होता था मुझे और उस समय मेरा मन प्राण आकुल हो उठता था और भर उठती थी किसी अज्ञात विरह वेदना से मेरी आत्मा।

ऐसी ही करूण अवस्था में एक दिन रात्रि के समय मेरे सामने एक दिव्य पुरुष का अचानक अवतरण हुआ। उनका कद लम्बा था और शरीर का रंग बादामी था। उनके बादामी रंग के शरीर से अद्भुत प्रकाश रश्मियाँ फुट रही थीं जैसे। तेजोमय मुख के चारो ओर वलयाकार था प्रभामण्डल, उन्मिलित नेत्र, मुख पर गम्भीरता किन्तु होठो पर मुस्कुराहट भी, मन्द-मन्द मुस्कुराते हुए मेरी ओर निहार रहे थे वे महापुरुष। न जाने कब और कैसे मेरे नेत्र बन्द हो गये अपने आप। और नेत्रों के बन्द होते ही एक अद्भुत अलौकिक और दिव्य छटाओं से भरा दृश्य उभर आया मेरे मानस पटल पर। मैंने देखा - चारो ओर इन्द्र धनुषी प्रकाश फैला हुआ था। एक काफी लम्बा चौड़ा सरोवर था। जिसका जल पारदर्शक था। उसमें रंग बिरंगे कमल पुष्प खिले थे। जिन पर भंवरे मंडरा रहे थे। कमल पुष्पों के चारो ओर हंस जैसे जल पक्षी तैर रहे थे निर्मल जल में। सरोवर की सीढ़ियाँ सोने की थीं। सरोवर के चारो कोणो पर छोटे-छोटे चाँदी के मन्दिर बने हुए थे।। सरोवर के मध्य में सुवर्ण का ही एक चौकोर वेदी बनी हुई थी। जिसके चारो ओर सुवर्ण के रत्न जड़ित बरामदे बने थे। सरोवर के चारो ओर गगन चुम्बी वृक्षों और विभिन्न प्रकार के पुष्पों के पौधों का बहुत बड़ा बाग था, जिन पर पक्षी कलरव कर रहे थे। बड़ा ही मोहक और रमणीक स्थान था, कुल मिलाकर। परम शान्ति व्याप्त थी वातावरण में चारो ओर, अभी उन देव तुल्य स्थान का आनन्द ले ही रहा था कि तभी सरोवर के मध्य स्थित स्वर्ण वेदी पर पद्मासन की मुद्रा में बैठे हुए दिखलायी दिये मुझे वे महात्मा। उनके संकेत पर मैं भी वहाँ पहुँच गया अपने आप। और उनके सामने बैठ गया पद्मासन की मुद्रा में। मेरी ओर देखते हुए महापुरुष कहने लगे - जो कुछ ब्रह्माण्ड में है वे सव पिण्ड में भी विद्यमान है। ब्रह्माण्ड में यह स्थान गुरूधाम है, इसके उत्तर ओर गो लोक अथवा गोधाम है और उसके समीप ही वृज भूमि है - जहाँ भगवान श्री कृष्ण अपपी प्रियाराधा के संग विराजमान हैं। वृज भूमि के ऊपर दिव्य भूमि है जिसे दिव्य लोक कहते हैं। और उस दिव्य लोक के एक ओर ब्रह्म मण्डल है और दूसरी ओर है सप्तऋषि मण्डल।

जहाँ तुम उपस्थित हुए हो यह गुरूधाम का गुरू पद है। इस परम दिव्य स्थान पर योग्य साधको की शक्तिपात दीक्षा और स्पर्श दीक्षा सम्पन्न हांती है। तुम्हे शक्ति पात दीक्षा की आवश्यता नहीं, क्योंकि यह दीक्षा कुण्डलिनी शक्ति को जागृत करने के लिये प्रदान की जाती है। तुम्हे स्पर्श दीक्षा की आवश्यकता है। इतना कह कर महापुरुष ने अपनी तर्जनी उंगली से मेरे भ्रू मध्य स्थान का स्पर्श किया और उसी क्षण मेरे बन्द नेत्र खुल गये। सिर घुमा कर चारो ओर देखा मैंने, वे देव तुल्य महापुरुष कहीं नहीं थे। ज्ञात हुआ कि वे दिव्य महापुरुष और कोई नहीं, सद्गुरू थे और गुरूधाम से उनका आगमन हुआ था। और अपनी आध्यात्मिक शक्ति से मुझे गुरूधाम ले जाकर गुरूपद पर स्पर्श दीक्षा प्रदान की थी मुझे उन्होंने।

थोड़ा ठहर कर दीपरत्न आगे बोले - अब मेरे चर्म चक्षु के समक्ष भूत भविष्य वर्तमान इन तीनो काल के अतिरिक्त इच्छानुसार सूक्ष्म जगत भी प्रकट होने लगा था। मै सुदूर भविष्य में देख सकता था और सुदूर अतीत में भी। भविष्य के तिमिराच्छन्न अन्धकार में घटने वाली घटनाओं को तो जान ही जाता था, इसके अतिरिक्त अतीत में घटी हुई घटनाओं को भी देख लेता था मैं सरलता से। वर्तमान की तो बात ही छोड़िये कौन सी घटना कहाँ घट रही है उसे तत्काल नेत्र बन्द करके देख लेता था। निश्चय ही विलक्षण सिद्धि प्राप्त हो गयी थी मुझे। कुछ समय पश्चात भूत और भविष्य में घटने वाली घटनाओं को वर्तमान में प्रकट करने का रहस्य भी जान गया मैं।

समझ नहीं, मैंने कहा?

दीपरत्न बोले - जिस वर्ष जिस मास जिस तिथि और जिस समय अनहोनी के रूप में जो अविश्वसनीय चमत्कार पूर्ण बिना किसी पूर्व नियोजन के विलक्षण घटनाएँ संसार के घटती है - उसी प्रकार उसी वर्ष उसी मास उसी तिथि ओर उसी समय भूतकाल में भी बराबर वे घटनाएँ घटती रहती है, उसी प्रकार जिस प्रकार घटी हुई रहती है। मेरे तीसरे नेत्र के माध्यम से आपने उस प्राचीन महाश्मशान में जो अविश्वसनीय विलक्षण और अद्‌भुत दृश्य देखा है उससे संबंधित सारी घटनाएँ आज से पाँच सौ वर्ष पूर्व आश्विन अमावास्या की काल रात्रि में घटी थी।

कहने की आवश्यकता नहीं, प्रेत लोक जैसे उस शान्त नीरव महा श्मशान भूमि पर जहाँ अब तक न जाने कितनी चिताएँ जलकर राख में परिवर्तित हो चुकी है - अतीत के तिमिराच्छन्न अन्धकार से निकल कर कापालिक अघोरेश्वरानन्द की शव साधना से संबंधित सारी घटनाएँ और उनके सारे दृश्य वर्तमान में एक-एक कर उभरने लगते हैं प्रत्येक वर्ष की आश्विन अमावास्या की महानिशा में और

दुहराने लगते है उस महान साधक की साधना की विफलता की मर्मस्पर्शी कथा। उसी प्रकार शव के चीत्कार और पिशाचिणियों के घोर अट्टहास से गूंज उठता है श्मशान की निस्तब्ध वातावरण और चिथड़े-चिथड़े हो उठती है उसकी नीरवता। और उसी प्रकार भयंकर खड्ग से अपनी सिर काट कर अपनी बलि दे देता है श्मशान भैरव के चरणों में अपनी असफलता से खिन्न वह महा कापालिक और रंजित हो उठती है श्मशान भूमि उसके उष्ण शोणित है।

लेकिन बन्धु, दीपरत्न थोड़ा उदास होकर बोले - ये सब कुछ होता है उसी श्मशान में लेकिन चर्मचक्षु से परे होता है।

समझा नहीं - मैंने कहा?

इस लौकिक स्थूल जगत के साथ दूध पानी के समान पारलौकिक सूक्ष्म जगत भी घुला मिला है। काल-विज्ञान के अनुसार जितना लौकिक स्थूल जगत का विस्तार है उससे कहीं अधिक विस्तृत है पारलौकिक सूक्ष्म जगत। वह अपने प्रारम्भ से सूक्ष्म से सूक्ष्मतम होता चला गया है। स्थूल जगत में जो घटना घटती है वह न जाने कब की घट चुकी होती है भविष्य काल के सूक्ष्म जगत में। जैसे ही वह घटना घटती हैं वैसे ही यानी उसी क्षण उसका अस्तित्व विलीन हो जाता है भूत काल के सूक्ष्म जगत में। और जैसे-जैसे समय व्यतीत होता जाता है वैसे ही वैसे अतीत के गर्भ की गहरायी में समाता जाता है वह। लेकिन फिर भी वर्तमान के सूक्ष्म जगत में अपने समय पर बराबर घटती रहती है वह घटना। भूत भविष्य और वर्तमान ये तीनो खण्ड काल है। ये तीनो खण्ड काल जिस काल के खण्ड है उसे महाकाल कहते हैं। महाकाल का नियम शाश्वत है।

२
अध्याय

तिब्बत के प्रच्छन्नयोगी ब्रह्मार्णव परमहंस

महात्मा चैतन्य प्रज्ञ पूरे तीन वर्ष के लिए निर्विकल्प समाधि स्वीकार करने वाले थे। उस परम अवस्था में उनके स्थान पर किसी को भी रहने का आदेश नहीं था।

चैत्र पूर्णिमा के दिन महात्मा चैतन्य प्रज्ञ को निर्विकल्प समाधि ग्रहण करनी थी। चलने के पूर्व उस महान योगी का चरण स्पर्श करना चाहता था मैं। मेरे जीवन का अति मूल्यवान आध्यात्मिक क्षण था वह। धीरे-धीरे चलकर उस महात्मा के समक्ष स्थिर भाव से खड़ा हो गया मैं। दीपरत्न भी मेरे साथ थे। पद्मासन की मुद्रा में अपनी वेदी पर बैठे हुए थे महात्मा। सामने की ओर स्थिर दृष्टि से देख रहे थे वे। नेत्र की पुतलियाँ बिल्कुल जड़वत् थीं अपने स्थान पर। किसी प्रकार का भाव नहीं था उनके मुख पर उस समय। शरीर में होने वाले स्पन्दन धीरे-धीरे बन्द होते जा रहे थे। झुककर अपना मस्तक रख दिया उस महान आत्मा के शीतल हो रहे चरणों पर, न जाने किस प्रेरणा के वशीभूत होकर। सहसा अवरूद्ध हो गया मेरा कण्ठ और विगलित हो उठा मेरा स्वर। झर-झर कर गिरने लगे आँसू उन चरणों पर अपने आप। बस, इतना ही मेरे कण्ठ से निकला - जन्म-जन्मान्तरों से भटक रही मेरी आत्मा को शान्ति प्रदान करें प्रभु, शान्ति प्रदान करें ..., और इतना कह कर जब मैने सिर उठाया तो देखा - उस महान दिव्यात्मा के नेत्र बन्द हो चुके थे और निर्विकल्प अवस्था को उपलब्ध हो गये थे वे।

दीपरत्न के साथ बाहर निकल आया मैं। तीन लोग और थे। उन लोगों ने गुफा का प्रवेश मार्ग पत्थरों से बन्द कर दिया पूरे तीन वर्ष के लिए। काफी देर तक खड़ा रहा मैं गुफा के बाहर। न जाने कैसा हो रहा था मेरा मन। दीप रत्न

भी थोड़ा विचलित हो गये थे। शान्त और स्थिर नेत्रों से मेरी ओर देखते हुए वह बोले - आइये, चले अब। इतना कहकर आगे बढ़ गये दीपरत्न, और मैं भी चल पड़ा उनके पीछे-पीछे। लगभग एक घंटा चलने के पश्चात् एक गाँव मिला तिब्बतियों का। सांझ हो गयी थी। चैत्र पूर्णिमा का चाँद बर्फिली चोटियों के पीछे से झांकने लगा था। रात्रि में ठहरना था विश्राम के लिए। गाँव का एक गृहस्थ परिचित था दीपरत्न से। उसी गृहस्थ के यहाँ ठहर गये हम दोनों। काफी श्रद्धावान था गृहस्थ। छांछ, मक्खन और बाजरे की रोटी से स्वागत किया उसने। प्रात: याक की व्यवस्था भी कर दी उसने हम दोनों के लिए।

प्रात: काल मैने दीपरत्न को बतलाया कि मुझे चक्रेश्वरी मठ जाना है। बौद्ध पूर्णिमा को वहाँ रहना अनिवार्य है।

मेरी बात सुनकर दीपरत्न बोले - वहाँ आपको बौद्ध पूर्णिमा को उपस्थित रहना है न। अभी तो पूरा एक मास है बुद्ध पूर्णिमा को। तब तक आप मेरे निवास पर रहें।

कहने की आवश्यकता नहीं। उसी दिन सायंकाल पहुँच गया दीपरत्न के स्थान पर। चारो ओर पहाड़ों की बर्फिली चोटियाँ। शान्त, निस्तब्ध वातावरण। प्रतिपदा का रूपहला चाँद निकल आया था बर्फिली चोटियों के पीछे से।

अपने किसी शिष्य से बातें कर रहे थे दीपरत्न। कम्बल ओढ़े मैं बैठा था बाहर और अपलक निहार रहा था निरभ्र आकाश की ओर। अब तक नीले आकाश में काफी ऊपर चढ़ आया था चाँद। बादल का एक छोटा-सा काला टुकड़ा उसे अपनी गोद में ले लेने के लिए आकुल था। उसी की ओर देख रहा था मैं। और तभी मेरी दृष्टि एक अविश्वसनीय और आश्चर्यजनक वस्तु की ओर, मैंने देखा - उस काले बादल के टुकड़े के समीप से एक मानवाकृति हवा में जैसे तैरती हुई पश्चिम से उत्तर की ओर उड़ी चली जा रही थी। बड़ा ही अद्‌भुत दृश्य था। थोड़ी ही देर में गायब हो गयी वह मानवाकृति। उसी समय दीपरत्न से चर्चा की मैंने आकाश में उड़ती हुई उस मानवाकृति की और जिज्ञासा और कौतूहल के मिले जुले भाव से देखने लगा मैं उनकी ओर। मेरी बात सुनकर दीपरत्न कुछ क्षण मौन रहे फिर बोले - मैंने सम्भवत: एक बार आपसे इस बात की चर्चा की थी कि तिब्बत में प्रच्छन्न रूप से भारतीय सिद्ध साधक योगी भी साधनारत् हैं।

हाँ, हाँ, कहा था आपने।

जिस मानवाकृति को आपने आकाश में उड़ते हुए देखा है, वे और कोई नहीं महान सिद्ध योगी ब्रह्मार्णव परमहंस थे। वे आकाशचारी हैं। नित्य आकाश मार्ग से रात्रि में मानसरावेर में स्नान करने के लिए जाते हैं। वे प्राय: शून्य मार्ग

से जाते हैं ताकि उन पर किसी की दृष्टि न पड़े, लेकिन कभी कदा किसी प्राकृतिक बाधा के कारण आकाश मार्ग से भी गमन करते हैं वे। आप परम सौभाग्यशाली हैं कि आज वे आकाशमार्ग से जा रहे थे और आपको उनका दर्शन लाभ हुआ।

एक बारगी स्तब्ध हो गया मैं। मुँह बाये कुछ देर तक दीपरत्न की ओर अपलक देखता रहा और मन ही मन सोचता रहा - क्या वास्तव में एक आकाशचारी महायोगी का दुर्लभ दर्शन लाभ हुआ है मुझे?

सम्भवत: मेरे मन के भाव को समझ गये दीपरत्न! बोले - आप को यह सुनकर घोर आश्चर्य होगा कि उस आकाशगामी योगी से मैं परिचित हूँ। उनके सान्निध्य में रह भी चुका हूँ कुछ समय तक।

कहाँ रहते हैं, वे महायोगी?

यहाँ से लगभग दस बारह मील दूर एक पहाड़ी गुफा में - दीपरत्न बोले - लेकिन मार्ग अत्यन्त कष्टदायक है!

क्या आप उनका दर्शन करा सकते हैं? आप चिन्ता नं करें! मार्ग का कष्ट प्रभावित नहीं करेगा मुझे! थोड़े से शारीरिक कष्ट से यदि एक दिव्य महायोगी का दुर्लभ दर्शन प्राप्त होता है तो इससे अधिक लाभ क्या होगा? अपनी तिब्बत यात्रा में जितना जो शारीरिक और मानसिक कष्ट उठाया है मैंने, उसकी तुलना में नगण्य ही होगा वह कष्ट! उसी समय चल पड़े मुझे अपने साथ लेकर दीपरत्न।

वास्तव में अत्यन्त कठिन और कष्टदायक था, पूरा मार्ग! ग्यारह मील की पहाड़ी यात्रा चार दिनों में पूरी की मैंने। इसी से समझा जा सकता है कि मार्ग कितना कष्टदायक रहा होगा।

ऊँचे-ऊँचे पहाड़ों की तलहटी में थी गुफा। जिसके सामने बहती थी एक पहाड़ी नदी। नदी चौड़ी थी और उसकी धारा भी प्रखर थी। नदी को पार कर के ही जाया जा सकता था, गुफा में। और उसे पार करने का कोई साधन नहीं था। चुपचाप काफी देर तक खड़े रहे हम दोनों नदी के तट पर!

सांझ की स्याह कालिमा रात्रि के गहन अन्धकार में परिवर्तित होने लगी थी। हताश और निराश हो रहा था मैं, लेकिन दीपरत्न के चेहने पर किसी भी प्रकार का भाव नही था। एक बार चारो ओर देखा उन्होंने और फिर कहा - परमहंस ब्रह्मार्णव मानव सम्पर्क के इच्छुक नही हैं। यदि उनका इच्छा होगी तभी आपको उनका दर्शन लाभ होगा, वैसे नहीं।

यह सुनकर और हताश हो गया मै। मेरी और गहरी हो गयी निराशा! हे भगवान! अब क्या होगा? और तभी मेरी दृष्टि पड़ी चमड़े की एक छोटी सी नाव पर! धीरे-धीरे नदी की धारा में डोलती हुई हम दोनों की ओर ही आ रही थी

वह! घोर आश्चर्य हुआ मुझे, लेकिन दीपरत्न निर्विकार रहे। जैसे इस रहस्य से भली भाँति परिचित हो वे, ऐसा लगा मुझे। कुछ ही क्षणों में नदी के तट पर आकर लग गयी वह स्वचालित नौका।

इसी को कहते हैं योगी की इच्छा शक्ति - दीपरत्न मुस्कराकर बोले - साधारण मनुष्य के पास इच्छा तो है, लेकिन उसकी शक्ति नहीं है। एक सिद्ध योगी के पास इच्छा भी होती है और शक्ति भी। अपनी इच्छा को पूर्ण करने के लिए किसी भी प्रकार उसे कार्य नहीं करना पड़ता। जबकि साधारण मनुष्य के लिए आवश्यक है कर्म। आपके कहने का तात्पर्य यह है कि यह नौका उस परम योगी की इच्छा शक्ति का परिणाम है - मैंने जिज्ञासा व्यक्त की।

हाँ। इसमें सन्देह नहीं। चलिए, नौका पर बैठे- दीपरत्न बोले।

हम दोनों के नौका पर बैठते ही वह अपने आप मुड़ी और नदी की प्रखर धारा में धीरे धीरे गन्तव्य स्थान की ओर बढ़ चली। ऐसा लगता था जैसे किसी के अदृश्य हाथ उसे आगे की ओर ढकेल रहे हो। लगभग बीस-पच्चीस मिनट के बाद नदी के दूसरे तट पर जा लगी वह रहस्यमयी नौका। तट से थोड़ा ऊपर गुफा का प्रवेश द्वार था। झुककर जाया जा सकता था भीतर। वहाँ का वातावरण देखकर भय का संचार हुआ मन में! दीपरत्न के साथ गुफा के भीतर प्रवेश किया मैंने! अत्यन्त रहस्यमयी लगी वह गुफा मुझे। घोर अंधकार था भीतर! मार्ग सकरा था। किसी प्रकार टटोल-टटोल कर आगे बढ़ता गया मैं। दीपरत्न की भी मेरी जैसी ही स्थिति थी। काफी दूर निकल जाने के बाद हल्का सा प्रकाश दिखलायी दिया। सहसा वहाँ एक व्यक्ति प्रकट हुआ। मुण्डित सिर और शरीर पर काषाय वस्त्र। रहस्यमय लगा वह मुझे। दीपरत्न फुसफुसा कर मेरे कान में बोले - परमहंस देव का यह खास अनुचर है, तटस्थ रहे। साधु जैसे उस रहस्यमय व्यक्ति ने घूर कर एक बार मेरी ओर देखा और फिर आगे जाने के लिए संकेत किया।

हम दोनों साथ-साथ आगे बढ़ने लगे। थोड़ा चलने पर एक चौकोर आंगन मिला। यह देखकर आश्चर्य हुआ कि वह आंगन लाल रंग के मूल्यवान संगमरमर का था और उसी पत्थर की सीढ़ियाँ थी चारो ओर ऊपर चढ़ने के लिए। आंगन के चारो ओर चार ऊँचे-ऊँचे द्वार थे। वहाँ अधिक प्रकाश था। लेकिन वह प्रकाश कहाँ से आ रहा था, यह मेरी समझ में नहीं आया। वह रहस्यमय साधु मेरे पीछे आकर खड़ा हो गया और मौन भाषा में सामने वाले द्वार से भीतर जाने के लिए संकेत किया। निश्चय ही दीपरत्न वहाँ पहले भी आ चुके होंगे, तभी उन पर वहाँ के अबूझ वातावरण का प्रभाव नहीं पड़ रहा था! लेकिन गुफा के मायाजाल से प्रभावित और किञ्चित भयभीत-सा हो रहा था मैं।

इस रहस्यमय दरवाजे से भीतर पहले दीपरत्न ने प्रवेश किया और उनके पीछे मैं। एक लम्बा गलियारा था वह। उसे पार कर हम दोनों एक काफी लम्बे चौड़े हाल में पहुँचे। उस विशाल हाल की छत, फर्श और दीवारें सफेद संगमरमर के पत्थरों के थे। हाल के मध्य में एक पाषाण वेदी पर एक आदमकद योगी की पाषाण प्रतिमा स्थापित थी। प्रतिमा दूध जैसे सफेद संगमरमर के पाषाण की थी जिसमें एक विशेष प्रकार की चमक थी। प्रतिमा बिल्कुल सजीव लगी मुझे। हाल के चारो ओर की दीवारों पर तप में लीन कई योगी साधकों के चित्र बने हुए थे और उनकी पृष्ठभूमि में हिमालय स्थित कई योगाश्रमों के रेखाकृत चित्र बने हुए थे। बड़े मनोयोग से देख रहा था मैं उन आश्रमों को। सहसा मेरी दृष्टि एक आश्रम पर स्थिर हो गयी। वह आश्रम सबसे भिन्न और विलक्षण लगा मुझे। और बड़ा भी था। उसका ऊपरी हिस्सा बर्फ के धुन्ध में समाया हुआ था। आश्चर्य की बात तो यह थी कि उसके किसी एक भाग पर दृष्टि पड़ने पर उसका और भाग अदृश्य सा हो जाता था। एकाएक मुझे स्मरण हो आया - कहीं यह ज्ञान गंज मठ का रेखाचित्र तो नहीं है। जिसकी चर्चा अपनी पुस्तकों में म.म.डा. गोपी नाथ जी कविराज ने कही-कही की है और जिसमें रहकर उनके गुरू स्वामी विशुद्धा नन्द परमहंस देव ने साधना की थी और सूर्य विज्ञान का प्राप्त किया था प्रशिक्षण।

दीपरत्न से पूछने पर उन्होंने भी इसकी पुष्टि की। और कहा - आपका अनुमान सत्य है। यह ज्ञानगंज मठ का ही चित्र है और आप यहाँ जिस योगी की स्थापित पाषाण प्रतिमा को देख रहे हैं, वह उसी मठ के आचार्य की है, जिनका नाम है ''महातमा''।

''यह महातमा की प्रतिमा है?'' फिर आश्चर्य से मेरा मुँह खुला का खुला रह गया। ज्ञान गंज मठ के आचार्य महातमा की चर्चा अपने गुरू के रूप में स्वामी विशुद्धानन्द परमहंस ने कविराज जी से प्रसंगवश कई बार की थी लेकिन आचार्य महातमा की प्रतिमा यहाँ इस गुफा में क्यो? क्या योगी ब्रह्मार्णव परमहंस का उनसे कोई आन्तरिक संबंध है? सम्भव है, हो सकता है। काफी देर तक अपलक निहारता रहा मैं उस महान योगी की पाषाण प्रतिमा की ओर।

उस हाल से बगल के दूसरे हाल में प्रवेश करने के लिए दरवाजा था। दीपरत्न के साथ उस दरवाजे से होकर मैंने दूसरे लम्बे चौड़े हाल में प्रवेश किया। वह हाल, पहले वाले हाल से दुगुना बड़ा था, जिसकी दीवारें और फर्श भी कीमती लाल संगमरमर के पत्थरों की थी। एक अनर्वचनीय शान्ति बिखरी हुई थी उस हाल के वातावरण में। जिसमें हल्की-हल्की ध्वनि गूँज रही थी किसी मधुर और कोमल संगीत की। जिसे सुनकर न जाने क्यों वैराग्य का अनुभव होने लगा था मन में!

उस विशाल हाल में भी हल्का-हल्का प्रकाश फैल रहा था चारो ओर। सिर घुमा-घुमा कर हाल को देखने लगा मैं। हे भगवान। इस विशाल हाल को देखकर दंग रह गया मैं। स्तब्ध रह गयी मेरी आत्मा। मेरा मुख खुला का खुला रह गया आश्चर्य और कौतूहल से। ऐसा लगा मानो किसी राजा महाराजा के विशाल महल के किसी भव्य कक्ष में आ गया हूँ मैं। कोई सपने में भी कल्पना नहीं कर सकता है कि पूरे संसार से अलग थलग और आधुनिक ज्ञान-विज्ञान और सभ्यता से दूर उस हिमाच्छादित रहस्यमय तिब्बतीय प्रदेश में और वह भी एक प्राचीन रहस्यमयी गुफा के गर्भ में वैसा भव्य, सुन्दर रमणीक, आकर्षक और मन प्राण को एक बारगी सम्मोहित कर देने वाला स्थान भी होगा। और वह भी एक महान योगी और आकाश चारी परम साधक का? मुझे तो ऐसा लगा मानो किसी रहस्यमय अनजाने लोक में आ गया हूँ मैं।

मेरी दृष्टि घूम रही थी चारो तरफ उस विशाल कक्षं में। एक दीवार पर भगवान बुद्ध के जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त तक के चरित्रों और उनके जीवन में घटी प्रमुँख घटनाओं की रेखाकृतियाँ सुनहले रंग में उत्कीर्ण थी जो बिल्कुल सजीव प्रतीत हो रही थी। काफी देर तक मुग्ध भाव से देखता रहा मैं उन सजीव कृतियों को। दूसरी दीवार पर सोलह कलाओं और उनकी अधिष्ठात्रि देवियों का चित्रांकन किया गया था। उस चित्रांकन में जहाँ जिस रंग की आवश्यकता थी वहाँ उसी रंग का उपयोग किया गया था। जिसके फलस्वरूप सभी देविया बिल्कुल सजीव लग रही थी। ऐसा लगता था, मानो अभी-अभी बोल पड़ेगी अपने कोमल और मधुर स्वर में।

उस चित्रांकन के बगल में एक आश्चर्यजनक देवी का भिन्न-भिन्न रंगों से बना चित्र था, जो अपने आप में विचित्र, आश्चर्यजनक और रहस्यमय था।

एक काफी बड़ा सहस्त्र दल वाला नील कमल था जिस पर एक चंतुभुर्जा देवी बैठी हुई थी पद्मासन की मुद्रा में। देवी की गोद में ब्रह्मा, विष्णु और महेश बाल रूप में बैठे हुए थे। देवी के चार हाथ थे। पहले दोनों हाथों से वे तीनों देवताओं को संभाले हुए थी। दूसरे दोनों हाथों में शंख और चक्र था। और गले में विषधर नाग लिपटा हुआ था। उस देवी का नाम एकांगनशा था।

देवी एकांगनशा के ठीक ऊपर दूसरी देवी पद्मासन की मुद्रा में शत दल कमल पुष्प पर बैठी हुई थी। उनके भी चार हाथ थे। ऊपर के दोनों हाथों में धनुष और गदा था। और नीचे के दोनों हाथों से उस देवी ने, देवी एकांगनशा के दोनों नेत्रों को बन्द किए हुए थीं। उस दूसरी देवी का नाम था भ्रामरी।

देवी भ्रामरी के ऊपर एक और देवी पद्मासन की मुद्रा में शत दल कमल के ऊपर विराजमान थीं। देवी के आठ हाथ थे। उनके ऊपर के छै हाथों में क्रमशः

शंख, चक्र, गदा, पद्म, खड्ग और चामर था और नीचे के दोनों से उन्होंने देवी भ्रामरी के दोनों नेत्रों को बन्द कर रखा था। उस देवी का नाम रक्ताम्बरा था।

तीनों देविया अत्यन्त रहस्यमयी थी क्रमशः एक दूसरे से छोटी थीं, तीनो के वर्ण क्रमशः लाल, पीत और नील था।

उन तीनों देवियों को अण्डाकार एक प्रकाश पुन्ज जैसा वलय घेरे हुए था। जिसके बाहर ब्रह्माण्ड का दृश्य था चारो ओर।

तीसरी पाषाणमयी दीवार पर एक ओर ब्रह्ममयी कुण्डलिनी शक्ति का देवी रूप में चित्रांकन किया गया था, जो अपने आप में भव्य और आकर्षक था। दूसरी ओर अलग-अलग षट् चक्रों के रंगीन और भावमय चित्र बने हुए थे। और उन चक्रो के साथ ही साथ उनके अधिष्ठात्र देवताओं के भी रेखाचित्र थे। उन सबके ऊपर सहस्त्र दल कमल पर शिव-शक्ति अद्वैत भाव में विराजमान थे।

चौथी पाषाण मयी दीवार पर चौरासी सिद्धो और उनसे संबंधित चौरासी आसनों का रेखांकन किया गया था। जो अपने आपमे सजीव था। उन रहस्यमय चित्रों और रेखाकृतियों से भरे हुए विशाल कक्ष में चौथे हाल यानी कक्ष में जाने के लिए प्रवेश द्वार था।

दीपरत्न के साथ इस विशाल हाल में प्रवेश किया मैंने। जिसे देखकर और अधिक आश्चर्य चकित होना पड़ा मुझे। वह कक्ष पिछले कक्ष से अधिक लम्बा, चौड़ा और विशाल था और उसकी दीवारें, छत और फर्श पीले रंग के संगमरमर के पत्थर के थे। उस लम्बे चौड़े हाल के मध्य में दुधिया सफेद संगमरमर के पत्थर की एक नवयौवना अपनी कटि पर जलकलश टिकाये खड़ी मुस्करा रही थी त्रिभंगी मुद्रा में। उसका बाया हाथ कलश पर था और दाहिने हाथ में कोई सुन्दर सा पक्षी था जो उड़ने के लिए अपने पंखो को फैलाए हुए था। उस विशाल कक्ष की एक दीवार पर एक योगी का काफी लम्बा चौड़ा रेखाचित्र बना हुआ था। वह योगी का स्थूल शरीर था। उसके भीतर उसी आकार प्रकार का उसका वासना शरीर बना हुआ था। और उस वासना शरीर के भीतर उसके सूक्ष्म शरीर का रेखाचित्र था। इसी प्रकार उसके भीतर योगी के मनोमय शरीर और मनोमय शरीर के भीतर उसके आत्म शरीर का रेखाचित्र बना हुआ था। और उस आत्म शरीर के मध्य में एक बिन्दु था - योगी के चारो ओर ब्रह्माण्ड का दृश्य था। योगी के शरीर के ऊर्जाएँ निकलती हुई चित्र में दिखलायी गयी थीं। वे ऊर्जाएँ ब्रह्माण्ड में चारो ओर फैली हुई थीं।

दूसरी दीवार पर योगी के रूप में सप्तऋषियों के चित्र बने हुए थे और इसी प्रकार तीसरी दीवार पर एक ऐसे ध्यानस्थ योगी का सजीव चित्र बना हुआ था

जिसके चारो ओर देव कन्याएँ नृत्य करती हुई दिखलायी गयी थीं। ध्यानस्थ योगी के नेत्र बन्द थे और उसके भ्रूमध्य से एक प्रखर ज्योति शिखा निकल कर आकाश में मिल गयी थी।

इसी प्रकार चौथी दीवार पर एक ओर चार योगियों के आकाशगमन का दृश्य था। और दूसरी ओर था एक ऐसे योगी का चित्र था जो समाधि की स्थिति में के और उसके चारो ओर उसकी योग सिद्धियाँ नवयुवतियों के रूप में हाथ जोड़े खड़ी मुस्कुरा रही थीं।

कहने की आवश्यकता नहीं, अब तक अपनी आँखो से जो कुछ देखा था, उन पर सहसा विश्वास नही हो रहा था मुझे। सब सपना सा प्रतीत हो रहा था। मैने दीपरत्न से सहज भाव से पूछा – क्या आप मुझे यह बतलायेंगे कि जब आप भी योगी से मिलने यहाँ आये थे तो ये सब कुछ देखकर चमत्कृत ओर आश्चर्यचकित हुए थे मेरी तरह ?

सम्भवतः मेरी बात बचपनी सी लगी दीपरत्न को, सुनकर हँस पड़े वह फिर बोले – ये विशाल कक्ष और उनकी दीवारो पर बने अद्‌भुत विचित्र और कौतूहलपूर्ण चित्रों को देखकर आपकी तरह आश्चर्यचकित नही हुआ था मैं।

क्यों?

इसलिए कि मैं जानता था कि ये सब कुछ एक महान योगी की योगमाया है। उसकी योग सृष्टि है और है उसकी सिद्धियों का अविश्वसनीय चमत्कार।

क्या ये सारा विस्तार जिनको मैं देख रहा हूँ – योगमाया है? योग सृष्टि है? सिद्धियों का चमत्कार है? – समझ में नही आया मेरे कुछ – थोड़ा झुंझला कर बोला मैं।

दीपरत्न सहज भाव से बोले – तीन प्रकार की सृष्टि है। सबसे पहली सृष्टि है परमेश्वर की सृष्टि। सम्पूर्ण विश्व ब्रह्माण्ड परमेश्वर की स्वप्नलीला है, जिसे साकार करती है प्रकृति। इसके बाद दूसरी सृष्टि है योग सृष्टि, एक परम योगी जिसका आश्रय लेकर सृष्टि करता है वह है उसकी सिद्धियाँ। वे सिद्धियाँ ही उसकी शक्ति है – जो उसकी इच्छा को तत्काल साकार करती है, तीसरी सृष्टि है मानव सृष्टि, आपको यहाँ एक बात बतला दूँ वह यह कि ''सिद्धि'' के मतलब है शक्ति। योग से जो मानवेतर शक्ति प्राप्त होती है, उसी को योग की भाषा में सिद्धि कहते हैं।

जैसा कि मैने कहा – मनुष्य भी सृष्टि करता है, उसकी सृष्टि के क्रमशः पाँच स्तर है, पहले स्तर में भाव का उदय होता है। दूसरे स्तर में वही भाव, विचार के रूप में परिवर्तित हो जाता है। उसी विचार के आधार पर मनुष्य कल्पना करता

है और उसी कल्पना को साकार करने के लिए इच्छा का जन्म होता है। और वह इच्छा साकार रूप धारण करती है कर्म से। भाव, विचार, कल्पना, इच्छा और कर्म – ये पाँचो मिलकर किसी भी भौतिक वस्तु की सृष्टि करते है। बाग, बगीचा, मकान, कार, मोटर, गाड़ी, जहाज, आदि से लेकर जितनी भी मानवोपयोगी वस्तुएँ और पदार्थ है – उन सबके पीछे वे पाँचो सृष्टि स्तर है, परन्तु इस बात को भी समझ लेना होगा कि इच्छा को कर्म में ठीक-ठीक नियोजित करने के लिए ज्ञान, विवेक और बुद्धि इन तीनों की आवश्यकता है। यदि ये तीनो निर्बल है तो कोई भी इच्छा कर्म में आयत्त होकर सृष्टि नहीं कर सकती यही कारण है कि मनुष्य की सभी इच्छां पूर्ण नहीं होती।

जब मैं और दीपरत्न बाते कर रहे थे, उसी समय वह रहस्यमय साधु न जाने किधर से आकर खड़ा हो गया हम दोनों के सामने। दीपरत्न की ओर देखकर आगे जाने के लिए संकेत किया उसने। दीपरत्न आगे चलने लगे और मैं उनके पीछे। हाल से निकल कर मै जहाँ पहुँचा, वह एक सुन्दर और रमणीक बाग था। बाग के चारो ओर लम्बे और हरे भरे वृक्षों की कतारें थी और उन वृक्षों से घिरी हुई क्यारियाँ थी। जिनमें भिन्न-भिन्न प्रकार और भिन्न-भिन्न रूप रंग के फूल खिले हुए थे। जिनकी सुगन्धों से वहाँ का वातावरण भरा हुआ था। उन फूलो में कुछ ऐसे भी फूल थे जिनकी मानसिक सृष्टि की थी उन योगी ने। बाग के मध्य में संगमरमर के पत्थरो का बना एक हौज था, जिसमें स्वच्छ जल भरा था और उस जल में लाल, नीले और सफेद रंग के कमल पुष्प खिले थे।

योगी ब्रह्मार्णव परमहंस से साक्षात्कार

उस लम्बे चौडे सुन्दर और रमणीक बाग से बिल्कुल सटे हुए था एक बहुत बड़ा कमरा। कमरे की बाहरी-भीतरी दीवारें फर्श और छत विभिन्न रंगो के संगमरमर के पत्थरों के टुकडो से बने थे। सामने की ओर कमरे में प्रवेश के लिए ऊँचा सा द्वार था, जिसके दरवाजे चाँदी के थे, द्वार के दोनो ओर दो-दो लम्बी चौड़ी खिड़कियाँ थीं। उनके भी दरवाजे चाँदी के थे।

बाग के लगे होने के कारण उस कमरे के दोनो ओर और पीछे भी लम्बे और घने वृक्ष थे। जिन पर पक्षी कलरव कर रहे थे। वातावरण में एक अनर्वचनीय शान्ति व्याप्त थी।

दीपरत्न धीमें स्वर में बोले – परमहंस देव का कक्ष है यह, आइये भीतर प्रवेश करें। वह रहस्यमय साधु वहाँ नहीं था उस समय। कमरे में प्रवेश किया मैंने दीपरत्न के साथ। और प्रवेश करते ही मुझे ऐसा लगा, मानो मेरी प्राण शक्ति

एकाएक बढ़ गयी हो। सारे शरीर में एक विचित्र सी शक्ति का अनुभव करने लग गया मैं। मेरी मानसिक अवस्था भी अत्यधिक संवेदनशील हो उठी अपने आप। मेरे सोचने विचारने और चिन्तन-मनन करने की क्षमता भी इतनी बढ़ गयी कि बतला नही सकता मैं।

कमरे में हल्का नीला प्रकाश हो रहा था और उसी हल्के नीले प्रकाश में सबसे पहले जो मैने देखा वह था, एक लम्बा चौड़ा तख्त जो चाँदी सोने का बना हुआ था। और जिस पर मोटा सा गद्दा और पीले रंग का रेशमी चादर बिछा हुआ था और उसके ऊपर बिछा हुआ था सिंह चर्म, सिंह के पूरे शरीर का चर्म। तख्त के दोनों ओर थे सिंग मुण्ड, जो बिल्कुल सजीव प्रतीत हो रहे थे। लगता था जैसे कभी भी उनके मुख खुलेंगे और मेरी ओर अपनी धधकते अंगारों जैसी लाल आँखों से देखकर गरज उठेंगे किसी भी क्षण।

अब उस मन्द आलोक में जिस पर मेरी दृष्टि पड़ी थी वह एक अट्ठारह बीस वर्ष का नवयुवक जो पद्मासन की मुद्रा में सिंह चर्म पर बैठा मन्द-मन्द मुस्कुरा रहा था मेरी ओर देखते हुए। दिव्य सुगठित देह यष्टि, गौर वर्ण, और उस गौर वर्ण दिव्य शरीर पर कषाय वस्त्र, गले में झूलती हुई माणिक, मुक्ता, रूद्राक्ष और स्फटिक की मालायें कन्धों का स्पर्श करती हुई घनी स्याह केश राशि रक्ताभ होंठ, बड़े-बड़े नेत्र, सघन भौहें और उन्नत ललाट। एक अवर्णनीय आकर्षण था उस देवतुल्य नवयुवक के मुख मण्डल पर। एक प्रखर ज्योति थी उसके नेत्रों में। उसके चारो ओर एक सुनहला प्रभा मण्डल था। स्थिर नेत्रों से अपलक निहारता रहा मैं उस दिव्य युवक की ओर न जाने कब तक।

हे भगवान, हे परमात्मा कैसे और क्या कहूँ मैं? समझ में नहीं आ रहा है। मेरे सामने था उस दिव्य और सुन्दर नवयुवक के रूप में एक अविश्वसनीय और आश्चर्यजनक किन्तु पूर्ण सत्य। और उसी पूर्ण सत्य को अपनी भाषा में प्रकट करने जा रहा हूँ मैं, जिस पर किसी को सहसा विश्वास नहीं होगा। स्वयं मैंने भी कल्पना नहीं की थी कभी सपने में उस सत्य की।

वह सुन्दर और आकर्षक व्यक्तित्व वाला नवयुवक और कोई नहीं लगभग छः सौ वर्षीय आकाशचारी परमयोगी ब्रह्मार्णव परमहंस देव थे। जिसने अपने मन पर, अपने प्राण पर और अपने शरीर पर योग बल की सहायता से पड़ने नहीं दिया था, काल के कुटिल प्रभाव को। और सदैव बने रहे नवयुवक। क्या कोई स्वीकार करेगा इस अविश्वसनीय सत्य को? कभी नहीं। लेकिन योगी समाज में सब कुछ सम्भव है। असम्भव कुछ नही।

सहसा मेरे कानो में एक मन्द किन्तु गम्भीर स्वर गूँजा, निश्चय ही वह स्वर योगी का ही था। वह कह रहे थे न जाने कितने वर्षो से प्रतीक्षा कर रहा हूँ मैं तुम्हारी, आज ... वह प्रतीक्षा समाप्त हुई...।

मेरी समझ में नहीं आया कुछ। अचम्भित हो उठा मैं। मेरी प्रतीक्षा क्यों? और किस लिए ...?

सहसा दिव्य पद्म गन्ध से भर उठा उस महान योगी का साधना कक्ष। सिर घुमाकर देखा हाथ में पूजा की थाली लिए एक कषाय वस्त्र धारिणी सुन्दर महिला धीरे-धीरे प्रवेश कर रही थी कमरे में। हे भगवान, कितनी सुन्दर थी वह सन्यासिनी। उसके सौन्दर्य का वर्णन शब्दों में असम्भव है करना। लगा, जैसा किसी परीलोक की कोई देवी हो वह।

कमरे में प्रवेश करते ही महात्मा के सामने जाकर खड़ी हो गयी वह सन्यासिनी। पहले उसने महात्मा की धूप दीप और पुष्प से पूजा की और अन्त में प्रणाम किया चरणस्पर्श कर।

भौचक्का सा मुँह बाये देख रहा था मैं सब कुछ। मेरे कान के समीप अपना मुख कर दीपरत्न ने फुसफुसा कर कहा - जानते हो, यह एक परम सिद्ध योगिनी है, नाम है कल्याणी माँ, तिब्बत की पृष्ठभूमि में स्थित चर्मचक्षु से परे एक सिद्धाश्रम से प्रायः नित्य आती है परमहंस देव की पूजा करने के लिए, थोड़ा रूककर उन्होने आगे कहा - कल्याणी माँ की आयु पाँच सौ वर्ष के ऊपर ही होगी, इससे कम नहीं।

मैने भी धीरे से पूछा - सिद्धाश्रम से यहाँ कैसे आती है कल्याणी माँ? शून्य मार्ग से उत्तर मिला।

शून्य मार्ग किसे कहते है - मेरा प्रश्न था और इस प्रश्न के उत्तर में दीपरत्न ने बतलाया कि आकाश और महाकाश के बीच में जो स्थान है उसे महाशून्य कहते हैं जिसे योग की भाषा में चित्ताकाश की संज्ञा दी गयी है। इसी प्रकार महाकाश और परमाकाश के बीच में जो सन्धि स्थान है उसे परम शून्य कहते है। परमशून्य योगियों का चित्ताकाश है। उसी चित्ताकाश को शून्य मार्ग अथवा परमशून्य कहा जाता हे। इस दृष्टि से दो मार्ग है - महाशून्य मार्ग और परमशून्य मार्ग। इन दोनों मार्गो से योगी गण प्रकाश की गति से यात्रा करते हैं।

अपने गुरू का पूजन करनेके पश्चात मेरी ओर स्थिर दृष्टि से एक बार देखा कल्याणी माँ ने, झील जैसी नीली और गहरी आँखों में एक विचित्र सा सम्मोहन था, जिसने मन प्रांण को झकझोर दिया एक बारगी। लगा कुछ बाते करना चाहती है मुझसे कल्यणी माँ। मेरा सान्निध्य चाहती है वह।

फिर जैसे आयी थीं वैसे ही चली गयी वह महासाधिका।

पूर्वजन्म में एक सन्यासी से भेंट और आध्यात्मिक सत्संग

मेरी समझ में अब तक नही आया था कि मेरी प्रतीक्षा क्यों कर रहे थे परमहंस देव? क्या वे मुझसे पूर्व परिचित थे?

हाँ, मेरे अस्तित्व से पूर्व परिचित थे परमहंस देव। दो सौ पचास वर्ष पूर्व जब परमहंस देव काशी यात्रा पर आये थे उस समय भेट हुई थी उनकी मुझसे। काशी के एक ब्राह्मण कुल से संबंधित था मैं। माता-पिता के स्नेह से वंचित अपने परिवार में एकाकी व्यक्ति था, विवाह नहीं हुआ था मेरा। बाल्यावस्था से ही धार्मिक और दार्शनिक प्रवृत्ति का था मैं। उस समय मेरी अवस्था बीस वर्ष के लगभग थी। संस्कृत विद्यालय में पढ़ना, चिन्तन-मनन करना, अपने हाथ से भोजन पकाना और सायंकाल घर पर आने वाले पाँच छः विद्यार्थियों को पढ़ाना यही मेरी दिनचर्या थी उस समय। प्रारम्भ से ही शान्त और गम्भीर प्रकृति का था मेरा स्वभाव। प्रायः सायंकाल गंगा के किनारे किसी घाट की सीढ़ियों पर गाल पर हाथ धरे बैठा न जाने क्या-क्या सोचता विचारता रहता था मैं।

सायंकाल का समय था। गंगा किनारे घाट की सीढ़ियों पर बैठा था नित्य की भांति। सहसा मेरी दृष्टि गंगा स्नान करते हुए एक सन्यासी पर पड़ी। सन्यासी का व्यक्तित्व अति आकर्षक लगा मुझे। सन्यासी की अवस्था कितनी थी, यह तो बतलाया न जा सकेगा लेकिन देखने में पचास वर्ष के आस पास प्रतीत होती थी। गौर वर्ण, स्वस्थ और सुगठित देह यष्टि, मुण्डित सिर। सन्यासी के बड़े-बड़े नेत्रों में विचित्र सी चमक थी और था चेहरे पर दिव्य आभा।

सन्यासी स्नान करने के पश्चात कषास वस्त्र पहना, अपने कमण्डल में गंगा जल भरा उसने और खड़ाऊँ पहन कर खट्-खट् करता सीढ़ियाँ चढ़ने लगा वह। और जब ऊपर आया तो उसकी दृष्टि मुझ पर पड़ी। सम्मोहन से भरे हुए थे जैसे उसके चमकते नेत्र। वह धीरे से मुस्कराया और फिर मेरे समीप आकर मधुर स्वर में बोला - ब्राह्मण बालक हो?

मैने सिर हिलाकर धीरे से कहा - हाँ।

काशी के निवासी हो? - सन्यासी ने दूसरा प्रश्न किया।

मैंने फिर सिर हिलाकर उत्तर दिया - जी हाँ। काशी का ही निवासी हूँ। मेरे पूर्वज काशी के ही थे।

साधना करोगे? - सन्यासी ने अति कोमल स्वर में पूछा।

कैसी साधना? सहज भाव से बोला मैं।

शरीर की साधना, प्राण की साधना, मन की साधना और आत्मा की साधना। आकाश की ओर देखते हुए सन्यासी ने कहा। और इतना कहकर फिर बिना कुछ बोले खट्-खट् करता हुआ आगे बढ़ गया सन्यासी। न जाने किस भाव के वशीभूत होकर मैं भी पीछे-पीछे चल पड़ा सन्यासी के। मना नहीं किया सन्यासी ने।

काशी के ललिता घाट के ऊपर एक मठ में रहता था वह सन्यासी। नाम था अक्षरानन्द सरस्वती। मैं भी रहने लगा उसी मठ में। घर परिवार में कौन था ही मेरा। अक्षरानन्द सरस्वती को अपने गुरू के रूप में स्वीकार कर लिया मैंने और उन्ही से सन्यास दीक्षा ग्रहण कर सिर मुड़ा लिया और धारण कर लिया कषाय वस्त्र। उस समय मेरी अवस्था जैसा कि बतला चुका हूँ - कुल बीस वर्ष की थी।

मेरी आध्यात्मिक शिक्षा शुरू हुई।

गुरूदेव ने कहा - मनुष्य स्वास्थ्य चाहता है। दीर्घायु चाहता है। सुख चाहता है। शान्ति चाहता है, लेकिन विवेक के बिना शान्ति नहीं, शान्ति के बिना सुख नहीं, सुख के बिना स्वास्थ्य नहीं और स्वास्थ्य के बिना दीर्घायु नहीं।

मनुष्य के आन्तर में प्रवृत्ति उत्पन्न होती है और चली जाती है और जाने के पूर्व अपना संस्कार छोड़ जाती है। ऐसे ही संस्कारो का घनीभूत रूप मनुष्य है। थोड़ा रूककर गुरूदेव आगे कहने लगे - तुमको ऐसे मार्ग पर चलना है, जिसमें तुमको किसी का अनुसरण नही करना होगा। तुमको ऐसे मार्ग पर चना है, जिसकी धूल पर किसी पथिक के पद चिन्ह अंकित नही है। तुमको ज्ञात होना चाहिए कि पदचिन्ह तभी अंकित होते है, जब मार्ग के प्रति पथिक के मन में आसक्ती होती है, मोह होता है और होता है आकर्षण। पदचिन्ह उसके अंकित नहीं होते, जिसके मन में मार्ग के प्रति न आशक्ति होती है, न मोह-माया होती है और न तो होता है किसी भी प्रकार का आकर्षण ही। सच तो यह कि मार्ग चलने के लिए होता है, आशक्ति और मोह के लिए नहीं होता है। जो चलता है वह निरासक्त भाव से मोह-माया रहित होकर चला जाता है। जो आता है वह जाता है, अपने पीछे कुछ भी नहीं छोड़ता। किसी भी प्रकार का अनुसरण नहीं है। कुछ भी शेष नही है। कोई संस्कार भी नही है। जो जैसा आया, वैसा ही गया। न स्मृति और न तो संस्कार।

वह कौन सा मार्ग है - मैंने प्रश्न किया?

आध्यात्म मार्ग - गुरूदेव बोले - आध्यात्म की यात्रा भीतर की यात्रा है, और है आन्तर की यात्रा। आत्मा की भी यात्रा कह सकते हो।

आध्यात्म का अर्थ क्या है - प्रश्न?

आध्यात्म में दो शब्द है - अधि + आत्मा। अधि का अर्थ है भीतर। आध्यात्म का अर्थ है - आत्मा के भीतर।

मनुष्य के शुरू से ही प्रत्येक जन्म में सदैव बाहर की यात्रा की है और भविष्य में भी बराबर उसी प्रकार बाहर की यात्रा करता चला जाता है। कभी वह भीतर जाने का प्रयत्न ही नहीं करता और यह कभी भी जानने समझने का प्रयत्न नहीं करता कि भीतर भी कुछ है। उसको वहीं सब कुछ अच्छा लगता है - जो बाहर है। उसी के प्रति वह आकर्षित होता है - जो बाहर है। वहीं समझता है कि जो आकर्षण है जो सुख है जो आनन्द है और जो है सार - वह सब बाहर ही बाहर है। भीतर कुछ भी नही है।

मैं भी मानता हूँ। और इस बात को स्वीकार करता हूँ कि भीतर कोई सार नहीं है, जो सार है - वह सब बाहर ही है। यदि भीतर सार होता तो बाहर से सार लेने की क्या आवश्यकता थी? भीतर सार नहीं है - असार है - इसलिये मनुष्य बाहर से सार लेकर भीतर भेजता है - यही उसका अनुभव है। लेकिन मनुष्य कभी यह सोचने समझने का प्रयत्न नही किया कि भीतर अवश्य सार नहीं है, पर सार को भोगने वाला तो है। सार को ग्रहण करने वाला सार भोगने वाला और सार का अनुभव करने वाला जो है वह है उसके भीतर।

मनुष्य शुरू से ही बाहर सार तत्व की खोज करता आ रहा है। बराबर यही प्रयत्न करता आ रहा है कि सार तत्व का साक्षात्कार उसे हो सके। आज भी खोज रहा है - विटामिन में सार तत्व खोज रहा है, प्रोटीन्स में सार तत्व खोज रहा है, दुकान में सार तत्व खोज रहा है, वेश्यालय और मदिरालय में सार तत्व खोज रहा है। लेकिन कभी अपने भीतर उसे खोजने का प्रयत्न नहीं किया उसने।

आत्मा के द्वारा आत्मा को देखने का प्रयास करें। यह बड़ा विचित्र लगता है सुनने में। है ही विचित्र बात। वैसे ही जैसे कोई कहे कि अपने को अपने से देखो। कौन देखने वाला है? और देखने के लिए कौन सा है दृश्य? यह प्रश्न अध्यात्म दर्शन का अति जटिल और गूढ़ प्रश्न है। समझने का प्रयत्न करो - गुरू जी बोले - जब हमारी चेतना मतलब कि हमारी देखने वाली चेतना जिसको द्रष्टा चेतना कहते है - खण्डित होती है तो उसके दो खण्ड अपने आप हो जाते है - पहला खण्ड देखने वाली चेतना होती है और दूसरा खण्ड होता है वह जिसे पहला खण्ड देखता है यानी दृश्य।

चेतना के दोनो खण्डो को कहते है - द्रष्टा और दृश्य, द्रष्टा - आत्मा है और दृश्य है श्वास, मन, प्राण, विचार और शरीर। एक बात अवश्य यहाँ समझ लेना चाहिए वह यह कि साधना भूमि में चेतना के दोनों खण्ड तो अलग-अलग

है यानी द्वैत है लेकिन आध्यात्मिक दृष्टि से अद्वैत है, मतलब कि दोनों एक ही है। नाम दो हैं लेकिन रूप एक ही है।

श्वास को देखो, मन को देखो, प्राण को देखो, विचार को देखो और अपने शरीर को देखो।

क्या ये सब दृश्य वस्तुएँ आत्मा है?

आत्मा न होते हुए भी आत्मा ही है वे सब। यदि प्राण, आत्मा न होती तो जीवित और मृत व्यक्ति में कोई अन्तर नहीं रहेगा। यदि मन आत्मा न हो तो मन सहित और मन रहित में फिर कोई अन्तर नहीं रहेगा। इसी प्रकार यदि शरीर आत्मा न हो तो जीवित शरीर और मृत शरीर में कोई अन्तर नहीं रहेगा। कहने का मतलब यह कि ये सब आत्मा ही है।

श्वास पहली साधना है आत्मा का अनुभव करने का और आत्मा को देखने का। यह भीतर की यात्रा पहला चरण है। पहले चरण का मतलब है श्वास को साधन बनाकर भीतर प्रतिष्ट होना। यानी श्वास से गुजरना।

पहले अपने श्वास पर अपने मन को स्थिर करें एकाग्र करें - दोनों में सामंजस्य स्थापित करें। जब श्वास के साथ मन भी शरीर के भीतर जाने लगेगा तो समझिये अन्तर्यात्रा का प्रथम चरण शुरू हो गया।

शरीर श्वास यानि प्राण और मन - हम इन तीनो के माध्यम से भीतर आत्मा से परमात्मा तक पहुँच सकते है और इतना ही नहीं, मोक्ष, कैवल्य अथवा निर्वाण को भी उपलब्ध हो सकते हैं।

आध्यात्म मार्ग का पहला लक्ष्य है अपने शरीर को समझना। और शरीर को समझने के लिए श्वास का स्पर्श आवश्यक है। श्वास का स्पर्श किए बिना श्वास को साधन बनाए बिना और श्वास को बिना समझे बिना देखे हम अपने शरीर को कभी भी ठीक से नहीं समझ सकते। शरीर को बिना ठीक से समझे मन के अस्तित्व के भली भाँति परिचित नहीं हो सकते। मन को बिना देखे और उससे परिचित हुए बिना अपने शरीर के चारो ओर फैले आभा मण्डल को नही देख सकते। आभा मण्डल को बिना देखे प्राण को नहीं देख सकते। और उसका अनुभव भी नहीं कर सकते। और प्राण दर्शन तथा प्राणानुभव के बिना - उस परम चैतन्य तक नही पहुँच सकते - जो परमात्मा है परमेश्वर है, परब्रह्म है और है अनन्त। अन्त से अनन्त तक पहुँचने का एक ही मार्ग है और वह है आध्यात्म मार्ग।

यदि आप सीधे आत्म साक्षात्कार करना चाहे तो वह सम्भव नहीं। यदि कोई कहता है कि सीधे आत्म साक्षात्कार सम्भव है तो इसे भ्रान्ति समझिये। विश्वास मत करिये।

समस्त विश्व ब्रह्माण्ड स्पन्दनमय

आत्मा से आत्मा को देखने का पहला अर्थ है - मन के द्वारा श्वास के स्पन्दनों को देखना। दूसरा अर्थ है - मन के द्वारा शरीर के प्रकंपनो और स्पन्दनों को देखना। इसी प्रकार तीसरा अर्थ है - मन के द्वारा विचारों को देखना।

तब हम विचारों को उनके स्पन्दनों को और उनके प्रकम्पनों को देखने लग जायेगे और देखने लग जायेंगे उनके रंगो को भी। यहाँ इसं प्रसंग में यह समझ लेना आवश्यक होगा कि मुख्यत: तीन प्रकार के विचार होते है - सात्विक, राजसी और तामसी। इन तीनों प्रकार के विचारो के क्रमश: तीन रंग होते है - श्वेत पीत और श्याम। लेकिन जहाँ तक प्रश्न प्रभामण्डल का है - वह विचारो के रंगो से नहीं बनते। वे बनते है स्थूल शरीर प्राणमय शरीर और मनोमय शरीर से उत्पन्न कम्पनों के रंगो से वे रंग होते है क्रमश: श्वेत, पीत और हरित। इन तीनों रंगो के प्रभा मण्डल भिन्न-भिन्न होते हुए भी, एक में ही दिखलायी पड़ेगे।

हमारा तीनो शरीर स्पन्दनमय है। तीनो बराबर स्पन्दित होते रहते है लेकिन उनके स्पन्दन से जो कम्पन उत्पन्न होते है वे अवश्य भिन्न-भिन्न होते है।

तब हम क्रम से तीनो शरीर के स्पन्दनो को समझने लग जायेगे तो स्वयं अपने आप उनके कम्पनों से भी परिचित हो जायेंगे। योगीगण स्थूल शरीर के स्पन्दनो और कम्पनों की सहायता से प्राणमय शरीर के स्पन्दनों और कम्पनों को पकड़ते है और उनके आश्रय से पकड़ते है मनोमय शरीर के स्पन्दनों और प्रकम्पनों को।

मन के बाद आत्मा का अस्तित्व है। मनोमय शरीर के स्पन्दनों और प्रकम्पनों से मुक्त होते ही योगीगण आत्मा के स्पन्दनों और प्रकम्पनों के आकर्षण में आ जाते है। योग में इसी उपलब्धि को कहते है काय मुक्ति।

काय मुक्ति को उपलब्ध योगी का संबंध तीनो शरीर से भंग हो जाता है। वह तीनो शरीरों में रहते हुए भी उससे अलग और मुक्त रहता है। आपको ज्ञात होना चाहिए कि जैसे हमारे शरीरों में स्पन्दन और उनके प्रकम्पन हैं उसी प्रकार हमारे चारो ओर ही नहीं, सम्पूर्ण विश्व ब्रह्माण्ड स्पन्दनमय और कम्पनमय हैं। ब्रह्माण्ड के कण-कण में स्पन्दन और प्रकम्पन है। ब्रह्माण्ड में चारो ओर स्पन्दनों और प्रकम्पनों के अनन्त सागर लहरा रहे है, जिसकी हम कल्पना ही नही कर सकते। जब योगीगण अपने आभा मण्डल अथवा प्रभा मण्डल का भेदन कर बाहर निकलते है, तभी उन्हे ब्रह्माण्ड और उसके कण-कण में होने वाले स्पन्दनों और कम्पनों का अनुभव करता है।

ब्रह्माण्ड में जितने लोक-लोकान्तर है और है ग्रह, नक्षत्र, पिण्ड उन सबके भी अपने-अपने स्पन्दन और कम्पन है - जो चारो ओर ब्रह्माण्ड में फैले हुए है।

वे ही स्पन्दन और कम्पन मनुष्य के तीनो शरीरो के स्पन्दन और कम्पनों से मिलकर अपना शुभ और अशुभ प्रभाव डालते है। ग्रह नक्षत्रों का शुभाशुभ प्रभाव विशेष कर मन और प्राण पर पड़ता है, जिनके कारण विविध प्रकार की रोग व्याधियाँ उत्पन्न होती है।

योगी गण किस प्रकार एक स्थान पर बैठे ही बैठे क़िस प्रकार इच्छानुसार लोक-लोकान्तरों का भ्रमण करते है - उसकी पृष्ट भूमि में लोक लोकान्तरों के स्पन्दन और प्रकम्पन ही है। प्रकम्पन से ध्वनि उत्पन्न होती है, ध्वनि से प्रकाश। प्रकम्पन से उत्पन्न होने वाली ध्वनि की गति जब अपनी गति सीमा को पार करती है तो प्रकाश में परिवर्तित हो जाती है। वह प्रकाश अदृश्य होती है किन्तु होती है अत्यन्त प्रभावशाली और गतिमान। योगी गण उसी प्रकाश से अपने स्पन्दनों को कम्पनों में और उन कम्पनों को प्रकाश में परिवर्तित कर उसका संबंध स्थापित कर - प्रकाश की गति से तत्काल इच्छित लोक-लोकान्तरों से अपना सम्पर्क स्थापित कर लेते हैं। अब तक लोक-लोकान्तरों का तिमिराच्छन्न रहस्य इसी प्रकार उद्घाटित हुए है।

योगीगण आभा मण्डल से निकलने पर ही पूर्ण रूप से प्राण शक्ति से परिचित होते हैं। श्वास, मन, शरीर, आभा मण्डल - आत्मा नहीं है लेकिन वे जिस शक्ति से आत्मा हो रहे हैं, आत्मा-प्रतिष्ठित हो रहे है और आत्मकेन्द्रित हो रहे हैं - वह प्राण शक्ति के साथ सम्पर्क स्थापित करती है और जिसके साथ संयुक्त होती है, वह सजीव हो उठता है और बन जाता है - आत्मा।.

मन तभी सक्रिय होता है जब प्राण शक्ति के सम्पर्क में आता है। श्वास में तभी स्पन्दन शुरू होता है जब प्राण शक्ति से उसका संबंध स्थापित होता है। हृदय की धड़कन प्राण का स्पन्दन मन की तरंगे और प्रभामण्डल का अति सूक्ष्म स्पन्दन एवं बहुरंगी कम्पन - ये सारी सक्रियता का एक मात्र कारण प्राण शक्ति ही है।

सभी के मूल में प्राण शक्ति है। और प्राण शक्ति की उत्पत्ति का मूल स्त्रोत है - चैतन्य की धारा। प्राण ऊर्जा हमारे शरीर के सम्पूर्ण तंत्र को बराबर संचालित करती रहती है। वह स्थूल शरीर के तंत्रो को संचालित करने के साथ साथ सूक्ष्म शरीर और मनोमनय शरीर के अवयवों को भी संचालित करती है। जो अनात्मा है अथवा अचेतन है उसको भी सचेतन करती है। कहने की समस्त ब्रह्माण्ड और चराचर जगत के मूल में एक मात्र प्राण शक्ति है।

योगी का पहला लक्ष्य होता है आत्म साक्षात्कार। इस साक्षात्कार की दिशा की यात्रा के क्रमशः पाँच सोपान है।

पहला सोपान है श्वास को देखना। दूसरा है शरीर को देखना। तीसरा है विचारों को देखना। चौथा है प्रभामण्डल को देखना। पाँचवा है प्राण शक्ति को देखना यानि उसका साक्षात्कार।

इन पाँचो सोपानो को पार करने के बाद जो छठा सोपान है - वह है आत्म दर्शन आत्म साक्षात्कार और आत्मानुभव का सोपान।

आत्म साक्षात्कार की दिशा में बढ़ने के लिए स्थूल से सूक्ष्म को पकड़ना होगा। एक-एक सोपान पर भी हमें सूक्ष्मतम से जाना होगा। सामान्यत: हम स्थूल संवेदन को पकड़ पाते हैं। किन्तु जब मन दृढ़ और अभ्यस्त हो जाता है तो सूक्ष्म संवेदन भी पकड़ में आने लगते हैं।

शरीर में हृदय की धड़कन हो रही है। रक्त का संचार हो रहा है। वायु का संचार हो रहा है। शरीर के सारी अवयव सक्रिय है। समस्त तंत्र क्रियाशील है। लगता है जैसे कोई विशालतम कारखाना चल रहा है लेकिन फिर भी मनुष्य को कोई पता नहीं है कि शरीर के भीतर क्या हो रहा है और जो हो रहा है उसका परिणाम क्या है? इसका कारण है संवेदनो को न पकड़ पाना। मन बहिर्मुखी है। मन स्थूल है। इसलिये वह स्थूल को ही पकड़ पाता है सूक्ष्म को नहीं। सूक्ष्म को पकड़ने के लिए मन को सूक्ष्म बनना पड़ता है। वास्तव में साधना का क्रम मन को सूक्ष्म बनाने का है। ध्यान की गहरायी जैसे-जैसे बढ़ती जायेगी वैसे ही वैसे मन भी सूक्ष्म से सूक्ष्म होता जायेगा, और सूक्ष्म से सूक्ष्म को पकड़ने में भी सक्षम होता जायेगा। फिर वह हृदय की धड़कन को पकढ़ने लगेगा, उसे सुनने भी लगेगा फिर वह रक्त संचरण को भी जानने लगेगा। नाड़ी की गति को भी जानने समझने लगेगा। तात्पर्य यह कि शरीर के भीतर के सारे यंत्रो से उसकी गति से उसकी सक्रियता से और उसके परिणामों से भलि-भाँति परिचित होने लग जायेगा।

योग में 'संयम' का सर्वाधिक महत्व है। संयम बिना कुछ नहीं। सँयम उपलब्ध होता है मन की स्थिरता से, मन को देखने से और मन के सूक्ष्म होने से। हमने जिस पद चिन्ह रहित मार्ग पर चलने का संकेत किया है। उस पर चलने पर मन अपने आप दिखलायी पड़ने लग जायेगा। और फिर अपने आप दृष्टि संयम भी हो जायेगा। दृष्टि संयम होते ही मन का बाहर भटकना अपने आप बन्द हो जायेगा। वह एक बिन्दु पर आकर स्थिर हो जायेगा।

अक्षरानन्द सरस्वती और उनका रहस्यमय मठ

उस समय काशी का आध्यात्मिक स्वरूप अत्यन्त प्रभावशाली था। जो भी घाट थे, उस समय वे पूर्ण स्वच्छ थे। गंगा की धारा चौड़ी. थी और जल निर्मल

था। प्रायः सभी घाटों पर सायंकाल भजन कीर्तन और साधु सत्संग होता था। साधु सन्यासियों की भीड़ दान देने वालो और दान लेने वालों की भी भारी भीड़ रहती थी सदैव घाटो पर। मठो और आश्रमों की संख्या बहुत थी। संस्कृत पाठशालाएँ भी गली-गली में थीं, जिनमें निःशुल्क विद्यार्थियों को पढ़ने भोजन वस्त्र की व्यवस्था थी।

स्वामी अक्षरानन्द सरस्वती, जिनको गुरू रूप में स्वीकार किया था, उनका व्यक्तित्व और रहन, सहन बड़ी ही रहस्यमय लगने लगा मुझे बाद में। उनका लम्बा चौड़ा मठ गंगा के समीप था उसकी कई खिड़कियाँ गंगा की ओर खुलती थीं। मुझे जो कमरा दिया गया था उसकी खिड़कियाँ पूरब और दक्षिण दोनो ओर खुलती थी। दक्षिण वाली खिड़की पर प्रायः मैं बैठा करता था, इसलिए कि वहाँ से मणिकर्णिका घाट पर अनवरत जलने वाली चिताएँ दिखलाई पड़ती थीं। जिनको बराबर देखा करता था मैं। मन को बड़ी शान्ति मिलती, उन चिताओं से उठने वाली लाल पीली लिपटों से।

मेरे कमरे के बगल में चार-पाँच छोटे-बड़े कमरे थे जो न जाने कब के बन्द पड़े थे। मठ दो मंजिला था। ऊपर की मंजिल में गुरू जी अकेले रहते थे। ऊपर जाना मना था। किसी से मिलना होता था या मुझे पढ़ाना होता था तो स्वयं नीचे चले आते थे वह। उतने बड़े मठ में हम दो ही व्यक्ति थे - गुरू जी और मैं। कभी-कभी तो मुझे एकाकीपन के कारण भय लगता था। सायंकाल होते ही मठ सांय-सांय करने लगता था। विचित्र सी निस्तब्धता छा जाती थी मठ के वातावरण में।

एक दिन सायंकाल के समय न जाने कहाँ और किधर से पन्द्रह बीस की संख्या में छोटे छोटे बालक मठ में आकर उत्पात करने लगे। उन सब की आयु दस-बारह साल से अधिक नहीं थी किन्तु सभी चंचल और उत्पाती थे, किसी प्रकार उन सब बालको को मठ के बाहर निकाला मैंने। इसी प्रकार कुछ दिनो के बाद बारह चौदह साल की लड़कियाँ अचानक मठ में आकर उपद्रव करने लगीं सभी लड़कियाँ सुन्दर और आकर्षण थीं। किसी प्रकार समझा बुझाकर उन सब को भी मठ के बाहर निकाला मैंने। दूसरे दिन गुरूजी ने उन सब बातों की चर्चा जब मैंने की तो एकाएक गम्भीर हो गये वह। थोड़ी देर बाद, सहज होकर बोले बालक-बालिकाओं के रूप में वे सब साधक-साधिकाएँ थीं। प्रायः मठ में आती है वे। यह सुनकर दंग रह गया मै। उनके प्रति मेरा रूच्छ व्यवहार अनजाने में हुआ था, इसलिए किसी प्रकार का दुख नहीं हुआ मुझे, लेकिन भविष्य के लिए सावधान हो गया अवश्य मैं। आश्चर्य इस बात की थी कि उसके बाद न वे लड़के आये और न तो वे लड़कियाँ ही आर्यी कभा मठ में।

गुरूजी अपने कमरे में भीतर से दरवाजा बन्द करके रहते थे। आवश्यकता पड़ने पर ही कमरे के बाहर निकलते थे। मैं मठ के बाहर निकलता था तो मुख्य दरवाजो पर ताला लगा देता था। ताली मेरे पास रहती थी। गुरू जी मठ के बाहर कभी कदा ही निकलते थे। और जब निकलते थे तो हफ्तो बाद ही वापस लौटते थे मठ में।

उस दिन स्वामी जी अपने कमरे में थे। भीतर से दरवाजा बन्द था। मुझे आवश्यक कार्य से बाहर जाना था। मुख्य दरवाजे पर ताला लगाया और बाजार की ओर चल पड़ा। गुरूजी के एक परिचित थे। नाम था जनार्दन शास्त्री। गुरू जी कभी कदा शास्त्री जी से मिलने के लिए उनके स्थान पर चले जाया करते थे और घंटो वहाँ बैठते थे। उस दिन न जाने क्यों शास्त्री जी से मिलने की मेरी इच्छा हुई। वे मुझे बहुत मानते थे। बाजार का काम पूरा कर सामानों का झोला हाथ में लटकाए जनार्दन शास्त्री से मिलने के लिए चल पड़ा। बैठक का दरवाजा खुला हुआ था। झांक कर देखा एक बारगी स्तब्ध और अवाक रह गया मैं। कुछ क्षण के बाद सहसा मेरे मुँह से निकल पड़ा - यह कैसे सम्भव है? बैठक के तख्त पर बैठे जनार्दन शास्त्री से वार्तालाप कर रहे थे गुरूजी। पहले सोचा वापस लौट चलूँ फिरं न जाने क्यों? बैठक की ओर कदम बढ़ गये मेरे अपने आप। मुझे देखकर शास्त्री जी तो प्रसन्न हुए लेकिन गुरूजी एक बारगी सकपका गये, मेरी ओर कुछ देर तक देखते रहे फिर अपने स्थान से उदे और शास्त्री जी को प्रणाम कर बैठक से बाहर निकल गये एक झटके से। शास्त्री जी को थोड़ा आश्चर्य हुआ। उनकी समझ में नहीं आया कि अचानक स्वामी जी को क्या हो गया कि एकाएक उठ कर चले गये महाशय।

गुरूजी के चले जाने के बाद पूछने पर शास्त्री जी ने बतलाया कि चार घंटे पूर्व गुरूजी आये थे और तभी से वे बैठे वार्तालाप कर रहे थे। यह सुनकर आश्चर्यचकित होना स्वाभाविक था मेरा। सोचने लगा मैं - जब मठ से मुख्य द्वार पर ताला लगाकर निकला उस समय गुरूजी अपने कमरे में थे। नीचे आये ही नहीं थे। फिर मठ में ताला बन्द था। ताली अब भी मेरे पास थी। गुरूजी कैसे आये शास्त्री जी के यहाँ? प्रश्न विकट और साथ ही जटिल था मेरे लिए, समझ में नहीं आ रहा था कि उसका समाधान कैसे हो? कौन कर सकेगा ऐसे प्रश्न का समाधान? मुझे मौन और चिन्तित देखकर शास्त्री जी बोले - तुम कुछ बोलते क्यों नहीं? इस प्रकार मौन साधे चिन्तित क्यों खड़े हो?

यह सुनकर रहा न गया मुझसे और सारी कथा सुना डाला शास्त्री जी को मैंने।

मठ में अचानक बालक बालिकाओं का आना। गुरूजी का अपने कमरे में प्राय: बन्द रहना और ताला बन्द मठ से निकल कर बाहर आना आदि बातें सुनकर शास्त्री जी भी आश्चर्यचकित हुए बिना न रह सके। बस, इतना ही उन्होंने कहा - मैं इतना ही जानता हूँ कि पिछले तीस साल से स्वामी जी को इसी प्रकार देख रहा हूँ। उनकी शारीरिक और मानसिक स्थितियों में इतने समय के अन्तर्गत किसी भी प्रकार का परिवर्तन मैंने नही देखा। लगता है जैसे काल के प्रवाह से पूर्ण वंचित है स्वामी जी। शुरू से ही उनको एक योग साधक के रूप में देखा हैं मैंने। सम्भव है सब उनकी योगमाया हो। इतना कहकर शास्त्री जी मौन हो गये।

गुरू पूर्णिमा की रात्रि और शक्तिपात दीक्षा

स्वामी अक्षरानन्द सरस्वती एक योगी पुरुष है, इसमें अब किसी भी प्रकार का सन्देह नहीं रहा मेरे मन में। गुरूपूर्णिमा को केवल चार दिन रह गया था। केवल सन्यास दीक्षा दी थी मुझे गुरू जी ने। कहा था - गुरू पूर्णिमा को शक्तिपात दीक्षा देंगे मुझे। लगभग एक घंटे बाद जब मैं मठ पहुँचा तो गुरू जी मेरी प्रतीक्षा़ कर रहे थे। मुझे देखते ही मुस्कुराये। बोले - तुमको मैने सन्यास दीक्षा दी है। तुम मेरे शिष्य हो। अपने गुरू के विषय में सब कुछ जान समझ लेना और उनके अन्तरंग और बहिरंग व्यक्तित्व से भली-भाँति परिचित होना, शिष्य के लिए अति आवश्यक है। इससे गुरू के प्रति जो श्रद्धा है वह और प्रगाढ़ हो जाती है। गुरू शिष्य में एक विशेष प्रकार का तादात्म स्थापित हो जाता है। अब तुम शक्तिपात दीक्षा के योग्य हो। गुरूपूर्णिमा को तुमको शक्तिपात दीक्षा दूँगा मैं। उस परम दीक्षा से तुम्हारे शरीर के सभी प्रसुप्त केन्द्र चैतन्य और सक्रिय हो उठेंगे।

यह सब सुनकर न जाने क्यों मेरी आँखों से आँसू गिरने लगे। आत्मा न जाने क्यों विगलित हो उठी। कण्ठ जैसे अवरूद्ध हो गया मेरा। केवल गुरूजी का मन्द-मन्द स्वर ही सुनाई दे रहा था मुझे उस समय। वे कह रहे थे - वास्तव में तुम जीवित हो नाम मात्र के। क्या श्वास लेने का ही नाम जीवन है? क्या सोने और जागने का ही नाम जीवन है? क्या बच्चे से युवा और युवा से वृद्ध होने का नाम जीवन है? धन कमाने विवाह करने और सन्तान उत्पन्न करने का नाम जीवन है? जीवन भी हाय-हाय करने के बाद मर जाने का नाम जीवन हे। ये सब तो यांत्रिक बातें हैं। जीवन तो कुछ और ही है और "वह कुछ और जीवन" का अनुभव तुमको तभी होगा जब मुझसे तुमको शक्तिपात दीक्षा प्राप्त होगी।

गुरूजी के साथ मठ में रहते हुए मुझे पाँच वर्ष के ऊपर हो गया था। शास्त्री जी के अतिरिक्त काशी में उनका कोई परिचित नहीं था। उनसे मिलने-जुलने भी

कोई नहीं आता था कभी मठ में। पहले मुझे इस पर आश्चर्य अवश्य हुआ था लेकिन बाद में ध्यान देना छोड़ दिया मैंने। बस मेरा काम था गुरू जी की आध्यात्मिक बाते सुनना और उन पर चिन्तन-मनन करना। अब तक मेरे भीतर अध्यात्मिक ज्ञान प्रखर हो चुका था। मन की अशान्ति दूर हो चुकी थी। चित्त स्थिर होने लगा था। जो समय बचता उसमें गुरूजी द्वारा निर्देशित ध्यान योग का अभ्यास करता जिसके फलस्वरूप धीरे-धीरे आत्म स्थिर होने लगा था। संसार के प्रति मोह-माया आकर्षण आदि समाप्त हो चला था। एक प्रकार से अन्तर्मुखी हो गया था मैं।

मठ में एक महात्मा और एक सन्यासिनी का आगमन

शक्तिपात दीक्षा क्या है? उसका अनुभव कैसा होगा? और क्या हो उसका परिणाम? दो दिन तक इन्ही सब बातों पर सोचता विचारता रहा मैं। इधर कई दिनो से नींद नही आ रही थी। खिड़की पर बैठा गालों पर हाथ धरे गंगा के निर्मल जल में झिलमिलाती हुई चाँद की चाँदनी को अपलक निहारता रहता मैं।

गुरू पूर्णिमा के एक दिन पूर्व चतुर्दशी की रात थी। रात्रि का शायद दूसरा प्रहर था। मैं नित्य की भाँति खिड़की पर चुपचाप बैठा चाँद को और उसकी गंगा की धारा में झिलमिलाती हुई चाँदनी को निहार रहा था कि तभी मेरी दृष्टि घाट की सीढ़ियों चढ़कर ऊपर आते हुए एक जटाजूटधारी महात्मा पर पड़ी। गेरूवा वस्त्र धारण किए हुए थे वह। उनके साथ एक युवती थी, वह युवती भी गेरूवा वस्त्र धारण किए हुए थी। उसके गले में रूद्राक्ष और न जाने किस-किस चीज की मालाए झूल रही थी। उसके हाथ में कमण्डल भी थी। महात्मा के पीछे-पीछे चल रही थी वह। वे दोनो घाट की पूरी सीढ़ियाँ चढ़ने के बाद मैंने देखा - मठ की गली में घुसे फिर गायब हो गये। वे दोनो कौन थे समझ में नहीं आया। सोचा कोई यात्री रहे होंगे। स्नान कर वापस जा रहे होगे घर।

गुरूपूर्णिमा के प्रातः गुरूजी ने अपने कमरे में आवाज देकर बुलाया मुझे। पहला अवसर था मेरा उनके कमरे में जाने का। इसके पहले न उन्होंने बुलाया था और न तो गया था मैं उनके कमरे में।

सीढ़ी चढ़कर उपर की मंजिल पर पहुँचा और फिर गुरूजी के कमरें में, कमरे में घुसते ही विभिन्न प्रकार के सुगन्धित पुष्पों की सुगन्ध से नासापुट भर गया मेरा। पूरा कमरा सुगन्धमय था। मैंने देखा कमरे के मध्य में एक बड़ा सा तख्त था। जिस पर गद्दा लगा था और उस गद्दे पर कषाय रंग की रेशमी चादर बिछा था। सिरहाने की ओर से मोटे गोल तकिये रखे हुए थे। और गुरूजी उन्ही तकियों के सहारे तख्त पर मृगचर्म के आसन पर बैठे हुए थे। उनके ऊपर दीवार

पर एक महात्मा का तैल चित्र लम्बे चौड़े शीशे के फ्रेम में टंगा हुआ था। महात्मा की आँखे बड़ी-बड़ी और तेजस्वी थी। एकाएक महात्मा की ओर से मेरी दृष्टि घूमकर स्थिर हो गयी। यह देखकर घोर आश्चर्य हुआ कि रात्रि के समय गंगा की सीढ़ियाँ चढ़कर ऊपर आते हुए जिस महात्मा को और जिस युवा सन्यासिनी को मैंने देखा था वे दोनों जमीन पर बिछी चटाई पर शान्त भाव से बैठे हुए थे। और गुरूजी की ओर अपलक निहार रहे थे। मैं मन में सोचने लगा - ये लोग मठ में कब कैसे और किधर से आये। कौन है ये लोग? और तभी गुरूजी का स्वर सुनाई पड़ा मुझे। गुरूजी कह रहे थे - ये स्वामी महेश्वरानन्द जी हैं। हिमालय में इनकी गुफा है। और फिर उस युवा सन्यासिनी की ओर संकेत कर बोले - आप है कल्याणी माँ। ये तिब्बत की उत्तरी सीमा पर स्थित चर्मचक्षु से परे एक सिद्धाश्रम में निवास करती है।

यह सुनकर कौतुहल आश्चर्य और जिज्ञासाओं से मिले-जुले भाव से भर गया मेरा मन एक बारगी।

जब शक्तिपात दीक्षा दी गयी

पूरे बीस वर्ष के पश्चात महात्मा महेश्वरानन्द और कल्याणी माँ काशी में गुरूजी से मिलने के लिए आयी थी। महात्मा महेश्वरानन्द जी की अवस्था साठ-पैसठ के लगभग प्रतीत हो रही थी लेकिन उस सुन्दर आकर्षण और लावण्यमयी युवा सन्यासिनी की आयु कितनी थी? यह तो बतलाया नहीं जा सकता, लेकिन देखने में बीस, बाइस साल से अधिक की प्रतित नहीं होती थी वह।

गुरूजी ने मेरा परिचय दिया और अन्त में बतलाया कि आज मुझको शक्तिपात दीक्षा दी जायेगी। यह सुनकर महात्मा तो प्रसन्न हुए ही, कल्याणी माँ भी कम प्रसन्न और आल्हादित नहीं हुई। दीक्षा के अवसर पर उपस्थिति होने के लिए ही उन दोनों दिव्य आत्माओं का आवाहन किया गया था। एक तख्त पर बिठाकर महात्मा ने मुझे पंचगव्य से स्नान कराया फिर गंगाजल से। स्नान के पश्चात आठों प्रकार का प्राणायाम किया और फिर ध्यानस्थ होकर गुरू के आन्तरिक स्वरूप का दर्शन किया मैंने।

कल्याणी माँ ने गेरूवा वस्त्र धारण कराया मुझे उस वस्त्र को वे अपने आश्रम से लेकर आयी थी। निश्चय वह विशेष वस्त्र था - जिसके पहनते ही शरीर पूर्ण रूप से हल्का और प्रफुल्ल हो उठा मेरा। वस्त्र धारण के पूर्व कल्याणी माँ ने आश्रम से ही लाये हुए चन्दन का विशेष प्रलेप भी लगाया था मेरे सारे शरीर में। अपने शरीर के भीतर एक विशेष प्रकार की स्फूर्ति का अनुभव कर रहा था मैं, उस लेप और उस गैरिक वस्त्र के प्रभाव से।

अब शक्तिपात की प्रक्रिया शुरू हुई। महात्मा ने मेरे मस्तक पर अपना बाया हाथ रखकर एक विशेष मंत्र का उच्चारण किया। जिसके.फलस्वरूप मेरा सिर एक बारगी सनसनाने लगा। इसके पश्चात कल्याणी माँ ने मेरी नाभि, हृदय और कण्ठ स्थान पर क्रमश: अपनी तर्जनी उंगली रखी। बिजली के करेन्ट सा लगा मुझे उनकी उंगली के स्पर्श से। फिर पूरा शरीर ही सनसना गया एक बारगी। और नेत्र बन्द हो गये अपने आप मेरी, क्रमश: विचित्र सी होती जा रही थी उस समय कुछ क्षणो के पश्चात गुरूजी के अगूढ़े के स्पर्श का कपाल प्रदेश में अनुभव हुआ। वह अनुभव एक ऐसी पीड़ा का अनुभव था - जिसमें शान्ति का भी मिश्रण था। अब मैं अपने शरीर में नाड़ियों, धमनियों और स्नायुओं में होने वाले रक्त प्रवाह और प्राण वायु के संसार का अनुभव करने लगा था। और हृदय की धड़कन की गति और उसकी गति के शरीर पर पड़ने वाले प्रभाव का भी विचित्र ढंग से अनुभव करने लगा था मै।। अन्त में मूलाधार चक्र में भयंकर ताप का अनुभव हुआ मुझे। उस भयंकर ताप का वर्णन नही कर सकता मैं। धीरे-धीरे वह ताप एक स्थान पर केन्द्रित होकर शनै:शनै: मेरूदण्ड का आश्रय लेकर उपर की ओर उठने लगा। उसके हृदय और कण्ठ के बीच आते ही एक बारगी बाहरी चेतना शून्य हो गयी मेरी लेकिन आन्तरिक चेतना जागृत थी और उंसी जागृत चेतना की अवस्था एक विकराल काली छाया देखी मैंने, वह काली छाया सावन भदो के काले मेघ की तरह चारो ओर फैली हुई थी। जिसे देखकर भयभीत सा हो रहा था मैं। अब धीरे-धीरे वह भयंकर काली छाया एक स्थान पर सिमटने सी लगी और अन्त में एक मानवाकृति के रूप में परिवर्तित हो गयी, वह बिल्कुल मेरे सामने खड़ी थी। धीरे-धीरे स्पष्ट हो रही थी वह। कुछ देर बाद वह मानवाकृति जिस रूप में मेरे सामने थी वह महाकाली से मिलता जुलता रूप था। जिसे देखकर मन में डर-भय का संचार नहीं हो रहा था। उस विलक्षण तेजोमय रूप को देखकर मन में जहाँ विभिन्न प्रकार के कौतूहलो जिज्ञासाओं और विभिन्न प्रकार के प्रश्नों की सृष्टि हो रही थी, वहीं दूसरी ओर मन में असीम शान्ति और असीम आनन्द के मिले जुले भाव उत्पन्न हो रहे थे।

महाकाली का रूप तो मैंने कह दिया, लेकिन महाकाली थी नहीं वह। कुछ और ही रूप था वह। उस रूप में जहाँ क्रोध, रौद्रता, भयानकता की झलक थी तो उसी के साथ थी, शान्ति आनन्द करूणा, दया, कृपा, अनुकम्पा का भी मिला जुला भाव।

उस सौन्दर्यमयी देवी के दोनो नेत्रों पर मेरी दृष्टि स्थिर हो गयी। लगा जैसे देवी के बड़े-बड़े झील जैसे नीले नेत्रों से करूणा, दया अनुकम्पा और स्नेह

गल-गलकर समा रही थी मेरी आत्मा में। थोड़ी देर बाद वह करूणामयी स्नेहिल और सौन्दर्यमयी देवी का वह रूप छन्न से टूट कर बिखर गया एक बारगी। उसी क्षण चीत्कार कर उठा मैं - माँ... माँ... माँ और कब बेहोश हो गया मैं पता नहीं।

पूरे सात दिनों बाद मूर्च्छा टूटी मेरी। धीरे-धीरे आँख खोलकर अपने चारो ओर देखा। मेरे सामने गम्भीर मुद्रा में बैठे थे गुरूजी। और कोई नहीं था। महात्मा महेश्वरानन्द और सन्यासिनी कल्याणी माँ लौट गयी थी अपने-अपने स्थान पर। गुरूजी पूरे एक मास तक मुझसे नहीं मिले। अपने कमरे में अकेला रहता था मौन साधे चुपचाप। प्रायः ध्यानस्थ ही रहता था मैं। शरीर की सभी आवश्यकताएँ जैसे समाप्त हो गयी थीं। सभी इन्द्रियाँ भी एक प्रकार से निष्क्रिय हो गयी थी। यदि मैं यह कहूँ कि मेरा आन्तरिक बाह्य व्यक्तित्व मेरा बोध मेरा स्व मेरी चेतना की सीमा से बाहर हो गया था - तो उचित न होगा। पाषाणवत् सा हो गया था मैं।

कुछ ही दिनों में परिवर्तन होने लगा मुझमें। मेरी प्राण शक्ति, मनःशक्ति और विचार शक्ति तीव्र हो रही थी अपने आप, एक विशिष्ट शक्ति का संचार होने लगा था मेरी आत्मा में। जिसके द्वारा अपने आप पृथ्वी के अतिरिक्त अन्य लोक-लोकान्तरों में निवास करने वाले सिद्ध साधकों के साधनात्मक और आध्यात्मिक विचारों और भावो के तरंगो को पकड़ने लगा था मेरा मस्तिष्क। इसी के साथ-साथ मानव समाज और भौतिक जगत से दूर हो गयी थी मेरी आत्मा। वास्तव में मानव जीवन के रहस्यों से भली-भाँति परिचित हो चुका था मैं। असीम वैराग्य से भर उठा था मेरा मन। संसार समाज के प्रति निरपेक्ष हो गयी थी मेरी आत्मा। (शक्तिपात दीक्षा से और क्या-क्या उपलब्धियाँ मुझे हुई थी। उन पर प्रकाश डालने के लिए गुरूजी की आज्ञा नहीं है। लेकिन प्रसंगवश कुण्डलिनी शक्ति के विषय में थोड़ा प्रकाश अवश्य डाल दिया जा रहा है)

कुण्डलिनी शक्ति साधना प्रसंग

कहने की आवश्यकता नहीं, गुरूजी मेरी स्थिति से भली-भाँति परिचित हो चुके थे। एक दिन गुरूदेव बोले - तुम्हारे भीतर जो परिवर्तन हुआ है और जिन नवीन स्थितियों से तुम अवगत हुए हो उसका कारण है - शक्तिपात। शक्तिपात का अर्थ है शक्ति का जागरण। तुम्हारे भीतर शक्तिपात दीक्षा द्वारा जिस शक्ति का जागरण हुआ है - वह है कुण्डलिनी शक्ति। तुमको यह बतला देना आवश्यक है कि कुण्डलिनी जागरण का अर्थ है जीवन में आमूलचूल परिवर्तन। और अद्वैत भाव की उपलब्धि। जागरण मुख्यतः तीन प्रकार से होता है - शक्तिपात दीक्षा द्वारा, ध्यान की गहरायी में प्रवेश करने पर और पूर्व जन्म के आध्यात्मिक संस्कार के उदय होने पर।

मुख्य बात तो यह है कि बिना आध्यात्मिक और साधनात्मक संस्कार के अभाव में शक्तिपात दीक्षा सम्भव नहीं और सम्भव नहीं ध्यान की गहरायी में प्रवेश करना। सद्‌गुरू पिछले जन्मों के आध्यात्मिक और साधनात्मक संस्कारों को अपनी दिव्य दृष्टि से अवलोकन कर व्यक्ति को योग्य शिष्य के रूप में स्वीकार करते है और उसके अपने आत्मप्रभाव से प्रभावित कर योग्यतानुसार उसे सन्यास दीक्षा (सन्यास दीक्षा 12 प्रकार की होती है) और उसके पश्चात मंत्र दीक्षा प्रदान करते है। इन दोनों दीक्षाओं के प्रभाव से शरीर की शुद्धी होती है। रक्त शुद्ध होता है, प्राण वायु निर्मल होती है और तीनो प्रकार की नाड़ियाँ पवित्र होती है। और उनमें विशेष शक्ति का संचार होता है। इसके पश्चात् सद्‌गुरू दो योगियों की साक्षी में यथा समय और यथावसर शक्तितपात दीक्षा योग्य शिष्य को प्रदान करते है।

गुरूजी ने समझाने के अर्थ में कहा - कुण्डलिनी ब्रह्ममयी महाशक्ति है। उसका व्यष्टि अंश प्रत्येक व्यक्ति में प्रसुप्त अवस्था में विद्यमान रहता है। उसे जाग्रत करने के लिए शक्तिपात दीक्षा और ध्यान की गहराइयों में प्रवेश - ये दो मुख्य साधना दिशा है। लेकिन ये तभी सम्भव है जब पूर्व ज़न्मों के आध्यात्मिक संस्कार होंगे और होंगे साधनानुभव। बिना इन दोनो के कुछ भी सम्भव नही।

गुरूजी ने कहा - कुण्डलिनी सभी योगों में श्रेष्ठ महायोग है। इसकी साधना के तीन चरण है - कुण्डलिनो जागरण, कुण्डलिनी उत्थान और षट्‌चक्र भेदन। इन तीनो चरण के पूर्ण होने पर सहस्त्रार में स्थिति और उसके पश्चात अद्वैत लाभ यानी सामरस्य महामिलन। यही पूर्ण निर्वाण, परम मुक्ति अथवा मोक्ष।

कुण्डलिनी जागरण के लिए दो साधना दिशा है लेकिन उसके पश्चात दो चरणों की सिद्धि के लिए स्वयं साधक को अभ्यास करना होता है। यानी ध्यान योग की साधना करनी होती है उसे।

ध्यान योग से उत्पन्न प्रबल मानसिक शक्ति के प्रभाव से कुण्डलिनी का शनैः-शनैः उत्थान होता है। और उससे उत्पन्न ऊर्जा से - जिसे योग की भाषा मे ब्रह्मऊर्जा अथवा ब्रह्मताप कहते हैं - क्रमशः एक के बाद एक चक्र का भेदन होता है। किन्तु यह स्मरण रखना होगा कि आध्यात्मिक संस्कार और साधनानुभव होते हुए भी सद्‌गुरू को उपलब्ध होना अथवा साक्षात्कार कठिन है। वैसे सद्‌गुरू स्वयं योग्य पात्र यानी योग्य शिष्य की खोज में रहते है। दूसरी कठिन समस्या यह है - शक्तिपात दीक्षा को उपलब्ध होना और कुण्डलिनी जागरण। क्योंकि सद्‌गुरू को उपलब्ध होने पर यह समझा जाये कि वे शक्तिपात दीक्षा प्रदान करेंगे, यह भ्रम होगा। सद्‌गुरू कई प्रकार की कठिन से कठिन परीक्षाए लेते है। उसके पश्चात शक्तिपात दीक्षा प्रदान करते है।

वास्तव में साधना यात्रा जन्म-जन्मान्तर की साधना यात्रा है। लोग यह सोचते है कि तुरन्त एक ही जन्म में साधना लाभ हो जायेगा, यह भ्रम है। शक्तिपात दीक्षा प्राप्त नहीं हुई है और साधना ध्यान की गहराइयों में प्रवेश कर उसकी सर्वोच्च अवस्था में पहुँचना चाहता है तो इसके लिए तीन चार जन्म तो अवश्य ही लेने पड़ेंगे। इसी प्रकार कुण्डलिनी के जाग्रत होने पर उसके उत्थान में भी समय लगता है। किसी का जागरण होते ही उत्थान होता है तो किसी को कई जन्म लेने पड़ते है उत्थान के लिए। कोई निश्चित नहीं है। सब कुछ योग्यता पर निर्भर है। इसी प्रकार चक्र भेदन के संबंध में भी समझना चाहिए। योग्यता के अनुसार उत्थान होने पर साधक के प्रथम तीन चक्रों का भेदन थोड़े-थोड़े समय के अन्तराल पर हो जाता है और उनके केन्द्र भी प्रबल रूप से सक्रिय होता है। इसका कारण अतिशय महत्व का है। काम केन्द्र से निकलने वाली ऊर्जा का ताप अत्यधिक प्रबल होता है। साधक दीक्षा को उपलब्ध भैरवी के सहयोग से अन्त: शरीर में प्रविष्ट होता है - जिसका परिणाम होता है बिन्दु का उत्थान। यह योग-तंत्र का अति गूढ़ गोपनीय और रहस्यमय विषय है जिसका उद्घाटन शब्दों में सम्भव नहीं।

गुरूजी ने आगे कहा - शेष तीन चक्रों का भेदन एक ही जन्म से सम्भव नहीं। उसकी साधना जन्म-जन्मान्तरों की यात्रा है। इसी प्रकार सहस्त्रार में स्थिति तदन्तर अद्वैत लाभ की भी यात्रा कई जन्मों में जाकर पूर्ण होती है।

तुमको ज्ञात होना चाहिए कि तुम्हारी साधना कुण्डलिनी साधना के दीर्घ यात्रा है। जिसको पूर्ण होने में कई जन्म लगेंगे। उसके लिए इसी काशी में कई बार जन्म लेना होगा तुमको। मार्ग कठिन है और यात्रा भी अत्यन्त कष्टदायिनी है, लेकिन तुमको समस्त विघ्न बाधाओं का सामना करते हुए आगे बराबर बढ़ते ही जाना होगा, बढ़ते ही जाना होगा, समझ गये न।

शारीरिक मानसिक ऊर्जाओ पर नियन्त्रण

शक्तिपात दीक्षा तो योग्ययता लाभ के पश्चात सद्गुरू की कृपा पर निर्भर है लेकिन ध्यान और उसकी गहरायी में प्रवेश करना तो स्वयं अपने आप पर निर्भर है। ध्यान तो अपने स्थान पर निर्भर है लेकिन उसकी गहरायी में कैसे प्रवेश किया जाय?

मेरे इस प्रश्न के उत्तर में गुरूजी बोले - शारीरिक और मानसिक ऊर्जाओ को नियन्त्रित करने पर ही यह सम्भव है।

साधारणत: ध्यान की अवस्था में लोग शीघ्र थक जाते है। थकने का कारण ध्यान नहीं है, कारण यह है कि तुम्हारे देखने, सुनने, बोलने, चलने, फिरने और

उठने, बैठने आदि में हर समय तुम्हारी शारीरिक मानसिक शक्ति खर्च होती रहती है। रात्रि में थोड़ी शारीरिक और मानसिक शक्ति इसलिए बच जाती है कि निद्रा की अवस्था में सभी इन्द्रियाँ अपना-अपना काम करना बन्द कर देती है। सपने में जो शक्ति खर्च होती है वह अन्य बात है। अन्त में जो कुछ शक्ति शेष बचती है उसी के कारण तुम प्रातः उठने पर अपने आपको प्रफुल्ल और तरोताजा अनुभव करते हो।

ध्यान की गहरायी में जाने के लिए तुमको इस भाँति जीना चाहिए - जिससे - तुम्हारी जीवन ऊर्जा कम से कम व्यय हो।

हर मास, सात दिन तक शरीरिक और मानसिक ऊर्जाओ का व्यय नहीं होना चाहिए। इस अवधि में जितना संरक्षित हो सके करो। ऊर्जा संरक्षण के लिए अपनी इन्द्रियो के द्वारा जितने बन्द कर सके कर लो। क्योंकि वे ही ऊर्जा क्षय करने की व्यवस्थाएँ है। अधिक से अधिक समय तक नेत्रों को बन्द रख सके रखो। बन्द करने के लिए काले कपड़े की पट्टी आँखों में बांध लो।

आवश्यकता पड़ने पर ही उसे ख़ोले। आँखे तुम्हारी शक्ति ऊर्जा का अधिकतम व्यय करती है। आँखे बन्द रखकर उनकी ऊर्जा को भीतर एकत्र करो। एकत्र करना सर्वाधिक आवश्यक है। क्योंकि जिस अन्तर्जगत को देखने के लिए तुम व्यग्र हो उसमें तुमको तीसरी आँख का उपयोग करना है। और शक्ति वही है तो बाहर नेत्रों के काम आती है। वही शक्ति भीतर के नेत्रो के लिए भी काम आती है।

द्रष्टा और दर्शन

इसलिए तो हम कहते है ऋषियों को द्रष्टा। इसलिए हम उनकी अनुभूति को कहते है 'दर्शन'। उपनिषद् में 'द्रष्टा' का अर्थ है - आन्तर जगत को देखने वाला। और दर्शन का अर्थ है - आन्तर जगत की अनुभूति करने वाला।

आन्तर नेत्रों को वह शक्ति प्राप्त हो जाना चाहिए जो तुम्हारी बाहरी नेत्र को प्राप्त हो रही है। इसलिए नेत्र बन्द रखो सात दिनो तक। और चित्त को भूमध्य में स्थिर कर बराबर ख्याल करो कि तुम्हारे दोनो नेत्रों की जो शक्ति है वह दोनो नेत्रों के बीच स्थित तीसरे नेत्र की ओर प्रवाहित हो रही है। और प्रवाहित होकर उंसमें प्रवेश कर रही है। इस विचार से इस धारणा से आपको ध्यान में अपूर्व सफलता मिलेगी और मिलेगी गति।

जहाँ तक सम्भव हो सके कान को भी बन्द रखो। कुछ मत सुनो। तुमको अन्तजर्गत की ध्वनियाँ सुननी है इसलिए बहिजर्गत की ध्वनियों को सुनने में थोड़ा विश्राम आवश्यक है। भीतर की ध्वनि अतिसूक्ष्म है। एक साथ कई ध्वनियाँ तुम्हारे

कानो से टकराती है। इसलिए भीतर की सूक्ष्म ध्वनि तुमको सुनाई नहीं पड़ती। तो बाहर से कान बन्द रखो। सात दिनो में जितना कान बन्द रख सको, रखो। जिसका परिणाम यह होगा कि कान की ऊर्जा भीतर की ओर प्रवाहित होने लग जायेगी।

आन्तजर्गत के दृश्य

आँख और कान के बाद है तुम्हारे होंठ। होठ भी बन्द रखो। कम से कम वाणी का प्रयोग करो। हूँ, हाँ भी न करो। होंठ बिल्कुल न हिले। बिल्कुल मौन रहो। सात दिन मौन रहो। सम्भव है, तुमपे बोल-बोल कर जो नहीं जाना उसकी झलक तुमको मौन में मिल जाए।

हाँ एक बात और जिस स्थान पर तुम रहो - वहाँ एकान्त हो। बिल्कुल सन्नाटा हो। नीरवता का साम्राज्य हो। इस प्रकार आँख, कान और वाणी की शक्ति और ऊर्जा को एकत्र कर ध्यान में बैठेगे। तभी उसकी गहराइ़ी में शनैः शनैः उत्तर पाओगे। ध्यान एक प्रकार का श्रम है। इसलिए शारीरिक और मानसिक श्रम से अधिक से अधिक बचना आवश्यक है। अधिक से अधिक विश्राम और अधिक से अधिक इन्द्रिय निग्रह। भोजन भी अल्प होना चाहिए। सादा अन्न, लेकिन मात्रा कम दुग्धाहार या फलाहार अधिक। क्योंकि भोजन को पचाने में भी काफी ऊर्जा व्यय होती है। पेट हल्का रहने से ऊर्जा ऊपर की ओर प्रवाहित होती है। पेट जितना भरा रहता है। उतनी ही ऊर्जा नीचे की ओर प्रवाहित होती है।

यहीं कारण है कि भोजन के बाद नींद लगने लगती है। क्योंकि मस्तिष्क को अपनी ऊर्जा पेट को देनी पड़ती है। इसलिए मस्तिष्क सुस्त हो जाता है और पेट की पाचन क्रिया चालू हो जाती है। भूखे रहे उपवास करें तो तुमको रात में नींद नहीं आयेगी। इसका कारण बस इतना ही है कि ऊर्जा ऊपर की ओर बढ़ने लगती है। मस्तिष्क के तन्तु जगे रहते है। क्योंकि उनमें ऊर्जा भरी रहती है। इसलिए सात दिन कम से कम भोजन लगे। हल्का भोजन लो।

ऊर्जा का जागरण और कुण्डलिनी

गुरू जी बोले - हमने तुमको ऊर्जा पर नियन्त्रण का उपाय बतलाया है। अब हम तुमको उसके जागरण का उपाय बतलायेंगे। क्योंकि जागृत ऊर्जा ही कुण्डलिनी के रूप में परिवर्तित होती है।

साधना के प्रथम चरण में ऊर्जा को नियन्त्रित कर उसे बचाना है। एकत्र करना है। और दूसरे चरण में उसे जगाना है।

तुम्हारे पास जितनी शारीरिक और मानसिक ऊर्जा है - वह सब तुम्हारे नित्य के कामों में खर्च हो जाती है। अगर उसमें से कुछ बच भी जाती है तो वह तुम्हारे काम केन्द्र पर एकत्र हो जाती है। और तुम्हारी काम वासना को जगाती है। वासना को उत्प्रेरित करती है। काम केन्द्र स्वयं ऊर्जा उत्पन्न करता है। तुम चाहो तो काम केन्द्र में ऊर्जा उत्पन्न कर सकते हो। काम केन्द्र में ऊर्जा उत्पन्न हो सके और उसकी गति ऊपर की ओर हो सके, तो वही कुण्डलिनी शक्ति बन जाती है। एक प्रकार से काम ऊर्जा अथवा शक्ति ही कुण्डलिनी है। इसीलिए तंत्र में उसे काम कामेश्वरी कहा है।

जीवन ऊर्जा का कुण्ड

वास्तव में काम केन्द्र जीवन ऊर्जा का कुण्ड है। इसीलिए उस ऊर्जा का नाम कुण्डलिन पड़ गया। जैसे स्वच्छ जल का छोटा सा कुण्ड। और वह कुण्ड भी ऐसा जैसे कोई विषधारी सर्पिणी कुण्डल मार कर सो गई हो। सोयी हुई सर्पिणी को आपने देखा होगा। कुण्डल पर कुण्डल मार कर और उस पर अपनाा फन रख्कर सोयी हुई होती है वह। जैसे गहरी समाधी में लीन हो। लेकिन उस सोयी हुई सर्पिणी को जरा सा छेड़ दो तुम। तुम्हारे छेड़ते ही उसका फन उठ जायेगा और उसके कुण्डल टूट जाएंगे। इसीलिए काम ऊर्जा को कुण्डलिनी कहते है। और कुण्डलिनी की शक्ति को कहते है कामेश्वरी।

काम केन्द्र अथवा यौन केन्द्र को योग की भाषा में मूलाधार चक्र कहा जाता है। मूलाधार चक्र का भेदन सर्वप्रथम आवश्यक है तभी सर्पिणी का कुण्डल टूटेगा और ऊर्जा का जागरण भी होगा।

तुमको एक रहस्य की बात बतला दूँ - वह यह कि मनुष्य जिसे यौवन का सुख समझता है - वह वास्तव में यौवन का सुख नहीं है। सम्भोग की अवस्था में मन की क्षणिक एकाग्रता के फलस्वरूप जीवन ऊर्जा में आये हुए कम्पन का सुख है स्त्री पुरुष के मन एकाग्र की स्थिति में जहाँ मिलते है। उसी क्षण उसमें कम्पन उत्पन्न होता है। कम्पन्न का जो सुख है - उसी सुख को जीवन का अथवा यौन का सुख और आनन्द मान लेता है मनुष्य।

तुम जरा सोचो गुरू जी ने कहा मन की सहज एकाग्रता के कारण हुए क्षणिक कम्पन के फलस्वरूप मनुष्य को जो क्षणिक सुख अथवा आनन्द प्राप्त होता है यदि वही कम्पन शनैःशनैः बढ़ता जाय सुख और आनन्द भी। और अन्त में अपनी चरम सीमा पर पहुँच कर कम्पन स्थिर हो जाय और उसी के साथ स्थायी हो जाय वह सुख और आनन्द भी तो वह कितनी बड़ी उपलब्धि समझी जाएगी जीवन

की। सच तो यह है कि योगी समाज और साधकगण उसी उपलब्धि को आत्मानन्द अथवा परमानन्द कहते है। आत्मा नन्द और परमानन्द और कुछ नही काम ऊर्जा के कम्पन की चरम सीमा पर उससे उत्पन्न सुख और आनन्द ही है।

ऊर्जा जागरण के लिए प्रयास

जब तुमको यह भली भाँति समझ में आ जाय कि इन्द्रिय निग्रह में सफलता मिल रही है तो तुम ऊर्जा जागरण की दिशा में प्रयास शुरू कर दो। तुम रात्रि जहाँ व्यतीत करते हो। वह स्थान बिल्कुल एकान्त होना चाहिए। मनुष्य क्या किसी पशु पक्षी की भी आवाज वहाँ न पहुँचे। ऐसा स्थान होना चाहिए रात्रि व्यतीत करने के लिए। जमीन या खाट पर नहीं तख्त पर बिस्त लगाओ। बिस्तर खूब मुलायम हो।

सोने के पूर्व भीतर से दरवाजा बन्द कर लो। और यह सोच लो कि अब तुमसे संसार का कोई नाता-रिश्ता नहीं सारा संसार बाहर और तुम भीतर। सम्भव हो तो शरीर का सारा वस्त्र उतार दो। चादर या कंबल ओढ़ कर लेट जाओ। बिल्कुल सीधा पीठ के बल लेट जाओ। सारे शरीर को ढीला छोड़ दो। और पूरा श्वास भीतर ले जाओ और पूरा प्रश्वास बाहर निकालो। इस प्रकार कम से कम पन्द्रह बीस बार करो। आँख बन्द कर लो। और अपने ध्यान को काम केन्द्र पर ले जाओ और अनुभव करो कि काम केन्द्र भीतर सक्रिय हो रहा है। उसमें शक्ति परिभ्रमण कर रही है। जैसे पानी में तुमने कभी भंवर देखी हो जोर से पानी में लहर घूम रही है। भंवर बन गयी है। कोई भी चीज भंवर में फेंक दो तो वह गोल चक्कर काटने लगेगी। ठीक ऐसा ही भीतर अनुभव करो तुम्हारे काम केन्द्र पर शक्ति घूम रही है। अगर उमसें एक फूल फेंक दो तो वह गोल चक्कर खाकर बीच में डूब जायेगी। ऐसा ख्याल करो। रोज ऐसा ही करो तब तक जब तक तुम्हारे भीतर कम्पन शुरू न हो जाये।

वे कम्पन प्राथमिकी रूप से ठीक वैसे ही होंगे जैसे कि सम्भोग काल में होते है। शरीर कांपने लगेगा। जब शरीर में कम्पन होने लगे तो खूब होने दो। रोकने का प्रयास न करो बल्कि कम्पन के होने में सहयोग करो।

जब पूरा शरीर काँपने लगे और काम केन्द्र पर ऊर्जा तेजी से चक्कर काटने लगे तो तत्काल शरीर को ढीला छोड़ दो। और उस समय एक ही विचार मन में करो कि काम केन्द्र से ऊर्जा ऊपर की ओर उठ रही है। तुमको ऐसा लगेगा कि आग की कोई लपट धीरे-धीरे ऊपर की ओर जा रही है। तुमको उसकी दाह का अनुभव होगा। तुम अपने चित्त को उसी दाह पर स्थिर रखो। जैसे-जैसे वह

दाह ऊपर की ओर उठे चित्त भी उसी के साथ उठे। तुम उस ऊर्जा को मस्तिष्क के उसी केन्द्र पर ले जाओ दोनों आँखों के बीच भूमध्य में। अन्त में तुमको ऐसा लगेगा कि वह दाहक ऊर्जा प्रवाहित हो रही है। थोड़े समय के बाद तुमको लगेगा कि वह दोनो आँखो के बीच इक्कठी हो गयी है और वहाँ उसने चक्कर लगाना शुरू कर दिया है। इस अवस्था में तुमको नशा जैसा अनुभव होगा।

अब तुमको काम केन्द्र को बिल्कुल भूल जाना है। उस ओर से ध्यान बिल्कुल हटा लो और ध्यान जब बिल्कुल हट जायेगा तो तुमको अपने भूमध्य में कोई जलती हुई चीज चक्कर काटती सी प्रतीत होगी। और बाद में स्पष्ट अनुभव होगा कि चक्कर काटती हुई वह चीज स्थिर हो गयी। जब यह अनुभव हो तो तुम उसी स्थान पर चित्त को एकाग्र करो जहाँ चीज स्थिर हो गयी है। नेत्र बन्द कर दो और चित्त की एकाग्रता के साथ-साथ नेत्र की दोनो पुतलियों को एक दूसरे से मिलाने का प्रयत्न करो। कुछ दिन के अभ्यास से वे दोनो पुतलियाँ भूमध्य की ओर बढ़ती हुई प्रतीत होगी और अन्त में एक ऐसी स्थिति आएगी जब दोनों पुतलियाँ भूमध्य केन्द्र से जुड़ जायेगी एक दूसरे से और उनके जुड़ते ही मस्तिष्क का रहस्यमय केन्द्र जिसे तीसरा नेत्र कहा जाता है अपने आप खुल जायेगा। और तुम अन्तर्जगत में प्रवेश कर जाओगे।

उस दिन समय समाप्त हो चला था। धीरे-धीरे नेत्र बन्द होने लगे गुरू जी के। वे समाधि में प्रवेश कर रहे थे। मैं उठकर चला आया। पूरे चार दिन के बाद जब गुरू जी की समाधि भंग हुई तो पुनः उनके दर्शन के निमित्त गया मैं। गुरूजी मुझे देखकर प्रसन्न हुए।

साधना के तीन विशिष्ट मार्ग

चार दिनो के भीतर ऊर्जा के संबंध में अनेक प्रकार की जिज्ञासाओं की सृष्टि हो गयी थी मेरे मन में। सम्भवतः गुरूजी समझ गये मेरी जिज्ञासाओ को, कहने लगे - सब कुछ इन्द्रिय निग्रह पर आश्रित है। तुम जितना इन्द्रिय निग्रह करोगे जितना अधिक ऊर्जा को नियन्त्रित करोगे और जितना अधिक ऊर्जा का संग्रह करोगे, उतना शीघ्र उसका जागरण और उत्थान होगा। ऊर्जा अथवा शक्ति से संबंधित इस प्रकार की साधना के तीन मुख्य मार्ग है - विहंगम मार्ग। पिपिलिका मार्ग और कच्छप मार्ग।

जिस साधना की चर्चा तुमसे मैने की थी योग में उस साधना मार्ग को 'विहंगम मार्ग' कहते है। इस मार्गकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि काम केन्द्र में जो अतिरिक्त ऊर्जा निर्मित होती है। वह काम वासना में प्रयुक्त न होकर उर्ध्वगति

को उपलब्ध होकर तीसरी आँख में सक्रिय अथवा क्रियाशील हो जाती है। मस्तिष्क केन्द्र अपनी क्षमता के अनुसर जैसे ऊर्जा ग्रहण करता जाता है वैसे ही तीसरी आँख भी खुलती जाती है। विहंगम मार्ग की साधना के तीन मुख्य चरण है प्रथम चरण में ऊर्जा को संकलित और नियन्त्रित किया जाता है। दूसरे चरण में ऊर्जा को जागृत और उत्थित किया जाता है। इसी प्रकार तीसरे चरण में उसे मस्तिष्क केन्द्र में स्थापित किया जाता है।

इस मार्ग में केवल दो चक्रों मूलाधार चक्र और आज्ञाचक्र की प्रधानता और उनका उपभाग है। पहले चक्र जिसे तंत्र की भाषा में काम केन्द्र कहते है ये ऊर्जा संकलित नियन्त्रित और चैतन्य होकर गतिशील होती है और दूसरे चक्र में जाकर क्रियाशील होती है।

दूसरा है पिपीलिका मार्ग यह विशुद्ध तांत्रिक मार्ग है। इस मार्ग की साधना के चार चरण है। प्रथम चरण में इन्द्रिय निग्रह ऊर्जा अथवा शक्ति का संकलन और उसका जागरण, दूसरे चरण में शक्ति का उत्थान, तीसरे चरण में क्रम से चक्रों का भेदन और अन्तिम चौथे चरण में सहस्त्रार चक्र में शक्ति की स्थिति होती है। इस साधना के मुख्य पाँच अंग है - श्रवण, मनन, निदिध्यासन, ध्यान और समाधि। पिपीलिका मार्ग की शुरू से लेकर अन्त तक की सारी साधना ''स्त्री तत्व'' पर आधारित है। बिना योग्य स्त्री के सहयोग के इस मार्ग में अग्रसर होना सम्भव नहीं। (इस विषय पर पढ़ें - कुण्डलिनी शक्ति) तंत्र में इसी मार्गको गुह्य मार्ग कहते है। यह अत्यन्त गुह्य और गोपनिय मार्ग है।

तीसरा है कच्छप मार्ग। यह विशुद्ध योग मार्ग है। इसका भी लक्ष्य शक्ति का जागरण उत्थान षट्चक्र भेदन और अन्ततः सहस्त्रार में शक्ति की स्थिति है। जिसे तंत्र की भाषा में सामरस्य महा मिलन कहते हैं। इस मार्ग के योगी अथवा साधकगण कुण्डलिनी जागरण के लिए अन्तर सम्भोग करते हैं। वास्तव में यह अत्यन्त कठिन साधना मार्ग है। इस साधना के आठ भाग है - यम, नियम, प्रत्याहार आसन, प्राणायाम, ध्यान, धारणा और समाधि। प्रथम पाँच अंग स्थूल शरीर साध्य और बर्हिसाधना है। शेष तीन अंग सूक्ष्म शरीर साध्य और अन्तर साधना है।

इस बात का सदैव स्मरण रखना चाहिए कि इन तीनो मार्गो में ध्यान ही मुख्य है। तीनों मार्ग शक्ति साधना के मार्ग है। वे बाहर से अवश्य भिन्न प्रतीत होते हैं लेकिन उनका लक्ष्य एक ही है। विहंगम मार्ग का लक्ष्य केवल तीसरे नेत्र को खोलना है अगर साधक चाहे तो शक्ति को और ऊपर ले जाकर सहस्त्रार में स्थित कर सकता है। अन्य दोनो मार्गो में चक्रों के क्रमिक भेदन में आज्ञाचक्र का जब भेदन होता है तो तीसरा नेत्र अपने आप खुल जाता है। उसके लिए अलग से प्रयास नही करना पड़ता।

इस प्रसंग के अन्त में गुरूजी ने कहा इस प्रकार की योग-तांत्रिक साधनाओं का बस एक ही उद्देश्य होता है। जैसे ही तुम एक छोटे से पत्ते के समान हो जाते हो। हवा के झोंको से कांपते हुए सूखे पत्ते के समान। तुम्हारा अपना होना समाप्त हो जाता है और तुम विराट के साथ एक हो जाते हो। विराट के साथ तादाम्य स्थापित होने पर क्या जाना जाता है? इस संबंध में मनुष्य ने समय-समय पर बहुत कुछ कहने का प्रयत्न किया है लेकिन उसका प्रयत्न सदैव असफल रहा है।

ऊर्जा का विज्ञान

गुरूजी ने कहा एक बात अति महत्वपूर्ण है और वह यह कि ऊर्जा जितनी एकत्रित और संग्रहित होगी उतना ही उसका जागरण विस्फोटक होगा। उस विस्फोट से उत्पन्न ध्वनि को योगीगण अनहदनाद के रूप में सुनते है। जागरण को ही शक्तिपात कहते है शक्तिपात का मतलब है प्रसुप्त शक्ति का उन्मेष अथवा जागरण।

शक्तिपात हो जाने पर साधक का सारा शरीर ऊर्जामय हो जाता है। जिसके फलस्वरूप शरीर का ताप भी काफी बढ़ जाता है। इस अवस्था में शरीर के नुकीले भागों से - जैसे हाथ पैर की उंगलियाँ नासिका के अग्र भाग से और नेत्र और मस्त्ष्क से भी ऊर्जा का प्रवाह होने लगत है। भारतीय संस्कृति के कई महत्वपूर्ण अंग ऊर्जा विज्ञान पर ही आधारित है। जैसे साष्टांग दण्डवत। प्रणाम करना, चरणो पर मस्तक रखना, दोनो हाथ जोड़ना दिव्य महापुरुषों का हाथ सिर अथव पीठ का स्पर्श कर आशीर्वाद लेना आदि। इनसे हम योगी साधको दिव्य महापुरुषों के अंगो से प्रवाहित होने वाली ऊर्जा को अनजाने में ही ग्रहण कर लेते हैं और वह गृत ऊर्जा हमें सद्मार्ग की ओर प्रेरित करती है। हमारे मन प्राण और विचारों को शुद्ध करती है। विघ्न-बाधाओं और आपदाओं से रक्षा करती है। इतना ही नहीं आयु, बल, यश, कीर्ति आदि को भी बढ़ाती है।

तीर्थ स्थलों, देव स्थानो के वायु मण्डल में देवी ऊर्जा क्रियाशील रहती है वहाँ माथा टेकने और सिर पर कपड़ा बांधकर जाने से वह ऊर्जा हमारे भीतर अपने आप प्रवेश कर जाती है। जिसके फलस्वरूप हमारी विपदायें दूर होती है और मनोकामना भी पूरी होती हैं।

आध्यात्मिक क्रियाओ व उपासना आदि के समय सिर पर कपड़ा रखने का क्या तात्पर्य है? मैंने पूछा? मनुष्य चेतना युक्त है। उसके शरीर से हर समय चैत्य ऊर्जा विकीर्ण होती रहती है। सबसे अधिक सिर के बालों से विकीर्ण होती है। वह सिर पर कपड़ा रखने अथवा टोपी पहनने पगड़ी बांधने से वह विकीर्ण न

होकर पूरे शरीर में अपना वर्तुल बना लेती है। मन की एकाग्रता विचार की स्थिरता और चिन्तन-मनन में यह वर्तुल काफी सहयोगी होता है।

गुरूजी ने कहा - देवी ऊर्जा की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि आपके शरीर में चैतन्य ऊर्जा का वर्तुल बनने पर ही आपमें प्रवेश करेगी वह।

तंत्र का एक विज्ञान है ''पीठ विज्ञान''। जो पूर्ण रूप से दैवी ऊर्जा और मानवी ऊर्जा पर आधारित है। देवी देवताओं की मूर्ति अथवा प्रतिमा में प्राण प्रतिष्ठा शक्ति का निर्माण महात्माओं की समाधिया आदि इसी पीठ-विज्ञान और उसके रहस्यमय सिद्धान्तो पर आधारित होती है। लेकिन वे दो प्रकार की होती है जीवित और मृत।

प्राण प्रतिष्ठा का मतलब होता है भावराज्य अथवा देवी राज्य से देव मूर्ति का संबंध और उस संबंध के आधार पर उमसें देवत्व का आविर्भाव। मगर यह सब तभी सम्भव है, जब किसी ऐसे साधक के द्वारा प्राण प्रतिष्ठा होती है जिसका शक्तिपात हुआ होता है और जो साधना मार्ग से पूर्णतया दीक्षित है। ऐसे ही साधक द्वारा प्राण प्रतिष्ठित देव मूर्तियाँ जागृत कहलाती है और संकल्प मनोरथ और कामनाओ को पूर्ण भी करती है। जो ऐसे साधकों द्वारा प्राण प्रतिष्ठित नहीं है वे देव मूर्तियाँ मृत कहलाती है। क्योंकि उनका संबंध न देवी राज्य से रहता है और न तो रहता है भाव राज्य से। इसलिए उनके सामने बैठकर पूजा पाठ करना जप, तप करना प्रार्थना करना व्यर्थ है। उनसे कोई लाभ नहीं। यहाँ एक बात और समझ लेना चाहिए वह यह कि जिस देव मन्छिर में अधिक भीड़-भीड़ होती है। अधिक आडम्बर पाखण्ड होता है और बिना जाने समझे पूजा पाठ होता है वहाँ देवत्व नहीं रह जाता। भले ही सिद्ध पीठ क्यों न हो।

इस प्रसंग में गुरूजी ने बतलाया कि सिद्ध सन्तो, योगी, महात्माओं आदि की समाधि के संबंध में भी समझना चाहिए। उच्च कोटि की आत्माएँ बराबर अपनी समाधि से संबंध बनाए रखती है। वे कहीं भी ओर किसी भी लोक, लोकान्तर में क्यों न हो, उनकी ऊर्जा समाधि के वातावरण में विकीर्ण होती रहती है।

३
अध्याय

वे रहस्यमयी बालक बालिकाएं

उस दिन अकेला था मठ में। दो दिन पूर्व गुरूदेव हरिद्वार चले गये थे। सायंकाल का समय था। गंगा की ओर खुलने वाली खिड़की पर बैठा आकाश की ओर शून्य में निहार रहा था। जीवन की अल्पावस्था में ही जो आध्यात्मिक परिवर्तन हो गया था मुझमें, उसने एक बारगी बना दिया था मेरी आत्मा को अन्तर्मुखी। उस समय अन्तर्मुखी अवस्था में लीन था मैं। और तभी अपने कमरे में हलचल का आभास हुआ मुझे। सिर घुमाकर देखा तो दंग रह गया एक बारगी मैं। उस दिन वाली बालक, बालिकाएँ ही न जाने किधर से आ गयी थी फिर कमरे में। वे सभी एक साथ हँस रही थी मेरी ओर देखकर, उस समय घोर आश्चर्य हुआ मुझे जब उन सबको प्रौढ़ साधु, सन्यासिनी के रूप में परिवर्तित होते देखा मैंने। कुछ ही क्षणों के बाद उन बालक, बालिकाओं के स्थान पर प्रौढ़ वय के साधु महात्मा और युवती सन्यासिनियाँ सुन्दर और आकर्षण व्यक्तित्व की थीं। उन सबके मुख पर साधना का तेज था। प्रौढ़ वय के साधु महात्मगण भी उच्च कोटि के साधक प्रतीत हो रहे थे। उसी समय कल्याणी माँ भी न जाने कैसे और किधर से आकर वहाँ उपस्थित हो गयी। मुझे देखकर मुस्कुरायीं वह और मेरे समीप आकर बोली - आज कार्तिक पूर्णिमा है न, फिर हाथ से महात्माओं और सन्यासिनीयों की ओर संकेत करते हुए उन्होने कहा - ये सब लोग इस पर्व पर स्नान करने आये हैं काशी में। गंगा स्नान करेंगे सभी, सांझ की स्याह धीरे-धीरे रात्रि के अन्धकार में परिवर्तित होने लगी थी। पूरब के क्षितिज पर कार्तिक पूर्णिमा का शुभ्र धवल चाँद निकल आया था। जिसकी चाँदनी गंगा के निर्मल जल में झिलमिलाने लगी थीं।

मैंने कल्याणी माँ से धीरे से पूछा - इन साधक साधिकाओं का कहाँ से आगमन हुआ।?

कल्याणी माँ बोली - जिस सिद्धाश्रम से मैं संबंधित हूँ, वैसे तीन सिद्धाश्रम और है हिमालय के गोपनीय स्थानों में। उन्ही सिद्धाश्रमों से ये साधक-साधिकाएँ आयी है आकाश मार्ग से, दो एक बार ये लोग बालक-बालिकाओं के रूप में और आ चुके है - मैंने कहा। क्या अभिप्राय था, मेरी समझ में नही आया। अभिप्राय क्या सीधी सी बात है, स्वामी जी उन सभी आश्रमों से संबंधित है इसीलिए वहाँ के साधक-साधिकाएँ यहाँ आती है। स्वामी जी भी स्वयं आकाशमार्ग से कभी कदा जाते हैं उन आश्रमों में।

यह सुनकर घोर आश्चर्य हुआ मुझे।

कल्याणी माँ आगे बोलीं - सबसे बड़ी बात तो यह है कि विश्व ब्रह्माण्ड में काशी का आध्यात्मिक महत्व है। विशेष पर्व पर किसी न किसी रूप में सिद्ध साधकों की मण्डली काशी में गंगा स्नान के निमित्त आती ही रहती है। रात्रि में गंगा स्नान कर सभी साधक-साधिकाएँ लुप्त हो गयी एक बारगी। अब मठ में मै रह गया और रह गयी कल्याणी माँ। उनको स्वामी जी के आने तक रूकना था। वैसे तो गुरूजी तीन-चार दिनों में आने के लिए कह गये थे, लेकिन कल्याणी माँ ने बतलाया कि उन्हे आने में काफी देर है। सम्भवत: मकर संक्रान्ति के पूर्व न आ सकेंगे स्वामी जी।

तब तक तो आपको मठ में रहना ही पड़ेगा - मैंने कहा।

हाँ सिर हिलाकर कल्याणी माँ ने कहा।

सौभाग्यशाली हूँ मैं, आप जैसी सिद्ध साधिका से सत्संग लाभ होगा मुझे। किसी जन्म का पुण्य उदय हुआ है, तभी अवसर प्राप्त हुआ है आपके सानिध्य का - मैंने कहा।

मेरी बात सुनकर कल्याणी माँ मुस्कुरायी, फिर बोलीं - सब पूर्व नियोजित होता है, इसमें सन्देह नही। निश्चय ही मेरा तुम्हारा सत्संग भी पूर्व नियोजित ही होगा, तभी तो उपलब्ध हुआ है यह अवसर।

मठ के एक कमरे में आसन लगा लिया था कल्याण माँ ने। उस कमरे की खिड़की से पूरी काशी दिखलायी देती थी। मेरा अधिकांश समय कल्याणी माँ के सानिध्य में ही व्यतीत होता था। रात्रि में कमरे का दरवाजा बन्द कर साधना में डूब जाती थी वह, फिर प्रात: काल ही दर्शन होता था उनका मुझे।

जब वह प्रात: कमरे के बाहर निकलती तो उनकी आँखे रक्ताभ और सजल रहती। ऐसा लगता था, मानो वहाँ करूणा स्नेह और प्रेम का सागर लहरा रहा हो।

एक दिन उनकी इसी अवस्था के समय गुरूजी से आध्यात्म मार्ग से संबंधित और साधना के विषय में जो कुछ सुना था, वह सब बतलाया मैंने।

सब कुछ सुना कल्याणी माँ ने मौन साधे, फिर बोली - आध्यात्मिक यात्रा बहुत छोटी है, यात्रा पथ भी बहुत छोटा है। तुमको केवल उस बिन्दु पर पहुँचना है "मैं ज्ञाता हूँ" मैं द्रष्टा हूँ - वहाँ पहुँचते ही यात्रा समाप्त हो जाती है। वास्तव में हम दो तत्वों के बीच जीते है। दो तत्वों के बीच हमारे जीवन की धारा बहती है। पहला तत्व है ज्ञाता भाव और दूसरा तत्व है द्रष्टा भाव। वह जो धारा है वह है तेज यानी प्राण की धारा। जब प्राण की धारा दोनों भावों से हटकर बहने लगती है तो सारे व्यवधान उपस्थित हो जाते हैं। आध्यात्मिक साधना का मार्ग फिर लम्बा हो जाता है।

हमारी इन्द्रियाँ प्राण धारा से प्रभावित हैं। प्राण की सहायता से वे सक्रिय हैं। प्राण धारा के बिना न ज्ञान का उपयोग होता है और न तो होता है दर्शन का ही उपयोग।

इस बात पर ध्यान देना आवश्यक है कि हमारी प्राण ऊर्जा का प्रवाह किस ओर जा रहा है। किस दिशा में वह प्रवाहित है? प्रश्न है उसके दिशा परिवर्तन का। प्रश्न है उसके रूपान्तरण का।

हम चाहते हैं कि हमारे व्यक्तित्व का रूपान्तरण हो। लेकिन रूपान्तरण तब तक नही होता है, जब तक प्राण धारा को मोड़ा नही जाता। उसके मुड़ने पर ही व्यक्तित्व का रूपान्तरण सम्भव है। आध्यात्म शास्त्र के आचार्यो ने जो धर्म का सूत्र दिया, साधना का जो सूत्र दिया और योग का जो सूत्र दिया, वह केवल जानने के लिए नही दिया। कुछ लोग ऐसा समझते है कि धर्म और दर्शन केवल जीवन का ही दर्शन देते है, मार्ग बतलाते हैं, किन्तु रूपान्तरण नही करते। यह भ्रान्त धारणा है। किसी भी साधना का सूत्र जीवन को नही बदल सकता और केवल तत्व की ही बात बतलाता है तो वह सच्चे अर्थो में धर्म का सूत्र कदापि नही होगा। अध्यात्म का सूत्र कदापि नही होगा। साधना का सूत्र कदापि न होगा। समाज - व्यवस्था के परिवर्तन की बात मैं नहीं कर रही हूँ, कल्याणी माँ बोली - क्योंकि उसके लिए सम्भवतः अध्यात्म के सूत्र नही है कही। किन्तु एक बात अवश्य है और यह कि प्रत्येक अध्यात्म सूत्र द्वारा जीवन का रूपान्तरण न हो, ऐसा सम्भव नहीं। अध्यात्म द्वारा सर्वप्रथम दिशा का परिवर्तन होता है और दिशा परिवर्तन के फलस्वरूप व्यक्तित्व का रूपान्तरण होता है। हमारा सारा स्वभाव बदल जाता है। भीतर बाहर सब कुछ परिवर्तित हो जाता है। इतना ही नही, हमारा सारा स्वभाव सारा दृष्टिकोण और सारा विचार बदल जाता है और बदल जाती है हमारी सारी धारणा भी। इन

सारे परिवर्तन के फलस्वरूप स्वयं ऐसा हमे लगने लगता है "क्या मैं वही हूँ?" या मेरे शरीर में कोई दूसरी चेतना प्रविष्ट हो गयी है? हमें स्वयं पर और अपने आप पर कभी-कभी आश्चर्य होने लगता है।

आध्यात्मिक साधना का महत्वपूर्ण लक्ष्य है ज्ञाता यानी आत्मा और उसके प्रति द्रष्टा भाव तक पहुँचना। और पहुँचने के लिए जो साधन है वह है प्राण। हमको अपनी प्राण धारा को उनकी ओर मोड़नी चाहिए। उस दिशा में प्रवाहित करना चाहिए प्राण की धारा को - जिधर जिस दिशा में दोनों का अस्तित्व है। लेकिन ज्ञाता और द्रष्टा भाव चाहने वाले नगण्य ही है। बहुत कम ही लोग चाहने वाले हैं। वे तो चाहते हैं स्वास्थ्य, दीर्घायु, सुख और शान्ति। हम समाज के परिप्रेक्ष्य में जीते है, इसलिए स्वास्थ्य चाहते है। हमारी कामना होती है कि स्वस्थ रहें दीर्घायु रहे। मरना पड़ता है फिर भी जितना जीया जा सके, हम उतना जीना पसन्द करते हैं। दीर्घायु चाहते हैं। पर दुखमय दीर्घायु नही चाहते। हम सुख चाहते है और साथ ही साथ चाहते है शान्ति भी।

क्या विवेक के अभाव में सुख और शान्ति सम्भव है? क्या शान्ति के अभाव में सुख सम्भव है? क्या सुख के अभाव में दीर्घायु और स्वास्थ्य सम्भव है? ऐसा कभी नहीं हो सकता। प्रत्येक मनुष्य की चाह का मार्ग अलग-अलग है और प्राप्ति का मार्ग है बिल्कुल विपरीत। चाह का क्रम है - स्वास्थ्य, दीर्घायु, सुख और शान्ति। किन्तु इसके लिए चलना पड़ेगा हमें बिल्कुल विपरीत। विवेक सर्वप्रथम है। यदि विवेक हैं तो शान्ति अवश्य होगी। यदि शान्ति है तो सुख अवश्य होगा। यदि सुखानुभूति होती है तो आयु दीर्घ होगी और स्वास्थ्य भी अच्छा रहेगा।

विवेक का क्या अर्थ है - मैंने पूछा?

कल्याणी माँ ने कहा - विवेक का अर्थ है विवेचना करना, पृथक करना और सबके एक समान न मानना।

आध्यात्मिक साधना मार्ग का ज्योति स्तम्भ है विवेक। आध्यात्म से संबंधित जितनी भी साधनाएँ है वे सब विवेक जागरण के लिए ही है। जब तक विवेक जागृत नही होगा तब तक साधना मार्ग में अग्रसर नही हुआ जा सकता। दो बाते है ज्ञाता द्रष्टा और प्राण शक्ति। इन दोनों के बीच में है अज्ञान यानी मूर्च्छा का सघन वातावरण। अज्ञान के इस सघन वातावरण से निकले बिना कोई भी साधक अपने मार्ग में उन्नति नहीं कर सकता। सबसे बड़ा अज्ञान अविवेक है। अविवेक की दीवार को कैसे तोड़ा जाय? इसके लिए कौन सी साधना अथवा अभ्यास है?

थोड़ा रूककर कल्याणी माँ आगे बोलीं - इसके लिए दो प्रयोग है। पहला है विवेक प्रतिमा और दूसरा है कायोत्सर्ग प्रतिमा।

इन दोनों का छे मास नियमित रूप से प्रयोग करने से निश्चय ही चैतन्य के जागरण में सफलता मिलेगी। इसमें सन्देह नही। कायोत्सर्ग की मुद्रा में बैठे या खड़े रहना चाहिए। मन को शान्त रखना चाहिए। चिन्तन या विचार के स्तर पर नही, अपने अनुभव के स्तर पर चलना चाहिए। अनुभव और विचार में भारी अन्तर है। विचार सत ही होता है। उसमें गहरायी नही होती। एक विचार आता है और दूसरा चला जाता है। जब हम अनुभव की गहरायी में चले जाते है तब उसमें तन्मयता आ जाती है और एक विशेष प्रकार का तादात्म्य स्थापित हो जाता है। और उस तादात्म्य भाव से हम अपनी वृत्तियों को देखने का अभ्यास करें – ''हम क्रोध नही कर रहे है। क्योंकि क्रोध हमें अन्त में दुख देता है। हम पश्चाताप करते हैं क्रोध करके। हमें क्रोध को स्वीकार करना नही चाहिए। क्या कभी अपना अस्तित्व अपने आपको दुख दे सकता है? क्या अपना स्वरूप अपने आपको कष्ट दे सकता है? मेरी चेतना का संबंध क्रोध से नही है। क्रोध तो हम तभी करते है जब हमारी प्राण धारा उससे जुड़ती है। जब हम अपनी प्राण धारा को उससे जुड़ने ही न देंगे तो क्रोध उत्पन्न होगा ही कैसे? विवेक कहता है कि प्राण को क्रोध से न जोड़ें। क्रोध को अपनी चेतना से और अपने ज्ञान से अलग अनुभव करें। क्रोध का साक्षी बने उसके संबंध में सोच विचार न करें किसी भी प्रकार का। यदि सोच विचार करेंगे तो क्रोध चेतन मन तक नही पहुँचेगा। आपको ज्ञात होना चाहिए कि जितना भी रूपान्तरण होता है वह चेतन मन के स्तर पर नही होता। क्योंकि चेतन मन स्थूल है। चेतन मन के स्तर पर किसी भी प्रकार का रूपान्तरण सम्भव नही। रूपान्तरण होता है अचेतन मन के स्तर पर। रूपान्तरण के लिए चेतन से अचेतन में प्रवेश करना होगा। अध्यवसाय का स्तर अवचेतन मन का स्तर है। अनुभव के स्तर पर पहुँच कर हम यह अनुभव करें कि हम क्रोध नही है। हम लोग नही है। हम अभिमान नही है। हम राग, द्वेष नही है। यह हमारा स्वभाव नही है। यह हमारा धेय नही है। इतनी गंहरायी में जाकर आप अनुभव करें और बराबर करते जायें और अन्त में जो शेष बचेगा वह 'मै हूँ' होगा। यह विवेक की पद्धति है। जो शेष बचता है और जिसका नही होता है वह है 'मै हूँ'। यही अनुभव जागृत करता है और यही है सम्यग दर्शन।

जब अज्ञान के बादल छटते है तब हमारा विवेक स्पष्ट हो जाता है। और विवेक के स्पष्ट होते ही 'मै कौन हूँ' का अनुभव अपने आप हमें होने लग जाता है। 'मैं कौन हूँ?' यह प्रश्न सदैव अनुत्तरित ही रहा है। लेकिन विवेक के जागृत होते ही उसका उत्तर स्वयं प्राप्त हो जाता है।

प्रतिमा का मतलब क्या है – मैंने पूछा?

प्रतिमा का मतलब है - शान्त स्थिर और स्पष्ट। विवेक करे, किन्तु प्रतिमा होकर एक मूर्ति बन कर करे, मनुष्य बन कर नहीं। प्रतिमा जितनी शान्त, स्थिर स्पष्ट और निश्चल होगी उतना ही गहन विवेक का भीतर जागरण होगा। आपके अस्तित्व के जागरण में और अस्तित्व के बोध में यह प्रतिमा अति सहायक सिद्ध होगी, इसमें सन्देह नहीं।

कायोत्सर्ग का अर्थ है शरीर को छोड़ना। जब तक शरीर नही मरता तब तक धर्म को नहीं जाना जा सकता। धर्म का पहला रहस्य है विवेक का जागरण। यह तब समझ में आता है जब शरीर मर जाता है। कायोत्सर्ग शरीर के मारण की एक प्रक्रिया है।

शरीर का स्पन्दन और प्राण का स्पन्दन - ये मनुष्यं के जीवित होने का प्रमाण हैं। इन दोनों स्पन्दनों को पूर्ण शिथिल कर देना कायोत्सर्ग है। जितना हो सके उतना शरीर को शान्त और क्रियाहीन कर देना। शरीर में कम से कम स्पन्दन हो। इसी प्रकार श्वास को भी शान्त और शिथिल कर देना। यह विवेक की बहुत बड़ी प्रक्रिया है। अपने आपको यह समझा लेना चाहिए कि शरीर हमारा अस्तित्व नही है श्वास हमारा अस्तित्व नही है। हमारा अस्तित्व शरीर से हट कर है। श्वास अस्तित्व, अस्तित्व श्वास एक ही पहलू के दो रूप है। श्वास है तो अस्तित्व है और अस्तित्व है तो श्वास है। शरीर आत्मा है और आत्मा शरीर। इनका इतना गहन एकीकरण है कि यह प्रतीत होता ही नही कि ये भिन्न है। पूर्ण रूप से अद्वैत प्रतीत होता है। जब कायोत्सर्ग का अभ्यास गहन हो जाता है तब शरीर और आत्मा, श्वास और आत्मा का अलग-अलग अनुभव होने लग जाता है। दोनों एक दूसरे से अलग हैं इसका बिल्कुल स्पष्ट भान होने लग जाता है। ऐसा लगता है कि शरीर हमसे छूट गया। शरीर हमसे अलग हो गया। हम अलग है और शरीर अलग है। सच बात तो यह है कि कायोत्सर्ग की साधना भेद ज्ञान की साधना है। यदि हम छै महीने बराबर कायोत्सर्ग का अभ्यास करे तो दोनों का भेद ज्ञान हमारे सामने बिल्कुल स्पष्ट हो जाएगा। इसमें सन्देह नहीं। जब तक हम बौद्धित स्तर पर रहेंगे तब तक भिन्नता का अनुभव नही होगा। दोनों को अभिन्न ही समझते रहेंगे हम। लेकिन अभ्यास से अनुभव होते ही दोनों भिन्नता तत्काल समझ में आ जायेगी। श्रवण और ज्ञान ये दोनों बौद्धिक पक्ष के प्रतिनिधि है। ज्ञान के बाद आता है विज्ञान। विज्ञान यानी विवेक। यही से शुरू होती है आध्यात्मिक साधना। अनुभव का स्तर उस साधना का बन जाता है मार्ग।

कल्याणी माँ ने कहा - सम्यग दर्शन के दो सूत्र है - विवेक प्रतिमा और कायोत्सर्ग प्रतिमा। दोनों की चर्चा मैंने आपसे की है। आप प्रश्न कर सकते हैं

कि विवेक प्रतिमा की साधना से क्या लाभ होता है? विवेक जागरण से क्या होता है?

विवेक जब जागृत होता है तो उसके पाँच परिणाम होते हैं। पहला परिणाम है - शान्ति लेकिन सम्यग दर्शन के बिना शान्ति प्राप्त नहीं हो सकती। दूसरा परिणाम है - मुमुक्षु भाव। बंधन में मनुष्य नही रहना चाहता। जिसे शान्ति का अनुभव हो चुका है। वह कभी भी बंधन मै रहना नही चाहेगा। जिसके द्वारा शान्ति मिली है उसी की ओर जाना चाहेगा। मोह-माया का अभाव हो जायेगा।

संवेग का क्या अर्थ है - मैने पूछा?

संवेग का अर्थ है - मुमुक्षा यानी मुक्त होने की इच्छा।

तीसरा परिणाम है - अनासक्ति। जिसे शान्ति और संवेग का अनुभव कर चुका है, वह कही भी आसक्त नही होगा। वह अपने लक्ष्य तक पहुँचेगा लेकिन मार्ग में कही भी आसक्त न होगा। वह समझ लेगा कि मार्ग मात्र चलने के लिये है। उसमें आसक्त होने जैसी कोई बात नही है।

चौथा परिणाम है - अनन्त करूणा। क्रूरता समाप्त हो जायेगी और अनन्त मैत्री का विकास होगा।

पाँचवा परिणाम है - सत्य के प्रति समर्पण। वह साधक सदा के लिए सत्य के प्रति समर्पित हो जायेगा। न कभी असत्य वो लगेगा और न तो असत्य के लिए कोई काम ही करेगा। कल्याणी माँ ने क़हा - हमारी आध्यात्मिक साधना यात्रा का ज्योति स्तम्भ है - विवेक जागरण। अस्तित्व यानी आत्म दर्शन का पहला साधन है - सम्यग्दर्शन। सम्यग्दर्शन यानी विवेक चेतना का जागरण।

सायंकाल का समय हो गया था ध्यान पूजा आदि के लिए अपने कमरे में चली गयी कल्याणी माँ। इस प्रथम सत्संग में उस महान आत्मा से जो आध्यात्मिक लाभ हुआ था, उसने नई दिशा दी थी मुझे।

मेरे मन में नाना प्रकार की आध्यात्मिक जिज्ञासाएँ उत्पन्न होने लगी थीं, सोचा, अपनी जिज्ञासाओं को प्रश्न रूप में कल्याणी माँ के सम्मुख रखूँगा और उनका उत्तर प्राप्त करूँगा इससे मेरी जिज्ञासाओं का समाधान हो जायेगा और साथ ही आत्म तुष्टि भी हो जायेगी।

दूसरे दिन मैंने अपने इस विचार को जब कल्याण माँ के सामने प्रकट किया तो सुनकर हँस पड़ी वह। बोली - प्रश्न करिये, समाधान करने का प्रयास अवश्य करूँगी मैं।

उस समय कल्याणी माँ अपने कमरे में तख्त पर पद्मासन की मुद्रा में बैठी हुई शान्त भाव से। अचानक मैंने देखा - कल्याणी माँ अपने आसन से धीरे-धीरे

ऊपर उठ रही थीं। लगभग एक फुट ऊपर उठकर अधर में स्थिर हो गयी वह। निश्चय ही उनको आसन उत्थान की सिद्धिप्राप्त थी, इसमें सन्देह नहीं। उस दृश्य को देखकर किसी प्रकार का आश्चर्य नहीं हुआ मुझे क्योंकि उस यौगिक सिद्धि से परिचित था मैं।

मेरा पहला प्रश्न था - जीव का लक्षण क्या है? इसके उत्तर में कल्याणी माँ ने कहा जीव का सबसे बड़ा लक्षण है - इच्छा शक्ति और संकल्प शक्ति। जीवेतर में संकल्प शक्ति का अभाव होता है।

शक्ति का एक रूप है संकल्प शक्ति। एक रूप है एकाग्रता। एक रूप है नियामक शक्ति। हमारे शरीर में शक्ति के केन्द्र है नाड़ी संस्थान, नाड़ी के सारी शरीर में फैले हुए सारे जाल। नाड़ी संस्थान न हो तो शरीर का कोई मूल्य व महत्व नहीं है। नाड़ी संस्थान में चार प्रकार की नाड़ियाँ है - ज्ञान वहा, प्राण वहा, रक्त वहा और क्रिया वहा। इन नाड़ी मण्डल से यदि ज्ञान वहा और क्रिया वहा नाड़ियों को निकाल दिया जाय तो न ज्ञान होगा और न तो क्रिया होगी।

हमारी चेतना और शक्ति के ये दोनों नाड़ी संस्थान केन्द्र है।

हमारे अस्तित्व के दो मूल स्रोत है - चेतना और शक्ति। उन दोनों का मिलन केन्द्र है हमारा स्थूल शरीर। हमारे सूक्ष्म शरीर में जो स्पन्दन होते हैं उनके मिलन केन्द्र स्थूल शरीर मे है। बिना मिलन केन्द्रों के अभिव्यक्ति नही हो सकती। अभिव्यक्ति के लिए माध्यम चाहिए। क्योंकि बिना माध्यम के भीतर की वस्तु बाहर नहीं आ सकती। और वह माध्यम है नाड़ी संथान। आत्म चेतना, ज्ञान वहा नाड़ी मण्डल के द्वारा अभिव्यक्त होती है। इसी प्रकार आत्म शक्ति की अभिव्यक्ति क्रिया वहा नाड़ी मण्डल के द्वारा होती है।

सम्पूर्ण नाड़ी संस्थान साधना की दृष्टि से अति महत्वपूर्ण है। साधक यदि नाड़ी संस्थान को यौगिक रूप से नही समझता है तो साधना में कदापि सफल नहीं हो सकता है वह।

शरीर का नाड़ी संस्थान और मस्तिष्क का नाड़ी संस्थान जितने केन्द्रों को नियन्त्रित करता है - उसका मूल कारण अथवा उपादान कारण सूक्ष्म शरीर में है और सूक्ष्म शरीर में वे दोनों कारण उत्पन्न होते है - आत्मा से।

तपस्या का क्या अर्थ है - मैंने पूछा।

कल्याणी माँ बोली - तपस्या का अर्थ है प्राण शक्ति का विकास। यदि प्राण शक्ति का विकास और उसकी ऊर्जा का विकास न होगा तो चैतन्य का विकास फिर कैसे होगा। चैतन्य का विकास उसी के विकास पर निर्भर है। तपस्या इसलिए की जाती है कि प्राण शक्ति और उसकी ऊर्जा का अधिक से अधिक विकास

हो। लेकिन साधारणः लोग समझते है कि तपस्या से शरीर क्षीण हो और शक्ति कम हो। हठयोग की क्रिया इसीलिए है कि शरीर क्षीण हो शक्ति क्षीण हो और ऊर्जा कम से उत्पन्न हो। भारी भ्रम है वह। इस बात का ध्यान रखना कि जिससे शक्ति का नाश होता हो वह न तो धर्म से संबंधित है और न तो आध्यात्म से।

हमारी चेतना दो स्थानो में रमण करती है – पहला स्थान है – विषय और दूसरा स्थान है आत्मा। विषय रमण और आत्म रमण। चेतना इन दोनों में क्रियाशील रहती है। कभी वह विषय में रमण करती है तो कभी आत्मा में। जब मनुष्य बहिर्मुखी होकर जीवन जीता है तो उस समय उसके शरीर की यांत्रिक क्रिया चलती है और चेतना विषयों में रमण करती है वह बाहरी विषयों की ओर भागती है। चेतना की यह बाह्य प्रक्रिया है।

आत्मरमण का अर्थ है – उपादान यानी आत्मा तक पहुँचना। अपने स्वरूप में रमण करना, विचरण करना। चिन्तन की सीमा और श्वास की सीमा यहाँ तक कि शरीर की समस्त यांत्रिक क्रियाओं की सीमाओं को तोड़कर ज्ञाता भाव और द्रष्टा भाव की सीमा में प्रवेश करना आत्मरमण है। वास्तव में वही चेतना की वास्तविक क्रीडा भूमि है।

इस संसार में सबसे बड़ा आश्चर्य क्या है? मैंने प्रश्न किया।

कल्याणी माँ ने उत्तर दिया – हम नित्य मरते हुए लोगों को देखते है। नित्य शव को श्मशान में ले जाते हुए देखते हैं। नित्य शव को श्मशान में राख में परिवर्तित होते हुए भी देखते हैं, लेकिन कभी यह नहीं सोचते कि हमारी भी कभी यह दशा होगी। कभी हम भी मरेंगे। कभी हमारी भी शव यात्रा निकलेगी। कभी हमारा भी शव चिता में जलकर भस्म होगा। ''किमाश्चर्य मतः परम्'' इससे बड़ा भला कौन सा आश्चर्य है?

आपको ज्ञात होना चाहिए इस समस्या के समाधान में आध्यात्म वाद कहता है –

''अनन्त शक्ति सम्पन्नाः भिक्षा याचा महे यदि।
दैन्य प्रदर्शयन्तो हि किमाश्चर्य मतः परम्।।

हम अनन्त शक्तियों के स्वामी और अधिकारी है, फिर भी हम अपने उन शक्तियों से अपरिचित है। इसका एक मात्र कारण है हमारा प्रमाद। हमारे भीतर अनन्त शक्तियाँ और अनन्त चेतनाएँ भरी हुई हैं, लेकिन उसी प्रमाद के कारण उनका बोध हमको नही है। प्रमाद सघन आवरण है उनके और हमारी बीच। वही हमको अलग किये हुए हैं उनसे।

अनन्त चेतना और अनन्त शक्ति

चेतना स्पष्ट नहीं होती तो शक्ति स्पष्ट नहीं होती। और शक्ति स्पष्ट नहीं होती तो चेतना भी स्पष्ट नहीं होती। दोनों एक दूसरे से संबंधित है। दोनों एक दूसरे से जुड़े हुए हैं। दोनों का विकास भी एक दूसरे पर निर्भर है। चेतना का विकास होगा तो शक्ति का विकास होगा। इसी प्रकार शक्ति का विकास होगा तो चेतना का विकास होगा। लेकिन हमारे उनके बीच प्रमाद की दीवार है। विकास होगा कैसे? प्रमाद को दूर करना आवश्यक है।

साधना का सर्वप्रथम उद्देश्य है - चेतना का शक्ति के साथ युक्त करना एक दूसरे को एक दूसरे से जोड़ना, दोनों का तादात्मीकरण करना। योग साधना का उद्देश्य है दोनों को जोड़ना। वास्तव में शक्ति और चेतना को समन्वित करना ही योग है। और है योग की साधना। लेकिन यह तभी सम्भव होता है जब प्रमाद समाप्त हो जाता है।

प्रमाद के अपने कई रूप हैं जिनमें एक रूप है मादकता। वह चेतना को मादक बना देता है। प्रमाद एक प्रकार की मदिरा है। उसमें सीमा से अधिक मादकता भरी है। प्रमाद की मादकता के कारण शक्ति और चेतना दोनों दबी रहती है। प्रमाद के और कौन-कौन से रूप है - मैंने पूछा? प्रमाद का एक रूप है - निद्रा। मनुष्य के सोनें की स्थिति में उसकी चेतना और शक्ति भी सो जाती है।

प्रमाद का एक रूप है - कषाय की उत्तेजना। कषाय यानी क्रोध, हिंसा, द्वेष, ईर्ष्या आदि। इन सबकी उत्तेजना के समय चेतना शक्ति और विवेक सब लुप्त हो जाते हैं।

प्रमाद का एक रूप है - अनुत्साह। धर्म के प्रति, साधना के प्रति, पूजा उपासना के प्रति ध्यान और जप के प्रति उत्साह का न होना। धर्म, साधना, पूजा, उपासना ध्यान, जप आदि के प्रति साधारणतः हमारे भीतर किसी प्रकार का उत्साह नहीं रहता। प्रमाद के ही कारण ऐसा होता है। हमको चाहिए कि दृढ़ भाव से अपनी शक्ति और चेतना से भली-भाँति परिचित होने के लिए प्रयास करें उपक्रम करे। हमारे प्रयास अथवा उपक्रम में सबसे बड़ा सहयोग मिलेगा चेतना का। सर्वप्रथम हमें इस बात का बोध प्राप्त करना आवश्यक है कि हमारे भीतर अनन्त शक्ति है। यह बोध हो जाने के बाद ही उसके प्रयोग की बात सोची जा सकती है। पहले हम अपनी शक्तियों से परिचित हो। परिचित होने पर उसके उपयोग की सुविधा हो जाती है।

भौतिक और अभौतिक सत्ता के समन्वय के आधार पर शक्ति के विविध रूप हैं।

पहली है क्षेत्र शक्ति। एक क्षेत्र यानी स्थान से दूसरे स्थान पर जाने से मन प्रसन्न होता है और किसी दूसरे स्थान पर जाने से मन अवषाद ग्रस्त हो जाता है। विषण्ण हो जाता है। ये सब स्थान की तंरगो के कारण होता है। इनको भू तरंग कहते है (आगे भू विज्ञान के संबंध में विचार करते समय इन तरंगो की चर्चा की जायेगी)।

दूसरी है काल की शक्ति। एक काल यानी समय मे जो बाते हो सकती है और जो कार्य हो सकते है वह दूसरे काल में नही हो सकते। प्रातः काल के ध्यान में जितनी स्थिरता होती है उतनी मध्यान्ह काल में नही होती। शीतकाल में मन जितना स्थिर रहता है उतना गरमी में नही। आयुर्वेद में काल समय के आधार पर औषधी सेवन का विधान है। काल की शक्ति द्रव्य की शक्ति को घटा बढ़ा सकती है।

तीसरी है द्रव्य शक्ति। जो द्रव्य शक्ति से परिचित होता है वह उससे पूर्ण लाभ उठा सकने में समर्थ होता है। साधक को द्रव्य शक्ति से परिचित होना आवश्यक है। ध्यान, आसन, प्राण और मन की स्थिरता के लिए कौन से द्रव्य सहयोगी सिद्ध होते हैं? इसका ज्ञान अब बहुत कम रह गया है। इसलिए जो साधना मार्ग के पथिक है, वे साधना में इस अभाव के कारण पूर्ण सफलता प्राप्त करने में असमर्थ होते हैं।

शारीरिक बल और आत्मबल - ये दो बल है। आत्मबल का अर्थ है आध्यात्मिक बल। शारीरिक बल से हम सब भली-भाँति परिचित हैं, लेकिन आत्मबल अथवा आध्यात्मिक बल से नहीं। शारीरिक बल से आत्म बल बहुत अधिक है, उसकी सीमा नही है। हम इन्द्रियों के बल से परिचित हैं। आँख, नाक, कान में शक्ति है इसलिए हम देखते सूंघते और सुनते हैं। स्पर्श में शक्ति है, इसलिए सर्दी, गर्मी का अनुभव करते हैं।

प्रश्न यह है कि क्या इन्द्रियों में उतनी ही शक्ति है जितने से हम सब परिचित हैं?

नहीं, उनकी शक्ति और अधिक है। जिस सीमा तक आँखे देख सकती हैं, उसके आगे भी देख सकती हैं। साधक उस शक्ति को अभिव्यक्त करने का प्रयत्न करता है।

कल्याणी माँ ने इस प्रसंग में आगे कहा - आपको ज्ञात होना चाहिए कि इन्द्रिय शक्ति के दो रूप है - सम्भव शक्ति और सम्भाव्य शक्ति। हमारी आँखें जहाँ तक देख सकती हैं - उसे नेत्र की सम्भव शक्ति कहते हैं। यदि हम आँखों की शक्ति का विकास करे तो वह अपनी सीमा से आगे भी बहुत दूर तक देख

सकती है। इसे सम्भाव्य शक्ति कहते हैं। सम्भाव्य शक्ति को उपलब्ध होने पर दूर दर्शन सम्भव है। कोई भी वस्तु बाधक नही बन सकती। आँखो की सम्भाव्य शक्ति की सहायता से हम अपनी आँखो से स्थूल की तरह सूक्ष्म को भी देख सकते हैं।

पाँचों इन्द्रियों की शक्ति सीमित होती है। अपनी सीमा से वह बाहर नही जा सकती। इन्द्रियों की इसी सीमित शक्ति को सम्भव शक्ति कहते है। इन्द्रियों में असीम शक्ति भी है - जिसको कहते है - सम्भाव्य शक्ति। यह ज्ञात होना चाहिए कि अभ्यास से ही किसी शक्ति का विकास होता है। सम्भव शक्ति को हम अभ्यास द्वारा सम्भाव्य शक्ति में परिवर्तित कर सकते हैं।

पंच इन्द्रियों में मन का स्थान सर्वोपरि है। मन की ही शक्ति एक प्रकार से इन्द्रिय शक्ति के रूप में काम करती है। मानसिक विकास में मानसिक शक्ति सम्भव से सम्भाव्य में परिवर्तित होती है। मन की सम्भाव्य शक्ति जिस योगी को उपलब्ध होता है - वह मनोकामी हो जाता है। वह मन से जो इच्छा या कामना करता है वह तत्काल पूर्ण हो जाती है। मन में भोजन की कामना की और भोजन की तृप्ति हो गयी। स्थूल अथवा भौतिक आहार की कोई आवश्यकता नहीं। किन्तु यह सहज ही सबको प्राप्त नही होता। लेकिन शक्ति का विकास हर व्यक्ति कर सकता है।

मनुष्य के प्रकृति प्रदत्त सम्भव शक्ति है, अभ्यास से उसे विकसित कर सम्भाव्य शक्ति में परिवर्तित कर सकता है। लेकिन मानवेतर प्राणियों में जैसे देवता, यक्ष, गन्धर्व, प्रेत, पिशाच आदि ऐसे लोग है जिनको सम्भाव्य शक्ति प्रकृति प्रदत्त है। ये लोग सहज रूप से मनोभक्षी होते है। यह उनकी सहज वृत्ति है। हमारी सम्भाव्य शक्ति उनकी सम्भव शक्ति होती है। बड़े-बड़े योगी साधकगण भी मनोभक्षी होते है। इसी कारण वर्षो तक बिना अन्न जल ग्रहण किये तपस्या में लीन रहते हैं। वाक शक्ति के भी दो रूप है - सम्भव और सम्भाव्य। वाक सम्भव शक्ति तो सभी को उपलब्ध है, लेकिन उसकी अपनी सीमा है। उसका प्रभाव भी कम है। अभ्यास से वही सम्भव शक्ति विकसित होकर सम्भाव्य शक्ति में परिवर्तित हो जाती तो उसका प्रभाव तत्काल पड़ता है। वह वाक् यानी वह वाणी मन को और आत्मा का स्पर्श करती है। उसका प्रभाव स्थायी होता है। सुनने वाले को है जैसे वह दूध पी रहा हो। मधु चाट रहा हो। वाणी इतनी मधुर होती है कि पशु पक्षी भी उसे सुनने लग जाते हैं। सबसे बड़ी बात तो यह है कि वह वाणी बहुत दूर तक सुनाई पड़ती है। और उसको सुनने में समय का ज्ञान नहीं रहता।

मानव में सहिष्णुता बहुत बड़ा गुण है। योगियों में यह गुण सहज भाव में विद्यमान रहता है। सहिष्णुता का विकास संयम का विकास है। सहिष्णुता शक्ति का विकास, संयम शक्ति का विकास है। भयंकर कष्टों, आपदाओं और विपत्तियों में भी विचलित न होना। द्रष्टा भाव उन सबके प्रति रखना। विचलित न होना सहिष्णुता अथवा संयम का विकास है।

मेरे यह पूछने पर कि आध्यात्म शक्ति के भी तो रूप होंगे।

इस जिज्ञासा के समाधान में कल्याणी माँ बोली - अवश्य। आध्यात्म शक्ति का एक रूप है स्वावलम्बी जीवन पर निर्भरता। साधना मार्ग में बहुत बड़ा विघ्न है। साधना का दूसरा विघ्न है अघृति। साधक अपनी साधना का तत्काल फल चाहता है। तत्काल उसकी निष्पत्ति चाहता है। साधना के प्रति धैर्य नही रहता उसमें। साधना में धैर्य अति आवश्यक है। जब तक साधना में काल का परिपाक न होगा तब तक उसकी निष्पत्ति सम्भव नहीं। साधक निष्पत्ति शीघ्र न होने के कारण बीच में ही साधना छोड़ देता है - इसी का नाम - अघृति।

आध्यात्म शक्ति का एक रूप है - क्षमा। कितनी भी विपरीत परिस्थितियाँ सामने आये, साधक उसके प्रति क्षुब्ध न हो, क्षमाशील बना रहे। मान, अपमान से प्रभावित न हो। मान, अपमान करने वाले के प्रति क्षमा भाव रखे। सब कुछ सहते हुए भी गम्भीर बना रहे इसी को क्षमा कहते हैं। साधक के लिए क्षमा का विकास आवश्यक है।

ध्यान के दो प्रकार

ध्यान के भी प्रकार होंगे - मैंने पूछा?

हाँ। ध्यान के दो प्रकार हैं - स्वावलम्बी ध्यान, और परावलम्बी ध्यान। साधक को अध्यात्म मार्ग पर चलने के पूर्व यह निर्णय कर लेना चाहिए कि वह क्या बनना चाहता है और उसका लक्ष्य क्या है? यदि वह वीतराग अवस्था, सन्त अवस्था और साधु अवस्था को उपलब्ध होना चाहता है तो उसके लिए स्वरूपालम्बी ध्यान उपयोगी है। किसी दूसरे ध्यान द्वारा वह उपलब्ध नही हो सकता उसे। शुद्ध चेतना को प्राप्त करने के लिए वीतराग स्वरूप, सन्त स्वरूप और साधु स्वरूप का ही आलम्बन अनुकूल और कार्यकारी होता है।

तन्मूर्ति योग क्या है - मैंने प्रश्न किया।

ध्येय का निर्णय करना। ध्येय का आकार बनाना। ध्यान की ऊर्जा को एक दिशा में प्रवाहित करना। भेद से अभेद को साधना। तन्मूर्ति योग है।

कल्याणी माँ बोलीं - वीतराग बहुत बड़ी उपलब्धि है। विवेक से संयम, संयम से अप्रमाद और अप्रमाद से वीतराग उपलब्ध होती हैं।

साधना का क्या अर्थ है - मेरा प्रश्न था।

साधना अर्थ है व्यक्तित्व का रूपान्तरण और अन्तःकरण का बोध। यदि ये दोनों नहीं होते तो सारा ध्यान सारी साधना-उपासना आदि व्यर्थ है। ध्यान की सार्थकता तप, तपस्या की सार्थकता और साधना की सार्थकता है - व्यक्तित्व के रूपान्तरण में और अन्तःकरण के बोध में।

सबसे बड़ी चीज है विवेक। विवेक का फल है तटस्थता। तटस्थता का फल है - उपेक्षा। और उपेक्षा का फल है - समता। व्यक्तित्व का रूपान्तरण साधना की निष्पत्ति है।

आपने कायोत्सर्ग के संबंध में चर्चा की थी। इसका संबंध किससे है - यह मैं जानना चाहता हूँ - मेरे इस जिज्ञासा के समाधान में कल्याणी माँ ने बतलाया कि कायोत्सर्ग वास्तव में भेद विज्ञान की साधना है।

भेद विज्ञान क्या है?

भेद विज्ञान का विषय है दो को एक दूसरे से अलग करो। दो वस्तुओं में भेद करो। शरीर चैतन्य का भेद करो सबसे पहले और क्रमशः करते जाओ, आकांक्षा और चैतन्य का भेद प्रमाद और चैतन्य का भेद, उत्तेजना और चैतन्य का भेद, क्रोध और चैतन्य का भेद शरीर से भिन्न, इच्छा से भिन्न, नींद से भिन्न, प्रमाद से भिन्न, आवेग से भिन्न। इस भिन्नता के फलस्वरूप आपकी यात्रा आत्मोपलब्धि की ओर अपने आप होने लगेगी। और अन्त में अस्तित्व को उपलब्ध हो जाओगे तुम।

अपनी इन्द्रियों का संयम करो। अपने सभी अंगो का संयम करो। आध्यात्म में चले जाओ। आध्यात्म में जाने का बस एक ही मार्ग है और वह है संयम। आध्यात्मिक साधना मार्ग में सर्वप्रथम प्राप्त होता है कायोत्सर्ग।

आध्यात्मिक यात्रा में सबसे स्थूल साधना है - शरीर। श्वास, शरीर से अभिन्न है। श्वास के कारण ही शरीर के तीनो तंत्र चैतन्य और क्रियाशील है। मन, प्राण, वाणी ये तीनो शरीर के एक-एक अंग है। शरीर से अभिन्न हैं तीनो। कहने की आवश्यक नही, इन्ही तीनो के कारण शरीर अस्थिर और चंचल होता है। उसी चंचलता को समाप्त करने के लिए हम कायोत्सर्ग करना चाहते हैं। यानी शरीर को छोड़ना चाहते है। यहाँ छोड़ने का मतलब है शरीर से अलग होना। अब प्रश्न यह है कि यह कैसे सम्भव है? जब तक प्राण की ऊर्जा पूरे शरीर में प्रवाहित हो रही है। और जब तक मन की अस्थिरता पूरे शरीर में व्याप्त है, तब तक शरीर की जो प्रवृत्ति है उसे छोड़ा नहीं जा सकता। शरीर को स्थिर और शान्त नही किया जा सकता। सबसे पहले कायोत्सर्ग के लिए मन को एक स्थान पर बांधना

होगा। स्थिर करना होगा उसे। यह तभी सम्भव है जब हम पूर्ण रूप से अन्तर्मुखी होंगे। अन्तर्मुखी अवस्था में मन अपने आप धीरे-धीरे चैतन्य के अथाह समुद्र में डूबने लग जायेगा और उसी के साथ-साथ स्थिर होने लग जायेगा अपने आप शरीर भी। शरीर की सारी चंचलता प्राण ऊर्जा की चंचलता है। शरीर की सारी चंचलता मन की चंचलता है। यदि प्राण की और मन की धारा चैतन्य की ओर बहने लग जाय तो शरीर शान्त और स्थिर हो जायेगा, क्योंकि चंचलता उत्पन्न करने वाली प्राण ऊर्जा उसको मिलनी बन्द हो जायेगी। मन की गति भी उसे प्राप्त नहीं होगी। इसी अवस्था को कहते हैं कायोत्सर्ग।

यदि हम मन को ज्ञाता और द्रष्टा के साथ नही जोड़ते हैं, जो जानने वाला और देखने वाला है उसके साथ मन को संयुक्त नही करते है, तो काया का उत्सर्ग सम्भव नही। और सम्भव नही, प्रवृत्ति का विसर्जन भी।

कल्याणी माँ ने कहा - कायोत्सर्ग के दो चरण है - शिथिलीकरण और विसर्जन। प्रथम चरण का अर्थ है शरीर और शरीर के सभी अंगो को पूर्ण रूप से शिथिल कर देना, उन पर से नियन्त्रण हटा देना। शव वत् हो जाना। इसी प्रकार विसर्जन का अर्थ है - चैतन्य से अलग होने का यानी पृथ्कत्व का अनुभव। यह हमें गहरायी से प्रतीत होने लगे कि हमारा शरीर कहीं अलग पड़ा है और हमारी चेतना कहीं और स्वतंत्र रूप से विचरण कर रही है। पिजड़ा खाली पड़ा है, पंक्षी उसमें से निकल कर उन्मुक्त विचरण कर रहा है गगन में। ऐसा कायोत्सर्ग तभी सत्भव है, जब पूर्ण रूप से आध्यात्म में मन रम जाता है हमारा।

वास्तव में कायोत्सर्ग आत्मा तक पहुँचने का द्वार है। आत्मा की झलक मिलती है तो कायोत्सर्ग अपने आप सध जाता है। अध्यात्म से तात्पर्य है - अपने अस्तित्व की उपलब्धि अपने चैतन्य स्वरूप की उपलब्धि। ज्ञाता द्रष्टा भाव की उपलब्धि।

साधना एक प्रबल युद्ध है

कल्याणी माँ ने बतलाया कि आध्यात्मिक साधना एक प्रबल युद्ध के समान है। जो उस युद्ध में विजयी होता है वही सच्चे अर्थो में साधक है। साधक जैसे-जैसे साधना मार्ग में अग्रसर होता है वैसे ही वैसे दबी हुई वृत्तियाँ दबी हुई वासनाएँ और उत्तेजनाएँ इतने तीव्र रूप से उभरती है कि विचलित होने की स्थिति में आ जाता है। उसी समय सहायक के रूप में योग्य गुरू की आवश्यकता पड़ती है। यदि सद्गुरू उपलब्ध नही होते है तो वह साधना से च्युत हो जाता है।

वह स्थिति अत्यन्त खतरनाक होती है। उस समय जो वृत्तियाँ उभरती है, उनकी कल्पना नही की जा सकती, वे वृत्तियाँ साधक को साधना से भ्रष्ट अथवा

च्युत करने का बराबर प्रयास करती है। वृत्तियाँ उभरे, ऐसा नहीं हो सकता। उनका उभरना निश्चित है इसलिए उनको नियन्त्रित करना आवश्यक है। वृत्तियों से युद्ध कर उन्हे पराजित करना ही पड़ेगा। तभी अपनी लक्ष्य सिद्धि को उपलब्ध हो सकेगा साधक। इसके लिए जिन साधनों की आवश्यकता पड़ती है, वे है श्वास को देखना। शरीर को देखना। चैतन्य केन्द्रों को देखना। उपवास करना। कम भोजन करना। आसन करना।

ये सब असद् वृत्तियों को पराजित करने के साधन हैं यानी आयुध हैं।

जन्म-जन्मान्तर की संचित वृत्तियाँ किसी न किसी निमित्त का आश्रय लेकर ही उभरती है। यदि निमित्त को ही बदल दिया जाय तो ये वृत्तियाँ अपने आप शान्त हो जायेंगी। पहले आहार यानी भोजन को ही लीजिये। भोजन केवल शरीर को ही पुष्ठ और स्वस्थ नहीं करता। उसका प्रभाव मन और इन्द्रियों पर भी पड़ता है। भोजन के सूक्ष्म अणु रस में परिवर्तित होकर मन और वृत्तियों को प्रभावित करते हैं। भोजन का परिपाक होना चाहिए। परिपाक तभी सम्भव है जब हम भोजन को खूब चबा-चबा कर करें। हम जितना अधिक चबायेंगे, उतना अधिक परिपाक होगा। उचित परिपाक होने पर मल साफ होगा। यदि मल साफ होगा तो सड़ान्ध पैदा न होगी। सड़ान्ध नहीं होगा तो प्राण, अपान दूषित नहीं होगा। यदि वह दूषित नहीं होगा तो मन स्वच्छ रहेगा, बेचैनी नहीं होगी, बुरे भाव व विचार नहीं उत्पन्न होंगे। क्रोध और हिंसा का जन्म नहीं होगा। ये सब भोजन को चबाकर खाने की निष्पत्ति है। साधक और योगीगण सदैव अपने आहार चबा-चबा कर खाते है। इसीलिए उनका शरीर स्वस्थ, निरोग और प्रसन्न रहता है सदैव। वास्तव में आहार का संयम 'तपस्या' है। आहार के रस का त्याग भी तप है। ये व्यर्थ नहीं है। ये ज्ञाता-द्रष्टा भाव तक पहुँचने के लिए सज्जा है।

उपवास व्यर्थ नही है। भोजन का विवेक साधना का बहुत बड़ा अंग है। यह आवश्यक नही है कि भोजन सर्वथा छोड़ ही दिया जाय। या उसके प्रति लापरवाही बरती जाय। हमको दोनो के बीच से गुजरना होगा।

भोजन इतनी ही मात्रा में करना चाहिए जिससे शारीरिक शक्ति कम न हो और आलस्य भी उत्पन्न न हो। भोजन में सन्तुलन आवश्यक है। साधना काल में शरीर ही सब कुछ है। साधना का पहले वही आधार बनता है। साधना में अनाहार का नही, आहार संयम ही मुख्य है।

आहार संयम जब पूर्ण रूप से सध जाता है तो उसके परिणाम स्वरूप सर्वप्रथम हम अपने स्थूल शरीर में होने वाले कम्पनों का भली-भाँति अनुभव करने लग जांते है और उनको पकड़ने भी लग जाते हैं। ये स्थूल शरीर के कम्पनों का अनुभव

और उनकी पकड़ बड़ा ही बहुमूल्य बात है। इससे हम शरीरं के भीतर होने वाली अच्छी, बुरी यांत्रिक प्रक्रियाओं को समझने लग जाते हैं। शरीर के भीतर कहाँ क्या हो रहा है? इसे भी जानने समझने लग जाते हैं।

आहार संयम की यह प्रथम निष्पत्ति है।

स्थूल शरीर के कम्पनों से सूक्ष्म होता है सूक्ष्म शरीर के कम्पन। सूक्ष्म शरीर को तेजस शरीर भी कहते हैं। स्थूल शरीर के कम्पनों से उत्पन्न होने वाली तरंगे शुभ्र वर्ण की होती हैं चाँदनी जैसी चमकती हुई। जब हम स्थूल शरीर के कम्पनों के अनुभव के पार चले जाते हैं तब हमें अनुभव होता है सूक्ष्म शरीर यानी तेजस शरीर के कम्पनों का। उन कम्पनों से उत्पन्न होने वाली तरंगे भिन्न-भिन्न वर्णो की होती है। उन कम्पनों और उनकी विभिन्न तरंगो का अनुभव करते-करते और उनको पकड़ते हम आगे बढ़ते है। आहार संयम की यह दूसरी निष्पत्ति है।

बहुत दूर आगे बढ़ने के बाद हम दूसरे सूक्ष्म शरीर के कम्पनों का अनुभव करने लग जाते हैं और पकड़ने लग जाते है उनकी तरंगो को भी।

इस दूसरे सूक्ष्म शरीर को आध्यात्मिक भाषा में कर्म शरीर कहते है इसलिए कि इस शरीर की रचना कर्म के परमाणुओं द्वारा हुई होती है। और उसके कम्पन व परमाणुओं के विपाक रूप होते हैं उन कम्पनों से उत्पन्न होने वाली तरंगे स्वर्ण वर्ण होती हैं।

आहार संयम की यह तीसरा निष्पत्ति है।

कर्म परमाणुओं के विपाक रूप कम्पनों अथवा स्पन्दनों का अनुभव जब हम करने लग जाते है और उन्हें पकड़ने भी लग जाते हैं तब हमे सहज रूप से भविष्य में स्थूल शरीर में होने वाले परिवर्तन और उत्पन्न होने वाले रोगों का ज्ञान होने लगता है, इतना ही नहीं, भविष्य में स्थूल शरीर किन-किन परिस्थितियों में गुजरेगा? उसके द्वारा जीवन में क्या-क्या घटित होगा? जीवन में क्या-क्या अनुभव होगा? यहाँ तक कि मृत्यु कब घटित हो जाती है। इसलिए कि इस कर्म शरीर से इसी दूसरे सूक्ष्म शरीर से - जो पहले सूक्ष्म शरीर से भी अति सूक्ष्मतम होता है - सब कुछ बाहर आता है। जो वर्तमान में घटित हो रहा है, वह तो मात्र प्रतिबिम्ब है। बाहर आने के पहले ही न जाने कब सारी घटनाएँ घट चुकी होती हैं सूक्ष्मतम कर्म शरीर में।

जिन योगियों को सूक्ष्मतम कर्म शरीर के कम्पनों अथवा स्पन्दनों का अनुभव होता है - वे भविष्य में कब कौन सी घटना घटेगी, जान जाते है। सच बात तो यह हे कि सूक्ष्मतम कर्म शरीर में जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त तक कि सारी घटनाएँ न जाने कब की घट चुकी होती हैं। और उनको बाहर आने में बहुत समय लग

जाते है। जब नियति और प्रकृति उनको अवसर देती है तभी वे भौतिक जगत में भौतिक शरीर द्वारा प्रकट होती है। जब कभी हमारे शरीर में कोई रोग, व्याधि उत्पन्न होती है, तभी उसका ज्ञान होता है हमको। लेकिन हम इस रहस्य से अपरिचित रहते है कि शरीर में जो रोग व्याधि अभी उत्पन्न हुई है - वह न जाने कब की सूक्ष्मतम कर्म शरीर में उत्पन्न हो चुकी है। हो सकता है, इसी जन्म में या फिर पिछले किसी जन्म में। इस विषय में कुछ निश्चित रूप से कहा नही जा सकता। सूक्ष्मतम कर्म शरीर को भारतीय दर्शन कारण शरीर कहता है। इस शरीर में वर्तमान जन्म से पिछले कई जन्मों के कर्मार्णव यानी कर्म विपाक संचित रहते हैं, जो अवसर पाकर समय-समय पर प्रकट होते हैं। आज के वैज्ञानिक कारण शरीर पर और उसके कम्पनों स्पन्दनों और तरंगो पर व्यापक रूप से शोध कार्य कर रहे हैं। अब तक कारण शरीर में घटित होने वाली मृत्यु, बिमारी आदि के चित्र वैज्ञानिकों द्वारा लिये जा चुके है।

आज हमारे शरीर में जो रोग दिखलायी दे रहा है, वह सूक्ष्मतम कर्म शरीर यानी कारण शरीर में पहले ही घट चुका होता है। मतलब कि उसी रोग से हमारा कारण शरीर कभी रूग्ण हो चुका होता है। वहाँ से स्थूल शरीर में अभिव्यक्त होने में उसे काफी समय लग जाता है। मृत्यु की घटना कारण शरीर में घटित हो चुकी होती है, लेकिन उसे बाहर आने में समय लग सकता है। नियति और प्रकृति जब अवसर देगी - तभी वह बाहर घटित होगी।

आहार संयम की यह चौथी निष्पत्ति है।

सूक्ष्मतम कर्म शरीर यानी कारण शरीर में कितने कम्पन कितने स्पन्दन हो रहे है और हो रहे है कितने विपाक - इसका ज्ञान एक योगी के लिए ही सम्भव है।

आहार संयम का प्रभाव हमारे मन पर पड़ता है। जिसके फलस्वरूप वह निर्मल और स्वच्छ होने लग जाता है। मन जितना निर्मल और स्वच्छ होगा, उतना ही एकाग्र और स्थिर होगा वह। और ध्यान में प्रगाढ़ता और गहरायी होगी। उतना ही हम कारण शरीर के कम्पनों स्पन्दनों और तरंगो का अनुभव कर सकेंगे और उन्हें पकड़ कर भविष्य में घटित होने वाली घटनाओं की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

अन्त में साधना की एक ऐसी अवस्था उत्पन्न होती है, जब कारण शरीर के पार भी हम चले जाते है। जहाँ केवल चैतन्य ही चैतन्य होता है और उसी चैतन्य के सागर में ज्योति पुंज के रूप में आत्मा का दर्शन होता है और होता है आत्मानुभव। जिसे कहते हैं - ज्ञाता-द्रष्टा का साक्षात्कार।

आध्यात्मिक साधना में सबसे प्रमुख जो साधना है वहं है शरीर। शरीर मन और प्राण इन तीनों का समन्वय मनुष्य है। और ये तीनो साधना के मूल आधार है। वैसे तो शरीर में कई प्रकट और कई अप्रकट शक्ति केन्द्र है। लेकिन दो केन्द्र सर्वोपरि और सबसे अधिक महत्वपूर्ण है।

कल्याणी माँ ने बतलाया वे केन्द्र हैं - ज्ञान केन्द्र और काम केन्द्र।

नाभि के ऊपर मस्तिष्क तक का भाग ज्ञान केन्द्र है और नाभि के नीचे का भाग काम केन्द्र है। हमारी चेतना इन दोनों केन्द्रों के आस-पास बराबर मडराती रहती है। उन्हीं में उलझी हुई रहती है। जिस केन्द्र में चेतना अधिक रहती है वहाँ उसका प्रवाह भी अधिक रहता है। यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो काम ऊर्जा का मुख्य केन्द्र काम केन्द्र ही है। उसी केन्द्र के आस पास काम ऊर्जा अधिक से अधिक मात्रा में चक्कर काटती रहती है। ज्ञान केन्द्र में चेतना की ऊर्जा केन्द्र में। क्योंकि मनुष्य की मौलिक वृत्ति है ''काम''। इसलिए उसकी चेतना की अधिक से अधिक ऊर्जा काम केन्द्र के चारो ओर चक्कर काटती रहती हैं।

मानस शास्त्री कहते हैं - मनुष्य में काम का तनाव जितना होता है, उतना और किसी वृत्ति का नही होता। भय को लीजिये, क्रोध कों लीजिये, ईर्ष्या को लीजिये, अपमान को लीजिये इन सबका तनाव कभी-कभी ही होता है। किन्तु काम का तनाव तो सबसे अधिक होता है। सघन होता है। एक प्रकार से बराबर ही बना रहता है। इस तनाव का प्रभाव काम केन्द्र से लेकर अपान प्रदेश यानी नाभि प्रदेश पर्यन्त पड़ता है। इसी प्रभाव के फलस्वरूप क्षोभ, द्वेष, राग, विराग, क्षणिक वैराग्य, निराशा, आशा, संयोग, वियोग, प्रियता, अप्रियता आदि के भाव उत्पन्न होते हैं। वास्तव में ये सभी भाव काम केन्द्र के चारों ओ फैली हुई चेतना के स्पन्दन हैं।

सभी शक्तियों में प्राण शक्ति मुख्य है। यदि यह कहा जाय कि सभी अन्य शक्तियाँ प्राण शक्ति के ही विभिन्न रूप हैं तो अतिश्योक्ति न होगी। एक ही शक्ति अनेक रूपों में अभिव्यक्त होती है। प्रथम उसके दस रूप बन जाते है। इन्द्रियों के माध्यम से जब प्राण शक्ति काम करती है तो पाँच प्राण बन जाते है। जब वही प्राण शक्ति मन के साथ तादात्म्य स्थापित करती है तो मन शक्ति बढ़ जाती है और मनोबल बढ़ जाता है। जब वह स्वर व्यंजन के साथ युक्त होती है तो वाणी-बल बन जाता है और वही शरीर के साथ युक्त होती है तो शारीरिक बल बन जाता है। इसी प्रकार जब प्राण शक्ति श्वास के साथ तादात्म्य स्थापित करती है तो श्वास को गतिशील बनाती है और तब श्वास प्राण बन जाता है। वही प्राण शक्ति जीवन का जब आधार बनती है। तब उसे आयुष्य प्राण शक्ति कहते हैं। आयुष्य प्राण शक्ति का ही दूसरा नाम जीवनी शक्ति है।

शरीर और षट्चक्र

सबसे बड़ी बात तो यह है कि प्राण ऊर्जा का प्रवाह जिस शरीर में प्रवाहित होती है, उसी ओर चेतना की ऊर्जा का भी प्रवाह होता है। अपने आप दोनों ऊर्जाओं के प्रवाह आपस में मिल जाते हैं।

कल्याणी माँ आगे बोली - योग हो या तंत्र दोनो की यावत साधना प्राण और चेतना की साधना है।

योग तंत्र के अनुसार जिन तत्वों से सम्पूर्ण विश्व ब्रह्माण्ड की रचना हुई है उन्ही तत्वों से मानव शरीर की भी हुई है। योग तंत्र का यह भी कहना है कि ''यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे'' यानी जो पिण्ड (मानव शरीर) में वह विश्व ब्रह्माण्ड में भी विद्यमान है। सारांश यह कि पिण्ड ब्रह्माण्ड का लघु संस्करण है। विश्व ब्रह्माण्ड से सम्पर्क स्थापित करने के लिए छे चक्र है - मूलाधार, स्वाधिष्ठान, अनाहत, मणिपूरक, आज्ञा और सहस्रार। योग तंत्र में इन्हे चक्र कहते सम्पूर्ण विश्व ब्रह्माण्ड तीन भागों में विभक्त है। पहले भाग को ऊर्ध्व भाग दूसरे भाग को मध्य भाग तथा तीसरे भाग को अधोभाग कहते है। मध्य भाग ऊर्ध्व और अधोभाग का सन्धि स्थल है। और वह रजोगुणी है। इसी प्रकार ऊर्ध्व भाग सत्वगुणी और अधोभाग तमोगुणी हैं।

जिन छै चक्रों की चर्चा मैंने की है वे सब मानव पिण्ड में ही विद्यमान हैं। कल्याणी माँ थोड़ा मौन रहकर आगे बतलाने लगी - लोगो की समझ यह है कि वे चक्र अथवा केन्द्र स्थूल शरीर में विद्यमान है। वैसे तो यह भ्रम है लेकिन धारणा अपने आप में सत्य है। मैने पीछे तीन शरीर की चर्चा की थी - कर्म शरीर, जिसे कारण शरीर भी कहते हैं, सूक्ष्म शरीर और स्थूल शरीर। कारण शरीर सूक्ष्म से भी सूक्ष्म और उस सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतम है।

सहस्रार चक्र और उससे सम्बन्धित दो चक्र (जिनको शून्य चक्र और परम शून्य चक्र कहते है) कारण शरीर मे है। उसके नीचे वाले दो चक्र आज्ञाचक्र और अनाहत चक्र सूक्ष्म शरीर में हैं। इसी प्रकार स्वाधिष्ठान चक्र और मूलाधार चक्र स्थूल शरीर में है।

मणिपूरक चक्र कहाँ है - मैंने प्रश्न किया?

कल्याणी माँ बोली - मणिपूरक चक्र का आधा भाग तो सूक्ष्म शरीर में है और आधा भाग है स्थूल शरीर में। स्थूल शरीर में जो आधा भाग है - वह नाभि प्रदेश के निकट है। वास्तव में मणिपूरक चक्र सूक्ष्म और स्थूल दोनो शरीर का विभु है। दोनों शरीर पर उसका प्रभुत्व है। इसीलिए नाभि प्रदेश को अति महत्वपूर्ण बतलाया गया है और बतलाया गया है अत्यन्त रहस्यमय भी। मृत्यु के समय नाभि

प्रदेश से ही स्थूल शरीर से सूक्ष्म शरीर अलग होता है और अलग होकर अपनी अनन्त यात्रा पर निकल पड़ता है।

ब्रह्माण्ड के ऊर्ध्व भाग का शिरोबिन्दु ज्योति पुंज रूप है। वह परम शून्य स्थान है। उसके नीचे महा शून्य स्थान है और उस महा शून्य स्थान के नीचे का स्थान शून्यमय है। परम शून्य, महा शून्य और शून्य के नीचं तीन मण्डल हैं - ऋषि मण्डल, सिद्ध मण्डल और देव मण्डल। वैदिक भाषा में इन्ही तीनो मण्डलों को ऋक मण्डल, यजु मण्डल और साम मण्डल कहते है। ये तीनो मण्डल सूर्य के तीनो वलय के रूप में प्रकट है। सूर्य के तीन वलय हैं। पहले वलय का रंग श्वेत है। दूसरे वलय का रंग पीत है और तीसरे वलय का रंग रक्त है। ये तीनो वलय सूर्य के तीना काल से संबंधित है। पहला वलय उषा काल मे प्रकट होता है। दूसरा वलय अरूण काल में प्रकट होता है। इसी प्रकार तीसरा वलय प्रकट होता है सूर्योदय काल में। तीनो वलय काल के तीन चक्र हैं। काल स्वयं सूर्य है। उनके तीनो चरणों को कहते हैं - परमकाल, महाकाल और काल।

तीनो वलय तीनो मण्डलों और तीनो छन्दो का प्रतिन्निधित्व करते है .हमारे तीनो वेद।

छन्द किसे कहते हैं?

तीनो मण्डलों की अपनी अपनी सीमाएँ हैं - उन्ही सीमाओं को छन्द कहते हैं। इस प्रकार तीनो मण्डलों अथवा सूर्य के तीनो वलय के तीन छन्द हैं - गायत्री छन्द, अनुष्टुप छन्द और बृहती छन्द।

ऋषि मण्डल में ऋषिगण निवास करते है। सिद्ध मण्डल में सिद्धगण निवास करते हैं। इसी प्रकार देव मण्डल में देवगण निवास करते हैं। मनुष्य से इन तीनों मण्डलों का संबंध सूर्य के तीनो वलय द्वारा बराबर बना रहता है। और उन तीनों संबंध का आधार है क्रमशः मनुष्य की आत्मा, मनुष्य का मन और मनुष्य का प्राण।

ब्रह्माण्ड का मध्य भाग दो खण्डों में विभक्त है। उन दोनों खण्डों में मनुष्यात्माएँ निवास करती हैं। मणिपूरक का आधा भाग पहले खण्ड का और दूसरा भाग दूसरे खण्ड का प्रतिनिधित्व करता है।

जैसा कि मैंने कहा - कल्याणी माँ बोली - दोनों खण्डों में मनुष्यात्माएँ निवास करती है। बस अन्तर यही है कि पहले खण्ड में सूक्ष्म शरीरधारी आत्माएँ निवास करती है जबकि दूसरे खण्ड में निवास करती हैं स्थूल शरीरधारी मनुष्यात्माएँ। जिनको हम दूसरे शब्दों में मनुष्य कहते हैं। दोनों प्रकार की मनुष्यात्माएँ एक खण्ड से दूसरे खण्ड में और दूसरे खण्ड से पहले खण्ड में आती जाती रहती है। कभी

स्थूल शरीर धारण करती हैं तो कभी सूक्ष्म शरीर करती हैं धारण। यह चक्र निरन्तर चलता रहता है। स्थूल शरीर उनको स्थूल जगत में प्राप्त होता है और सूक्ष्म शरीर प्राप्त होता है सूक्ष्म जगत में। जो काम स्थूल जगत में उनका अधूरा रह जाता है उसे वे पूरा करती है सूक्ष्म जगत में और जब वह काम पूरा हो जाता है तो वे फिर लौट आती है स्थूल शरीर धारण कर स्थूल जगत में। यहाँ यह बात बतला देना आवश्यक है कि दो शरीर और दोनो जगत कर्म प्रधान है। अन्तर केवल यही है कि स्थूल शरीर और स्थूल जगत के मानसिक कर्म और शारीरिक कर्म संयुक्त रूप से प्रधान है जबकि सूक्ष्म शरीर और सूक्ष्म जगत मे केवल मानसिक कर्म हैं। और है स्मृति सृष्टि। वहाँ के निवासी मनुष्यात्माएं स्थूल जगत जैसी सृष्टि अपनी भौतिक स्मृतियों के आधार पर कर आनन्द लाभ करती हैं।

ब्रह्माण्ड के अधोभाग का शिरोबिन्दु पूर्ण रूप से अन्धकाराच्छन्न है। शेष भाग में कहीं अन्धकार का राज्य है तो कहीं विपुल प्रकाश का। ब्रह्माण्ड के इस निम्न भाग में निम्न कोटि की तामसिक आत्माएँ निवास करती है। यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि विश्व ब्रह्माण्ड के इस अधोभाग के अन्दर कई खण्ड और कई उपखण्ड हैं। जिनमें योग्यतानुसार आत्माएँ निवास करती है।

कुछ खण्ड और उपखण्ड तो ऐसे हैं जिनकी स्थिति अत्यन्त नारकीय है। जिनमें भूत-प्रेत पिशाचों के अतिरिक्त हाकिनी, डाकिनी आदि जातियों की दुघर्ष आत्माएँ निवास करती हैं। वे कभी मध्य भाग में आकर शरीर धारण नही करती। लेकिन मध्य भाग में आती अवश्य है और जब आती है तो सर्वत्र हाहाकार मचा देती हैं। त्राहि-त्राहि होने लगते है सर्वत्र। उनकी उपस्थिति से प्रकृति में घोर विकृति उत्पन्न हो जाती है। जिसके फलस्वरूप सामूहिक नरसंहार, भयंकर और हृदय विदारक दुर्घटनाएँ, झंझावात भयंकर चक्रवात तूफान आदि से सांसारिक वातावरण अत्यन्त दयनीय, शोचनीय और करूणामय हो जाता है। जन, धन की भारी क्षति होती है।

इसी प्रकार कुछ ऐसे खण्ड और उपखण्ड है जिनमें एक विशेष प्रकार की निकृष्ट आत्माएँ निवास करती हैं। वे भी भौतिक जगत में आती है और अवसर पाकर मानव शरीर में भी जन्म लेती है। लेकिन इनके जन्म लेने से देश, समाज और परिवार की हानि ही होती है। ये देशद्रोही होते हैं। धर्म का नाश करने वाले होते है। इनसे किसी भी क्षेत्र का हित और कल्याण नही होता।

कुछ खण्ड और उपखण्ड ऐसे हैं जिनमें अपदेवताओं का निवास है। वे भी तामसिक प्रवृत्ति के होते है। ये भी मानव जगत में आकर मानव शरीर धारण करते है और देश व समाज का अनहित करते है।। वे भी अपने प्रभाव में लोगों को

लेकर उनसे राजनीति के क्षेत्र में सामाजिक क्षेत्र में धार्मिक एवं सांस्कृतिक क्षेत्र में उपद्रव कराते हैं।

मध्य भाग की सीमा से लगा अधोभाग पितरों का निवास स्थल है। उनमें कुछ अधोगति प्राप्त पितर भी निवास करते हैं।

अधोगति किसे कहते हैं - मैने प्रश्न किया?

संसार में जिनकी किसी कारणवश अकाल मृत्यु हुई होती है। जिसकी अन्तिम श्रद्धादि क्रिया उचित ढंग से सम्पन्न नहीं हुई होती है। जो किसी कारणवश अतृप्त है अथवा असन्तुष्ट हैं। ऐसी अधोगति प्राप्त आत्माओं को शीघ्र मानव जन्म उपलब्ध नहीं होता। यदि होता भी है तो उसी परिवार में होता है - जिस परिवार वे कभी सदस्य रहे होते हैं। उनका जन्म लेना परिवार के अकल्याण का ही सूचक होता है। वे दुर्भागी, लम्पट, चोर, बदमाश के रूप में खूब कुख्याती प्राप्त करते हैं।

विश्व ब्रह्माण्ड के अधोभाग की जिन निकृष्ट आत्माओं अपदेवताओं और अधोगति प्राप्त पितरों की संक्षिप्त चर्चा मैंने की है। प्रायः वे ही मानव शरीर में अधिक से अधिक संख्या में जन्म ले रही हैं, जिसका परिणाम संसार समाज के सामने है। सर्वत्र अशान्ति का वातावरण है। सर्वत्र संघर्ष की स्थिति है और है सर्वत्र परम स्वार्थ का साम्राज्य (पढ़े मरणोत्तर जीवन का रहस्य)।

पिण्ड द्वारा विश्व ब्रह्माण्ड से सम्पर्क

सम्पूर्ण विश्व ब्रह्माण्ड एक विशेष सीमा तक दृश्यमान भी है और अदृश्यमान भी, विश्व ब्रह्माण्ड अनन्त है, यह अपने स्थान पर सत्य है, इसमें किसी भी प्रकार का सन्देह नही। अन्तरिक्ष विज्ञान की भाषा में जिस सीमा तक विश्व ब्रह्माण्ड दृश्यमान है उसे बाह्य जगत कहते हैं और जो बाह्य जगत के बाहर अदृश्यमान है उसे कहते है आन्तर जगत। आन्तर जगत अत्यन्त रहस्यमय है, इसलिए अत्यन्त रहस्यमय है कि विश्व ब्रह्माण्ड के जितने सत्य है और जितने है परम सत्य तथा परम गोपनीय वे सब उसी में विद्यमान है। यदि विचार पूर्वक देखा जाय तो भारतीय मनीषा की खोज और प्राप्तव्य उसी परम सत्य और उसी परम गोपनीय की खोज और प्राप्तव्य है। यही अध्यात्म विज्ञान है। अध्यात्म विज्ञान का विषय आन्तर जगत है और भौतिक विज्ञान का विषय है बाह्य जगत।

इस खोज का माध्यम क्या है?

और इस खोज से जो कुछ प्राप्त होता है उसकी उपलब्धि किसे होती है?

मेरे इन दोनों प्रश्नों के उत्तर में कल्याणी माँ ने कहा - खोज तो चेतना करती है और उसकी उपलब्धि होती है अन्तःकरण को और उस उपलब्धि की साक्षी होती है आत्मा।

अन्त:करण किसे कहते है प्रश्न?

मन, बुद्धि, अहंकार और चित्त-इन चारों के समन्वय रूप को 'अन्त:करण' कहते हैं। भारतीय मनीषा इस चतुष्टय में चित्त को प्रधान और मुख्य मानते हैं। इसलिए कि उसमें एक ऐसी शक्ति विद्यमान है - जिसे आधा शक्ति अथवा समद्भूता शक्ति कहते है। यह है तंत्र की भाषा और योग की भाषा में उसी शक्ति को चिति शक्ति कहते हैं। विचार शक्ति उसका प्रथम और अन्तिम स्थूल रूप हैं। मैने यहाँ 'स्थूल' शब्द का प्रयोग किया है, इससे उस रूप को स्थूल नही समझ लेना चाहिए। वास्तव में वह रूप सूक्ष्म से सूक्ष्म और उस सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतम है।

शरीर में 'अन्त:करण' कहाँ है - प्रश्न।

मानव मस्तिष्क में कई जटिल और रहस्यमय प्रदेश है। उन्ही प्रदेशों में एक ऐसा गूढ़ और जटिल प्रदेश है - जिसको अन्त:करण की संज्ञा दी गयी है। वैसे मेरे इस बात को बहुत ही कम लोग स्वीकार करेंगे, लेकिन योगी, साधकों की अनुभव दृष्टि में वही सत्य है। कहने की आवश्यकता नही, कल्याणी माँ बोली - उसी रहस्यमय प्रदेश यानी अन्त:करण में चिति शक्ति अपनी नैसर्गिक गति से बराबर हर समय आन्दोलित होती रहती है। आन्दोलन के परिणाम स्वरूप चिति शक्ति के गर्भ से विचार शक्ति का अविर्भाव होता है। वह आविर्भूत विचार शक्ति भी चिति शक्ति की नैसर्गिक गति से प्रभावित होकर आन्दोलित होने लगती है। यदि विचार पूर्वक देखा जाय तो चिति शक्ति और विचार शक्ति की नैसर्गिक गति एक ही है। विचार शक्ति की जो नैसर्गिक गति है, वह दूसरे शब्दों में विचार शक्ति की गति ही है।

एक ही नैसर्गिक गति से चिति शक्ति और उससे उत्पन्न विचार शक्ति दोनों अपने आप में आन्दोलित होती रहती है। इसी कारण चित्त तो चंचल रहता ही है, विचार भी स्थायी और स्थिर नही रहता।

विचार शक्ति के दो रूप है - पहला है क्रियमाण रूप और दूसरा है संचित रूप।

अपनी नैसर्गिक के कारण विचार शक्ति भी बराबर गतिमान रहती है। इसी गतिमान के कारण उसे क्रियमाण कहते है। क्रियमाण का अर्थ है गतिमान विचार शक्ति।

युक्ति विशेष से जब वही गतिमान विचार शक्ति की गति को रोक दिया जाता है तो उसी अवरूद्ध विचार शक्ति को संचित कहते हैं। संचित का अर्थ है एकत्र की गयी अथवा अवरूद्ध की गयी विचार शक्ति। यहाँ यह बतला देना

आवश्यक है कि अवरूद्ध यानी – संचित विचार शक्ति बड़ी प्रबल होती है। जितनी संचित होगी उतनी ही प्रबल होगी। इस विषय पर पश्चिम के महान वैज्ञानिक 'एटकिन्सन' अपनी पुस्तक में जिसका नाम है – 'बाट्स और थिंग्स'। संचित विचार में जो इतना अपरिचित सत्य भरा हुआ है, उसका मुख्य कारण विचारों की निरुद्धावस्था ही है तात्पर्य यह कि निरूद्ध यानी एकाग्र हुई विचार शक्ति के समान अमोघ साधना और कोई इस जगत में नही है।

यह कहना अतिशयोक्ति न होगी कि तंत्र की समस्त साधनाएँ – मन, प्राण और वाक इस त्रिक् पर आधारित है। ऊँ प्रणव इसी त्रिक् का ध्वनि रूप है।

आगे मैं जिन विषयों की चर्चा करूँगी वह थोड़ा अपने आप में गम्भीर है इसलिए इस तथ्य को तुमको अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि योग और तंत्र दोनों में आभ्यन्तरिक भेद अवश्य है लेकिन आन्तरिक भेद नही है। मौलिक रूप में दोनों एक ही है – कल्याणी माँ ने कहा।

अब तक की आध्यात्मिक चर्चा एक ही दिन की नही है। पूरे ग्यारह दिन के अन्तर्गत यथावसर चर्चा की थी कल्याणी माँ ने। बोलने का कोई समय नही था उनका। इसलिए मै अति आवश्यक पड़ने पर ही आश्रम के बाहर निकलता था। मैं जानता था कभी किसी समय किसी न किसी आध्यात्मिक प्रसंग पर बोलना शुरू कर देंगी कल्याणी माँ। अतः अवसर की प्रतीक्षा में रहता था मै।

चौबीस घंटे में सायंकाल के पश्चात दो केला खाकर एक पाव गाय का दूध पीती थी केवल कल्याणी माँ बस। और उसके पश्चात अपने कमरे का दरवाजा भीतर से बन्द कर लेती थी जो दूसरे दिन प्रातः पाँच बजे ही खुलता था फिर, पूरी रात वह क्या करती थी? सोती थीं या करती थी साधना, यह ज्ञात नही था मुझे। लेकिन प्रातः दरवाजा जब खुलता था और जब उनका दर्शन होता था, उस समय उनका मुख मण्डल प्रातः कालीन खिले हुए कमल के उस फूल जैसा प्रतीत होता था, जिसकी पंखुड़ियों पर ओस के कण बिखरे हुए हों। जिसे देखकर तन को मन को और आत्मा को अनर्वचनीय शान्ति उपलब्ध होती थी स्वयं अपने आप।

उस दिन भी सदैव की तरह केला खाकर और दूध पीकर अपने कमरे का दरवाजा भीतर से बन्द कर लिया था कल्याणी माँ ने। मैने भी भोजन किया और फिर थोड़ा विश्राम। विश्राम के पश्चात चिन्तन, मनन करता था। और उसके पश्चात हो जाता था मैं साधना रत। साधना में ही लीन था मैं उस समय। अनाहद चक्र के बिन्दु पर मन को एकाग्र करने का अभ्यास चल रहा था मेरा। उस रात एकाएक बिना किसी विघ्न के अपने आप मन स्थिर हो गया अनाहत चक्र बिन्दु पर मेरा। कहने की आवश्यकता नहीं, उसी चक्र से ऊर्ध्वलोक शुरू होता है। अधोलोक

की सीमा पार कर ऊर्ध्वलोक की सीमा में प्रवेश कर गया मैं। कब और कैसे प्रवेश कर गया? इसका रहस्य अपरिचित और अज्ञात था मेरे लिए।

हाँ तो प्रवेश करते ही मेरी दृष्टि जिस वस्तु पर पड़ी वह था एक विशाल मन्दिर। मन्दिर बड़ा ही भव्य और आकर्षक था इसमें सन्देह नही। मन्दिर के भीतर सामने प्रागंण था, जिसके तीन ओर ऊँचे - ऊँचे खम्भे और सामने गर्भगृह था और उस गर्भगृह में महाकाली की काले रंग के संगमरमर के पत्थर की आदमकद मूर्ति एक ऊँची बेदी पर स्थापित थी। माँ महामाया की वह पाषाण प्रतिमा अति सजीव प्रतीत हुई मुझे। उनके सजल नेत्रों में असीम करूणा, दया, कृपा और अनुकम्पा का मिला जुला भाव भरा था जैसे। मुख पर जहाँ स्नेह और प्रेम का भाव था, वहीं था थोड़ा क्रोध मिश्रित आक्रोश का भी भाव। मुक्तिदायिनी, मुक्तकेशी का वह अनर्वचनीय रूप देख कर स्तब्ध रह गया मैं कुछ क्षण के लिए इसमें सन्देह नहीं। और तभी मेरी दृष्टि अपने आप घूम गयी, दूसरी ओर। देखा वहाँ आसन पर बैठी मेरी ओर देखती हुई मन्द-मन्द मुस्कुरा रही थी कल्याणी माँ। घोर आश्चर्य हुआ मुझे - कल्याणी माँ, यहाँ यह मन्दिर में कैसे?

गौर वर्ण शरीर पर रेशमी कषाय वस्त्र, पीठ पर बिखरे घने काले केश, गले में विभिन्न रंगो के चमकते मणियों की मालाएँ मस्तक पर सिन्दूर का गोल टीका और पीत चन्दन का प्रलेप और दिव्य तेजोमय मुखमण्डल। मेरी ओर स्थिर दृष्टि से देखती हुई कल्याणी माँ बोली - अरे तू आ गया, इतनी देर क्यों की? माँ महामाया तुम्हारी प्रतीक्षा कर रही थीं, माँ को प्रणाम करो पहले।

मैने सिर झुकाकर दोनो हाथ जोड़कर श्रद्धा भाव से प्रणाम किया माँ महामाया को।

कल्याणी माँ का फिर मन्द और कोमल स्वर सुनाई दिया - विश्व ब्रह्माण्ड में बहुत से मण्डल है, उन्ही मण्डलों से मनुष्य को जीवनी शक्ति बराबर मिलती रहती है। मण्डल के देवी देवता उसकी अगोचर रूप में सहायता करते हैं। तुमको जिस मण्डल से जीवनी शक्ति यानी प्राण शक्ति प्राप्त होती है वह है महाकाल मण्डल। समझ गये न और महाकाल मण्डल की अधिष्ठात्री देवी है महाकाली। जिनके सामने तुम खड़े हो। यही तुम्हारी इष्ट देवी है। इनको कभी विस्मृत मत करना। सदैव स्मरण रखना। जन्म जन्मान्तर तक इनकी कृपा, दया, अनुकम्पा और करूणा के पात्र बने रहेगो तुम।

सिर उठाकर उस समुद्भूता महाशक्ति के सजल नेत्रों की ओर देखा मैंने, जहाँ करूणा का अथाह सागर लहरा रहा था। फिर रहा न गया मुझे - माँ, माँ कहते हुए महामाया के चरणों पर गिर पड़ा मैं। और तभी अनाहद चक्र बिन्दु से मेरे मन का संबंध टूट गया न जाने कैसे।

सबेरा होने ही वाला था। मैं अपने आसन से उठा, नित्य क्रिया की और स्नान किया। अब तक कल्याणी माँ का भी पट खुल गया था। मेरा उनका सामना हुआ। नित्य की भाँति उनको प्रणाम किया लेकिन विशेष साधनावस्था में जो कुछ देखा, सुना था, उसे टाल गया। कुछ भी नहीं बतलाया मैंने कल्याणी माँ को।

हाँ तो कल तंत्र के संबंध में चर्चा शुरू की थी मैंने।

मैंने सिर हिलाकर कहाँ - हाँ।

प्रसंग ऐसा आ गया है कि तंत्र की संक्षिप्त चर्चा करना आवश्यक है ताकि तुम विषय को ठीक से हृदयगम कर सको।

चित्त में विद्यमान उसकी जो शक्ति है चितिशक्ति और उसकी है जो नैसर्गिक गति है वह समद्भूता शक्ति है - जिसे हम मूल शक्ति और आदि शक्ति भी कहते है। तंत्र भी भाषा में समद्भूता शक्ति ब्रह्ममयी ब्रह्माणी शक्ति है। और समष्टि रूप में सर्वत्र व्याप्त है। विश्व ब्रह्माण्ड में कोई ऐसा स्थान नही है जहाँ उसका अस्तित्व न हो। यही समद्भूता शक्ति परब्रह्म परमेश्वर की योगमाया है, जिसकी सहायता से परमेश्वर लीला करता है नर रूप धारण कर।

चिति शक्ति की जो नैसर्गिक गति है उस गति शक्ति को महाकाली के रूप में परिकल्पित किया है तंत्र ने। वास्तव में वह जो नैसर्गिक गति है वह प्राण है। इस प्रकार गति शक्ति दूसरे शब्दों में प्राण शक्ति है। प्राण गतिमान है। गति उसका स्वभाव है। अतः महाकली प्राण शक्ति का प्रतिनिधित्व करती है इसीलिए उनका एक पैर आगे की ओर बढ़ा हुआ गतिमान है। इसी प्रकार विचार शक्ति का क्रियमाण रूप भी गतिमान है, लेकिन चिति शक्ति की नैसर्गिक गति में और क्रियमाण की गति में अन्तर है। क्रियमाण गति एक ही स्थान पर रह कर गतिमय है जबकि नैसर्गिक गति आगे की ओर बढ़ती हुई है। तांत्रिक साधना भूमि में क्रियमाण की गति शक्ति को महालक्ष्मी के रूप में परिकल्पित किया गया है। विज्ञान इन दोनों शक्तियों को अपनी भाषा में फोर्स और एनर्जी कहता है। अब रही बात संचित की, तंत्र उसे महा सरस्वती के रूप में परिकल्पित किया है। विज्ञान की भाषा जिसे कहता है पावर, वह है संचित शक्ति विचार की।

महाकाली, महालक्ष्मी, महासरस्वती - फोर्स, एनर्जी, पावर - मन, प्राण, वाक - ये तांत्रिक और वैदिक त्रिक है। जैसा कि मैने कहा था - तांत्रिक और वैदिक दोनों की यावत साधनाओं का मूलाधार है ये त्रिक्।

विश्व ब्रह्माण्ड और उसके भागों की चर्चा मैंने की थी - कल्याणी माँ बोली - वैसे ही मानव पिण्ड में भी भाग है - ऊर्ध्व भाग, अधो भाग और मध्य भाग। नाभि मध्य भाग है नाभि प्रदेश में मणिपूरक चक्र है। नाभि के ऊपर तीन चक्र

हैं - अनाहद्, आज्ञा और सहस्रार। कौन सा चक्र किस शरीर में इसकी चर्चा मैने तुमसे की थी। इस संबंध में संक्षेप में तुमको बतला दूँ कि मणिपूरक का आधा भाग स्वाधिष्ठान और मूलाधार ये तीन चक्र अधोभाग में स्थित है। इसी प्रकार मणिपूरक का ऊपर का आधा भाग के अतिरिक्त अनाहद् आज्ञा और सहस्त्रार ऊर्ध्व मार्ग में स्थित है। ऊर्ध्व भाग के चक्र प्राकृतिक रूप से सुप्त और निष्क्रिय है उनको साधना से जगाया जाता है। जबकि अधोभाग के चक्र वैसे तो प्रसुप्त और निष्क्रिय हैं उनको साधना से जगाया जाता है। जबकि अधोभाग के चक्र वैसे तो प्रसुप्त और निष्क्रिय रहते है - लेकिन स्थिति विशेष में स्वयं जागृत और सक्रिय हो उठते है।

वह कैसे - मैंने प्रश्न किया?

अधोचक्र 'काम केन्द्र' की सीमा के अन्तर्गत है। इसलिए मनुष्य की सभी प्रकार की वृत्तियाँ एक प्रकार की काम जनित ही होती है। उसकी वृत्तियों में कहीं न कहीं और किसी न किसी रूप में कामेषणा का भाव विद्यमान रहता ही है इसमें सन्देह नहीं। वैसे यह स्वतंत्र विषय है इसलिए इस पर कभी स्वतंत्र रूप से विचार किया जाएगा।

मूलाधार चक्र 'कामकेन्द्र' का मुख्य बिन्दु है। मूलाधार जब जागृत और चैतन्य होता है तो काम वासना का जन्म होता है। कामोत्तेजना उत्पन्न होती है। जिसके फलस्वरूप शरीर में एक विशेष प्रकार का कम्पन अथवा स्पन्दन उत्पन्न होने लग जाता है।

मूलाधार के जागरण के प्रभाव से स्वाधिष्ठान चक्र अपने आप सक्रिय हो उठता है : जिसके प्रभाव से मनुष्य समागम् में रत होता है।

जैसा कि मै बतला चुकी हूँ मणिपूरक चक्र का नीचे का भाग स्थूल जगत से संबंधित है जबकि ऊपर का भाग है सूक्ष्म जगत से। पहले में स्थूल शरीरधारी मनुष्य रहते है और दूसरे में रहते है सूक्ष्म शरीरधारी मनुष्य। सूक्ष्म जगत में निवास करने वाली मनुष्यात्माएँ उच्चकोटि की उच्च विचार, उच्च भाग और उच्च संस्कार वाली होती है। मानव तन प्राप्त करने की प्रबल कामना और अदम्य लालसा के वशीभूत होकर वे योग्य गर्भ की खोज में बराबर रहती हैं। इसी प्रकार स्थूल शरीरधारी आत्माएँ, शरीर से अलग होने के पश्चात यानी मृत्यु हो जाने पर भौतिक जगत की सीमा के भीतर ही भटकती रहती है, पृथ्वी के बाहर कही नही जाती, यहाँ तक कि पृथ्वी के बाहर चन्द्र मण्डल तक सूक्ष्म शरीरधारी मनुष्यात्माएँ अपनी स्मृति सृष्टि में निवास करती हैं - उसमें भी वे प्रवेश कर नहीं पातीं, इसलिए कि वह उच्चकोटि की दिव्य तथा संस्कार सम्पन्न

मनुष्यात्माओं का प्रदेश है। वहाँ साधारण व निम्न स्तर की मनुष्यात्माओं का प्रवेश पूर्ण वर्जित है।

जैसा कि मैने अभी बतलाया वे पृथ्वी की सीमा के भीतर ही पुनः जन्म लेने के लिए बराबर भटकती रहती है। यहाँ भटकने के संबंध में यह बतला देना आवश्यक है कि ऐसी मृतात्माएँ उन्ही स्थानों में भटकती है, जिनसे वे अपनी जीवन में परिचित रहती हैं व जहाँ वे गयी हुई रहती है और निवास की हुई रहती हैं। कहने की आवश्यकता नहीं, ऐसी आत्माओं को गर्भ उपलब्ध होने में अधिक समय नहीं लगता। कुछ तो इधर मरती हैं और वासना वेग के कारण उधर गर्भ में प्रवेश कर जाती है। यह निश्चित है कि उनको तीन घंटे, तीन दिन, तीन मास या अधिक से अधिक एक वर्ष के अन्दर ही अन्दर गर्भ उपलब्ध हो जाता है। जैसे हम लोग एक मकान छोड़कर दूसरे मकान में एक मुहल्ला छोड़कर दूसरे मुहल्ले में या फिर एक शहर को छोड़कर दूसरे शहर में चले जाते हैं, ऐसा ही उन आत्माओं के संबंध में समझना चाहिए।

आपने सूक्ष्म जगत और स्थूल जगत और उन दोनों में दो प्रकार की मनुष्यात्माओं के निवास की भी चर्चा की, एक प्रकार से आपने इस तथ्य को स्पष्ट भी कर दिया है कि सूक्ष्म जगत में निवास करने वाली मनुष्यात्माएँ उच्चकोटि की और स्थूल जगत में निवास करने वाली मनुष्यात्माएँ निम्न कोटि की होती हैं लेकिन संसार में सन्त, महात्माओं, विवेकशील, ज्ञानी और धार्मिक व्यक्तियों का अभाव नहीं है। इसका क्या कारण?

मेरी दूसरी जिज्ञासा यह है कि संसार में मृत्यु को उपलब्ध होकर मृतात्माएँ क्यों नहीं दिखलायी देती? जबकि आपका कहना है कि इसी संसार में रहती हैं।

मेरी बातों को बड़े ध्यान से सुनी कल्याणी माँ ने और फिर कहा - तुम्हारी जिज्ञासा एक सीमा तक महत्वपूर्ण अवश्य है। इसलिए थोड़ा उसका समाधान आवश्यक है। जैसा कि मै बतला चुकी हूँ। सूक्ष्म जगत में सब कुछ सूक्ष्म और सूक्ष्मतम है। वहाँ केवल सूक्ष्म शरीर का भी मात्र अस्तित्व है, जबकि भौतिक जगत में जगत में स्थूल शरीर के साथ उसी प्रकार का सूक्ष्म शरीर भी है। मृत्यु स्थूल शरीर की होती है - सूक्ष्म शरीर की नहीं। मृत्योपरान्त मनुष्यात्मा स्थूल शरीर का त्याग कर अपने सूक्ष्म शरीर को ग्रहण कर उसमे जीवित हो उठता है। उसका जीवन भी एक प्रकार से भौतिक जीवन जैसा ही होता है, लेकिन उसका सूक्ष्म शरीर अत्यधिक वासनामय होने के कारण पृथ्वी के गुरूत्वाकर्षण के बाहर निकल कर अन्य किसी जगत अथवा लोक में प्रवेश नहीं कर पाता। मनुष्य की प्रबल वासना ही उसकी उन्नति के मार्ग का प्रबल बाधक है इसमें सन्देह नही।

जैसा कि मैंने स्पष्ट किया है - सूक्ष्म जगत में निवास करने वाली सूक्ष्म शरीर धारी मनुष्यात्माएँ योग्य गर्भ की प्रतीक्षा में रहती हैं। उनके कर्म उनके संस्कार और उनकी श्रेणी का गर्भ जैसे ही उन्हे उपलब्ध होता है, उसे तत्काल स्वीकार कर लेती हैं वे। ऐसी ही मनुष्यात्माएं भौतिक जगत में जन्म लेकर अपनी योग्यतानुसार समाज सुधारक, युग प्रवर्तक, धर्म और संस्कृति के उन्नायक तथा जगत कल्याण कारक के रूप में ख्याति तो प्राप्त करते ही है - इसके अतिरिक्त कोई उच्च श्रेणी की दिव्य संकार सम्पन्न सूक्ष्म शरीरधारी मनुष्यात्माएँ योगी, सिद्ध साधक और सन्त महात्मा के रूप में भी संसार में अवतरित होकर मानव समाज में एक ऐसा आध्यात्मिक प्रकाश स्तम्भ बन जाते हैं, जो युग-युग तक अपना प्रकाश विकीर्ण करता रहता है जगत में। लेकिन ऐसे महापुरुषों की संख्या केवल गिनने योग्य है इसलिए कि योग्य गर्भ का अभाव है।

इसी प्रसंग में तुमको एक रहस्यमय विषय बतलाऊंगी मैं - कल्याणी माँ, थोड़ा रूककर खिड़की के बाहर गंगा की ओर देखती हुई बोली - मनुष्य की जीवन यात्रा बीज के रूप में शुरू होती है और वह यात्रा समाप्त भी होती है बीज रूप में ही। निश्चय ही जो प्रारम्भ है वही है अन्त भी। हमारे जीवन का जो प्रारम्भ है, वही अन्त भी है। मृत्यु के समय सारे शरीर से चेतना एक बिन्दु पर एकत्र होती है और उसी के साथ हमारा सारा व्यक्तित्व भी एकत्र हो जाता है उसी एक बिन्दु पर। और वह बिन्दु क्या है? वह बिन्दु वह केन्द्र है जिस केन्द्र पर पूरा जीवन जीये थे। पूरा जीवन व्यतीत किए थे। वास्तव में वह केन्द्र हमारे जीवन का प्राण था, जिसका आश्रय लेकर हम पूरा जीवन जीये थे। मृत्यु के समय अन्य सभी केन्द्र निष्क्रिय हो जाते हैं लेकिन वह केन्द्र - जिससे हमने पूरा जीवन काम लिया था, वह सक्रिय रहता है और उसी पर हमारी सारी चेतना केन्द्रित अथवा एकत्र हो जाती है।

यदि हमारा जीवन काम प्रधान रहा है। काम के अतिरिक्त हमने और कुछ भी जानने-समझने का कभी प्रयास नही किया। हमने काम की ही सीमा में रहकर काम की पूर्ति के लिए ही धन कमाया, यश कमाया, पद प्राप्त किया, स्वास्थ्य लाभ किया और नाना प्रकार के सुखों का भोग किया तो समझ ले कि हमारा कामकेन्द्र जीवन भी सघन रहा है। वही केन्द्र सर्वाधिक सक्रिय रहा है तो मृत्यु के समय भी वही सक्रिय रहेगा और हमारी सारी चेतना उसी केन्द्र पर एकत्र हो जायेगी और हमारा सारा व्यक्तित्व बीज रूप में परिणत होकर वहीं स्थिर हो जायेगा चेतना के साथ। और उसी केन्द्र से हमारी आत्मा निकल कर अपनी अगली जीवन यात्रा उसी केन्द्र से प्रारम्भ करने के लिए चल पड़ेगी पुनः। यही आत्मा का सातत्य

है। यही सातत्य आत्मा का बंधन है। कामकेन्द्र ही हमारी आत्मा का सातत्य होगा। हमारे प्राण हमारी जननेन्द्रियो से ही बाहर प्रस्थान करेंगे।

आपके कहने का तात्पर्य यह है कि मनुष्य जिस केन्द्र पर अपना सम्पूर्ण जीवन व्यतीत किये रहता है उसी केन्द्र से उसके प्राण निकलते हैं मृत्यु के समय।

हाँ। ठीक समझा तुमने कल्याणी माँ बोली - यह प्राकृतिक नियम है कि हमारी जीवन यात्रा जिस केन्द्र से शुरू होती है, उसी केन्द्र पर समाप्त भी होती है। उसी केन्द्र से हम विदा होंगे संसार से, यह भी सत्य है कि हमारी आत्मा जिस केन्द्र से अपनी अनन्त यात्रा पर निकलेगी वह केन्द्र खुला का खुला ही रह जाएगा, बन्द नहीं होगा कभी।

यदि जीवन भर बोलने का ही हमने काम किया है। जीवन भी हमने भाषण ही दिया और जीवन भर हमने बक-बक करने के अतिरिक्त और कुछ नहीं किया है तो हमारे प्राण हमारे मुख से निकलेंगे और हमारी मुख खुला का खुला ही रह जायेगा। यदि हम प्रकृति के नियम की दृष्टि से देखे तो तमोगुणी मनुष्य के प्राण शरीर के अधोभाग से और रजोगुणी मनुष्य के प्राण ऊर्ध्व भाग से निकलते हैं। मनुष्य का पूर्ण सत्वगुणी होंना सम्भव नही। यदि वह सत्वगुणी है भी तो कहीं न कहीं रजोगुण उसमें विद्यमान अवश्य होगा, इसमें सन्देह नही। इस संसार में पूर्ण सत्यगुणी होना मनुष्य के लिए दुर्लभ है।

एक मात्र योगी ही पूर्ण सत्व गुणी होता है। इसीलिए उसकी दिव्यात्मा आज्ञाचक्र के मार्ग से बहिर्गमन करती है। इसी प्रकार जो ब्रह्मज्ञानी है और जिसने परम तत्व को समझ लिया है - उसकी आत्मा सहस्त्रार चक्र से बहिर्गमन करती है। उसका कपाल फूट जाता है और उसके फूटते ही ऊँ की ध्वनि निकलती है उसमें से। इसी तरह जो वस्तुतः और सच्चे अर्थो में प्रेमी है - उनकी आत्मा मृत्यु के समय हृदयचक्र से निकलती है यानी अनाहद चक्र से।

वास्तव में मनुष्य क्या है उस उसके जीवन में भली भाँति नही जाना जा सकता, वह अच्छा है या बुरा, वह पापी है या पुण्यात्मा, वह चरित्रवान है या चरित्रहीन - इसका निर्णय मात्र मृत्यु के समय होता है। उसका प्राण अथवा उसकी आत्मा किस चक्र से और किस केन्द्र से बाहर निकलती है। यह उसके जीवन का सारभूत प्रमाण होगा।

जिन चक्रो की मैने चर्चा की है वे मृत्यु के समय आत्मा के बाहर निकलते के भी मार्ग हैं और जन्म के समय आत्मा के प्रवेश करने के भी मार्ग है। जिनकी आत्मा जिस चक्र से निकलेगी, अगले जन्म में उसी चक्र के द्वार से पुनः शरीर में प्रवेश भी करेगी। क्योंकि वह उसी को पहचानती है।

गर्भ में कैसी किस संस्कार की और किस श्रेणी का आत्मा प्रवेश करेगी? यह सब कुछ निर्भर है माता पिता के सभागम् के समय उनकी चेतना की स्थिति पर निर्भर है।

समागम् की अवस्था में माता-पिता की संयुक्त चेतना जिस केन्द्र अथवा जिस चक्र पर होगी, उस चक्र में प्रवेश करने योग्य आत्मा ही उसके द्वारा गर्भ में प्रवेश कर सकेगी, अन्य आत्मा नही।

'प्रवेश करने योग्य आत्मा' से आपका क्या तात्पर्य है - मैंने प्रश्न किया?

यह तो स्पष्ट कर दिय गया है कि पिछले जन्म में मृत्यु के समय आत्मा जिस केन्द्र से बाहर निकलती है अगले जन्म में उसी केन्द्र के द्वारा गर्भ में प्रवेश भी करती है।

समागम् काल में तो सभी श्रेणी की सभी प्रकार की सभी कोटि की और सभी स्तर की आत्माएँ चारो और चक्कर काटने लगती है वातावरण में। लेकिन गर्भ में प्रवेश उसी आत्मा का होता है जिस चक्र के योग्य होती है वह। यदि उसी चक्र पर माता पिता की संयुक्त चेतना है तो उस आत्मा को गर्भ में प्रवेश करने में किसी भी प्रकार की बाधा न होगी।

एक बात बतलाना आवश्यक है यहाँ और वह यह कि संयुक्त चेतना जिस चक्र पर है यदि वह चक्र खुला है और सक्रिय है तभी उसमें आत्मा प्रवेश कर सकेगी अन्यथा नहीं। प्रायः सभी चक्र के द्वार बन्द रहते है। यथावसर ही खुलते हैं वे। समागम् काल में संयुक्त चेतना में उद्रेक है तो चक्र अपने आप सक्रिय हो उठेगा और आत्मा के प्रवेश के लिए उसका खुल जायेगा द्वार।

यहाँ यह भी समझ लेना चाहिए कि प्राकृतिक रूप से 'उद्रेक' तो होता ही है समागम् काल में लेकिन उसमें प्राण ऊर्जा की मात्रा न्यून है तो उस उद्रेक से चक्र सक्रिय नहीं होगा और न तो उसका द्वार ही खुलेगा। इसलिए समागम् काल में मन की एकाग्रता के अतिरिक्त प्राण ऊर्जा की मात्रा भी अधिक से अधिक होनी चाहिए।

सुख भौतिक अवस्था है और आनन्द है एक विशेष प्रकार की आन्तरिक अनुभूति। साधारणतः मनुष्य भौतिक स्तर पर ही सम्भोगरत होता है और उससे प्राप्त सुख को आनन्द समझ बैठता है जबकि वह आनन्द है ही नही। क्षणिक शरीरिक और मानसिक सुख प्राप्ति के लिए किया गया सम्भोग 'कामुकता' है काम नही है, वह पुरूषार्थ नही है। क्योंकि उसमें शास्त्रीय श्रेगांरिक भावना का अभाव होता है।

ऐसी अवस्था में प्राण ऊर्जा के साथ चेतना अधोभाग की ओर प्रवाहित होती है। उस समय उसके उद्रेक से अधोभाग के जो चक्र सक्रिय हो जाते हैं उसी के

द्वार से गर्भ में प्रविष्ट हो जाती है आत्मा। यदि सभी चक्र सुप्त है और उद्रेक से सक्रिय नही है तो न गर्भ होगा और न तो आत्मा ही प्रवेश करेगी।

साधारण लोगों के समागम् का उद्देश्य होता है शारीरिक और मानसिक सुख की उपलब्धि उनका उद्देश्य समागम् के क्षरा आत्मा का आवाहन नहीं होता है। वे तो बस यही चाहते हैं कि रतिक्रिया द्वारा अधिक से अधिक सुख और आनन्द उपलब्ध हो। ऐसी स्थिति में गर्भ स्थिति हो जाती है और सन्तान भी उत्पन्न हो जाती है तो इसे योगा-योग ही समझा जायेगा, लेकिन ऐसी स्थिति में जो आत्मा जन्म लेगी वह मध्यम स्तर की या फिर निम्न कोटि की ही होगी। क्योंकि जैसा कि मैंने कहा कि अधोभाग काम केन्द्र है और काम केन्द्र की सीमा के अन्तर्गत जो चक्र है उनमें से किसी एक में प्रविष्ट होने वाली आत्मा मध्यम स्तर और निम्न कोटि की ही होती हैं

अधोभाग और उससे संलग्न मणिपूरक चक्र के निचले भाग की आत्माओं का आवाहन नहीं करना पड़ता। अतिथि होती है वे। उनके गर्भ में प्रवेश करने की पृष्ठभूमि में मुख्य रूप से छै कारण होते हैं - माता पिता के संस्कार से उनके संस्कार का मिलना, कर्म संबंध, माता पिता के पिछले जन्म के किसी उपकार अथवा अपकार का बदला चुकाने के लिए, किसी शत्रुता अथवा किसी मित्रता के कारण और कोई ऋण चुकाने के लिए। ये छे मुख्य कारण है। इसके अतिरिक्त भी कारण हो सकते हैं।

जिन व्यक्तियों को सन्तान नही होता और उसके लिए वे विभिन्न प्रकार की पूजा-उपासना आदि करते हैं। विविध उपचार करते है। क्या इसके प्रभाव से सन्तानोपलब्धि नहीं होती - मेरा प्रश्न था।

पूजा उपासना उपचार आदि जो कुछ भी है - वह आत्मा के आवाहन के निमित्त नही है। आत्मा चाहे कितनी ही निक्रिष्ट हो और चाहे किसी कोटि की हो - उनसे प्रभावित नहीं होती। इस प्रसंग में एक महत्वपूर्ण बात बतला देती हूँ-वह यह कि सन्तान न होने के तीन मुख्य कारण होते है, पितर बाधा, प्रेत बाधा और शारीरिक बाधा। पूजा उपासना उपचार आदि यदि उचित ढंग से किये जाते हैं तो उनके प्रभाव से इनमें से कोई बाधा होगी वह दूर होगी। (विशेष अध्ययन के लिए 'मरणोत्तर जीवन का रहस्य ले० अरूण कुमार शर्मा)

जैसा कि मैने कहा - अधोभाग की आत्माओं का आवाहन नहीं करना पड़ता लेकिन ऊर्ध्व में निवास करने वाली उच्चकोटि की देवात्मा और दिव्यात्माओं का आवाहन करना पड़ता है। उनको भौतिक जगत में आने के लिए आग्रह और अनुरोध पूर्वक बुलाना पड़ता है। उनके निमित्त जो सम्भोग किया जाता है। उसमे शारीरिक

और मानसिक सुख और आनन्द की भावना नहीं रहती, यदि कोई भावना अथवा कामना रहती है तो उन्हे बुलाने की भावाना और कामना रहती है। जो अपने आप में शुद्ध और पवित्र रहती है, निष्काम रहती है।

योग में जितनी उच्चकोटि की साधनाएँ है उनमें प्राणाकर्षण साधना और आत्माकर्षणी साधना का अपना महत्वपूर्ण स्थान है। ये दोनों साधनाएँ अत्यन्त रहस्यमयी हैं बहुत ही कम योगी इन दोनों साधनाओं में सिद्धि लाभ करते है।

उनकी सिद्धि से क्या लाभ है - मेरा प्रश्न था?

प्राणाकर्षणी और आत्माकर्षणी की संयुक्त साधना से किसी भी लोक लोकान्तर की उच्च और दिव्यात्माओं को आकर्षित किया जा सकता है और भौतिक जगत में प्रकृति तथा नियति के अनुसार उससे कार्य लिया जा सकता है। आवश्यकता पड़ने पर योग्य गर्भ का निर्माण कर उन्हें मानव शरीर भी दिया जा सकता है, ताकि वे देश, समाज, धर्म, संस्कृति आदि के लिए चिरस्थायी महत्वपूर्ण कार्य कर सकें, अब तक संसार में जितने युग पुरुष और महापुरुष हुए है - वे इसी प्रकार अवतरित हुए है। इसमें सन्देह नहीं ऐसे भी ऊर्ध्व भाग की आत्माएँ संसार में अवतरित होती है - जिनके माता पिता योग साधक हैं, अगर नहीं भी है तो जिन्होंने किसी जन्म में योग साधना की है। योग्यता लाभ किया है। योग की किसी उच्चतम स्थिति को उपलब्ध हुए है उनके गर्भ से वे जन्म लेती हैं और उपकार करती हैं -चाहे वह आध्यात्मिक हो या हो जागतिक।

इस प्रकार की आत्माओं को गर्भ में प्रवेश के लिए ऊर्ध्व भाग के चक्रों का प्रयोग होता है। इसलिए उच्चकोटि की दिव्यात्माओं को जन्म लेने के लिए प्रतीक्षा करनी पड़ती है। क्योंकि उनके लिए योग्य गर्भ उपलब्ध नहीं होती शीघ्र। और यही कारण है अच्छी आत्माएँ सैकड़ों वर्ष तक जन्म नहीं ले पाती। उनको संसार में आने के लिए अवसर ही नहीं मिलता। यह सुनकर तुमको घोर आश्चर्य होगा कि इसी प्रकार निकृष्ट आत्माओं को भी जन्म लेने के लिए कठिनाई का सामना करना पड़ता है। क्योंकि सामान्य गर्भ उनके लिए व्यर्थ है। साधारण आत्माएं उसका उपयोग कर तत्काल जन्म ग्रहण कर लेती हैं। इधर शरीर छोड़ा उधर जन्म हुआ। उसमें किसी भी प्रकार का विलम्ब नहीं होता। क्योंकि उनके जन्म के लिए संसार में बहुत सारे गर्भ ही गर्भ है। हर समय उनके लिए अवसर ही अवसर है। लगभग दो लाख से ऊपर ही आत्माओं के लिए नित्य सामान्य रूप से गर्भ में प्रवेश की सुविधा है।

उस समय काशी में एक बहुत बड़े साधक रहते थे। नाम था भोला गिरि। कभी-कभी कल्याणी माँ के साथ सत्संग लाभ के लिए आश्रम में आया करते

थे महाशय। उस दिन भी आये थे। मुझसे उनका परिचय हो गया था। उनका स्नेह था मुझ पर। उस समय जो प्रसंग चल रहा था, वह अत्यन्त महत्वपूर्ण था। गिरि महाशय ने भी रूचि ली। बोले - यंह जानकर कौतूहल और आश्चर्य होगा कि भारत ने अत्यन्त कठिनाई औ अत्यधिक परिश्रम से बहुत सी ऐसी दिव्य और उच्च श्रेणी की आत्माओं को आविर्भूत किया अवश्य, लेकिन उन्हे भारत भूमि में पुनर्जन्म उपलब्ध कराने में वह असमर्थ हो गया। जिसके फलस्वरूप उन आत्माओं को विवश होकर पुनर्जन्म प्राप्त करने के लिए अन्य किसी लोक में जाना पड़ गया।

यह बात मेरी समझ में नहीं आयी - मैने कहा - यदि भारत में उच्च श्रेणि की योग्य आत्माओं को उनके अनुकूल गर्भ की व्यवस्था करने की प्रतिभा थी तो उन आत्माओं के लिए पुनर्जन्म की व्यवस्था क्यों न कर सका वह? क्या इसकी प्रतिभा नहीं थी उसमें?

भोला गिरि बोले - आपकी जिज्ञासा उचित है अपने स्थान पर लेकिन आपको ज्ञात होना चाहिए कि एक उच्चकोटि की दिव्यात्मा को उसके अनुकूल और उसके योग्य गर्भ की व्यवस्था की जा सकती है, भले ही उसके लिए विविध प्रकार की परेशानियों और कठिनाईयों का सामना करना पड़े, यह अलग बात है।

उसी आत्मा को अगले जन्म में भी अनुकूल और योग्य गर्भ उपलब्ध हो यह उस आत्मा के वर्तमान जीवन के कर्म, संस्कार और उपलब्ध योग्यता पर निर्भर है। उसकी जीवन यात्रा कैसी थी? उसने अपने जीवन यात्रा काल में क्या-क्या किया? और क्या-क्या प्राप्त किया? इन सब बातों पर उसके लिए अगला गर्भ निश्चित होता है। भले ही वह गर्भ उसे इस धरती पर उपलब्ध हो या अन्य धरती या लोक में। इसमें भारत की प्रतिभा क्या करेगी? पुनः गर्भ की उपलब्धि उस आत्मा के कर्म और संस्कार पर निर्भर है। यहाँ तीन बातें है - योग्य गर्भ कहीं भी प्राप्त हो सकता है और नही भी प्राप्त हो सकता है। सम्भव है इसके लिए आत्मा को लम्बी प्रतीक्षा भी करनी पड़े। कहने की आवश्यकता नहीं, बहुत सी आत्माएँ प्रतीक्षारत है। आपको ज्ञात होना चाहिए कि आने वाले तीन सौ वर्षो के अन्तर्गत भारत भूमि में कई उच्चकोटि के योगी, सन्त, महात्मा और कई उच्चकोटि के भक्तिमार्गीय साधक जन्म लेंगे। वे दिव्य लोक से भौतिक जगत में अवतरित होगे। प्रकृति ने उनके लिए उचित और योग्य गर्भ की व्यवस्था कर दी है।

आपको कैसे ज्ञात हुआ ये सब - मैंने सहज भाव से पूछा, लेकिन मेरा प्रश्न सुनकर थोड़ा उत्तेजित हो उठे भोला गिरि महाशय। बोले - मुझ जैसे लोगो को मालूम न होगा तो किसको मालूम होगा। एक योगी से प्रकृति का रहस्य छिपा नहीं रहता, समझे न।

मैं मौन साध गया उस समय, लेकिन इस समय इन पंक्तियों को लिखते समय सोच रहा हूँ कि कितनी सत्य थी भोला गिरि की भविष्यवाणी। पिछले दो सौ पचास वर्ष के दीर्घ काल में हमारे देश में रामकृष्ण परमहंस, वामाखेपा, योगानन्द, दयानन्द, श्रद्धानन्द, अरविन्द, रवीन्द्रनाथ टैगोर, विवेकानन्द आदि जैसे अनेक योगी सन्त महात्मा और साधक आविर्भूत हुए। जिनकी आध्यात्मिक सुगन्ध से युग युगान्तर तक हमारे देश का वातावरण प्लावित रहेगा इसमें सन्देह नहीं। लेकिन ऐसे दिव्य अवतारी महापुरुषों की आत्माएँ कहाँ हैं? और किस स्थिति में है? क्या वे योग्य गर्भ की प्रतीक्षा में है? क्या उन्होंने किसी अन्त पृथ्वी या लोक में जन्म ले लिया है? इन प्रश्नों का और ऐसे अन्य प्रश्नों का भला कौन उत्तर दे सकता है सिवा एक परम योगी के। खैर कुछ क्षण रूककर पुनः अपना प्रवचन शुरू किया भोला गिरि महाशय ने - यह तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि हमारे देश की बहुत सी दिव्यात्माओं को शरीरोपरान्त हमारे देश में उनके योग्य और अनुकूल गर्भ उपलब्ध नहीं हुआ और उन्होंने अन्य ग्रहों या अन्य लोक लोकान्तरों में जन्म ले लिया, इसमें सन्देह नहीं।

अब वैज्ञानिकां को धीरे-धीरे इस बात का विश्वास हो रहा है कि बहुत से ऐसे ग्रह हैं जिन पर जीवन है। लेकिन हमारे भारतीय योगियों की धारणा इस संबंध में अत्यन्त प्राचीन है। ग्रहों पर जीवन है,इसका पता लगाने के लिए उनके पास कोई साधन नहीं था और यदि कोई साधन था भी तो उनका था योगबल।

यह तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि महाभारत काल तक देवताओ, यक्ष, गन्धर्व, किन्नरों से मित्रता थी। दोनों में आन्तरिक संबंध था। एक दूसरे को लोग सहायता करते थे। लेकिन युग समाप्त होते ही दोनो के संबंध न जाने कैसे भंग हो गये अपने आप। लेकिन मनुष्य की ओर से एक पक्षीय प्रयास जारी था संबंध स्थापित करने की दिशा में और वह प्रयास था साधना, उपासना, अर्चना और ध्यान पूजन आदि जिससे मनुष्यों का कुछ सीमा तक आशिंक सफलता प्राप्त होती है। और यही बात आज भी है। परन्तु जहाँ तक ग्रहों, उपग्रहों अथवा लोक लोकान्तरों में जीवन का प्रश्न है वह योग बल से ही सम्भव था और आज भी है।

योग बल ही एक मात्र साधन है, जिसके माध्यम से योगीगण इस सत्य का पता लगाने में समर्थ हो गये कि एक विशेष श्रेणी की आत्माएँ अन्य ग्रहों पर जन्म लेने के लिए चली जाती है पृथ्वी से। इसी प्रकार अन्य ग्रहों की भी आत्माएँ संसार में आकर जन्म लेती है और मानव शरीर द्वारा ऐसे कार्यो का सम्पादन करती है जो मानव की शारीरिक और मानसिक सीमा से परे है।

भारत के योगियों ने अन्य ग्रहों से आकर भौतिक जगत में जन्म लेने वाले मनुष्यों से सम्पर्क किया और उनसे उनके ग्रहों के विषय में विस्तृत जानकारी प्राप्त की, यह सिलसिला कई सौ वर्ष तक चला। जिसके परिणाम स्वरूप समय-समय पर ग्रहों नक्षत्रों की आन्तरिक और बाह्य स्थितियों पर तात्कालीन तत्व वेत्ताओं ने ग्रन्थों की रचना की। जिनसे स्पष्ट ज्ञात होता है कि इस पृथ्वी की तरह ब्रह्माण्ड में कई पृथ्वीयाँ है और उन पृथ्वियों पर उन्नत जीवन है। उन पर निवास करने वाले मनुष्य ज्ञान विज्ञान में भी अत्यधिक उन्नत हैं।

मृत्यु के समय मनुष्य की चेतना अपने सारे संस्कार अपनी सारी प्रकृति अपनी सारी वासना जीवन का सारा सारभूत सारी सुगन्ध और सारी दुर्गन्ध अपने आप में समेट कर संबंधित केन्द्र पर स्थित हो जाती है और फिर निकल पड़ती है अपनी साधारण: अनिर्णित यात्रा पर। कैसी होगी वह यात्रा? कितनी लम्बी होगी वह यात्रा? कहाँ समाप्त होगी वह यात्रा? यह निर्णित नहीं होता पहले से, सब अपने आप प्राकृतिक रूप से होगा। उसी प्रकार जैसे आप कहीं पानी गिरायें और वह पानी अपने आप गड्ढे की ओर बह जाये और वह गड्ढा भर जाय उस पानी से साधारण: ऐसा ही होता है गर्भ एक गड्ढ़े के समान है। पानी की तरह चेतना उस गर्भ में प्रवेश कर जायेगी अपने आप। कोई प्रयास नहीं करना पड़ेगा उसके लिए। और यही कारण है कि प्राय: मृत व्यक्ति अपने ही समाज और अपनी ही जाति और अपने ही देश में जन्म लेता है। बहुत ही कम परिवर्तन होते है। और परिवर्तन तभी होते है जब योग्य और अनुकूल गर्भ की उपलब्धि नहीं होती आत्मा को। बहुत सी ऐसी आत्माएँ होती है जिनको अपने ही देश में उचित गर्भ प्राप्त नहीं होता और अन्य ग्रहों अथवा अन्य पृथ्वियों पर जाने की शक्ति भी नहीं होती है तो वे विवश होकर पश्चिमी देशों में जन्म के लिए चली जाती है और आश्चर्य की बात तो यह है कि वहाँ उनको योग्य गर्भ भी उपलब्ध हो जाता है।

इस विषय पर आज मै सोचता हूँ तो भोला गिरि की बातों में सत्यता प्रतीत होती है। पिछले दो सौ वर्षो में भारत में उत्पन्न हुई बहुत सी मूल्यवान और अपने आप मं महत्वपूर्ण आत्माओं को अपने देश में उचित गर्भ न प्राप्त होने के कारण पश्चिमि देशों में जन्म लेना पड़ा। एनी बेसेन्ट, ब्लेअेटसकी, लीडवाटर, अल्काट आदि भारतीय आत्माएँ थी, लेकिन उनके लिए योग्य गर्भ उपलब्ध हुआ यूरोप में।

साधारण व्यक्ति इधर शरीर छोड़ा और उधर उसकी आत्मा ने गर्भ में प्रवेश किया। जैसा कि पहले भी इसके संबंध में बतलाया जा चुका है, जैसे हम एक मकान छोड़कर एक मुहल्ला छोड़कर या एक शहर छोड़कर दूसरे मकान में दूसरे मुहल्ले में या दूसरे शहर में चले जाय, कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ता, अपने आप

में वैसे ही मृतात्माओं के पुनर्जन्म के संबंध में भी समझना चाहिए इस विषय पर भारतीय मनीषा ने हजारों वर्ष पूर्व अद्‌भुत प्रयोग किया था। उन्होंने सम्पूर्ण मानव जाति को चार वर्णो में विभक्त कर दिया और उसी के आधार पर व्यवस्थित कर दिया समाज को भी। और यह प्रयत्न किया की ब्राह्मण की मृतात्मा ब्राह्मण के गर्भ में प्रवेश करे। क्षत्रिय की मृतात्मा क्षत्रिय के गर्भ में प्रवेश करे।

वास्तव में वर्ण व्यवस्था सुनियोजित ढंग से पूर्ण रूप से वैज्ञानिक आधार पर और पूर्ण रूप से जन्मान्तरवाद पर आधारित है। स्वभावतः देश और समाज में वर्ण सुनिश्चित हो तो क्षत्रिय की मृतात्मा क्षत्रिय के गर्भ में प्रवेश करेगा, अन्य किसी जाति के गर्भ में नहीं। इसी प्रकार ब्राह्मण की मृतात्मा ब्राह्मण के गर्भ में प्रवेश करेगा, अन्य किसी जाति के गर्भ में नहीं। इस सुनिश्चित ढंग से एक क्षत्रिय के आत्मा और एक ब्राह्मण की आत्मा लगातार बीस, पच्चीस जन्मों तक क्षत्रिय और ब्राह्मण के गर्भ से जन्म लेते तो शुद्धतम क्षत्रिय और शुद्धतम ब्राह्मण होगा फिर वह। वैसा क्षत्रिय और वैसा ब्राह्मण लाखो में एक होगा। उसका अत्यन्त प्रभावशाली व्यक्तित्व और वर्चस्व होगा, इसमें सन्देह नहीं। लेकिन शोचनीय बात यह है कि अब वह सुनिश्चित वर्ण व्यवस्था नहीं रह गयी है, वर्ण शंकरता का प्रवेश हो गया है उसमें। कही न कहीं कोई वर्ण दोष उत्पन्न हो गया है किसी न किसी रूप में उसमें और यही एक मात्र कारण है कि कोई वर्ण अपने स्वरूप में नहीं है और न तो है शुद्धतम। जिसका परिणाम यह है आज के युग में शुद्धतम क्षत्रिय और शुद्धतम ब्राह्मण का दर्शन दुर्लभ हो गया है। (विशेष अध्ययन के लिए पढ़ें : अव्यक्त सत्ता में प्रवेश - ले० अरूण कुमार शर्मा)

गिरि महाशय बोले - इसी प्रसंग में आपको एक और बात बतला दूँ वह यह कि भारतीय मनीषियों और तत्वेत्ताओं ने जन्म जन्मान्तर वाद पर आधारित सुनिश्चित शिक्षा प्रणाली की भी परम्परा स्थापित की थी। हम तो एक ही जन्म की शिक्षा पर विचार करते है। शिक्षा का अध्ययन का और चिन्तन-मनन का भी अपना पूर्व नियोजित संस्कार होता है, यदि वह संस्कार नहीं है तो आप न शिक्षा ग्रहण कर सकते हैं और न तो अध्ययन ही कर सकते हैं वह अत्यधिक पुण्यात्मा है तो शिक्षा ग्रहण करता है और करता है गम्भीर अध्ययन। जैसा कि मैने कहा हम तो एक ही जन्म और एक ही जीवन की शिक्षा पर सोच विचार आदि करते हैं लेकिन भारतीय मनीषियों और तत्वेत्ताओं ने तो अनन्त जन्मों और अनन्त जीवनों की शिक्षा की व्यवस्था खोज निकाली थी। अत्यन्त महत्वपूर्ण और अद्‌भुत प्रयोग था वह इसमें सन्देह नहीं। लेकिन वह नष्ट हो गया। इसलिए नष्ट नहीं हुआ कि वह त्रुटि पूर्ण था, इसलिए उसका अस्तित्व खो गया कि उसके जो मूल सूत्र थे

और उस मूल सूत्र पर आधारित जो व्यवस्था थी वह लुप्त हो गयी। जो अपने आपको उसका अधिकारी समझते है, उसके पास वह सूत्र और वह व्यवस्था है ही नहीं। शंकराचार्य जैसे दिग्गज महारथियों ने भी इतना ही कहा कि शास्त्रानुसार ब्राह्मण है, क्षत्रिय है, वैश्य है और शूद्र शूद्र ही है। ऐसे महापुरुष लोग यह नहीं समझ सके कि वहाँ शास्त्र नहीं वैज्ञानिक सूत्रों का महत्व है। इसलिए भारत के मनीषियों और तत्व वेत्ताओं ने एक अति महत्वपूर्ण प्रयोग किया और वह प्रयोग था जन्म जन्मान्तरों का। इसे ठीक से समझना होगा। वह प्रयोग यह था कि जो शिक्षा वर्तमान जन्म में दी जा रही है और जो वह शिक्षा प्राप्त कर रहा है, यदि मृत्यु के कारण वह शिक्षा इस जीवन में अधूरी रह जाती है तो उस अधूरी शिक्षा को वह अगले जन्म में वही से प्रारम्भ करे जहाँ उसने पिछले जन्म में छोड़ा था। यह तभी सम्भव माना गया कि वह विद्यार्थी ब्राह्मण है तो अगले जन्म में योग्य ब्राह्मण परिवार में ही जन्म ले और आगे भी लेता रहे जब तक कि उसकी शिक्षापूर्ण नहीं हो जाती।

यदि एक ब्राह्मण किसी शूद्र के परिवार में जन्म लेता है तो उसके पिछले जन्म का जो ज्ञान है जो बुद्धि है जो विद्या है जो प्रतिभा है और जो संस्कार है उनके उपयोग में भारी रूकावटें आयेंगी। क्योंकि उस शूद्र परिवार में उनके अनुकूल व्यवस्था का अभाव होगा। फलस्वरूप जो काम वह दस दिन में पूरा करने वाला होगा उसी काम में अनुकूल व्यवस्था न होने के कारण दस वर्ष का समय लगेगा। एक शूद्र किसी कारणवश ब्राह्मण परिवार में जन्म लेता है तो वह अपने पिछले जन्म के संस्कार से उस ब्राह्मण परिवार को धीरे-धीरे कर्म से विचार से और व्यवहार से शूद्र बना देगा। वर्ण से वह रहेगा ब्राह्मण परिवार में जन्म लेगा तो वह ब्राह्मणों चित्त गुणों की उपेक्षा करेगा और क्षत्रियों चित्त गुणों का उपयोग करेगा। वह ब्राह्मण होकर भी क्षत्रिय रहेगा। इसी प्रकार यदि कोई एक संस्कारी ब्राह्मण किसी कारण-वश क्षत्रिय या वैश्य के परिवार में जन्म ले लिया उसे क्षत्रिय और वैश्य के गुण प्रकट नहीं होंगे। प्रकट होंगे तो उसके संस्कार के अनुसार उसके अपने गुण। कहने की आवश्यकता नहीं आज के समाज और परिवार में जो विश्रंखलता उत्पन्न हो रही है। जो मतभेद और विचार भेद उत्पन्न हो रहा है। परिवार जो छिन्न-भिन्न होकर टूट रहे है - उन सबके मूल में मात्र यही कारण है। ब्राह्मण का रहन-सहन और व्यवहार। वैश्य का रहन-सहन और व्यवहार हो रहा है। शूद्र और वैश्य, ब्राह्मण और क्षत्रिय के धर्म कर्म अपनाने का प्रयत्न कर रहे हैं। इसका रहस्य क्या है? स्वयं समझा जा सकता है।

हमारे देश के मनीषियों और तत्ववेत्ताओं ने इतनी दूर तक विकास की धारणा की जो दृष्टि अपनायी थी उसने भारत की चार वर्णो में विभक्त कर दिया था और इस बात की व्यवस्था की थी कि ताकि जन्म जन्मान्तर तक एक ही जैसे गुण, धर्म, वर्ण और संस्कार वाला उपयुक्त गर्भ प्राप्त हो सके।

आपको ज्ञात होना चाहिए महावीर और भगवान बुद्ध चौबीस बार क्षत्रिय गर्भ से आविर्भूत हुए थे। क्षत्रिय परम्परा में चौबीस बार जन्म लिया था उन दोनों युग पुरुष ने। उस समय एक-एक व्यक्ति को सुनिश्चित रूप से प्रशिक्षित किया जाता था। जहाँ प्रशिक्षण टूट जाता था, उसमें और अगले जन्म से प्रारम्भ होने वाले प्रशिक्षणों के बीच कोई अन्तराल नहीं रह जाता था। एक अविछिन्न सातत्य बना ही रहता था। इसीलिए भारत ने अनेको मानवेतर शक्ति सम्पन्न दिव्य और उच्चकोटि के महापुरुषों को आविर्भूत किया अपनी भूमि पर। यह कार्य अत्यन्त जटिल और कठिन था, लेकिन भारत ने उसे किया। अब तो यह कार्य सांयोगिक ही हो सकता है। क्योंकि इस कार्य में सबसे बड़ी बाधा है वर्ण व्यवस्था की जिसका अभाव है इस युग में। सांझ की स्याह कालिमा रात्रि में परिवर्तित हो गयी थी। कल्याणी माँ का समय हो गया अपने कमरे में जाने का। भोलागिरि कुछ देर मौन साधे रहे और फिर उठे कल्याणी माँ को प्रणाम किया और चले गये। उनके जाने के पश्चात मैने कल्याणी माँ से कहा - आज तो अवसर नहीं प्राप्त हुआ मेरी जिज्ञासा के समाधान के लिए आपको।

कौन सी जिज्ञासा - थोड़ा चौंककर बोली कल्याणी माँ।

वही पिण्ड द्वारा ब्रह्माण्ड सम्पर्क से संबंधित जिज्ञासा ...।

मेरी बात सुनकर मुस्कुरा पड़ी कल्याणी माँ और फिर बोलीं - यह विषय अति गम्भीर है कल चर्चा होगी इस पर।

४

अध्याय

वैदिक बिन्दु साधना और कुण्डलिनी

मकर संक्रान्ति का पर्व बिल्कुल समीप था। गुरुदेव हरिद्वार से उसी पर्व पर काशी आने वाले थे और कल्याणी माँ को वापस अपने आश्रम में लौटना था। इसलिए मैं यथाशीघ्र अपनी जिज्ञासाओं का समाधान प्राप्त कर लेना चाहता था।

दूसरे दिन स्वयं कल्याणी माँ ने प्रसंग उठा दिया। बोली - पिण्ड, ब्रह्माण्ड, चक्र केन्द्र आदि मुख्य विषयों की तो चर्चा हो गयी। अब उनके विषय में कुछ अधिक बतलाने की यहाँ आवश्यकता नहीं।

जिस चिति शक्ति की चर्चा की थी। उसको चेतना भी कहते हैं। चेतना का स्थान शरीर में हृदय है-'हृदय चेतना स्थानम्'!

चेतना के पश्चात 'ओज' का स्थान है 'तत्पर औजस स्थानम' ओज का स्थान मस्तिष्क के पिछले भाग में स्थित मेडुला आण्लोन्गाटा (अधः लघु मस्तिष्क) हैं जिसे सहस्त्रार चक्र कहते हैं।

चेतना, ओज और प्राण

तंत्र ने चेतना को शक्ति और ओज को शिव के रूप में परिकल्पित किया है। शिव तत्व ओज और शक्ति तत्व चेतना अपने-अपने स्थानो पर स्थिर भाव मे है। न वह चलायमान हैं और न तो गतिमान! वे दोनो प्राण से गति प्राप्त करते है। प्राण जिधर जाता है वे दोनो उधर ही जाते हैं। परन्तु इसके लिए उन दोनों का प्राण से संयुक्त होना आवश्यक है।

ध्यान आसन और प्राणायाम

प्राण के साथ चेतना और ओज को संयुक्त करने के लिए सर्वांगासन, शीर्षासन पद्मासन और वृदनासन है। इन आसनों का क्रमशः उपयोग करते हुए हृदय चक्र के केन्द्र पर ध्यान लगाना चाहिए यानी मन को स्थिर करना चाहिए। किन्तु इसके पूर्व लम्बा विश्राम करना आवश्यक है। विश्राम से शक्ति कम खर्च होती है और ऊर्जा भी एकत्र होती है। सच बात तो यह है 'योग' में विश्राम का भारी महत्व है इसलिए कि हम जितनी विश्राम करेंगे और विश्राम के समय जितना अपने शरीर को शिथिल करेंगे उतनी ही शक्ति का व्यय कम होगा और ऊर्जा एकत्र होगी।

वास्तव में यह ऊर्जा को ऊर्ध्वगामी बनाने का एक महत्वपूर्ण उपक्रम है। यहाँ ऊर्जा का मतलब है 'प्राण ऊर्जा'। शरीर में केवल प्राण ही ऐसा है जिसमे ऊर्जा उत्पन्न होती है! अन्य किसी तत्व मे नही। इसी कारण प्राण गतिवान है! ऊर्जा उसको गति प्रदान करती है।

ध्यान और आसन सिद्ध होने पर उनका आश्रय लेकर प्राणायाम प्रारम्भ होता है। पूरक और रेचक न होकर केवल 'कुम्भक' स्थिर हो जाता हैं तो नाभि के पास प्राण में एक विस्फोट होता है इस नीरव विस्फोट से वह सीमा टूट जाती हैं जो ऊर्ध्व भाग और अधोभाग को एक दूसरे से अलग करती है। इस नीरव विस्फोट से एक और घटना घटित है जिसको आगे बतलाऊंगी मैं। सीमा टूटने पर साधक में प्रबुद्ध चेतना का जागरण होता है और ऊर्ध्व यात्रा का प्रशस्त हो जाता है मार्ग भी उसके लिए। और प्रशस्त होते ही वह चल पड़ता है प्रकाशमय ऊर्ध्व यात्रा पर। इस यात्रा में तीन मुख्य विश्राम स्थल है-पहला है अनाहत चक्र दूसरा है आज्ञा चक्र और तीसरा है सहस्त्रार चक्र। तीनो विश्राम स्थल, नील, पीत और श्वेत वर्ण के प्रकाश से प्रकाशित है। अन्तिम विश्राम स्थल प्रथम सद्गुरु का दर्शन फिर इष्ट का दर्शन और अन्त में अपने स्वरूप का दर्शन होता जो परम स्वरूप परमात्मा धीरे-धीरे विलीन हो जाता है। यही परम मुक्ति महा निर्वाण और सामरस्य महा मिलन है।

कल्याणी माँ बोली - ऊर्ध्व यात्रा की साधना अति प्राचीन है। इसका मूल स्त्रोत वेद है। वैदिक काल में रस साधना का महत्व था। कालान्तर में इस साधाना का पर्याय बन गया बिन्दु साधना! जब वैदिक युग के पश्चात तंत्र युग का प्रवेश हुआ तो इस रहस्यमयी गोपनीय को साधना को तंत्राचार्यो ने कुण्डलिनी साधना का रूप देकर उसे स्वीकार किया।

रस, बिन्दु और कुण्डलिनी, सच पूछा जाय तो एक ही विषय वस्तु के तीन नाम है। वैसे तो तांत्रिक साधना की बहुत सी दिशाएं है लेकिन इस साधना का

मुख्य लक्ष्य है रस सिद्धि, बिन्दु सिद्धि अथवा कुण्डलिनी सिद्धि। वर्तमान समय में रस साधना और बिन्दु साधना के नाम से सामान्य लोग प्रायः अपरिचित है। कुण्डलिनी और उसकी साधना की चर्चा विशेष है। इसलिए यहाँ उसके संबंध में ही चर्चा करूंगी लेकिन संक्षिप्त में क्योंकि समयाभाव है। तांत्रिक साधना के मुख्य लक्ष्य की सिद्धि का आधार है मन, प्राण और बिन्दु! ये तीनों साध्य है। तीनो साध्य अपने आप में भिन्न-भिन्न होते हुए भी साधना की दृष्टि से एक ही है।

व्यष्टि चेतना और ओज और समष्टि चेतना और ओज

चेतना के दो रूप है - समष्टि रूप और व्यष्टि रूप चेतना का केन्द्र हृदय है। वैसे समष्टि रूप चेतना - जिसे परम चेतना और तंत्र में चिन्मयी शक्ति कहते है - सम्पूर्ण विश्व ब्रह्माण्ड में व्याप्त है किन्तु उसके लघु संस्करण का केन्द्र 'मूलाधार चक्र' है। किन्तु समष्टि रूप वह चेतना क्रियाशील नही, निष्क्रिय अवस्था मे है। उसी अवस्था में रहते हुए उसका संबंध ब्रह्माण्ड में क्रियाशील समष्टि चेतना से बराबर बना रहता है।

कहने की आवश्यकता नही समष्टि चेतना के उसी लघु संस्करण को - जो सुप्त और निष्क्रिय होते हुए भी ब्रह्माण्डीय समष्टि चेतना से अपना तारतम्य बनाएं रखती हैं तंत्र में कुण्डलिनी शक्ति कहते है। सच पूछा जाय तो कुण्डलिनी शब्द लाक्षणिक शब्द है। वह शक्ति सर्प की कुण्डली की तरह कुण्डली लगाकर सोयी हुई है सर्प के समान इसीलिए उस शक्ति को कुण्डलिनी शक्ति कहते है। वास्तव में यदि सच पूछा जाय तो यह धारणा पूर्णरूपेण भ्रामक हैं।

तुमको ज्ञात होना चाहिए मूलाधार चक्र के मध्य में नाभि के समान एक गहरा स्थान हैं जिसे योग की भाषा में 'कुण्ड' कहते हैं। जैसे नाभि कुण्ड है उसी प्रकार वह भी एक कुण्ड विशेष है और उसी में उस चेतना का स्थान है और इसीलिए उसे कुण्डलिनी की संज्ञा उपलब्ध हुई।

इसी प्रकार 'ओज' जिसे कोषकारों ने तेजस भी कहा हैं - के भी दो रूप है - समष्टि रूप और व्यष्टि रूप। ओज का समष्टि रूप विश्व ब्रह्माण्ड में व्याप्त हैं।

मानव शरीर में समष्टि रूप ब्रह्माण्डीय ओज का लघु संस्करण ब्रह्म रन्ध्र स्थित सहस्त्रार चक्र में विद्यमान हैं, जिसको तंत्र ने 'शिव' की संज्ञा दी हैं। 'सहस्त्रार' पहला स्थान है ओज का। और उसके व्यष्टि रूप के दो स्थान है पहला है हृदय

और दूसरा है 'काम केन्द्र' (अण्डकोश)। इस विषय पर में आगे चर्चा करूगी पहले संक्षिप्त में ब्रह्माण्डीय समष्टि ओज के विषय में बतला दूं - कल्याणी मां ने कहा।

समष्टि चेतना के ही समान समष्टि ओज भी विश्व ब्रह्माण्ड में सर्वत्र व्याप्त है। उसी का दूसरा रूप ब्रह्माण्डीय ऊर्जा हैं। जो 'देवी ऊर्जा और ग्रह नक्षत्रीय ऊर्जा के रूप में परिवर्तित होकर अपना प्रभाव समस्त प्राणियों पर डालता हैं विशेषकर मनुष्य पर उसका प्रभाव सर्वाधिक पड़ता है। देवी ऊर्जाओं और ग्रह नक्षत्रीय उर्जाओ को ग्रहण करता हैं सहस्त्रार स्थित समष्टि ओज का अंश। उसी के माध्यम से वे ऊर्जाएं मनुष्य को प्रभावित करती हैं। ऊर्जाओं का प्रभाव शुभ भी होता हैं और अशुभ भी। सच पूछा जाय तो देवी ऊर्जाओं और ग्रह-नक्षत्रीय ऊर्जाओं के अच्छे बुरे प्रभाव से ही मानव जीवन का संचालन होता है। उसी के अनुसार मनुष्य अच्छा बुरा कर्म करता और उसका वैसा परिणाम भी भोगता है। भाव-विचार इच्छा आदि का भी उदय उन्ही ऊर्जाओं के कारण होता है।

यह हुई ऊर्जाओं के रूप में ओज के परिवर्तन की बात। देवी ऊर्जा और ग्रह-नक्षत्रीय ऊर्जाओ के रूप में परिवर्तित होने के बावजूद भी समष्टि ओज का अपना स्वतंत्र अस्तित्व तो है ही। इसमें सन्देह नही। उसका अपना स्वतंत्र महत्व है। साधारण मानव जाति से उसका कोई संबंध नही है। वह प्रकट होता हैं उच्च कोटि के सिद्ध महात्माओं, योगियों और सन्तो में। उनका आभा मण्डल उनका तेज और उनका वर्चस्व उसी का परिणाम हैं वे महा पुरुषगण सहस्त्रार स्थित ओज के समष्टि अंश के माध्यम से उपलब्ध करते हैं ब्रह्माण्ड में व्याप्त समष्टि ओज को।

संसार में अवतरित होने वाली दिव्यात्माएं

ब्रह्माण्ड में ऐसे भी लोक-लोकान्तर है जिनमे उच्च कोटि की दिव्यात्माएं निवास करती हैं। इसी प्रकार ऐसे भी लोक-लोकान्तर हैं जिनमे देवात्माएं करती है निवास। ये दोनो प्रकार की उच्चवर्गीय आत्माएं अपने आप में पूर्ण स्वतंत्र होती हैं। वे प्रकृति की सीमा से परे अपनी वृत्ति अथवा अपनी प्रवृत्ति के आधार पर अपना अस्तित्व बनाएं रखती हैं। कभी कदा वे ईश्वरेच्छा से प्रेरित होकर मानव कल्याण के निमित्त संसार में मानव शरीर में अवतरित होती है। कहने की आवश्यकता नही उस मानव शरीर के तीनों स्थानों में समष्टि ओज रहता हैं। इसी कारण जिस मनुष्य के शरीर में दिव्यात्मा रहती हैं उसे दिव्य पुरुष कहते हैं। उनका व्यक्तित्व उनका वर्चस्व और उनका जीवन लाखो लोगों से अलग होता है। उनकी

अपनी पहचान होती है। जिसके फलस्वरूप लाखों लोगों की दृष्टि उन पर सदैव केन्द्रित रहती हैं। भारतीय धर्म और संस्कृति में ऐसे ही दिव्य मनुष्यों को देव पुरुष, अवतारी पुरुष, महापुरुष आदि नामो से सम्बोधित किया गया है। इसी सन्दर्भ में यह भी जान लेना चाहिए कि ऐसे दिव्य पुरुष प्रायः सन्यासी रूप में विचरण करते है। अथवा एकाकी और स्वतंत्र जीवन व्यतीत करते है। ऐसे लोग गृहस्थाश्रम के बन्धन में अति आवश्यकता पड़ने पर ही बंधते हैं अन्यथा नही।

गृहस्थश्राम के बंधन में बंधना कब आवश्यक समझते है? मेरे इस जिज्ञासा का समाधान करते हुए कल्याणी मां बोली - यह तो तुमको बतला ही चुकी हूँ कि योग्य गर्भ के अभाव में बहुत सी योगात्माएं तथा उच्च कोटि की संस्कार सम्पन्न आत्माएं संसार में, इच्छा रखते हुए भी जन्म नही ले पाती हैं। इसके अतिरिक्त बहुत से ऐसे भी साधु, सन्त और महात्माओं की आत्माएं अनुकूल गर्भ के अभाव में इधर-उधर भटकती रहती हैं। ऐसी ही आत्माओं को संसार में आने का अवसर देने के लिए वे दिव्य पुरुष गृहस्थाश्रम को स्वीकार करते हैं।

शरीरस्थ व्यष्टि ओज

अब थोड़ी चर्चा व्यष्टि ओज की करूंगी। हृदय केन्द्र की व्यष्टि ओज मनुष्य के हृदय के धड़कन को प्रभावित करता हैं। मनुष्य के मुख के भी 'लार' के रूप में जो पानी बराबर बना रहता हैं उसका कारण व्यष्टि ओज हैं। इसी प्रकार मनुष्य के नेत्र में जो पानी रहता हैं जिसके कारण नेत्र की पुतलियां घूमती है, उसका भी कारण व्यष्टि ओज ही है। मृत्यु के समय हृदयस्थ ओज की यात्रा धीरे-धीरे कम होती हुई अन्त में समाप्त हो जाती हैं। जिसके परिणाम स्वरूप मृत्यु के समय हृदय की धड़कन मन्द-मन्दतर होने लगती है। मुख का और नेत्र का पानी सूखने लगता है। जिसके कारण मरणासन्न मनुष्य न बोल जाता हैं और न तो स्पष्ट रूप से देख ही पाता है। हृदयस्थ व्यष्टि ओज का प्रभाव इसी प्रकार नाभि पर पड़ता है। जिसके फलस्वरूप परावाक क्रमशः पश्यन्ति, मध्यमा और वैखरी में परिवर्तित होती हैं और व्यक्त होती है स्थूल वाणी के रूप में। मरणासन्न अवस्था में ओज का प्रभाव जब नाभि केन्द्र पर पड़ना समाप्त होने लगता है। मृत्योन्मुख प्राणी की वाणी बन्द हो जाती है।

हृदयस्थ समष्टि ओज मनुष्य के व्यक्तित्व और उसके आकर्षण मुख के तेज नेत्र के तेज और प्रज्जिल भाषा के रूप में तो प्रकट होता ही है इसके अतिरिक्त ओजस्विनी वाणी के रूप में भी होता है प्रकट। कहने की आवश्यकता नही अपनी ओजस्विनी वाणी के कारण ही कथा वाचक, प्रवचनकर्ता, वक्ता, नेता, अभिनेता आदि अपने अनुरूप में क्षेत्र में सफल होते है।

ओज का दूसरा स्थान है काम केन्द्र। काम केन्द्र ओज शुक्रागु के रूप में प्रकट होता है। तांत्रिक भाषा में शुक्राणु को श्वेत बिन्दु कहते है। कालान्तर में जब 'तंत्र' का प्रभाव अधिक बढ़ा तो उसे श्वेत बिन्दु की संज्ञा मिली और उसी प्रकार मिली रक्त बिन्दु की संज्ञा कुण्डलिनी के रूप में स्थित चेतना शक्ति को। श्वेत बिन्दु और रक्त बिन्दु - तंत्र की सगुणो पासना भूमि कें शिव और शक्ति हैं। दोनों बिन्दुओं के एक विशेष योगायोग से काम कला की उत्पत्ति हुई है। 'काम' शिव है इसीलिए उनको कामेश्वर कहा गया है। 'कला' शक्ति है। कला सोलह प्रकार की है। वे सोलह प्रकार कला में शक्ति सोलह रूप है जिसको तंत्र में षोडशी, विद्या कहते हैं। यह सब तंत्र का गंभीर विषय है इस पर अधिक बोलने पर विषयांन्तर हो जायेगा।

शुक्र और ब्रह्मचर्य

थोड़ा हंसकर बोली कल्याणी माँ, फिर उन्होंने आगे कहा - यहां यह स्पष्ट कर देना होगा कि तंत्र ने जो बिन्दु शब्द का प्रयोग किया है वह 'शुक्र' के लिए नहीं उसके अणु के लिये किया हैं। वह 'अणु' ओज है। वीर्य है का मूल तत्व है। वह स्थूल शरीर की रचना की एक मूल इकाई है। इस कारण भी उसे बिन्दु कहते हैं। शुक्र ब्रह्म का भी पर्याय है। ब्रह्म का अर्थ है अति बृहत अनन्त, परमात्मा, वेद, यानी अनन्त ज्ञान भी तथा बृहणशील और सनातन शक्ति रखने वाला वीर्य भी। इन तीनो की प्राप्ति, वृद्धि, संचय करने वाली चर्चा का नाम ब्रह्मचर्य हैं।

श्वेत बिन्दु क्या है? यह तुम समझ गये। साधारणत: वह मलिन और चचंल होता हैं। उसको निर्मल और स्थिर करने का एक मात्र साधन हैं ब्रह्मचर्य। इसीलिए वैदिक काल में ब्रह्मचर्य का महत्व था। उस युग में ब्रह्मचर्या श्रम और तत्पश्चात गृहस्थाश्रम 'रहस्य साधना' के अन्तर्गत बिन्दु साधना का अति महत्व था। गृहस्थाश्रम की अवधि में विशेष यौगिक क्रिया के प्रभाव से 'बिन्दु' को निर्मल और स्थिर किया जाता है। प्रत्येक दृष्टि से बिन्दु क्षोम वर्जित था। क्योंकि मलिन अशुद्ध चंचल बिन्दु क्षुब्ध होने पर प्राकृतिक नियम के अनुसार अधोगति की ओर उन्मुख होता है। इसी का बिन्दुच्युति अथवा पतन हैं। जिसका परिणाम है 'मृत्यु'। भगवान श्री कृष्ण का एक नाम था अच्युत जिसका अर्थ था - जिसका बिन्दु कमी च्युत न हो। योगी गण अच्युत बिन्दु को धारण कर उसे ऊर्ध्व गामी कर अमरत्व लाभ को उपलब्ध होते हैं। बिन्दु को ऊर्ध्व गामी करने वाले योगी को ऊर्ध्व रेता कहते हैं। बिन्दु के ऊर्ध्व गमन से अमरत्व और अधोगमन से मृत्यु प्राप्त होती है। इसीलिए कहा गया है-**'मरणं बिन्दु पातेन जीवनं बिन्दु धारणात्।'**

गृहस्थाश्रम की अवधि में उसी शुद्ध निर्मल और स्थिर बिन्दु को नव परिणीता पत्नी के सहयोग से विशेष यौगिक क्रिया के आधार पर ऊर्ध्व गामी किया जाता है 'स्त्री को धर्म मायरेत्' का आन्तरिक तात्पर्य यही हैं। वास्तव में बिन्दु के ऊर्ध्व गमन की अवस्था को ही 'ऊर्ध्व रेता' कहते हैं। ऊर्ध्व रेता की अवस्था में योगी का अन्त:स्त्रोत सदैव ऊर्ध्व गामी रहता है। इसी को योग में दिव्य अवस्था कहते हैं।

जब बिन्दु साधना ने कुण्डलिनी साधना का रूप धारण किया उस समय स्वकीया नायिका यानी पत्नी का स्थान ले लिया परिकीया नायिका यानी भैरवी ने। कालान्तर में प्रस्थान भेद से स्वकीया क़ो केवल धर्म मार्ग में महत्व प्राप्त हुआ। धार्मिक दृष्टि से वह महत्वपूर्ण और गरिमामयी थी, लेकिन साधना मार्ग मे वही महत्व और गरिमा प्राप्त हुई परिकीया नायिका को। मध्य युग में जब तंत्र ने जब अनेक मत-मतान्तरों को जन्म दिया और उनके आधार पर अनेक सम्प्रदायों का आविर्भाव हुआ। उस समय परिकीया नाभिका का महत्व और गरिमा सर्वाधिक बढ़ गयी। उनको भोग और योग दोनों दृष्टि से देखा जाने लगा। इसलिए कि उस समय के तंत्राचार्यो की धारणा थी कि योग का ही अवलम्बन लेकर योग में प्रविष्ट हुआ जा सकता हैं। वासना से ही साधना की सिद्धि सम्भव हैं। इसलिए दोनों दृष्टि से परिकीया नाभिका की आयु जाति और उसकी शरीरिक मानसिक योग्यता आदि को निर्धारित कर यथा समय और यथावसर उसको भैरवी दीक्षा प्रदान की जाती थी। तत्पश्चात उस दीक्षा सम्पन्न भैरवी का उपयोग बिन्दु साधना कुण्डलिनी साधना चक्र साधना आदि जैसी रहस्यमयी तांत्रिक साधनाओं की सिद्धि में किया जाता था। कहने की आवश्यकता नही यह सब तंत्र का गूढ़ गोपनीय और रहस्यमय विषय हैं। देश काल की स्थिति देखकर उस पर अधिक प्रकाश डालना उचित नही। वास्तव में यह गुरु मुख गम्य विषय है। योग्य गुरु ही अपने योग्य शिष्य को इसका रहस्य बतलाता है।

तंत्र में बिन्दु साधना के तीन क्रम

बिन्दु साधना की दृष्टि से तंत्र में तीन क्रम है-पशु भाव, वीर भाव और दिव्य भाव। पशु भाव के अन्तर्गत यम, नियम, संयम, ब्रह्मचर्य आदि है। इनकी सिद्धि हो जाने पर साधक पशु भाव से निवृत्त हो जाता है।

वीर भाव के अन्तर्गत है - बिन्दु शोधन बिन्दु शुद्धि और बिन्दु स्थिति यानी उसकी स्थिरता। यहां ब्रह्मचर्याश्रम को पशुभाव और गृहस्थाश्रम क़ो वीर भाव समझ लेना चाहिए। दोनों एक ही है केवल शब्द भेद है। पहली अवस्था में भैरवी के

रूप में प्रकृति संयोग है और दूसरी अवस्था में भैरवी रूप में प्रकृति सम्भोग है। वास्तव में तंत्र में भैरवी प्रकृति रूपा है वह प्रकृति का प्रतिनिधित्व करती हैं जबकि साधक इन दोनों अवस्थाओं पुरुष का करता हैं प्रतिनिधित्व यही प्रकृति-पुरुष, माया-ब्रह्म है चेतन-जड़ है और शक्ति-शिव है। इसीलिए साधक कहता हैं मै पुरुष हूँ, शिव हूँ, ब्रह्म हूँ और इसी प्रकार भैरवी भी कहती है - मैं प्रकृति हूँ, मैं शक्ति हूँ मैं ब्रह्ममयी ब्रह्माणी हूँ।

सुप्त समष्टि चेतना यानि कुण्डलिनी का जागरण

मैंने विस्फोट की चर्चा की थी - कल्याणी माँ बोली - उस आन्तर विस्फोट के प्रभाव से ज़हां एक ओर ऊर्ध्व मार्ग, अधो मार्ग की सीमा टूटती हैं - वही दूसरी ओर उसी समय मूलाधार केन्द्र में सोयी हुई समष्टि चेतना रूपी कुण्डलिनी शक्ति भी क्षुब्ध हो उठती है एक बारगी और भैरवी की सहायता से काम केन्द्र स्थित श्वेत बिन्दु, रक्त बिन्दु से मिल जाता हैं। दोनो आपस में मिश्रित हो जाते हैं, जिसके फलस्वरूप एक तीसरे बिन्दु का आविर्भाव होता है - जिसे कला कहते हैं। तंत्र के अनुसार श्वेत बिन्दु कामेश्वर हैं रक्त बिन्दु कामेश्वरी हैं। दुसरे शब्दों में इन्हें काम कामेश्वरी भी कहते हैं। और कहते हैं शिव शक्ति अथवा शिव पार्वती। जो तीसरा बिन्दु है उसे कला कहते हैं। दोनों बिन्दुओं के मिथुन भाव से उत्पन्न होने के कारण इसे काम कला भी कहते हैं। कला की संख्या सोलह हैं इसीलिए कामेश्वरी को षोडशी भी कहते है। सच पूछा जाय तो तंत्र के ये आपस में ऐसे उलझे हुए विषय है कि इनको समझना और समझाना दोनो कठिन हैं। इस परम तथ्य को लोग अपने-अपने ढंग से समझते और समझाते है।

बिन्दु का उत्थान क्रम और लोक लोकान्तरों से सम्पर्क

यह तो तुमको बतला ही चुकी हूँ कि प्राण ऊर्जा जिधर जाती है, चेतना भी उधर ही चली जाती है। इसी प्रकार चेतना की स्थिति शरीर में जहां रहती हैं उधर ही प्राण प्रवाहित होता हैं।

विस्फोट होते ही तत्काल प्राण ऊर्जा मूलाधार केन्द्र की ओर प्रवाहित हो उठती है। प्राण ऊर्जा के प्रभाव से समष्टि चेतना और व्यष्टि चेतना दोनो एक ही साथ क्षुब्ध होकर जागृत और चैतन्य हो उठती हैं। तांत्रिक भाषा में इसी अवस्था को कुण्डलिनी जागरण कहते है। (कुण्डलिनी से संबंधित महत्वपूर्ण विषयों की चर्चा यथावसर आगे कई स्थानों पर की गयी हैं) इसी अवस्था को बौद्ध तंत्र में चाण्डालिनी जागरण की संज्ञा दी गयी है। कुण्डलिनी साधना की यह प्रथम अवस्था

है। इस अवस्था को उपलब्ध होने पर भैरवरी रूप में परिकीया नायिका की आवश्यकता पड़ती है। जिसकी सहायता से विशेष योग तांत्रिक क्रिया के बल पर साधक सर्वप्रथम रक्त बिन्दु और श्वेत बिन्दु को संयुक्त करता है। और बिन्दु के संयुक्त होते ही चेतना उसकी ओर आकर्षित हो उठती है। इसी आकर्षण का नाम काम है। वह आकर्षण चेतना में उत्पन्न होने के कारण तंत्र में उसे कामेश्वरी कहा गया हैं। यदि विचार पूर्वक देखा जाय तो चेतना तंत्र की कामेश्वरी हैं जिसे साधना भूमि में कुण्डलिनी शक्ति कहते हैं। निश्चय हो यह अति गूढ़ वैज्ञानिक विषय है। सभी लोग उसके रहस्य को नही समझ सकते।

हाँ, तो! फिर क्या होता है - मैंने पूछा? कल्याणी माँ बोली - आकर्षण के परिणाम स्वरूप चेतना भी संयुक्त बिन्दु में सम्मिलित हो जाती है उसको संलग्न होते ही प्राण ऊर्जा का आश्रय लेकर बिन्दु ऊपर की ओर उठने लगता है। यह दूसरी अवस्था हैं। इस अवस्था को बिन्दु उत्थान अथवा कुण्डलिनी का उत्थान कहते है। इस उत्थान की स्थिति में संयुक्त बिन्दु के साथ प्राण शक्ति और चेतना शक्ति संलग्न रहती है।

काम केन्द्र की सीमा का अतिक्रमण

काम केन्द्र की सीमा के अन्तर्गत तीन चक्र हैं - जिनका क्रमशः स्थूल जगत, वासना जगत और सूक्ष्म जगत से संबंध हैं। बिन्दु ऊपर उठते हुए एक के बाद एक चक्र का स्पर्श करता हैं। उसके स्पर्श करते ही उस चक्र से संबंधित जगत और उसके लोक-लोकान्तरों से चेतना का सम्पर्क स्थापित हो जाता हैं और सम्पर्क होते ही उस जगत और उसके लोक-लोकान्तरों के दृष्य अन्तःकरण के पटल पर उद्भाषित हो उठते हैं। आत्मा उसी के माध्यम से उस जगत की और उससे संबंधित लोक-लोकान्तरों की यात्रा करती है उनका अनुभव प्राप्त करती हैं और प्राप्त करती है ज्ञान।

काम केन्द्र से ज्ञान केन्द्र में प्रवेश का सन्धि काल योग-तंत्र की दृष्टि से अति महत्वपूर्ण हैं। सन्धि अवस्था का अनुभव उसी प्रकार होता हैं जैसे कोई झोपड़ी से निकलकर महल में आ जाय। सन्धि अवस्था में जितने कामना वासना आदि के आणवमल नष्ट हो जाते है। शरीर के साथ - साथ मन, प्राण और आत्मा भी निर्मल स्वच्छ और विकास रहित हो जाता है। साधक को एक विशेष प्रकार के आन्तरिक आनन्द को अनुभूति होती है।

सद् गुरू का दर्शन

इसी अवस्था विशेष में साधक के जीवन में एक अनर्वचनीय वातावरण की सृष्टि होती हैं। भैरवी की आवश्यकता समाप्त हो जाती है। और उसके स्थान पर सद्‌गुरु मार्ग दर्शक के रूप प्रकट होकर दर्शन लाभ प्रदान करते हैं सन्धि स्थल परावाक् का स्थान है। सद्‌गुरु परावाक् वाणी में साधक को ज्ञान दीक्षा प्रदान करते है। जिसको प्राप्त कर साधक सहज समाधि की स्थिति को उपलब्ध होता है।

सहज समाधि का अर्थ है बिना किसी प्रयास के स्वयं अपने आप शरीर संसार और सत्ता से पृथक होकर शून्य में स्थित हो जाता। और केवल 'मैं' का बोध बने रहना। इसी शून्यावस्था को योग में सहज समाधि कहते हैं। यह अवस्था समय से प्रतिबन्धित नही है। कभी भी किसी समय में साधक उस अवस्था को उपलब्ध हो सकता हैं। इस सहज समाधि की अवस्था अत्यन्त गहरी हो जाती है उस समय साधक अपनी आत्मा के अस्तित्व की अनुभूति स्वयं में करता है। इसके पश्चात साधक ज्ञान केन्द्र का अतिक्रमण करता है।

ज्ञान केन्द्र के अन्तर्गत तीन चक्र हैं उन तीनों चक्रों का संबंध देव मण्डल, सिद्ध मण्डल और दिव्य मण्डल से समझना चाहिए। दिव्य मण्डल को दूसरे शब्दों में ऋषि मण्डल भी कहते हैं। प्रथम बिन्दु का स्पर्श देव मण्डल से संबंधित चक्र से होता हैं और चेतना द्वारा अन्तःकरण पर उस मण्डल के सारे दृश्य उभरते हैं, तदन्तर उन्ही दृश्यों की सहायता से आत्मा देव मण्डल और उसके अन्तर्गत आने वाले अन्य लोक-लोकान्तरों का ज्ञान और अनुभव प्राप्त करती हैं। इसी प्रकार अन्तःकरण की सहायता से अन्य दोनो चक्रो के माध्यम से सिद्ध मण्डल और दिव्य मण्डल से ज्ञान और अनुभवों को उपलब्ध होती है आत्मा। दिव्य मण्डल के ज्ञान को ही अपौरूषेय ज्ञान कहते है।

अन्त में यह बात समझ लेनी चाहिए कि व्यष्टि चेतना शरीर में क्रियाशील और चैतन्य रहती हैं इस दीर्घ साधना यात्रा में और व्यष्टि चेतना प्राण के सहयोग मण्डलों और लोकान्तरो में भ्रमण करती है और प्राप्त करती ज्ञान और अनुभव जो अन्त में आत्मा का विषय बन जाता है। इस प्रकार एक नाशवान शरीर के माध्यमों से साधना द्वारा अनाशवान वस्तुओं को उपलब्ध हो जाता हैं साधक। नाशवान से अनाशवान को उपलब्धि आध्यात्मिक चेतना का लक्ष्य है एक मात्र।

गुरूदेव का आगमन

रात्रि का प्रथम प्रहर समाप्त हो गया था। और उसी के साथ कल्याणी मां का अन्तिम प्रवचन भी। दूसरे दिन मकर संक्रान्ति का पर्व था। प्रातः काल के

पूर्व गुरुदेव को आ जाना चाहिए था इसलिए मै। प्रतीक्षा करने लगा उनकी। लगभग तीन बजे गुरुदेव का आगमन हुआ। अलौकिक दिव्य तेज से दमक रहा था उनका मुख मण्डल मेरी ओर देखकर एक बार मुस्करायें वह। झुककर चरण स्पर्श किया मैंने उनका। उसी समय कल्याणी मां भी अपने कमरे से निकलकर वहां आ गयी।

सूर्योदय होने ही वाला था। गंगा के पूर्वीय तट के ऊपर का आकाश रक्ताभ हो उठा था। पक्षी चहचहाने लगे थे। गंगा में स्नान करने वाले स्त्री पुरुषों की भीड़ एकत्र होने लगी थीं घाटों पर।

गुरुदेव ने कल्याणी मां से कुछ बाते की जिसे सुन न सका मैं, लेकिन थी वह कोई गम्भीर बात। उसके बाद गुरुदेव ने मेरे सिर पर अपना दाहिना हाथ रखते हुए गम्भीर किन्तु कोमल स्वर में कहा - अब सदैव के लिए काशी छूट रही है मुझसे। गंगा स्नान के पश्चात चला जाऊंगा मैं यहां से। हमेशा-हमेशा के लिए। मेरे साथ कल्याणी मां भी चली जायेगी। हम दोनों अब वापस नहीं लौटेंगे मठ में।

यह सुनकर स्तब्ध रह गया मैं। शून्य से भर गया जैसे मेरा हृदय। आंखो में आंसू छलछला आये। अवरुद्ध हो गया कण्ठ। कभी सपने में भी नहीं सोचा था और कभी कल्पना भी नहीं की थी कि गुरु देव का साथ छूट जायेगा और वह भी सदैव के लिए।

थोड़ा रूककर गुरुदेव ने स्थिर नेत्रों से मेरी ओर देखते हुए पूर्ववत् गम्भीर स्वर में कहा - हम दोनों तो चले जायेंगे क्योकि जाने का समय हो गया है हम दोनों का। लेकिन तुमको काशी में रहना होगा और इसी मठ में। आज से मठ पर तुम्हारा अधिकार हैं।

मेरा कण्ठ अवरुद्ध हो चुका था पहले ही-लेकिन किसी प्रकार विगलित स्वर में मैं बोला - अब कब दर्शन देगें गुरुदेव ... आप ...।

मेरी ओर सिर घुमाकर एक बार देखा गुरुदेव ने और मन्द-मन्द मुस्कराते हुए कहा - दो सौ पचास वर्ष पश्चात्।

ऐं। क्या कहा आपने - आश्चर्यचकित होकर पूछा मैंने!

हाँ! दो सौ पचास वर्ष पश्चात तिब्बत में मिलूंगा मैं तुमको! और इस दीर्घ काल में तुम इसी काशी में तीन बार ब्राह्मण कुल में जन्म लोगो। इतना कहकर गुरुदेव ने अपना झोला उठाया खड़ाऊ पहना और मठ के बाहर निकल गये। एक बार पीछे मुड़कर मेरी ओर देखा और फिर खट्-खट् करते हुए घाट की सीढ़िया उतरने लगे और उनके पीछे-पीछे उतरने लगी कल्याणी मां भी।

मठ के दरवाजे पर खड़ा अपलक निहारता रहा मैं आंसू भरी आंखो से उन दोनों महान और दिव्य आत्माओं को जाते हुए।

दो सौ पचास वर्ष का अतीत छन्न से टूट गया एकाएक। सारा शरीर झनझना उठा एक बारगी। और उसी के साथ मेरी तन्द्रा भंग हो गयी और उसी के साथ अतीत से वर्तमान में आ गया अपना अस्तित्व।

आंखे खुल गयी मेरी। मेरे सामने अपने आसन पर बैठे मन्द-मन्द मुस्करा रहे थे मेरी ओर देखते हुए स्वामी ब्रह्मार्णव परम हंस के रूप में मेरे दो सौ पचास वर्ष पूर्व के दीक्षा गुरु स्वामी अक्षरानन्द सरस्वती। रहा न गया मुझसे, आंसू गिरने लगे झर-झर कर गालो पर। उसी समय न जाने किधर से कल्याणी माँ आ गयी। मैंने पहले गुरुदेव का चरण स्पर्श किया फिर कल्याणी मां का। दो सौ पचास वर्ष पहले के तिमिराच्छन्न अतीत के एक-एक पृष्ट खुल गये थे मेरे मानस पटल पर। और उसी का साथ स्मृति पटल पर उभर आयी थी अपने पिछले दो जन्मों की कथा भी जो मैंने काशी में ली थी। यह मेरा तीसरा जन्म था काशी में।

गुरुदेव अक्षरानन्द सरस्वती को स्वामी ब्रह्मार्णव परमहंस के रूप में देखकर आश्चर्य होना स्वाभाविक था। किन्तु सत्य ही सत्य था। जिसको झुठलाया नहीं जा सकता था। गुरुदेव और कल्याणी मां दोनो ने शरीर परिवर्तन नहीं किया था दोनों अपने पूर्व शरीर में ही थे, लेकिन काया कल्प किया था अवश्य और उसी के प्रभाव से दो सौ पचास वर्ष से भी अधिक आयु के होने पर भी दोनों महात्माओं के शरीर पर काल का प्रभाव नहीं पड़ा था। दोनों अक्षय यौवन सम्पन्न थे। जिस समय मैंने दोनों दिव्यात्माओं का चरण स्पर्श किया था उस क्षण ऐसा लगा था जैसे तन-मन प्राण पुलकित हो गये हो और आत्मा हो उठी हो एक बारगी शीतल निर्मल और पवित्र।

स्वामी ब्रह्मार्णव परम हंस के सान्निध्य में

स्वामी ब्रह्मार्णव परमहंस ने मुझे सामने भूमि पर बिछि रेशमी चटाई पर बैठने का संकेत किया और कहा - तुम इस सत्य में परिचित हो ही गये कि हम दोनों ने काया कल्प किया हैं लेकिन तुमको ज्ञात होना चाहिए कि कायाकल्प की एक सीमा होती है। सम्भवत: तुम यह नही जानते जिसको तुम कल्याणी मां समझते हो वह मेरी परम शिष्या हैं। यह सुनकर चौक पड़ा मैं एक बारगी लेकिन कुछ बोला न गया मुझसे।

स्वामी जी आगे कहने लगे - काया कल्प की अपनी एक सीमा होती है और अब हम दोनों उस सीमा पर पहुंच गये है। तुम्हारी प्रतीक्षा थी वह भी समाप्त हो गयी। तुमसे मुझे जो कहना है उसे हृदयगम करना। हम दोनों काशी में ही जन्म लेने का सर्वप्रथम प्रयास करेंगे क्योंकि काशी में ब्राह्मण कुल में जन्म लेकर

साधना प्रारम्भ करने पर पिछली की गयी साधना से उसका संबंध अपने आप स्थापित हो जाता है। यदि अनुकूल गर्भ न उपलब्ध हुआ तो किसी अनुकूल लोक में प्रवेश कर वहां का शरीर धारण कर लेंगे और कभी भविष्य में अवसर उपलब्ध हुआ पृथ्वी पर आने का तो मेरा और कल्याणी मां का यही प्रयास होगा कि अनुकूल गर्भ में जन्म लेने का सौभाग्य प्राप्त हो।

यदि आप दोनों की आत्मा को काशी में योग्य शरीर की उपलब्धि हो गयी तो कैसे पहचानूगा मैं आप लोगो को - मैंने प्रश्न किया?

मेरे लिए भविष्य वाणी

तुमको कोई दिव्य दृष्टि उपलब्ध नही है कि तुम हम दोनों को खोज कर पहचान लोगे। इतना कहकर स्वामी जी थोड़ा हंसे फिर बोले यदि काशी में जन्म हुआ तो यथा समय हम दोनों सन्यास ले लेंगे और उसी रूप में तुमसे स्वयं मिलेंगे और तुम तत्काल हम दोनों को पहचान लोगे। मुझे खोजने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी तुमको। तुम जहां भी और जिस स्थिति मैं रहोगे वहां पहुचने में देर लगेगी मुझे और न कल्याणी माँ को, समझ गये न।

हां! अपने विषय में कुछ बातें समझ लो, अभी तुमको इस पार्थिव शरीर में पूरे पचास वर्ष और रहना होगा। और तुम्हारा इतनी लम्बी जीवन यात्रा प्रबल मानसिक संघर्षो की यात्रा होगी। जीवन में बड़ी-बड़ी चोटें लगेगी। बड़े-बड़े आघात सहने पड़ेगे। तुम समय आने पर अपने आध्यात्मिक स्वरूप से भली भांति परिचित हो जाओगे लेकिन तुम्हारा परिवार और समाज यहां तक की संसार भी तुम्हारे वास्तविक स्वरूप से अन्त तक अपरिचित हो रहेगा। रहना ही चाहिए। तुम्होर जीवन का अन्तिम काल शून्यमय एकाकी व्यतीत होगा और तुम अपने आपको नि:सहाय और आश्रयहीन समझोगे और उसी समय हम दोनों तुमसे मिलेंगे काशी में। और वह तुम्हारे जीवन का अन्तिम क्षण होगा, स्मरण रखना।

दीक्षा का प्रभाव

स्वामी अक्षरानन्द सरस्वती के रूप में तुमको मैंने दीक्षा दी थी, उसी दीक्षा के प्रभाव से तुम पिछले दो सौ पचास वर्षो से अब तक आध्यात्मिक दिशा में शोध एवं अन्वेषणरत हो और उसी प्रयास के फलस्वरूप अनेको गुप्त सिद्ध साधकों और प्रच्छन्न अप्रच्छन्न योगी, महात्माओं तथा सन्तों का दर्शन एसं सत्संग लाभ किया हैं तुमने अपने दीर्घ जीवन काल में और भविष्य में भी करोगे इसमें सन्देह नहीं।

पुस्तक लिखने की प्रेरणा

थोड़ी देर मौन रहने के पश्चात स्वामी ब्रह्मार्णव परमहंस आगे बोले - शोध, अन्वेषण से स्वयं के चिन्तन-मनन से स्वयं के अनुभव व अनुभूति से और महान दिव्यात्माओं से जो दार्शनिक एवं आध्यात्मिक ज्ञान सहज भाव से उपलब्ध हो उसे बराबर लिपिबद्ध करते रहना और समय आने पर उन्हें पुस्तक रूप में प्रकाशित करने की भी चेष्टा करना। इसलिए कि योग-तंत्र तथा आध्यात्मिक विषयों से संबंधित सच्चे अर्थो में जो ज्ञान हैं और जो विषय है वे धीरे-धीरे तिमिराच्छन्न होते जा रहे हैं। उनका वास्तविक स्वराज लुप्त होने लगा है। तुम्हारे लेखन प्रयास के परिणाम स्वरूप उन्हे जीवन दान उपलब्ध होगा। इस दिशा में अदृश्य रूप से हम दोनों की प्रेरणा और हम दोनों का मार्गदर्शन सदैव प्राप्त होता रहेगा तुमको यह निश्चित समझो।

ये सब सुनकर न जाने कैसा अनुभव होने लगा मुझे अपने आप में। बतला नहीं सकता मैं। न जाने क्यों और किस प्रेरणा के वशीभूत होकर मूकवत रोने लगा मैं। कण्ठ से कुछ निकल ही नहीं पा रहा था। कुछ कहने की और कुछ बोलने की शक्ति ही जैसे क्षीण हो गयी थी मेरी।

और उसी अवस्था में दोनों हाथो से पकड़ लिया मैंने स्वामी ब्रह्मार्णव परमहंस देव के दोनो चरणों को। और न जाने कब तक हिलक-हिलक कर रोता रहा मैं और न जाने कब तक मेरे आंसुओ से उनके शीतल और पवित्र चरण घुलते रहे। सहसा अपने सिर पर गुरुदेव के हाथ का स्पर्श हुआ जैसे वह आशिर्वाद दे रहे हो मुझे। और उसी क्षण दीप रत्न का कोमल स्वर सुनाई पड़ा - वे कह रहे थे उठिए चलिए ...।

सिर उठाकर देखा - कही कुछ न था, न स्वामी ब्रह्मार्णव परमहंस, न उनका भव्य कक्ष था, न वे बाग बगीचे थे, न वे भव्य प्रांगण थे और न तो उनकी योग सृष्टि का कोई अंश मात्र था। सब कुछ समा गया था एक बारगी काल के गर्भ में। बस दीपरत्न खड़े थे मेरे सामने उस वीयावान हिम प्रदेश में। मूंक जड़वत सा देखता रहा मैं उनकी ओर न जाने कब तक।

महानयोगी हरिसिद्ध स्वामी

मनुष्य क्या चाहता है और नियति की क्या इच्छा क्या होती हैं? यह उस समय पहली बार मेरी समझ में आया जब दीपरत्न के उनके स्थान पर वापस लौटा। वहां दीपरत्न से मिलने के लिए काफी दूर से चलकर एक महात्मा आये हुए थे और उनकी प्रतीक्षा कर रहे थे आश्रम में। मैं तुरन्त वहां से चक्रेश्वरी मठ के लिए

प्रस्थान करने वाला था और यही निश्चित भी हुआ था। लामावर्तन मेरी प्रतीक्षा कर रहे होंगे, यह मैं जानता था और यह भी जानता था कि दिव्य माया की महा समाधि के समय मेरा वहां उपस्थित रहना अनिवार्य है। दिव्य माया को वचन दिया था मैंने। इसलिए अतिशीघ्र चक्रेश्वरी मठ के लिए चल देना चाहता था मैं। लेकिन क्या उस समय जा सका मैं। नही, नही जा सका मैं दिपरत्न ने रोक लिया मुझे, बोले ये महात्मा महान योगी है, इनका तीसरा नेत्र अनावृत्त है। आपको अपने विषय से सम्बन्धित बहुत सी रहस्यमयी सामग्री प्राप्त होगी और दो चार दिन तक रूक जाइये अनुरोध टाला न गया, मुझसे दीपरत्न का, ज्ञान कि पिपासा ने बेड़ी डाल दिये मेरे पैरो में। महात्मा बैठे बाते कर रहे थे दीपरत्न से। बड़ी ही मघुर और कोमल वाणी थी उनकी। सिर घुमाकर मेरी ओर देखा महात्मा ने, फिर थोड़ा मुस्कुराये। दीपरत्न से मेरा परिचय पाकर प्रसन्न हुए।

मझोला कद हलकी ललिमा लिए गोरा रंग मुण्डित सिर, मष्तिक पर त्रिपुण्ड की रेखा; काषाय वस्त्र पैरो में काठ की खड़ाऊ, गले में रूद्राक्ष की कई मालाए बगल में लटकता हुआ ब़ड़ा सा झोला, आयु रही साठ पैसठ के लगभग। नाम था हरसिद्ध स्वामी, हरसिद्ध स्वामी हिन्दू धर्मावलम्बी थे, जब वह बीस-बाईस वर्ष की आयु के थे उस समय दार्जिलिंग में एक लामा योगी से साक्षात्कार हुआ।

वह लामा योगी काफी देर तक हरि सिद्ध स्वामी की ओर अपलक निहारता रहा। एकाएक उसकी आंखे चमक उठी और उसने अपना दाहिना हाथ हरिसिद्ध स्वामी के सिर पर रख दिया। निश्चय ही उस लामा ने हरि सिद्ध स्वामी की आत्मा में गहरा आध्यात्मिक संस्कार देखा होगा, तभी तो उनसे प्रभावित हुआ होगा वह। परिणाम यह हुआ कि वह लामा अपने साथ तिब्बत ले आया हरि सिद्ध स्वामी को जहां उसका अपना आश्रम था। और हरि सिद्ध स्वामी को विधिवत दीक्षा दी उसने योग-तंत्र की। फिर उनके तीसरे नेत्र को खोलने की प्रक्रिया प्रारम्भ कर दी उसने। अति रहस्यमय और कठिन साधनाओं के कंटकाकीर्ण मार्ग से गुजरने के पश्चात् अन्त में हरिसिद्ध स्वामी का तीसरा नेत्र अनावृत्त हुआ, जिसमे पूरे आठ वर्ष का समय लगा।

मैंने देखा - स्वामी जी के दोनों नेत्र सदैव लाल रहते थे। पलके बहुत कम झपकती थीं। निद्रा की अवस्था में भी उनके नेत्र खुले रहते थे। लेकिन स्थिर रहते थे। वैसे वे सोते बहुत ही कम थे। प्राय: पद्मासन की मुद्रा में बराबर बैठे ही देखता था मैं महाशय को। एक बात तो मैं बतलाना भूल ही गया था - वह यह कि रात्रि में समय गहन अन्धकार में जब हरिसिद्ध स्वामी अपने आसन पर

ध्यानस्थ बैठे रहते थे उस स्थिति में उनके दोनो भौहों के मध्य एक बड़ा-सा बिन्दु पारे की तरह चमकता हुआ दिखलायी देता था। जिसमे से जव के आकार की ज्योति प्रस्फुटित होती थी और उस ज्योति का रंग होता था नीला। नीले रंग की वह ज्योति इतनी प्रखर और इतनी तीक्ष्ण होती थी कि उस पर दृष्टि ठहर नहीं पाती थी। जब उसके संबंध में मैंने हरि सिद्ध स्वामी से पूछा तो उन्होंने बतलाया कि वह उनका अनावृत्त तीसरा नेत्र हैं। जो रात्रि के अन्धकार में स्पष्ट दिखलायी देता है।

तीसरा नेत्र और उसकी उपलब्धियां

तीसरे नेत्र के अनावृत्त होने पर क्या उपलब्ध होता हैं? मेरे इस प्रश्न के उत्तर में पहले तो हरिसिद्ध स्वामी मुस्कराये फिर कहने लगे - तीसरे नेत्र का केन्द्र आज्ञा चक्र हैं। आज्ञा चक्र का भेदन होने पर तीसरा नेत्र अनावृत्त होता हैं। भेदन के दो मार्ग हैं आन्तरमार्ग और बाह्य मार्ग। भारतीय योग आन्तरमार्ग को महत्व देता है जबकि तिब्बतीय पद्धति बाह्य मार्ग को स्वीकार करती हैं। आन्तरमार्ग से जो उपलब्धि होती है वह अति महत्वपूर्ण हैं और बाह्यय मार्ग से जो उपलब्धि होती हैं वह सीमित होती है। वास्तव में दोनों उपलब्धियों में जमीन और आसमान का अन्तर हैं। जहां तक मेरा प्रश्न हैं, मेरे तीसने नेत्र के जागरण के लिए तिब्बतीय पद्धति अपनायी गयी थी। बाह्य मार्ग में आज्ञाचक्र का भेदन आवश्यक नहीं है। भारतीय योग मार्ग के साधक को क्रम से एक-एक चक्र का भेदन करने के पश्चात अन्त में आज्ञा चक्र का भेदन करना पड़ता है। ये सारे भेदन एक ही जन्म में सम्भव हैं तो असम्भव भी हैं। सम्भव तभी है जब सद्गुरु उपलब्ध हैं। बाह्यय मार्ग में ऐसा कुछ नहीं है। रही मेरी उपलब्धि की बात उसके संबंध में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि काल के तीना खण्डों-भूत, भविष्य और वर्तमान को कुछ विशेष सीमा के अतिरिक्त किसी भी व्यक्ति के पिछले जन्म, वर्तमान जन्म और अगले जन्म को दृश्यवत् देख लेता हूँ अपने तीसरे नेत्र से। लेकिन यह सब भौतिक उपलब्धियाँ हैं, आध्यात्मिक नहीं। आन्तर्जगत में प्रवेश कर आत्मा से संबंधित ज्ञान-जिसे आध्यात्मिक ज्ञान कहते है की उपलब्धि ही सच्चे अर्थों में तीसरे नेत्र का मुख्य प्रयोजन है, लेकिन पूर्णरूप से यह प्रयोजन तभी सिद्ध होता है-जब आन्तर्माग से तीसरा नेत्र अनावृत्त होगा। यह मैं नहीं कह रहा हूँ कि आध्यात्मिक लाभ मुझे नहीं हुआ हैं, हुआ हैं, लेकिन जैसा लाभ होना चाहिए वैसा नहीं हुआ हैं। इस दिशा में प्रयासरत अवश्य हूँ मैं। इतना कहकर शून्य में निहारने लगे हरि सिद्ध स्वामी।

इतना सब सुनकर अत्यन्त रहस्यमय लगने लगा मुझे हरिसिद्ध स्वामी का व्यक्तित्व मुझे अत्यन्त आकर्षक लगा। सब उनके निकट अधिक से अधिक रहने का प्रयास करने लगा मैं। वे भी धीरे-धीरे खुलकर मुझसे बाते करने लगे थे अब! एक दिन प्रसंग वश मैने पूछा - आपके तीसरे नेत्र को अनावृत्त करने के लिए तिब्बत की परम्परागत प्रक्रिया ही अपनायी गयी होगी? हाँ! परम्परागत प्रक्रिया द्वारा ही शल्य क्रिया के माध्यम से मेरे तीसरे नेत्र को खोला गया था।

शल्यक्रिया से मैं भलीभाँति परिचित था। इसलिए इस संबंध में उनसे मैंने कोई प्रश्न नहीं किया। हरिसिद्ध स्वामी निश्चय ही परम योगी और सिद्ध महापुरुष थे, इसमे सन्देह नहीं। स्वयं दीपरत्न ने बतलाया था कि स्वामी जी तिब्बत के साधनाजगत के अनेक गुप्त रहस्यों से परिचित हैं। सम्भवत आपको किसी रहस्य से परिचित कराये वह किसी समय। सचमुच एक दिन ऐसा अवसर आ ही गया।

सायंकाल का समय था। स्वामी जी किसी प्रसंग पर बातें कर रहे थे, सहसा उस प्रसंग को बदलते हुए बोले वह - वैसे किसी को बतलाने की आज्ञा तो नहीं हैं लेकिन तिब्बत में आपका आगमन यहाँ प्रच्छन्न और अप्रच्छन्न रूप में निवास करने वाले योगी साधकों की खोज के अतिरिक्त यहाँ के रहस्यमय योग-तांत्रिक वातावरण से भलीभाँति परिचित होने के लिए हुआ है, इसलिए मुझे उस गोपनीय रहस्य को बतलाने मे कोई आपत्ति नहीं, और फिर आप एक संस्कारी युवक है भी तो हैं। यदि न होते तो इतनी दूर से न आते झर हिम प्रदेश में आप।

तिब्बत की रहस्यमयी झील

थोड़ा रुककर हरिसिद्ध स्वामी आगे कहने लगे आपको सर्वप्रथम तिब्बत की उस रहस्यमयी झील के संबंध में बतलाऊँगा जो तिब्बत के प्रधान लामाओं से संबंधित है। और भविष्य भी बतलाती हैं। मेरे लामा गुरु की साधना गुफा उसी रहस्यमयी झील के निकट एक अति सुरम्य और रमणीक स्थान मे हैं। जहाँ साधारण जन नहीं पहुँच सकते। क्योंकि तिब्बत का अति दुर्गम और अति रहस्यमय स्थान है वह। अपने लामा गुरु के सान्निध्य में उनकी साधना गुफा में लगभग पचास वर्ष रहा मैं और उनके निर्देशन में कई गोपनीय रहस्यमयी और दुर्लभ साधना की मैंने। गुरूदेव तो अब अपने पार्थिव शरीर तो नही है लेकिन उनके विदेही अस्तित्व से मेरा अगोचर संबंध अवश्य बना हुआ है। उनके आदेशानुसार उन्ही की गुफा में रह भी रहा हूँ मैं।

जिस रहस्यमयी झील की चर्चा मैंने की है वह ल्हासा से दक्षिण पूर्व की दिशा में सौ मील की दूरी पर है। लेकिन यहाँ से उसकी दूरी होगी कम से कम

तीन सौ मील। आपको ज्ञात होना चाहिए कि मेरे अपार्थिव गुरु की गुफा उसी रहस्यमयी झील से थोड़ी दूर पर स्थित है। इतनी दूरी की कठिन और दुर्गम यात्रा कर यहाँ आने का मेरा एक मात्र उद्देश्य हैं - दीपरत्न के आश्रम में थोड़ा विश्राम करने के पश्चात दिव्यमाया की यहाँ समाधि में समारोह में सम्मिलित होने के लिए चक्रेश्वरी मठ के लिए प्रस्थान करना। यह सुनकर घोर आश्चर्य हुआ मुझे। बोला क्या आज दिव्य माया से परिचित हैं?

हाँ! स्वामी जी ने कहा - मेरे दीक्षा काल में एक बार वह परम साधिका शून्य मार्ग से लौट रही थी कहीं से, उसी समय सत्संग के लिए मेरे गुरुदेव के गुफा में आयी थी वह। तभी मेरा उनसे साक्षात्कार हुआ था। और तभी उन्होंने बौद्ध पूर्णिमा के समय अपनी महा समाधि की चर्चा की थी मुझसे और उस अवसर पर चक्रेश्वरी मठ आने का अनुरोध भी किया था मुझसे।

यह सुनकर घोर प्रसन्नता हुई मुझे। बोला-मैं भी उसी समारोह में सम्मिलित होने के लिए यहाँ प्रतीक्षा कर रहा हूँ। सहसा परिचय हो गया था मुझसे दिव्य माया का। उन्होंने मुझे भी आमन्त्रित किया हैं अपनी महासमाधि के समारोह में उपस्थित होने के लिये। दिव्यमाया उच्च कोटि की योगात्मा है इसमें सन्देह नहीं। उनसे जो आध्यात्मिक सत्संग लाभ हुआ हैं वह अपूर्ण विधि है मेरे लिए इसमे सन्देह नहीं। मैं दिव्यमाया से पूर्व परिचित हूँ और मैं भी समारोह में जाने वाला हूँ - यह जानकर अति प्रसन्न हुए स्वामी जी।

चौथे दिन दीपरत्न से विदा लेकर हरिसिद्ध स्वामी के साथ प्रस्थान कर दिया मैंने दिव्य माया की महासमाधि के अविस्मरणीय समारोह में सम्मिलित होने के लिए।

किशोरी माँ से विदा लेकर जब चक्रेश्वरी मठ के लिए निकला था तो दीपरत्न मिल गये थे, इसलिए न जा सका था उस समय। सोचने लगा, चला जाता तो ब्रह्मार्णव परम हंस का साक्षात्कार कैसे होता! और तिमिराच्छन्न रहस्य कैसे होते अनावृत्त।

रहस्यमयी झील की चर्चा

मार्ग में विभिन्न विषयों की चर्चा के पश्चात हरिसिद्ध स्वामी विषय बदलते हुए कहने लगे - बौद्ध मतावलम्बी उस झील को भविष्य बतलाने वाली मानते हैं। उनकी धारणा है कि प्रत्येक दलाई लामा को उस झील का दर्शन करना अति आवश्यक हैं जीवन में एक बार। क्योंकि वह झील दलाई लामा के भावी जीवन और मृत्यु को संबंध में बतलाती हैं। इसी प्रकार पोताला प्रसाद जिसे पोताला महल

भी कहते हैं - के साथ भी दलाई लामाओं के जीवन के अनेक रोमांचक प्रसंग जुड़े हुए हैं (प्रमुख इतिहासकार पं. चन्द्रगुप्त वेदालकार द्वारा लिखित बहुचर्चित पुस्तक 'बृहत्तर भारत' के तिब्बत में बौद्ध संस्कृति संबंधी अध्याय में इस रहस्यमयी झील के संबंध में विस्तृत जानकारी दी गयी है - लेखक)

रहस्यमयी झील का विषय ऐसा था जिसके कारण हम दोनों को मार्ग के कष्टो का जरा सा भी अनुभव नही हो रहा था।

स्वामी जी बतलाते जा रहे थे-तिब्बत में उस झील 'पा-कोर-ग्यल क्यों-नम्' के नाम से सम्बोधित किया जाता हैं। वह झील तिब्बत के जिस प्रान्त में है, उस प्रान्त का नाम है 'तक जो' झील काफ लम्बी चौड़ी है। काफी गहरी है। उसका पानी पारदर्शक निर्मल है और उसका रंग है नीला। सबसे बड़ी विशेषता यह है कि झील के नीले जल में सूर्य और चन्द्रमा की छाया नही पड़ती। दूसरी विशेषता यह है कि झील के चारो तरफ के वातावरण में हर समय मन्द-मन्द संगीत की ध्वनि गूंजती रहती हैं। झील के किनारे तट पर एक अति प्राचीन मन्दिर है। मन्दिर के भीतर किसी तांत्रिक देवी की अति उग्र और अति भयंकर मूर्ति स्थापित हैं। किस देवी की मूर्ति हैं यह तो बतलाया नहीं जा सकता लेकिन किम्बदन्ती के अनुसार वह झील की अधिष्ठात्री देवी है। मन्दिर अति भव्य है और मूर्ति का स्वरूप भी अति भयंकर और तामसिक हैं। उन्होंने अपने चारो हाथों में कौन-सा अस्त्र शस्त्र धारण किया है, यह स्पष्ट पता नहीं चलता। उस तांत्रिक देवी का दर्शन उच्च कोटि का तंत्र साधक ही कर सकता है। या केवल दलाई लामा। दलाई लामा को मन्दिर के भीतर अकेले जाने की आज्ञा है।

केवल दलाई लामा को अकेले मन्दिर में जाने का अधिकार

दलाई लामा भीतर जाकर देवी का दर्शन करते हैं और अपने भावी जीवन के संबंध में देवी से प्रश्न करते हैं। किन्तु देवी के दर्शन के समय एक विशेष विधि से उनकी प्रार्थना करनी पड़ती हैं, जिससे देवी प्रसन्न होकर प्रश्नों के उत्तर के साथ-साथ आशीर्वाद और वरदान भी देती हैं, लेकिन 'प्रार्थना करने की विधि क्या हैं इससे बहुत कम ही लोग परिचित हैं। लोगो का कहना है कि झील की उस अधिष्ठात्री देवी की विशेष विधि से प्रार्थना करने की विद्या से अनभिज्ञ चार दलाई लामा अपनी-अपनी बाल्यावस्था में वहाँ गये थे देवी के दर्शनार्थ। लेकिन वहाँ से लौटने के कुछ ही दिनों बाद जिनकी मृत्यु हो गयी। प्रार्थना करने की विद्या की अनभिज्ञता उनकी मृत्यु का कारण सिद्ध हुई। तिब्बती बौद्धो में प्रचलित

एक कथा के अनुसार नौवे दलाई लामा जो सन् 1806 में अपने पद पर प्रतिष्ठित होने के पश्चात केवल दस वर्ष ही जीवित रहे। दसवें दलाई लामा बीस वर्ष की ही आयु में चल बसे। ग्यारहवे दलाई लामा की मृत्यु सन् 1853 में मात्र 17 वर्ष की आयु में हो गयी थी जबकि बारहवें दलाई लामा 18 वर्ष की अल्पायु में ही परलोक गामी हो गये। इन चारों दलाई लामाओं की मृत्यु का एक मात्र कारण देवी की प्रार्थना की विधि न जानना ही समझा जाता है। लोगों का कहना है कि वे चारो दलाई लामा बहुत कम आयु में वहाँ गये थे और उन्हें प्रार्थना की विधि का ज्ञान नहीं था यानी किस प्रकार देवी को प्रसन्न किया जाता है? यह वे नही जानते थे। देवी क्रुद्ध हो गयी, जिसके परिणाम स्वरूप उन लामाओं की अल्पायु में मृत्यु हो गयी। तेरहवें दलाईलामा जो दीर्घ जीवित रहे थे, उन्होंने पच्चीस वर्ष की आयु में देवी के भयानक और रौद्र रूप का दर्शन किया था। निश्चय ही उन्हें देवी की प्रार्थना की विधि ज्ञात रही होगी, इसीलिये वह दीर्घ आयु हुए।

रहस्यमयी झील का वातावरण और सिद्ध साधकों का निवास

हरिसिद्ध स्वामी प्रसंग को आगे बढ़ाते हुए कहने लगे - जैसा कि बतला चुका हूँ - झील काफी विशाल हैं। सदैव, बादलों और कुहरों के धुन्ध से भरा रहता है वह। मन्दिर के आस-पास का वातावरण इतना रहस्यमय है कि उसका वर्णन नही किया जा सकता। सदैव गहरी निस्तब्धता छायी रहती हैं। उस तिस्तब्धता का वर्णन भी नही किया जा सकता। जैसी गुफा मेरे गुरुदेव की है उस प्रकार की कई और रहस्यमयी गुफाएं झील के आस पास हैं। जिनमें दीर्घ जीवि योगी साधक निवास करते हैं। उनमें कुछ ऐसे भी सिद्ध हैं जिनकी आयु 500 से 1000 वर्ष तक की भी है। कुछ तो इससे भी अधिक आयु के है। वे आकाशचारी भी है। स्वयं मैंने तीन चार सिद्ध योगियों को आकाश गमन करते हुए देखा है।

वहाँ एक प्राचीन गुफा में एक दीर्घ आयु सम्पन्न सिद्ध योगिनी का भी निवास है। उसकी आयु कितनी है? यह ठीक-ठीक बतलाय नही जा सकता लेकिन देखने में युवती लगती है वह। मैंने उसे प्राय: हर पूर्णिमा की रात्रि में आकाशमार्ग से यात्रा करते हुए देखा हैं। सुनने में आता है कि वह सिद्ध योगिनी पूर्णिमा की पूरी रात में सप्त तीर्थों की यात्रा पूरी कर लेती है। उसकी गुफा सदैव बन्द रहती हैं। भीतर किसी को जाने का साहस नही होता। एक बार किसी प्रकार साहस कर एक महात्मा गुफा के भीतर चले गये थे। लगभग 20-25 दिनों के बाद गुफा के द्वार पर मूर्च्छित अवस्था में पड़े मिले।

सिद्ध योगिनी की रहस्यमयी गुफा

किसी प्रकार उस महात्मा को होश आया और फिर उन्होंने बतलाया उस पर सहसा किसी को विश्वास नहीं हुआ।

क्या बतलाया महात्मा ने - मैंने पूछा?

हरिसिद्ध स्वामी बोले - वह महात्मा काफी देर तक मौन साधे एक टक आकाश की ओर निहारता रहा, फिर कहने लगा - भीतर गुफा क्या थी एक छोटा सा सुसज्जित महल था। सामने सरोबर था जिसमे निर्मल जल भरा हुआ था। सरोवर के चारो ओर भिन्न-भिन्न प्रकार के रंग बिरंगे सुगन्धित पुष्पों के छोटे-छोटे वृक्ष थे। सरोबर के जल में कमल खिले हुए थे। चारो ओर वातावरण में गहरी निस्तब्धता बिखरी हुीई थी। सरोवर के निकट एक छोट-सा एक मंजिला बड़ा सुन्दर महल था। जिसमें कई दरवाजे और कई खिड़कियां थी और उन सब पर रेशमी पर्दे झूल रहे थे। मैंने डरते-डरते गुफा में प्रवेश किया। थोड़ा दूर जाने पर मुझे चकाचौंध करने वाला प्रकाश दिखलायी दिया और उसी प्रकार के सागर में मुझे दिखलायी दिया सरोवर और वह सुन्दर छोटा सा महल। धीरे-धीरे चलकर महल के मुख्य द्वार पर खड़ा हो गया और फिर न जाने क्या सोचकर द्वार पर लटकते हुए रेशमी पर्दे को हटाया हाथों से और भीतर झांका मैंने। और झांकते ही भीतर जो कुछ देखा उसने स्तब्ध कर दिया एक बारगी मुझे। क्या देखा उस महात्मा ने - मैंने उत्सुक होकर पूछा? स्वामी जी बोले - महात्मा ने बतलाया कि वह कमरा हालनुमा था और गुलाबी रंग का हल्का-हल्का प्रकाश चारो ओर फैल रहा था कमरे में। कमरे के एक ओर छोटे-छोटे कई सिंहासन रखें थे जो सोने के थे और उनमें कीमती पत्थर जड़े थे वे कीमती पत्थरों से विभिन्न रंग की रश्मियां फूट रही थीं। और सभी सिंहासनों पर छोटे कद काठी के साधु सन्यासी बैठे हुए थे। उस सभी की दाढ़ी काफी लम्बी थी और सिर के बाल सिंहासन के चारो ओर बिखरे हुए थे। सभी नग्न थे। बस गले में किसी चमकदार पत्थर की माला पहने हुए थे सब। उनकी आँखे साधारण आँखों से चौगुनी बड़ी और स्थिर थीं। आँखों के पलके गिरती नही थी। वे सभी एक टक स्थिर नेत्रों से सामने देख रहे थे। किसी के शरीर का कोई अंग हिल नही रहा था। ऐसा लगता था कि उनका शरीर मृतवत् हो मानो। वे सभी साधु सन्यासी जिस ओर अपलक देख रहे थे - वहाँ एक रत्न जड़ित खूब बड़ा-लम्बा चौड़ा राजसी सिंहासन था। जिस पर सर्वांग नग्न एक परम सुन्दरी युवती नेत्र बन्द किए पद्मासन की मुद्रा में बैठी हुई थी। उसके सिर के बाल काले लम्बे और काफी घने थे - जो उसके दोनों कंधों का स्पर्श करते हुए सिंहासन के नीचे बिखरे हुए थे। युवती के मुख मण्डल तेजोमय था। उसके चौड़े

मस्तक के मध्य से नीले रंग की प्रकाश किरणें फूट कर बाहर निकल रही थीं। जिसके कारण उस परम सुन्दरी का मुख मण्डल और अधिक देदिव्यवान हो रहा था। अभी मैं उस युवती की ओर मुग्ध भाव से अपलक निहार रहा था कि तभी मेरी दृष्टि अपने आप घूम गयी सिंहासन के पीछे। हे भगवान कौन था वह देत्याकार मानव। मैंने देखा-सिंहासन के पीछे लगभग आठ फुट लम्बा एक अति बलिष्ठ पुरुष स्थिर भाव से खड़ा था। उसका कन्धा काफी चौड़ा था और छाती भी ऊचाई के अनुसार काफी चौड़ी थीं। उसका सिर साधारण मनुष्य के सिर से छै गुना बड़ा था और था गोल। आप इतनी ही कल्पना करिए कि आठ फुट लम्बे चौड़े दानवाकार मानव का शरीर कैसा होगा। वह विशाल पुरुष मेरी ओर देख रहा था अब। उसकी आँखों में किसी प्रकार का भाव नहीं था। न घृणा का, न द्वेष का, न आक्रोश का और न तो दया अथवा करुणा का। मैं उसकी आँखों से निकलने वाली ऊर्जा को सहन कर सकने में असमर्थ पा रहा था अब इसलिए अपनी दृष्टि साधु सन्यासियों की ओर घुमा ली मैने। लेकिन यह क्या? सिंहासनों पर विराजमान साधु सन्यासी अपने अपने स्थान पर धीरे-धीरे छोटे होते जा रहे थे और अन्त में अपने-अपने सिंहासनों में समा गये एक साथ। और तभी मुझे अपने शरीर पर किसी के हाथ का स्पर्शानुभव हुआ। सिर घुमाकर देखा तो एक बारगी भय से कांप उठा मैं। उस दैत्याकार मानव ने अपने स्थान पर खड़े ही खड़े अपना लम्बा हाथ बढ़ाकर मुझे पकड़ लिया था कसकर। दूसरे क्षण पीड़ा से कराह उठा मै। फिर होश-नही रहा मुझे। चेतना शून्य हो गया मै। उस महात्मा इस समय कहा हैं, यह पूछने पर स्वामी जी आकाश की ओर उंगली उठाकर धीमे स्वर में बोले-दो तीन मास जीवित रहने के बाद उनकी मृत्यु हो गई।

हरिसिद्ध स्वामी और वह तांत्रिक देवी

आधा से अधिक मार्ग कट गया था अब तक। प्रसंग ऐसा था कि मुझे जरा सा भी थकावट का अनुभव नही हो रहा था। लेकिन स्वामी जी किसी गांव मे एक दो दिन विश्राम करना चाहते थे। थोड़ा चलने पर एक छोटा सा गांव मिल गया। बीस-पच्चीस घरों का गांव था वह। गांव के निवासी भोटिया थे। कुछ तिब्बती साधु भी थे उनमें। गांव के मुखिया ने हम दोनों का स्वागत किया और रहने की व्यवस्था की। सायंकाल के समय गांव में पहुंचे थे हम लोग। अचानक रात में बर्फ गिरने लगी। तिब्बत में जब बर्फ गिरने लगती है तो लगातार गिरती ही जाती है चार पाँच दिनो तक। उस समय चारो ओर हल्का सा अन्धकार छा जाता हैं और वातावरण नीरस हो उठता है। स्वामी सोते नही थे

रात्रि में। कभी बैठे रहते थे तो कभी लेटे रहते थे। मैं तो योगी नही था उनकी तरह। मुझे तो नींद आती ही थी। उस दिन रात हो चली थी। चारो ओर घोर निस्तब्धता छायी हुई थी। अचानक स्वामी जी बोल पड़े सम्भवतः आप यह जानना चाहते होंगे कि क्या मैंने उस रहस्यमयी तांत्रिक देवी का दर्शन किया है?

जी हाँ! मेरे मन में इसकी जिज्ञासा थी, क्या आपने उस दुर्घर्ष शक्ति का दर्शन किया है?

मेरी बात सुनकर थोड़ा गम्भीर हो गये हरिसिद्ध स्वामी फिर धीरे-धीरे बोलना शुरु किया उन्होंने।

...प्रथम मैंने कई बार प्रयास किया, मन्दिर के भीतर जाने के लिए, लेकिन असफल रहा। लगता था जैसे कोई मुझे पीछे ढकेल रही हो कोई अदृश्य शक्ति। तंत्र पर आधारित एक विशेष यौगिक क्रिया पर आधारित दीक्षा होती है। अपने लामा गुरु द्वारा जब वह दीक्षा मुझे उपलब्ध हुई तो मुझे ऐसा अनुभव हुआ कि मेरे भीतर किसी ऐसी गोपनीय शक्ति का जागरण हुआ हैं जो मेरे मनोबल और प्राणबल को अधिक से अधिक बढ़ा रही है। उसी समय मेरे लामा गुरु की मृत्यु हो गयी। अकेला हो गया मैं। एक दिन न जाने किस प्रेरणा के वशीभूत होकर मन्दिर की ओर चल पड़ा मैं। घोर नीरवता व्याप्त थी उस समय वहाँ के वातावरण में। सायंकाल का समय था। बर्फ गिरने लगी थी। मन्दिर के सामने जाकर खड़ा हो गया मैं वहाँ घोर अंधकार था। भीतर झांकर देखा। किसी अज्ञात भय से रोमांचित हो उठा मेरा सारा शरीर। जो शक्ति मुझे पहले ढकेल दिया करती थी शायद उसी शक्ति ने मन्दिर के भीतर खींच लिया मुझे एक बारगी। उस घोर अन्धकार में भी बिल्कुल स्पष्ट दीख गयी वह काल रात्रि जैसी भयंकर मूर्ति। किसी धातु की लगभग तीन फुट ऊँची मूर्ति थी वह। और उसके अंग प्रत्यंग से विविधि रंग के प्रकाश की हल्की-हल्की किरणो फूट रही थी। ऊँची वे़दी पर स्थापित थी वह। और उसके दोनों नेत्र अग्नि पिण्ड की तरह धधक रहे थे। जैसे मुख पर जहाँ क्रोध, हिंसा, घृणा के भाव थे वहीं दया, कृपा, करुणा आदि के भी मिले जुले थे भाव। ऐसा लगा मानो वह भयंकर तांत्रिक देवी अपने धधकते नेत्रों के माध्यम से अपने भीतर निगल लेगी किसी भी क्षण मुझे। असहनिय सा हो रहा था मेरे लिए मन्दिर का वातावरण। अधिक ठहरा न गया मुझसे वहाँ। किसी प्रकार अपने को संभालते हुए वापस लौट आया गुफा मैं। फिर नही गया कभी मैं वहाँ।

कापालिकों की रहस्यमयी शव साधना स्थलि

थोड़ा रुककर स्वामी जी बोले - आप रहस्यों से परिचित होने की उत्कण्ठा और जिज्ञासा ही लेकर इस महा हिम प्रदेश में आये हैं तो इसी प्रसंग में तुमको एक रहस्य की बात और बतला दूँ।

यह सुनकर उत्सुक हो उठा मैं। लेटा था, उठ कर बैठ गया बिस्तर पर।

तुमको ज्ञात होना चाहिए कि उस रहस्यमयी झील के उत्तर तरफ लगभग पचास साठ मील की दूरी पर एक अति सुरम्य रमणीक घाटी हैं वह घाटी अति गुप्त और साथ ही अति रहस्यमयी है। उसी घाटी में भयंकर कापालिक सम्प्रदाय के साधकों की प्राचीन साधना स्थलि है।

कापालिक कौन सी साधना करते है - मेरे पूछने पर स्वामी जी ने कहा - शव साधना। (कापालिक सम्प्रदाय के संबंध में प्रथम खण्ड में बतलाया जा चुका है)

उस घाटी में कोई प्रवेश नहीं कर सकता। उसके चारो तरफ मीलों तक काले रंग का धुन्ध छाया करता है सदैव। उस धुन्ध के भीतर जाना ही कठिन हैं।

काशी के शव साधक धूमेन्द्र नाथ अवधूत

हरिसिद्ध स्वामी से यह सब सुनकर आश्चर्य और कोतुहल से भर उठा मैं। कुछ क्षण तक उसी स्थिति में उनकी ओर अपलक देखता रहा मैं, फिर बोला - काशी में एक अवधूत महाशय रहते है।। वे शव साधक हैं। तीन चार बार स्वयं उनको काशी के श्मशान में शव साधना करते हुए अपनी आँखों से देखा हैं मैंने। वे शव सिद्ध है। उनका नाम हैं धूमेन्द्र नाथ अवधूत। अवधूत महाशय गुप्त साधक हैं। काशी के लोग उनसे अपरिचित है। दो चार लोगों को छोड़कर और कोई यह नहीं जानता कि वे इतने बड़े साधक हैं। अवधूत महाशय को तिब्बत के कई गुप्त और रहस्यमय मठो तांत्रिक साधना स्थलों और उच्चकोटि के तंत्र साधकों के विषय में पूरी जानकारी थी - यह मुझे ज्ञात हो चुका था। एक बार इस संबंध में पूछने पर अवछूत महाशय ने मुझे बतलाया कि तिब्बत के अनेक गुप्त और रहस्यमय स्थानों में ऐसे भी स्थान है - जहाँ साधारण लोग नहीं पहुँच सकते वह स्थान अगम्य है। उन्होंने यह भी बतलाया कि उनके गुरु एक कापालिक ही थे। वे तिब्बत के वैसे ही किसी रहस्यमय स्थान से काशी आये थे और उनको कापालिक मार्ग से शव साधना की दीक्षा प्रदान की थी।

यह सब बातें स्वामी जी को जब मैंने बतलायी तो उन्होंने कहा - आपको अवधूत महाशय ने जो कुछ बतलाया था वह सत्य है। निश्चय ही वे उस रहस्यमयी घाटी से परिचित होंगे जिसकी चर्चा मैंने आपसे अभी की है।

शव साधना

योग तंत्र की सर्वोच्च साधना समझी जाती है शव साधना। इसके साधक विशेषकर कापालिक सम्प्रदाय के अनुयायी होते है (शव साधना पर प्रारम्भ में चर्चा की जा चुकी हैं, यहाँ प्रसंग वश पुन: की जा रही है) इस भयंकर तमोगुणी साधना के द्वारा साधक लौकिक सिद्धियों के अतिरिक्त पारलौकिक सिद्धियाँ भी प्राप्त होती हैं। वास्तव में शव साधकों की तांत्रिक शक्ति की कोई इयत्ता नही। उनके पौरुष और सामर्थ्य की भी कोई सीमा नही। वे असम्भव से असम्भव कार्य कर सकने में समर्थ होते है। सबसे बड़ी बात तो यह है कि उनकी साधना शव साधनारत उच्चकोटि के कालंजयी कापालिक साधकों को कोई अपनी आँखों से देख नही सकता।

थोड़ा रूककर स्वामी जी आगे बोले - तिब्बत में इसी प्रकार के कुछ ऐसे भी गोपनीय और रहस्यमय स्थान हैं - जिसमे साधारण जन तो प्रवेश कर ही नही सकते, यहाँ तक कि उनको अपनी आँखों से देख भी नही सकते। यदि संयोगवश कोई भूला भटका व्यक्ति वहाँ तक पहुँच भी गया तो उस स्थान की मोहक और अद्‌भुत घटा देखकर अपने अस्तित्व को ही भूल जाता हैं एक बारगी। लेकिन आश्चर्य की बात तो यह है कि वही व्यक्ति जब वहाँ दूसरी बार जाना चाहता है तो सही स्थान पर नही पहुँच जाता। फलस्वरूप ऐसे दर्शक जब मैदानी इलाके में आकर उस स्थान की चर्चा करते हैं तब उन्हें लोग साधारणत: कपोल कल्पना ही समझते हैं, क्योंकि अपनी बात को सिद्ध करने के लिए वे दर्शक दुबारा उस स्थान तक किसी को ले जाने में अपने आपको सर्वथा असमर्थ पाते है। सबसे आश्चर्य की बात तो यह है कि ऐसी घटनाएं भारतीयों के साथ ही नहीं कई विदेशियों के साथ भी घटी हैं।

अब रही शव साधको के गोपनीय स्थान की बात उसे स्वयं तिब्बत के निवासी ही बहुत कम जानते हैं। अन्य गोपनीय स्थानों की बात ही छोड़िये।

तिब्बत में दो प्रकार के लामा

तिब्बत में दो प्रकार के लामा हैं पहला गृहस्थ और दूसरा सन्यासी जैसे। इन दोनों प्रकार के लामाओं से तो सभी परिचित हैं, लेकिन उन लामाओं से बहुत

कम लोग परिचित हैं, जो उच्च कोटि के योगी और तांत्रिक हैं और रहस्यमय ढंग से जीवन व्यतीत करते हुए गुप्त मठो और गिरि गुहाओं व रहस्यमय कन्दराओं में निवास करते हैं। इसी श्रेणी में भारतीय साधक भी है जो न जाने कब से तिब्बत की रहस्यमयी भूमि में प्रच्छन्न रूप से साधनारत हैं। उनकी संख्या कितनी है यह बतला पाना कठिन हैं।

क्या मैं उस रहस्यमयी झील को उस भयंकर काल रात्रि जैसी देवी को और कापालिक शव साधको की गुप्त साधना स्थलि को देख सकता हूँ और वहाँ तक पहुँच सकता हूँ? आप तो इस बात से भली-भाँति परिचित ही हैं कि मेरी तिब्बत यात्रा के प्रयोजन और जो उद्देश्य है - उनमे एक हैं ऐसे गुप्त और रहस्यमय साधना स्थलो और ऐसे रहस्यमय स्थानों की खोज भी, मेरी बात सुनकर एक बारगी चौक पड़े हरिसिद्ध स्वामी और कुछ क्षण तक मेरे चेहरे की ओर अपलक निहारने के पश्चात गम्भीर स्वर में बोले - आपको झील और देवी के विषय में बतला ही चुका हूँ और यह भी बतला चुका हूँ कि कापालिकों का साधना स्थल वहाँ से आगे है। झील और साधना स्थल तक पहुँचने का मार्ग अत्यन्त दुर्गम और हिममय हैं। मार्ग में कई दुर्गम घाटिया हैं और गहरे नाले है। मान लेता हूँ कि आप यात्रा में सफल हो भी गये तो यह कोई निश्चित नही कि उस रहस्य गुप्त स्थान और उस स्थान पर साधनारत साधकों का दर्शन लाभ हो ही जाय आपको?

यह सुनकर उस समय कुछ बोला न गया मुझसे रात अधिक हो गयी थी। चादर ओढ़कर सोने का उपक्रम करने लगा, लेकिन उस रात सोया न जा सका मुझसे। इन्हीं सब विषयों के संबंध में सोचता विचारता रहा मैं पूरी रात .. काश! यात्रा की शक्ति प्राप्त हो जाती - और उन दुर्लभ गोपनीय तथा रहस्यमय स्थानों तक पहुँच पाता और दर्शन कर पाता उस प्रचण्ड भयंकर तमोगुणी महा देवी की।

महायोगी मणि सम्भव

इसे संयोग और नियति का विधान ही कहूँगा मैं। तीसरे दिन एक साधक महाशय भेट करने के लिए आये हरिसिद्ध स्वामी से। नाम था मणिसम्भव। तिब्बत का उतरी पठार की सीमा जहाँ समाप्त होती हैं, वहाँ एक गाँव हैं जिसका नाम है छांगा! सीमा प्रदेश का अन्तिम गाँव हैं छांगा! जहाँ एक अति प्राचीन बौद्ध गुम्फा भी हैं। उसी बौद्ध गुम्फा में रहते थे मणि सम्भव। निश्चय ही तेजस्वी और सिद्ध पुरुष के मणि सम्भव। अवस्था 70-80 के लगभग थी लेकिन शरीर बलिष्ट और गठित था। दिव्य गौर वर्ण मुण्डित सिर शरीर पर मात्र एक कौपीन और सामान के नाम पर केवल एक तूणी, जिसे बगल में दबाये में हुए थे महाशय। असहनीय

प्रखर तेज था उनके बड़े-बड़े नेत्रो में। मुंख पर तो ऐसी आभा थी जो मात्र केवल देव पुरुषों को ही उपलब्ध होता है। मेरा परिचय प्राप्त कर अति प्रशन्न हुए मणिसम्भव। और जब उनको मेरे प्रयोजन और उद्देश्य का पता चला तो आश्चर्य चकित हुए बिना रह सके महाशय!

मुझसे रहा न गया। अपने मन की बात बतला दी मैंने मणि सम्भव को।

सब कुछ सुनकर मणि सम्भव बोले - छांगा तक तो मैं आपको ले चल सकता हूँ आगे आपकी नियति, छांगा से लगभग पहाड़ी मार्ग से वह रहस्यमयी झील 50,60 मील तो अवश्य होगी। लेकिन वह मार्ग अति दुर्गम है। और है सुनसान। बिरला ही कोई उधर जाता होगा। बिल्कुल जब शून्य इलाका है वह। पशु पक्षी और पेड़ पौधो भी कही नही दिखलायी पड़ते उस शून्य प्रदेश में।

आप यहाँ में किधर की यात्रा करेंगे मैंने पूछा? मुझे हरिसिद्ध स्वामी के साथ चक्रेश्वरी मठ की यात्रा करनी है और वहाँ दिव्यमाया की महा समाधि के समारोह में सम्मिलित होना है।

यह सुनकर आश्चय भी हुआ और प्रसन्नता भी। जब उनको यह ज्ञात हुआ कि मैं चक्रेश्वरी मठ में रह चुका हूँ और दिव्यमाया से भी परिचित हूँ तो आश्चर्यचकित हुए बिना न रह सके महाशय। बोले-आप अति भाग्यवान है कि दिव्यमाया जैसी महान योग साधिका का दुर्लभ सान्निध्य प्राप्त हुआ है आपको।

थोड़ा रुककर मणि सम्भव आगे कहने लगे - दिव्यमाया का साधना काल लगभग तीन सौ वर्ष है। जहाँ तक मेरी धारणा हैं इस दीर्घ अवधि में उन्होंने शरीर परिवर्तन नही किया। एक ही शरीर में रहकर अपनी साधना पूरी की।

आप तो चक्रेश्वरी मठ से वापस लौटकर छांगा ही जायेंगे न? मैंने प्रश्न किया।

मणि सम्भव बोले - चक्रेश्वरी मठ में थोड़े दिन निवास करुंगा, उसके पश्चात वापस लौटने का कार्य क्रम बनेगा।

आपने अपने साथ छांगा ले चलने के लिए कहा हैं, ले.चलेगे न? मैंने कहा।''

कहा तो है, लेकिन ... मैंने बीच में मणि सम्भव को टोकते हुए कहा-आप आगे की चिन्ता न करें। नियति मेरे अनुकूल न होती तो तिब्बत की इतनी लम्बी हिमयात्रा ही मेरे लिए असम्भव थी। मेरा पूर्ण विश्वास है कि इस कष्ट दायिनी यात्रा में भी मेरी सहायता अवश्य करेगी वह इसमे सन्देह नही।

मेरी बात सुनकर आश्चर्य और विस्मय के भाव से मणि सम्भव ने मेरी ओर देखा फिर धीरे से बोले - ठीक है। उनका ठीक है शब्द सुनकर गद् गद् हो उठा मैं एक बारगी।

कहने की आवश्यकता नहीं हिमपात अब बन्द हो चुका था। चौथे दिन हरिसिद्ध स्वामी और मणि सम्भव के साथ चल पड़ा में चक्रेश्वरी मठ के लिए।

५
अध्याय

दिव्यमाया की महासमाधि

तीन दिन की लम्बी और कठिन यात्रा के पश्चात चक्रेश्वरी मठ पहुँचा मै। लामावर्तन मुझे देखकर अति प्रसन्न हुए। बोले - कहाँ थे आप इतने दिनो?

मैंने सारी कथा सुना डाली। ब्रह्मार्णव परमहंस के साथ ही साथ अपने पिछले जन्म की भी आध्यात्मिक वृत्तान्त भी सुना दिया। सब कुछ सुनकर लामावर्तन बोले - बड़ा अच्छा किया कि आप यथा समय आ गये। मैं तो प्रतीक्षा कर रहा था। कभी-कभी सोचता था अब आपका आना इधर न हो सकेगा!

वाह! आपने यह कैसे समझ लिया मैंने कहा - दिव्यमाया की महासमिध के अवसर पर नहीं आऊँगा, भला यह कैसे सम्भव है?

बुद्ध पूर्णिमा की शुभ्र धवल रात। पूर्णमासी के चाँद की धवल चाँदनी हिममय प्रदेश में बिखरी हुई थी चारो तरफ। हिमाच्छादित तिब्बत का चक्रेश्वरी मठ अत्यन्त रहस्यमय लग रहा था उस समय।

न जाने कहाँ-कहाँ से और न जाने कितनी दूर-दूर से आये हुए सिद्ध साधकों, योगियों और सन्त महात्माओं की भीड़। सभी अपने आपमें सिद्ध और मानवेत्तर शक्ति सम्पन्न! सभी की आयु तीन सौ से आठ सौ साल की। लेकिन सभी युवा तेजस्वी और स्वस्थ।

बुद्ध पूर्णिमा की रात्रि में मठ के विशाल प्रांगण में तीन योगियों के पार्थिव शरीर को भूमि में महासमाधि दी जाने वाली थी। जिसमे एक दिव्यमाया का भी पार्थिव शरीर था। उन तीनो महान योगियों से अपने-अपने पार्थिव काया से आन्तरिक संबंध हमेशा-हमेशा के लिए भंग हो गया था अब। उन तीनों की आत्माएं अन्तिम शरीर, आत्म शरीर से भी मुक्त होकर पूर्ण स्वतंत्र हो गयी थीं। अब उनकी आत्माओं

पर यह निर्भर था कि पृथ्वी पर अथवा अन्य किसी पृथ्वी जैसे लोक में जन्म ले या न ले, न लेने का अर्थ है निर्वाण। निर्वाण को उपलब्ध दिव्यात्माएं भी कभी-कभी ईश्वर से प्रेरित होकर उसके किसी इच्छा को साकार करने के उद्देश्य से संसार में लोकहित और लोक कल्याण के निमित्त अवतरित होती है। निर्वाण के ऊपर महानिर्वाण की अवस्था है। इसे ही परमनिर्वाण की अवस्था कहते हैं परम निर्वाण अथवा महानिर्वाण को उपलब्ध दिव्य आत्माएँ परम शून्य में विलीन हो जाती हैं इसलिए कि किसी भी अवस्था में कहीं भी अवतरित होने अथवा जन्म लेने की कामना उनमे नही होती। निर्वाण और परमनिर्वाण में यहीं अन्तर है। लेकिन जो दिव्यमाया ने मुझे बतलाया था कि काशी में जन्म लेंगी वह और मिलेगी अवश्य मुझसे कभी न कभी। तो क्या परम निर्वाण की इच्छुक नहीं थी दिव्यमाया? क्या उनकी कामना शेष हैं? अभी इसी सब पर सोच रहा था कि लामावर्तन ने मुझे पुकारा - आईए! चले-गर्भ गृह में।

मठ के भूतल में काफी लम्बा चौड़ा गर्भ गृह था। मैने देखा - वहाँ दीवारों से लगी कई पाषाण वेदिया थी, जिन पर पद्मासन की मुद्रा में ध्यानस्थ बैठे थे उन साधकों के मृत शरीर जो संसार में जन्म लेकर या परकाया प्रवेश कर अपनी शेष साधना को पूर्ण करने में लीन थे दत्त चित्त होकर। तीन चार ऐसे साधको के मृत पार्थिव शरीर थे - जिनकी आत्माएँ किसी उच्च लोक में निवास कर रही थी।

दिव्यमाया का पूर्व पार्थिव शरीर

गर्भगृह के वातावरण में अपूर्व शान्ति बिखरी हुई थी। ऐसा लगता था मानों मैं संसार से अलग किसी शान्ति प्रदेश में आ गया हूँ। गर्भ गृह के एक ओर पाषाण के दीपाधार पर मोम का दीपक जल रहा था। जिसका हल्का पीला मन्द आलोक गर्भगृह के वातावरण को और अधिक रहस्यमय बना रहा था।

सहसा मेरी दृष्टि दीपाघार के निकट पाषाण वेदी पर पद्मासन की मुद्रा में बैठी एक युवती की मृत पार्थिव काया की ओर घूम गयी। दीपक का हल्का पीला प्रकाश उस काया पर पड़ रहा था, जिसके कारण उस मृत पार्थिव काया का अंग प्रत्यंग स्पष्ट दिखलायी दे रहे थे।

बड़ी ही सजीव लगी वह काया। कुछ क्षण तक तो निहारता ही रह गया मैं उसकी ओर। विचित्र सा सम्मोहन था उस मृत काया में। और तभी लामा वर्तन मेरे निकट आते हुए बोले - यही है दिव्यमाया की पार्थिव काया।

ऐं! क्या कहा? यही है उस महान साधिका का पूर्व पार्थिव शरीर - आश्चर्य भरे स्वर में बोला मै। हाँ। इसमें सन्देह नही - लामावर्तन कहने लगें-पूरे दो सौ

वर्ष पर्यन्त इसी मठ में रहकर साधना की थी दिव्यमाया ने। एक ही शरीर में रहकर इतने समय तक साधनारत रहना अत्यन्त कठिन कार्य है। लेकिन प्रकृति के नियम के सामने कितने समय तक ठहरती दिव्यमाया। शरीर पूरी तरह जीर्ण शीर्ण हो गया था उनका। और अन्त में त्याग करना पड़ा उन्हें शरीर का। साधना थोड़ी अधूरी रह गयी थी। इसलिए उन्होंने किसी विष कन्या के मृत शरीर में प्रवेश कर अपनी अधूरी साधना पूरी की। सम्भव हैं पुनर्जन्म के लिए योग्य गर्भ उपलब्ध न हुआ हो उन्हें, इस लिए उसकी प्रतीक्षा करना उचित न समझकर परकाया प्रवेश करना ही योग्य समझा हो उन्होंने। ऐसी अपनी धारणा है।

यह सुनकर घोर आश्चर्य हुआ मुझे। थोड़ा व्यग्र होकर पूछ ही बैठा - आपको यह सब कथा कैसे ज्ञात हुई?

मुझको नही मालूम होगा तो भला किसको मालूम होगा? अवधि पूरी होने पर विष कन्या के शरीर का त्याग कर दिया उन्होंने। उसके पूर्व आप उनसे मिले थे और उनके साथ आध्यात्मिक सत्संग लाभ भी किया था आपने। उन्होंने तो आपको चक्रेश्वरी मठ भेजा भी था और यह भी कहा था कि उनके पूर्व पार्थिव शरीर की महा समाधि के समारोह में आप सम्मिलित हो। हे भगवान कैसे जान समझ गये थे लामावर्तन ये सारी अन्तरंग कथा को? मुँह बायें देखने लगा मैं उनकी ओर। कुछ बोला ही नही जा रहा था मुझसे उस समय। लामावर्तन थोड़ा रूक कर आगे कहने लगे-तभी तो मैने आपको इस गर्भ गृह में लाया और जब आप दीपाधार के निकट पाषाण बैठी पर पद्मासन की मुद्रा में बैठी मृत काया की ओर मुग्ध भाव से देख रहे तो स्वयं कहा - 'यही हैं दिव्यमाया की पार्थिव मृत काया।''

आपको आश्चर्य हो रहा होगा कि ये अन्तर्कथा मुझे कैसे मालूम?'' इसमे कोई आश्चर्य की बात नही है। शरीर छोड़ने के पूर्व दिव्यमाया ने मुझसे सम्पर्क स्थापित किया था और सब कुछ बतलाने के पश्चात अन्त में कहा था - उसकी आत्मा काशी में पुनर्जन्म स्वीकार करेगी और उसका जो कार्य शेष है उसे पूर्ण करेगी।

कौन-सा कार्य? मैंने व्यग्र भाव से पूछा?

यह तो नहीं बतलाया उन्होंने - लामावर्तन बोले-हाँ इतना अवश्य कहा कि बीसवी शताब्दि के अन्त में वह पुनर्जन्म ग्रहण करेंगी काशी में और उसी समय आप उनके विषय में अपनी पुस्तक तीसरा नेत्र में लिख रहे होंगे। क्या रहस्य हैं समझ में मेरे नही आ रहा है। इतना कहकर एक लम्बी सांस ली लामावर्तन ने।

मेरी भी समझ मे नही आ रहा है यह रहस्य - मैंने हौले से कहा - अभी तो बहुत समय है बीसवी शताब्दि के अन्त में। लेकिन यह मेरी समझ में नही

आ रहा है कि दिव्यमाया की आत्मा पुनर्जन्म के पूर्व कहाँ और किस अवस्था में रहेगी। मेरी बात सुनकर लामावर्तन बोले - निर्वाण की अवस्था में। इतना कहकर गर्भगृह के बाहर आ गये वह और मै भी आ गया उनके पीछे-पीछे।

अब तक चक्रेश्वरी मठ के विशाल प्रांगण का काया कल्प हो चुका था। चारो ओर लाल-पीले रंग के रेशमी कपड़े की झण्डियाँ झूल रही थीं। प्रांगण के मध्य में चाँदी की तीन चौकियाँ रखी गयी थी। जिन पर रेशमी चादरे बिछी हुई थीं। दो अन्य महात्माओं के साथ दिव्यमाया की पार्थिव काया भी गर्भगृह के बाहर निकाली गयी। और तीनों शरीरों को - जो पहले से ही पद्मासन की मुद्रा में थे - उन तीनो चाँदी की चौकियों पर बिठाया गया।

दिव्यमाया का शरीर जीर्ण-शीर्ण नहीं लगा और न तो लगा तीन सौ वर्ष पुराना ही मुझे। बिल्कुल सजीव-सा लग रही थी मुझे उनका मृत पार्थिव शरीर। न जाने कैसा मोह न जाने कैसा, आकर्षण और न जाने कैसा प्रेम जागृत हो रहा था मेरे हृदय में उस समय बतलाया नही जा सकता। कोई जनम-जनम का साथी रहा हो और अब बिछुड़ गया हो हमेशा-हमेशा के लिए, बस सच पूछिए, ऐसा ही प्रतीत हुआ मुझे उस समय। आँखों मे छलछला आये आसुँओं को रोकने का प्रयत्न करते हुए अपलक निहार रहा था मैं दिव्यमाया के मुंख मण्डल की ओर। उनकी आँखे बन्द थी, लगता था जैसे गहन समाधि में लीन हो वह। मुझे लगा जैसे उनके होंठ हिल रहे हों। और वाणी फूटने वाली हो अभी-अभी। मन ही मन सोचने लगा क्या इसी बेजान और निर्जीव पार्थिव शरीर के माध्यम से पूरे तीन सौ वर्ष तक साधना की थी दिव्यमाया ने? क्या इसी तीन सौ वर्ष पुरानी काया में निवास करने वाली आत्मा मिली थी मुझसे दिव्यमाया के रूप में? क्या सचमुच शताब्दि के अन्त में फिर शरीर धारण करेंगी दिव्यमाया? क्या सचमुच पुनर्जन्म ग्रहण कर काशी में पुनः मुझसे भेंट करेंगी वह? कैसे पहचानेगी वह मुझको? और कैसे यह जानूगा मैं भी उनको? सब कुछ अविश्वसनीय और आश्चर्यजनक था मेरे लिए। लेकिन फिर भी आत्मा की अमरता, जन्म, पुनर्जन्म, परकाया प्रवेश, शरीर की नश्वरता, आदि के संबंध में जो जिज्ञासाएं थी कौतूहल था, और था प्रश्न मेरे मन में - अब, शान्त हो चुका था वह सब। एक बारगी। शेष कुछ नहीं रह गया था भीतर।

प्रांगण का वातावरण धीरे-धीरे गम्भीर होने लगा था। सभी महात्मा योगी और साधु सन्त एकत्र होने लगे थे वहाँ जिनमें कुछ लामा थे और कुछ भारतीय मूल के लोग थे। सर्वप्रथम पंचामृत और पंच गव्य से अभिषेक प्रारम्भ हुआ तीनो शरीरो का, फिर उन चन्दन के साथ एक विशेष प्रकार का लेप लगाया गया, पुष्प मालाएँ पहनाई गयी और अन्त में तीन दीपाधारों पर दीप प्रज्वलित कर पार्थिव

शरीरों के सामने रखकर सुगन्धित धूम्र जलाया गया। जिसके प्रभाव से वातावरण सुगन्धित हो उठा एक बारगी।

प्रधान लामा हूंग च्यांग थे। उन्ही के निर्देशन में अनुष्ठान हो रहा था। अनुष्ठान के पूर्ण होने पर एक अविश्वसनीय अद्‌भुत चमत्कार वहाँ घटित हुआ जिसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। लामा हूं चांग नेत्र बन्द कर कोई मंत्र बुद बुदा रहे थे अपने दोनों हाथो को ऊपर करके। मैंने देखा - कुछ ही क्षणों के बाद उनके ऊपर उठे हाथो में नाना प्रकार की मिठाईयों से भरे दो बड़े-बड़े थाल आ गये न जाने कहाँ से। एक दूसरे लामा ने दोनों थालों को उनसे लेकर महात्माओं के शरीर के सम्मुख भोग के रूप में रख दिया।

लामा हूंगच्यांग ने पुनः उसी मुद्रा में अपनी दोनों हाथो को ऊपर उठाया और इस बाद सोने के बड़े-बड़े थालो में विभिन्न प्रकार के फल भरे हुए थे। उन थालों को भी भोग के रूप में महात्माओं के शरीर के सम्मुख रख दिया गया। संगीत की मधुर ध्वनि गूंजने लगी। मन प्राण का स्पर्श करने वाला था वह संगीत। लेकिन वह संगीत कहाँ बज रहा था और उसकी मधुर ध्वनि कहाँ से आ रही थी, समझ में यह नहीं आ रहा था। हाँ! कभी-कभी ऐसा लगता था मानो आत्मा को एक बारगी सम्मोहित करने वाली वह अद्‌भुत और देव तुल्य संगीत लहरी सुदूर अन्तरिक्ष के किसी अज्ञात स्थान से निसृत हो रही हो। मुझे आश्चर्यचकित देखकर लामा वर्तन जो मेरे निकट ही खड़े थे - बोले - यह सब योग का चमत्कार है। प्रधान लामा हूंग-च्यांग ने अपने योग बल से मिष्ठान फल-फूल और संगीत की सृष्टि की है। इस सृष्टि से पार्थिव तत्व अथवा प्रकृति तत्व से संबंध नहीं है।

अनुष्ठान समाप्त होने के पश्चात समाधि की प्रक्रिया प्रारम्भ हुई। प्रांगण में पहले से ही नीले रंग के पत्थर की चौकोर टंकियां बनी हुई थी जिनकी लम्बाई चौड़ाई पांच-पांच फुट थी और गहरायी थी लगभग दस फुट। जमीन की सतह से चार फुट नीचे थी वे टंकिया।

समाधि और उसके पश्चात्

क्रम से तीनो पाषाण की बनी टंकियों में तीनों महात्माओं के मृत पार्थिव शरीर को रखा गया। फिर रेशमी चादर से शरीरों को ढंग दिया गया और फिर टंकी के बराबर चौकोर मोटे पत्थर से टंकीयाँ बन्द कर दी गयीं और उन पर मिट्टी डाल दी गयी और उस पर प्रांगण के पत्थर रख कर दिये गये, इस प्रकार प्रागंण की भूमि बराबर हो गयी। अन्त में तीनो समाधियों पर घी दीपक प्रज्वलित कर दिया गया। दीपक जलने के पश्चात धीरे-धीरे वहाँ उपस्थित सभी लोग चले गये

भीतर मठ में। लेकिन मुझसे हटा न गया वहाँ से। एक ओर चुपचाप मौन साधे बैठा अपलक निहारता रहा मैं दिव्यमाया की समाधि पर जलते हुए दीपक को न जाने कब तक। कब रात का दूसरा प्रहर बीत गया, पता ही न चला। चारो ओर सांय-सांय कर रहा था। घोर निस्तब्धता थी वातावरण में। पूर्णमासी का रूपहला चाँद आकाश में काफी ऊपर चढ़ आया था। और हिमाच्छादित उत्तुगं पर्वत शिखरों को चूमती हुई रूपहली चाँदनी गल रही थी धीरे-धीरे। घोर नीरवता छायी हुई थी चारो तरफ।

सहसा मुझे लगा जैसे फुस-फुसाहट के स्वर में कह रहा हो ... अब मेरी आत्मा मुक्त हो गयी है। शरीर के बन्धन से मुक्त। किसी भी प्रकार का प्राकृतिक बंधन नही रह गया हैं मुझ पर - स्वतंत्र हूँ मै अब - कुछ समय के अन्तराल के पश्चात काशी में जन्म ग्रहण करूंगी मैं। मेरी प्रतीक्षा करना ... प्रतीक्षा करना। ... मेरे लिए अधिक सोच विचार मत करना। संसार में निरपेक्ष भाव से रहना। कोई किसी का नहीं है यहाँ। सब शरीर का नाता रिश्ता है और शरीर से अलग होते ही फिर कौन किसका? सारी स्थिति और सारा वातावरण पूर्णतया बदल जाता हैं और आत्मा रह जाती है अकेले।

समझते देर न लगी मुझे। दिव्यमाया की ही थी वह आवाज। विह्वल हो उठा में एक बारगी। और उसी अवस्था में धीरे-धीरे चलकर दिव्यमाया की समाधि के समीप पहुँचा। दो समाधियों का दीपक अब तक बुझ चुका था लेकिन दिव्यमाया की समाधि का दीपक जल रहा था अभी तक मन्द-मन्द। विचित्र-सी शान्ति का अनुभव हुआ समाधि के समीप पहुँच कर। न जाने क्यों और किस प्रेरणा के वशीभूत होकर अपना मस्तक समाधि पर रख दिया मैंने। झर-झर कर बहने लगे न जाने क्यों आँसू। कौन-सा नाता रिश्ता है दिव्यमाया से मेरा? क्यों इतना मोह हैं क्या इतना आकर्षण हैं क्यों इतनी वेदना हैं और क्यों हैं इतनी विह्वलता! मेरे भीतर दिव्यमाया के प्रति? कौन बतलायेगा? कौन समझायेगा मुझे और कौन देगा मुझे सान्त्वना! हे भगवान! क्या करूं?

उस रात नींद नहीं आयी मुझे। बार-बार दिव्यमाया की आध्यात्मिक छवि आँखो के सामने थिरक उठती थी जैसे। और तब किसी अव्यक्त वेदना से टीस उठती थी मेरी आत्मा। कैसी थी वह वेदना? समझ के परे था मेरे लिए।

सिद्धयोगी लामा हूंग च्यांग

मठ में जितने लोग बाहर से आये थे वे धीरे-धीरे अपने अपने स्थानों पर चले गये थे मणि सम्भव और हरिसिद्ध स्वामी के अतिरिक्त लामा हूंग-च्यांग रह गये थे।

ज्ञात हुआ कि लामा हूंग च्यांग सिद्ध योगी हैं। कई प्रकार योग तांत्रिक सिद्धियाँ उपलब्ध है उनको, जो अपने आपमे दुर्लभ हैं। लामावर्तन ने ही बतलाया मुझे यह सब। और यह भी बतलाया वे आकाश गामिनी विद्या जानते हैं, जिसका आश्रय लेकर वे आकाश मार्ग से दूर-दूर तक की यात्रा करते हैं। तीसरा नेत्र भी उनका खुला हुआ है। जिसके द्वारा भूत भविष्य वर्तमान तीनों कालो को करतलवत देख लेते हैं। लगभग 50-60 मील दूर एक मठ हैं, नाम है गर्सियांग मठ। गर्सयांग मठ योग-तंत्र के साधकों का अतिप्राचीन गढ़ है। लामा हूंग-च्यांग उसी मठ के आचार्य है। यह सुनकर अति प्रसन्नता हुई मुझे। लालायित हो उठा मैं उनसे मिलने के लिए। वे मठ में बिल्कुल अलग एक कोठरी में रहते थे। वे क्या खाते पीते थे? इसको कोई नहीं जानता था। वे किसी से मांगते भी नहीं थे कोई आवश्यक सामग्री। उनकी कोठरी बन्द रहती थी। केवल एक बार खुलती थी और वह भी दो घंटे के लिए। ज्ञात हुआ कि शेष समय हूंग च्यांग समाधि में रहते है। उसी दो घंटे में मिलते हैं लोगो से। सत्संग की दृष्टि से दो घंटा पर्याप्त था मेरे लिये। देखा जायगा, पहले मिले तो, मैने सोचा।

जब मैं उस महान योगी के सम्मुँख हुआ तो सहसा रोमाञ्चित हो उठा मेरा सारा शरीर। उस समय लामा साधना से निवृत्त हुए थे। अपूर्व कान्ति थी उनके चेहरे पर उस समय। अपने आसन से लगभग आधा फुट ऊपर स्थित थे वह। उनको आसन सिद्धि थी इसमे सन्देह नहीं। सिद्ध पुरुष हैं महाशय! यह तो पहले ही समझ लिया था मैंने।

मुझे देखकर पहले तो महाशय मुस्कराये फिर बैठने का संकेत किया उन्होंने। जब मैने अपना परिचय देकर तिब्बत आने का अपना उद्देश्य बतलाया तो काफी देर तक स्थिर दृष्टि से मेरी ओर देखते रहे महाशय।

बातचीत के सिलसिले में ज्ञात हुआ कि उन्होंने काशी और सारनाथ की कईबार यात्रा की हैं लेकिन स्थूल शरीर से नहीं सूक्ष्म शरीर से। निश्चय ही मुझे देखकर अति प्रसन्न हुए लामा हूंग च्यांग।

ऊर्जा नियन्त्रण, तीसरा नेत्र और ध्यान

ऊर्जा के विषय में अपने पिछले जन्म के गुरू स्वामी अक्षरानन्द जी से विशेष रूप से चर्चा हुई थी लेकिन उसका मूल विषय अलग था। प्रस्तुत प्रसंग में लामा हूंग च्यांग से मेरी जो आध्यात्मिक चर्चा हुई वह भी ऊर्जा पर ही आधारित थी जिसका आश्रय लेकर उन्होंने तीसरा नेत्र और 'ध्यान' पर अपने विचार व्यक्त किये। कहने की आवश्यकता नहीं 'ऊर्जा' के विषय में स्वामी अक्षरानन्द और लामा हूंग च्यांग के विचारों बहुत अधिक साम्यता दिखलायी दी मुझे।

लामा हूंग च्यांग का कहना था कि शरीर मन और प्राण, ये तीन वस्तुएं मुख्य है जीवन यात्रा के लिए। इन तीनों में कोई एक व्यतिक्रमित होता है तो जीवन धारा डगमगाने लगती है और हो उठती है अस्थिर।

शरीर मन और प्राण इन तीनों में 'प्राण' प्रमुख है। प्राण अपने केन्द्र में बराबर घनीभूत होता रहता है - उस घनीभूतिकरण से प्राण ऊर्जा उत्पन्न होती है - जो इन्द्रियों के माध्यम से तथा उंगलियों के 'पोरो' से बराबर विसर्जित होती रहती है। योग तांत्रिक साधना का प्रथम लक्ष्य है उन विसर्जित होने वाली ऊर्जाओ पर नियन्त्रण एकत्रीकरण और संरक्षण आवश्यक हैं योग तांत्रिक साधना का मुख्य विषय ध्यान है। और ध्यान के लिए अधिक से अधिक आवश्यकता पड़ती है। हम जितनी मात्रा में ऊर्जा को एकत्र करेंगे उतना ही हमारा ध्यान परिपक्व और गहरा होगा।

शरीर का महत्व तभी तक है जब तक कि मन और प्राण उससे जुड़ा हुआ है। उसके बाद वह व्यर्थ है। शरीर के बाद 'मन' है और मन के रहस्यमय गर्भ में परम तत्व छिपा हुआ हैं। उस परम तत्व को अनावृत्त करने के लिए योग की जो विशिष्ठ विधि हैं वह है समाधि। समाधि योग का सार तत्व है। ध्यान की चरम सीमा समाधि हैं। समाधि वास्तव में ध्यान की उच्चतम अवस्था हैं। और उस अवस्था में ध्यान के लक्ष्य का ही भान होता है। स्वयं मन तक का नही। वह किसी विषय पर ध्यान की परिपूर्णता है। परिपूर्णता का मतलब है समाधि। समाधि में सत्य की प्रत्यक्ष अनुभूति होती है। साधक 'धारणा' यानी एकाग्रता से प्रारम्भ करता है और जब एकाग्रता अपनी सीमा पर पहुँचती है वह ध्यान में परिवर्तित हो जाती है। अन्त में वही ध्यान अपनी पूर्णावस्था में पहुँचकर समाधि का रूप ग्रहण कर लेता हैं।

एकाग्रता एक सतत् प्रक्रिया है और उस प्रक्रिया के तीन अंग हैं। पहला हैं 'धारणा' (देशवन्धश्चित्तस्य धारणा) शरीर के भीतर या बाहर चित्त को स्थिर करना धारणा है। योगी शरीर के भीतर और तांत्रिक शरीर के बाहर चित्त को स्थिर करते हैं।

जहाँ चित्त को लगाया जाता है उसी में मन की वृत्ति का भी स्थिर रहना 'ध्यान' है।

"त देवार्थ मात्रा निर्भास स्वरूप शून्य मिव समाधि", जब ध्यान में केवल मात्र ध्येय की प्रतीति होती हैं और मन, चित्त का निज स्वरूप शून्य हो जाता हैं - तब वही ध्यान समाधि बन जाता है।

समाधि और तीसरा नेत्र

जैसा कि मैने कहा - योगी शरीर के भीतर जिस स्थान पर चित्त को स्थिर करते है वह स्थान है - भ्रूमध्य! उसी भ्रूमध्य पर तंत्र साधक अपने चित्त को बाहर से स्थिर करते हैं। इस प्रकार समाधि का संबंध तीसरा नेत्र से समझना चाहिए। समाधि कई प्रकार की हैं किन्तु जिस समाधि से तीसरा नेत्र का संबंध है वह है- सविकल्प समाधि। उसी समाधि की अवस्था में भ्रूमध्य स्थित तीसरे नेत्र के द्वारा हम स्थूल जगत की तरह सूक्ष्म जगत को भी देखते हैं। पारलौकिक जगत - जिसे परा मानसिक जगत कहते है का सम्पूर्ण विस्तार हमारे तीसरे नेत्र के सामने सहज भाव से प्रकट हो जाता है। इतना ही नही भूत-भविष्य और वर्तमान - ये तीनो काल भी हमारे सामने एक साथ उद्घाटित हो जाता है। लेकिन ध्यान की गहरायी में प्रवेश करना सर्वप्रथम आवश्यक है क्योंकि योग तांत्रिक साधना का यह प्रथम उद्देश्य हैं। और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए आपको इस प्रकार जीवन जीना चाहिए जिससे आपकी शारीरिक और मानसिक ऊर्जा का व्यय कम से कम हो।

हमारे अंगो में सर्व प्रधान अंग नेत्र है। और आपको ज्ञात होना चाहिए कि सर्वाधिक ऊर्जा विसर्जन नेत्र द्वारा होता है। हम यदि सोते हैं तो सपनों को देखने में भी ऊर्जा विसर्जित होती रहती हैं।

ऊर्जा का विसर्जन न हो - इसके लिए बस एक ही उपाय हैं और वह यह कि अधिक से अधिक आँखो को बन्द रखने का प्रयत्न करिये। काले रंग के रेशमी कपड़े की पट्टी आँखो पर कम से कम चार घंटे तक बांधे रखें। कम से कम चार घंटे अंधेरे में आँखे बन्द कर बैठने का प्रयास करें। इसी प्रकार कम से कम एक घंटे तक रात में आकाश की ओर खुली आँखे रखिये। ध्रुव तारे पर आँखो को स्थिर करने का प्रयास करें। ध्रुव तारा से एक विशेष प्रकार की ब्रह्माण्डीय ऊर्जा विसर्जित होती है उसमे नेत्र की ऊर्जा बढ़ती हैं। इन सबसे नेत्र की ऊर्जा अपने आपमें एकत्र होती हैं। एकत्रीकरण के समय सोचे और कल्पना करे कि ऊर्जा भीतर एकत्र हो रही हैं भ्रूमध्य पर। बाद में आपको पता लगेगा कि भ्रूमध्य के स्थान पर कुछ चुभ सा रहा हैं। लेकिन उस चुभन में पीड़ा नही होगी सुख का अनुभव होगा। इससे यह ज्ञात हो जायेगा कि ऊर्जा को भ्रूमध्य में एकत्र करने की दिशा में हमने जो कल्पना की थी वह कल्पना साकार होने लगी हैं। आपको अपने मन में यह धारणा बना लेनी हैं कि जिस आन्तर जगत अथवा परा मानसिक जगत को देखने-सुनने और जानने समझने के लिए आप इच्छुक हैं और हैं व्यग्र वह सब तीसरे नेत्र द्वारा ही सम्भव हैं।

तीसरा नेत्र का बराबर स्मरण

तीसरा नेत्र के जागृत करने की दिशा में जितने प्रयत्न अथवा प्रयास हैं - उनमें एक है भ्रूमध्य के स्थान पर तीसरा नेत्र का बराबर स्मरण। इसके लिए सबसे उत्तम साधन हैं तिलक का भ्रूमध्य के स्थान पर प्रयोग।

लामा हूंग च्यांग ने कहा - जितने प्रकार के तिलक, त्रिपुण्ड और जितने प्रकार की टीकाएं हैं - उन सबका सीधा संबंध भ्रूमध्य के माध्यम से तीसरा नेत्र से हैं।

आपका तीसरा नेत्र किस स्थान पर हैं यह स्वयं आपको पता नही है। उस स्थान को गुरु ही आपको बतला सकता है, लेकिन वही गुरु - जिसे तीसरे नेत्र का अनुभव है। वह उसी स्थान पर स्वयं अपनी तर्जनी उंगली से तिलक लगाकर आपको तीसरे नेत्र की प्रतीति करा देगा। वास्तव में यह एक प्रकार की गुरु दीक्षा हैं। और इसी दीक्षा की योग की भाषा में 'स्पर्श दीक्षा' कहते हैं। इस दीक्षा को प्राप्त करने के पश्चात ही व्यक्ति योग साधना के योग्य होता है। योग की चौदह दीक्षाओं स्पर्श दीक्षा सर्वप्रथम हैं।

योग्य शिष्य को योग्य गुरु तिलक लगाकर उसके तीसरे नेत्र का स्पर्श करता हैं। इससे शिष्य को यह समझते देर नहीं लगती कि मस्तक पर उसका तीसरा नेत्र किस स्थान पर है।

तिलक द्वारा स्पर्श दीक्षा द्वारा शिष्य का अस्थिर और चंचल मन शान्त और स्थिर हो जाता हैं। वैसे भी आप भ्रूमध्य पर नित्य तिलक का प्रयोग करें तो अपने आप में एक अनर्वचनीय शान्ति का अनुभव होता हैं। इसे तिलक का पहला प्रयोजन समझना चाहिए। यदि तीसरे नेत्र के स्थान पर तिलक लगा है तो आपका बार-बार ध्यान तिलक की ओर ही जायेगा, जो तीसरे नेत्र के जागरण में सहायक सिद्ध होगा। यह तिलक का दूसरा प्रयोजन हैं।

तीसरा नेत्र की प्रतीति

कभी आपने इस बात पर विचार किया है कि आप आँखों को बन्द कर बैठ जाय और कोई व्यक्ति आपकी दोनों आँखों के बीच में सिर के पास अपनी उंगली ले जाय तो बन्द आँख में भी आपके भीतर अनुभव होना शुरु हो जायेगा कि कोई आँख की तरफ उंगली किये हुए है। यही तीसरे नेत्र की प्रतीति हैं।

यदि ठीक तीसरे नेत्र के स्थान पर तिलक लगा लिया जाय तो ठीक उसी अनुपात में और उसी मात्रा में जिस स्थिति में तीसरा नेत्र हैं - तो पूरे शरीर को छोड़कर आपको बराबर उसी का स्मरण बना रहेगा। बराबर उसी पर ध्यान रहेगा। मन मे उसी की चिन्ता बनी रहेगी।

आपको ज्ञात होना चाहिए कि तिलक, टीका आदि का योग तांत्रिक साधना में भारी महत्व हैं। योग तांत्रिक साधना के जितने लक्ष्य हैं उनमे एक परम लक्ष्य यह है कि साधक तिलक, टीका, त्रिपुण्ड को छोड़कर अपने सारे शरीर को विस्मृत कर दें। केवल उसके पास तिलक आदि की ही स्मृति शेष रहे। जिसका परिणाम यह होगा कि शरीर में व्याप्त चेतना धीरे-धीरे तिलक के स्थान पर एकत्र होने लग जायेगी। तिलक बिन्दु पर उसका एकत्र होना वैसे ही होगा जैसे हम 'लेन्स' द्वारा सूर्य की किरणों को कागज पर एकत्र करते हैं और उन एकत्र किरणों से कागज में आज लग जाती हैं। जो किरणें अभी धूप बनी हुई थी वे ही एकत्र होकर आग उत्पन्न कर देती हैं। ऐसा ही यहाँ भी समझना चाहिए। जब चेतना शरीर में विद्यमान रहती हैं तो जीवन का साधरण व्यावहारिक कार्य होता है और जब वही चेतना भ्रूमध्य बिन्दु पर तिलक के माध्यम से एकत्र हो जाती है तो तीसरे नेत्र की खुलने के मार्ग में जो बाधा होती है वह बाधा दूर हो जाती है। जो द्वार बन्द था वह खुल जाता है और उस द्वार के खुलते ही हम उस जगत से परिचित हो जाते हैं जिसे वैज्ञानिक परामानसिक जगत कहते हैं। जिसको हमारा अध्यात्म कहता है पारलौकिक जगत।

स्वामी अक्षरानन्द के और लामा हूंग च्यांग के विचारों में यहाँ भी साम्य था। लामा हूंग च्यांग कहने लगे - जो शक्ति प्राकृतिक रूप से बराबर हमारे बाहरी आँख को प्राप्त हो रही हैं वही शक्ति हमारी भीतरी आँख को प्राप्त हो जानी चाहिए। इसके लिए सबसे उत्तम प्रयास यह है कि नित्य चार घंटे दिन में या रात में आँखो को बन्द रखे। पलकों को दवायें नहीं। समान्य ढंग से पलकों को बन्द करें। और उस अवस्था में चित्त को भ्रूमध्य में स्थिर कर बराबर इस बात की कल्पना करते रहे कि हमारी दोनों आँखों की जो शक्ति है वह भ्रूमध्य में स्थित तीसरी आँख की ओर प्रवाहित हो रही है। और प्रवाहित होकर उसमे प्रवेश कर रही हैं। इस भावना से और इस धारणा से आपको ध्यान में अभूतपूर्व सफलता मिलेगी और मिलेगी गति।

जब प्रकाश बिन्दु दिखलायी देने लग जाय तो उसी समय से आप अपने चित्त को उस पर एकाग्र करना शुरू कर दे। यह साधना तब तक करे जब तक वह प्रकाश बिन्दु का वर्ण श्वेत न हो जाय। श्वेत वर्णीय वह प्रकाश बिन्दु शनैः-शनैः बड़ा होने लगेगा अन्त में एक सिक्के के आकार का हो जायेगा वह। और प्रकाश के उसी आकार में सर्वप्रथम आपको अपने आत्म स्वरूप का दर्शन लाभ होगा, फिर आपको अपने इष्ट का दर्शन होगा और अन्त में होगा गुरु साक्षात्कार। उस समय गुरु आपको विशाल व्यापक पारलौकिक जगत में अपने साथ ले जायेंगे और वहाँ के वातावरण से परिचित कराकर वहाँ की विशेषताएँ बतलायेंगे? फिर अपने

आप वह शक्ति उपलब्ध हो जायेगी जिससे आप उसी गोलाकार श्वेत प्रकाश पटल पर तीनो कालों को और उनमें घटने वाली घटनाओं को इच्छानुसार देख सुन और समझ सकेंगे।

लामा हूंग च्यांग ने आगे कहा - हमने कुछ समय पूर्व ऊर्जा के एकत्रीकरण के फलस्वरूप भ्रूमध्य में चुभन की चर्चा की थी।

हाँ की थी, मैंने कहा - और यह भी कहा था कि उस चुभन में पीड़ा नहीं बल्कि सुखानुभूति होगी। बिल्कुल ठीक - लामा हूंग च्यांग बोले - उसी अवस्था में भ्रूमध्य पर चित्त को एकाग्र कर ध्यान लगाना चाहिए, कम से कम नित्य एक घंटे। ध्यान का स्थान शान्त और एकान्तमय होना चाहिए। शरीर पर ढीला ढाला वस्त्र हो। कमर और पेट कसा हुआ न हो। भोजन सात्विक हो। फल व दूध का सेवन करे। मौन अधिक से अधिक रहे। कम बोले और लोगो से कम मिले। ब्रह्मचर्य का पालन करे। नदी तट पर आकाश की ओर देखते हुए टहले। ऐसी दिन चर्या आपकी होनी चाहिए। एक सप्ताह के बाद धीरे-धीरे ध्यान की अवधि बढ़ती जाय और जब आपका ध्यान निर्बाध गति से पांच घंटे से सात घंटे तक लगने लगे तो समझिए समाधि के द्वार पर पहुँच गये हैं आप और तीसरे नेत्र का अब तक बन्द कपाट खुलने ही वाला है।

ध्यान साधना के पूर्व श्वास, प्रश्वास क्रिया

ध्यान का समय कब होना चाहिए - मैंने पूछा?

प्रातः चार बजे सूर्यादय के पूर्व - लामा हूंग-च्यांग बोले - ध्यान के पूर्व हाथ पैर धो ले। नेत्रो को भी धोले। ताँबे के पात्र में भरा जल जितना हो सके पी ले। पद्मासन की मुद्रा में बैठे। शरीर को बिल्कुल शिथिल रखे। हल्के से नेत्र बन्द कर ले। श्वास लेना शुरु करे। जितनी गहरी ले सके ले और जितनी गहरी छोड़ सके छोडे। अपनी सारी शक्ति श्वास को लेने और छोड़ने में लगा देनी चाहिए। गहरी श्वास ले और गहरी श्वास छोड़े। अपनी सारी शक्ति उसमे लगा दें। इस प्रकार केवल 15 से 20 मिनट तक करे। इससे भीतर ऊर्जा जगने की सम्भावना बढ़ जायेगी। और आपका रोम-रोम कांपने लगेगा।

गहरी श्वास लेते समय और उसे छोड़ते समय भीतर ध्यानपूर्वक देखते रहे श्वास आयी और श्वास गयी। यह प्रथम चरण हैं।

दुसरे चरण में श्वास-प्रश्वास के समय शरीर को पूरी तरह शिथिल कर छोड़ दें। श्वास प्रश्वास का समय बढ़ा दे। 20 मिनट से 30 मिनट कर दें। शरीर की ओर से बिल्कुल ध्यान हटा दे। द्रष्टा बन जाये शरीर के प्रति, गहरी स्वास गहरी प्रश्वास बराबर जारी रहे।

तीसरे चरण में भी श्वास बराबर गहरी लेते रहे बल्कि उसकी मात्रा और अवधि और बढ़ा दें। और उसी अवस्था में पूरी शक्ति लगाकर भीतर अपने आपसे पूछे-मैं कौन हूँ? मैं कौन हूँ? मैं कौन हूँ? श्वास प्रश्वास के साथ मैं कौन हूँ बराबर जुड़ा रहे। शरीर जिस अवस्था में रहना चाहे रहने दें। लेकिन श्वास प्रश्वास बराबर जारी रखे। खूब गहरी ले और हर श्वास के साथ मैं कौन हूँ और हर प्रश्वास के साथ भीतर मैं कौन हूँ का प्रश्न उभरना चाहिए। इस प्रकार कम से कम 25 मिनट तक होना चाहिए। इससे भी अधिक हो तो कोई बात नहीं।

चौथे चरण में सारी क्रियाये बन्द कर दें। पूर्ण विश्राम ले। शान्त हो जाय। अपने आपमे शून्य का अनुभव करें। अपने शरीर को पूर्ण रूप से शिथिल कर दें। शरीर पर से ध्यान हटा ले। निर्विकार अवस्था को उपलब्ध हो जाय। नेत्र बन्द कर ले। जब तक इच्छा हो भूमि में पड़े रहे। धीरे-धीरे आँख खोले। धीरे-धीरे उठने का प्रयास करे।

जीवन और मृत्यु

जिसे आप जीवन कहते है और मृत्यु कहते हैं वास्तव में वे दोनो महाजीवन के अंग हैं। श्वास का भीतर जाना जीवन हैं और श्वास का बाहर आना मृत्यु हैं। हर क्षण जीवन उपलब्ध हैं और हर क्षण मृत्यु भी उपलब्ध हैं। यदि आप इन दोनों के पार चले जाय तो आपको महा जीवन का दर्शन होगा। और उसके लिए केवल मात्र 'ध्यान' ही एक सर्वोच्य विधि हैं।

'मृत्यु' होने पर शरीर छूट जाता है। संसार छूट जाता है। भाव विचार छूट जाते हैं। कहने का मतलब सब कुछ छूट जाता हैं। रह जाती हैं केवल चेतना, जिसके लिए 'हम' अथवा 'मैं' शब्द का प्रयोग होता है।

ध्यान में भी इसी प्रकार सब कुछ छूट जाता हैं। जैसे मृत्यु में छूट जाता हैं। आप सब छूट जाने वाली वस्तुओं के मात्र द्रष्टा रह जायेंगे। 'हम' द्रष्टा बन जायेगे और उसी समय वह घटना घट जायेगी जिसे समाधि कहते हैं।

'समाधि' एक अद्‌भुत शब्द

विचार पूर्वक यदि देखा जाय तो 'समाधि' एक अद्‌भुत शब्द है। ध्यान की पूर्णता को भी समाधि कहते हैं। किसी साधु सन्यासी को भूमिगत कर उसका चबूतरा बना देते हैं - उसे भी समाधि कहते हैं। वास्तव में इन दोनों प्रकार की समाधि में रहस्य हैं। मिश्रित अर्थ हैं।

जो साधक ध्यान मार्ग से समाधि को उपलब्ध होता है उसका शरीर भी कब्र के सिवा और कुछ नहीं हैं। क्योंकि साधक जानता है कि शरीर के भीतर कुछ नही रह गया हैं। जो 'हम' था और जो 'हम' के रूप में चेतना थी वह शरीर के बाहर हो जाती हैं। शरीर खाली हो जाता हैं। उसे कब्र नहीं कहेंगे तो क्या कहेंगे?

जैसे कोई साधु सन्यासी शरीर छोड़ देता हैं, हम उसकी कब्र बना देते है। और कहते हैं फला साधु की यह समाधि हैं लेकिन वह समाधि कोई और बनाएगा। इसके पहले कि कोई दूसरा हमारी समाधि बनाए यदि हम ही अपनी समाधि बनाएं तो जीवन में वह घटना घट जाती हैं जिसके लिए हमारी आत्मा जन्म जन्मान्तर से प्यासी है। यदि हम अपनी समाधि बना ले तो केवल शरीर ही मरेगा। हमारी चेतना के मरने का कोई प्रश्न ही नही हैं। हम कभी न मरे है तो कभी मर ही सकते है। कभी कोई नही मरा है। लेकिन इस सत्य को जानने के लिए ध्यान की तीन सीढ़ियां आपको चढ़नी पड़ेगी। क्योंकि मुख्य रूप से ध्यान के तीन चरण हैं जो एक प्रकार से मृत्यु के चरण हैं।

ध्यान का प्रथम चरण

पहला चरण है शरीर की शिथिलता। शरीर को इतना आप शिथिल कर दे कि ऐसा लगे मानो आपसे शरीर अलग पड़ा हैं और आप शरीर से अलग है। अपने मन में यह भाव करे कि मेरा सारा शरीर शिथिल हो गया है। शव के समान हो गया है और शरीर की सारी शक्ति बाहर निकल गयी है। प्राण भी निकल गया है। मैं भी अब शरीर में नहीं हूँ। मैं भी बाहर निकल आया हूँ। पूरे एक घंटे तक यही भाव रहे फिर भाव में परिवर्तन करे। अब आपका भाव यह होना चाहिए कि आपकी सारी शक्ति धीरे-धीरे आपके भीतर प्रवेश कर रही हैं। आपके प्राण आपके भीतर प्रवेश कर रहे है। और आप की अपने शरीर में प्रवेश कर रहे है।

आप पहले भाव में शरीर के बाहर थे। दूसरे भाव में आप शरीर के भीतर प्रवेश कर गये। ये दोनों भाव धीरे-धीरे अभ्यास बन जाना चाहिए।

दूसरा चरण

प्रथम चरण और दूसरे चरण के बीच एक दिन विश्राम करना चाहिए। दूसरे चरण में श्वास को शिथिल छोड़ दें। जैसे शरीर को शिथिल छोड़ा था उसी प्रकार श्वास को भी शिथिल कर दे। आपको ज्ञात होना चाहिए कि हमारा श्वास अपनी

गहरायी में प्राण को पकड़े हुए हैं। इसीलिए श्वास के टूटने से प्राणी की मृत्यु हो जाती हैं। श्वास हमारी आत्मा और हमारे शरीर के बीच एक सेतु अथवा एक सूत्र का काम करती है। दोनों उसी सूत्र बंधे रहते हैं। इसीलिए हम श्वास को 'प्राण' कहते है।

शिथिल हुआ श्वास धीरे-धीरे उस स्थान पर आ जाती है कि हमको पता ही नही चलेगा कि श्वास चल रही है या नहीं चल रही है इसलिए कि वह इतनी शान्त हो जाती है कि उसके अस्तित्व का पता ही नही चलता। श्वास को कहीं रोकने या ठहराने का प्रयत्न न करें। क्योंकि श्वास कहीं ठहरती नहीं। रुकती नहीं। यदि रोकने का प्रयन्त करेंगे तो वह बाहर निकलने का मार्ग खोजेगी। यदि उसे आप बाहर रोकने का प्रयास करेंगे तो वह भीतर जाने की कोशिश करेगी। इसलिए हमारा कहना यह है कि श्वास को न बाहर रोके और न तो भीतर रोके। बस उसे शिथिल कर दे। ब्रिल्कुल पूर्ण रूप से शिथिल कर दे।

इस अवस्था में श्वास अपने आप स्वयं एक बिन्दु पर ठहर जाती है। एक क्षण के लिए भी श्वास अपने किसी बिन्दु पर ठहर जाय तो उसी क्षण आपको आत्मा और शरीर के बीच का अन्तर बिल्कुल साफ दिखलायी पड़ जायेगा। देखेंगे आपका शरीर अलग हैं और उससे आप अलग हैं यानी आपकी चेतना अथवा आपकी आत्मा जिसे आप मैं शब्द से सम्बोधित करते हैं - अलग हैं यह ज्ञान अथवा इस पृथकत्व का अनुभव मृत्यु का ज्ञान हैं और है क्षणिक हैं मृत्यु का अनुभव। यही ध्यान का भी है अनुभव। ध्यान में शरीर अलग और चेतना अलग हो जाती है।

तीसरे चरण

तीसरे चरण के श्वास की तरह मन को शिथिल छोड़ देना है। शरीर शिथिल हो जाय श्वास शिथिल हो जाय और मन भी शिथिल हो जाय तो आपके मस्तिष्क केन्द्र हृदय केन्द्र और नाभि केन्द्र एक क्षण के लिये एक अनर्वचनीय प्रकाश से उद्भासित हो उठेंगे। मन की तरह विचार को भी शिथिल कर देना है। मन में किसी भी प्रकार का विचार उत्पन्न हो उस पर ध्यान न दे उस पर सोचे नहीं।

चौथा चरण

चौथे चरण की साधना यह है कि शरीर, श्वास, मन और विचार इन चारो को शिथिल रखते हुए मौन रहना। एकान्त स्थान में नेत्र बन्द, वाणी मौन। मौन साधकर बराबर यह भाव करें कि शरीर श्वास मन और विचार सब शिथिल हो

रहा है और जब मन में यह भाव आ जाय कि तीनों शिथिल हो गये हैं आपका किसी पर अब अधिकार नहीं रह गया। उसी अवस्था में प्रत्यक्ष रूप से अपने पार्थिव शरीर को अपने श्वास की गति को अपने मन को और विचार को अपने आपसे अलग द्रष्टा भाव से देखेगें और द्रष्टा भाव से उनका अनुभव भी करेंगे।

ध्यान, मृत्यु में प्रवेश का मार्ग

अब तक लामा हूंग च्यांग ने भारतीय और तिब्बती दोनो पद्धतियों से ध्यान के संबंध में बतलाया मुझे।

ध्यान किसी न किसी रूप में सभी धर्म और सभी सम्प्रदायों में हैं लेकिन इसका सर्वाधिक प्रभाव भारतीय अध्यात्म पर सर्वाधिक है। ध्यान का प्रयोजन हैं चित्त को एकाग्र करना और मन को शान्त करना। निश्चय ही इससे अनेक प्रकार के मानसिक लाभ उपलब्ध होते हैं, इसमें सन्देह नहीं। यह भी स्वीकार्य है कि ध्यान अपनी चरम सीमा पर पहुँचकर समाधि में परिवर्तित हो जाता है। अब प्रश्न है समाधि का क्या प्रयोजन हैं?

मेरे इन प्रश्नों और जिज्ञासाओं के उत्तर में लामा हूंग-च्यांग ने कहा - इस संसार में कोई. वास्तव में रहस्यमयी वस्तु हैं तो वह हैं 'मृत्यु'। आज तक किसी ने भी मृत्यु के रहस्य को अनावृत नहीं किया हैं। 'मृत्यु' एक परम रहस्य हैं। यदि यह परम रहस्य अनावृत्त हो जाता है तो प्रकृति का रहस्य सम्पूर्ण विश्व ब्रह्माण्ड का रहस्य और साथ ही ईश्वर का भी रहस्य अनावृत्त होने में फिर देर नही लगेगी।

इसलिये भारतीय योग ने मृत्यु के रहस्य से परिचित होने के लिए उसके वास्तविक स्वरूप को प्रत्यक्ष जानने समझने के लिए और उसका अनुभव प्राप्त करने के लिए मृत्यु में प्रवेश करने के लिए एक मात्र 'ध्यान' का मार्ग उचित समझा। ध्यान मार्ग पर चलकर जब हम समाधि की अवस्था को उपलब्ध होते हैं तो उस परम अवस्था में हमारा मृत्यु से साक्षात्कार होता है। हम उसके रहस्यों से परिचित होते हैं। और उसका करते हैं प्रत्यक्ष अनुभव।

जब भी कोई मृत्यु को उपलब्ध होता हैं तो उस समय वह बेहोश रहता हैं इसलिए वह न मृत्यु से परिचित होता है और न तो उसके रहस्य से ही यदि अपनी इच्छा से चेतना पूर्वक और ज्ञान में मृत्यु में प्रवेश करने का प्रयोग कर सकते हैं और वह प्रयोग है ध्यान और समाधि। ध्यान और समाधि एक ऐसा प्रयोग हैं जिसके द्वारा हम स्वेच्छापूर्वक और होशपूर्वक मृत्यु में प्रवेश कर उसका अनुभव प्राप्त कर सकते हैं।

वह अनुभव क्या होगा - मैंने पूछा?

अपने शरीर से अलग होने का अनुभव। शरीर से अलग होने पर अपने अस्तित्व का अनुभव और शाश्वत जीवन का अनुभव। मुख्य रूप से मृत्यु के बाद मनुष्य यहीं अनुभव करता हैं लेकिन अपने अनुभवों को बतलाने के लिए वापस नहीं लौटता अपने शरीर में जबकि हम समाधि में अनुभवो को प्राप्त कर वापस लौट आते हैं अपने शरीर में। लामा हूंग च्यांग आगे बोले आप लम्बी यात्रा करते है। यात्रा के बीच में आवश्यकता पड़ने पर आपको सवारी बदलनी पड़ती है। सवारी बदलकर आप दूसरी सवारी पर बैठ जाते हैं और आगे की यात्रा पर चल पड़ते हैं। अपकी यात्रा अनवरत जारी रहती है। सवारी बदलने में आप मे किसी भी प्रकार परिवर्तन नहीं होता। यात्रा में परिवर्तन नहीं होता। मार्ग में भी परिवर्तन नहीं होता। सब पूर्ववत् ही रहता हैं। बस ऐसा ही अनुभव समझिए आप। मृत्यु घटना का कुल इतना ही अर्थ है कि हमारा शरीर और हमारी आत्मा उस यात्रा पर भेद का अनुभव कर ले जहाँ सवारी छूट जाती हैं और यात्री आगे निकल जाता हैं। शरीर छूट जाता हैं मृत्यु में भी और समाधि में भी - लेकिन दोनों अवस्थाओ मे हमारे में कोई परिवर्तन नहीं होता जीवन का अस्तित्व बना रहता और बना रहता है उसका बोध भी।

संक्षिप्त में ध्यान और समाधि का इतना ही अर्थ है कि हम अपने शरीर से अपने आपको अलग करने की कला को जान जाय। वे अलग हो सकते है क्योंकि वे अलग-अलग है ही। इसलिए वे अलग-अलग जाने जा सकते हैं। और यही कारण है कि 'ध्यान' को स्वेच्छापूर्वक मृत्यु में प्रवेश का मार्ग बतलाया गया है। और जो साधक अपनी इच्छा से मृत्यु के मुख में प्रवेश करता है वह मृत्यु का साक्षात्कार करता हैं कि यह रही मृत्यु और मैं अभी भी हूँ मेरा अस्तित्व अभी भी है। मृत्यु ने उसके शरीर की उससे अलग किया। जिसका प्रयास उसके अस्तित्व पर नही है। उसका जीवन पूर्ववत् है। जैसा भौतिक सत्ता में था वैसा ही अभौतिक सत्ता में भी है, कोई परिवर्तन नहीं। विचार भाव, इच्छा भाव, भावना आदि सब कुछ वैसा ही। ध्यान मरने की एक प्रक्रिया है। पूरे ध्यान में हम वही पहुँच जाते हैं जहाँ मरा हुआ व्यक्ति पहुँचता है। बस इतना ही अन्तर होता है। मरे हुए आदमी को पता नहीं होता है कि क्या हो गया। शरीर कैसे छूट गया? वह कैसे बच गया? ध्यानी साधक को पता होता है कि शरीर अलग हो गया हैं और वह अलग हो गया हैं शरीर से।

लामा हूंग च्यांग की समाधि का समय हो गया था। वे अपने आसन से उठकर अपने साधना कक्ष में चले गये। मैं कोठरी के बाहर निकलकर मैदान में टहलने लगा। आकाश निर्मल था चाँदनी बिखरी हुई थी हिम प्रान्त में। ध्यान के

विषय में ही सोच रहा था मैं उस समय। अचानक मुझे काशी के रमेशचन्द्र घोषाल का स्मरण हो आया। घोषाल महाशय विज्ञान के प्रोफेसर थे। हर बिन्दु पर उनकी अपनी वैज्ञानिक दृष्टि थी। मैं उनसे बराबर मिलता जुलता रहता था। वे मेरे मकान के सामने ही रहते थे। मुझमे आध्यात्मिक रुचि है यह वह जानते थे। एक बार ध्यान पर चर्चा चल पड़ी तो घोषाल महाशय अपनी वैज्ञानिक दृष्टि से बोलना शुरू कर दिया ध्यान पर।

ध्यान में वैज्ञानिक दृष्टि

घोषाल महाशय का कहना था कि ध्यान मुख्यत: दो प्रकार का होता है - सक्रिय ध्यान और निष्क्रिय ध्यान। सक्रिय ध्यान एक ऐसी सीढ़ी है जो कि हमे निष्क्रिय ध्यान की ओर ले जाने वाली सिद्ध होती है। और तो और नियमित रूप से निष्क्रिय ध्यान करने वाला भी समय समय पर सक्रिय ध्यान का उपयोग करके लाभ प्राप्त कर सकता है। सक्रिय ध्यान में हम ध्यान की अवस्था में जाकर विभिन्न शुभ संकल्पो को दोहराते हैं विभिन्न प्रकार के सकारात्मक चित्रण या दृश्यीकरण करते हैं। सक्रिय ध्यान में दुहराये गये शुभ संकल्प, चित्रण, या दृश्यीकरण जो कि हमारे शुभ संकल्पों को बना देने वाले होते हैं हमारे लिए ऐसी परिस्थितियों का सृजन करते है कि हमारे शुभ संकल्प या लक्ष्य अत्यन्त आश्चर्यजनक रूप से पूर्ण होने लगते हैं। जो लोग नियमित रूप से सक्रिय ध्यान करते हैं या कभी-कभी करते है, यदि वे यह जान जायें कि इस से प्राप्त होने वाले लाभ का वैज्ञानिकी करण क्या हैं तो वे शायद कभी भी ध्यान से दूर ही नहीं हो पायेंगे। ध्यान की प्रक्रिया में मुख्य भूमिका हमारा मस्तिष्क निभाता है। अत: मस्तिष्क के विषय में कुछ जानकारी प्राप्त कर लेना हमारे लिए आवश्यक हैं।

मस्तिष्क के दो भाग

हमारे मस्तिष्क के दो भाग होते हैं - दाया अर्ध गोलाकार तथा बाया अर्ध गोलाकार भाग। बाया अर्ध गोलाकार भाग भौतिक संसार से सम्बद्ध रखता हैं तथा लौकिक होता है और दाया अर्ध गोलाकार भाग आध्यात्मिक शक्तियों से सम्बद्ध रहता है तथा अलौकिक होता हैं। हमारा दाया हाथ हमारे बाये मस्तिष्क से सम्बद्ध रहता है और इसी कारण हम अपने समस्त लौकिक कार्य, सांसारिक कार्य अपने दाये हाथ से करते है। इसी प्रकार हमारा बाया हाथ हमारे दाये मस्तिष्क से संबंधित हैं। जो व्यक्ति जितने अधिक कल्पनाशील होते हैं - उनका दाया मस्तिष्क उतना ही अधिक विकसित होता हैं। और उनका अध्यात्म से जुड़ना उतना ही सरल होता

हैं। कलाकार, गायक, चित्रकार, लेखक, कवि इत्यादि चाहें तो बड़े आसानी से अध्यात्म से जुड़ सकते हैं। बाये हत्था व्यक्ति जो कि अपने अधिकतर कार्य बाये हांथ से करते हैं, उनका दाया मस्तिष्क बाये मस्तिष्क से अधिक विकसित होता हैं और यही कारण हैं कि सामान्य मनुष्यों से अधिक वे प्रतिभाशाली होते हैं। प्राय: देखा जाता है कि बाये हत्था व्यक्ति अद्वितीय प्रतिभा के धनी होते हैं। हममे से केवल 10 प्रतिशत व्यक्ति ही ऐसे होते हैं जो कि मस्तिष्क के दोनो भागो का बराबर उपयोग करते हुए जीवन व्यतीत करते हैं बाकी 90 प्रतिशत व्यक्तियों का जीवन या तो पूर्णतया सांसारिक हो जाता हैं - अर्थात् वे मुख्यत: बाये मस्तिष्क का ही उपयोग करते हैं और या पूर्णतया आध्यात्मिक हो जाता हैं अर्थात वे मुख्यत: दाये मस्तिष्क का ही उपयोग करते है।। सही अर्थो में सफल व्यक्ति वे ही होते हैं जिनके मस्तिष्क के दोनों भाग पूर्ण सामञ्जस्य में कार्य करते है अर्थात् ऐसे व्यक्तियों की सफलता का मापदण्ड भौतिक उन्नति के साथ-साथ मानसिक शान्ति भी होती है।

जीवन में तनाव रहित सफलता कैसे सम्भव है?

अब यह देखना है कि हमारे लिए मस्तिष्क के दोनों भागो के सामजस्य में उपयोग करना किस प्रकार सम्भव हैं। हमारे लिए तनाव रहित सफलता किस प्रकार सम्भव है? आपको ज्ञात होना चाहिए कि मनुष्य के मस्तिष्क में 30 अखन्यूरान्स होते हैं और हर न्यूरान्स अनेक परमाणुओं का समूह होता हैं। यह परमाणु तथा न्यूराना हर समय कम्पायमान रहते है। और इसी कारण हमारा मस्तिष्क हर समय ऊर्जा तरंगे उत्सर्जित करता रहता है। मस्तिष्क से निकलने वाली तरंगो की आवृत्ति 1/2 कम्पन प्रति सेकेण्ड से 85 कम्पन प्रति सेकेण्ड तक होती हैं। यानी हमारा मस्तिष्क एक सेकेण्ड में 1/2 तरंग से लेकर 85 तरंगे तक उत्सृजितम कर सकता हैं। यह आवृत्ति अर्थात् प्रति सेकेण्ड उत्सर्जित होने वाली कम्पन संख्या को वैज्ञानिक ई.ई.जी. की प्रक्रिया द्वारा नापते हैं। 1/2 कम्पनों के प्रति सेकेण्ड की स्थिति निद्रा उत्पन्न करती हैं और वह निद्रा अत्यन्त गहरी होती हैं। तथा 85 कम्पन प्रति सेकेण्ड की स्थिति में मस्तिष्क अत्याधिक उत्तेजना की स्थिति में होता है। इतनी अधिक उत्तेजना मिर्गी के दौरे दौरान रोगी के मस्तिष्क में पायी जाती हैं। इस समय जबकि हम जागृत अवस्था में हैं हमारा मस्तिष्क 14 या उससे अधिक तरंगे उत्सर्जित कर रहा हैं। एक स्वस्थ, समझदार मनुष्य जो शान्त भाव से किसी भी विषय पर एकाग्रता से चिन्तन कर लेता हैं, जागृत अवस्था में उसके मस्तिष्क से उत्सर्जित होने वाले कम्पनो की संख्या 14 से 19 कम्पन प्रति सेकेण्ड होती

हैं। अर्थात जागृत अवस्था में एक स्वस्थ मनुष्य का मस्तिष्क कम से कम 14 कम्पन और अधिक से अधिक 19 कम्पन प्रति सेकेण्ड उत्सर्जित करता हैं। इस अवस्था को वैज्ञानिक 'वीटा स्तर का कम्पन' नाम देते हैं। जब मनुष्य क्रोध, ईर्ष्या, परेशानी चिन्ता या तनाव की स्थिति में होता हैं तो उसके मस्तिष्क से निकलने वाले कम्पनों की आवृत्ति बढ़ जाती हैं। मस्तिष्क से उत्सर्जित होने वाले कम्पनों की आवृत्ति 21 या 22 कम्पन प्रति सेकेण्ड से अधिक हो जाने पर मनुष्य अस्वस्थ तथा उत्तेजित महसूस करने लगता हैं। आवृत्ति 40 कम्पन प्रति सेकेण्ड तक पहुँच जाने पर उसकी एकाग्रता समाप्त हो जाती हैं या होने लगती है। और मन बहुत तेजी से इधर-उधर भटकने लगता हैं। ऐसे में मनुष्य के लिखने पढ़ने की शक्ति का ह्रास होने लगता हैं। मस्तिष्क से उत्सर्जित होने वाली तरंगो की आवृत्ति जैसे-जैसे 21 कम्पन प्रति सेकेण्ड से बढ़ती हैं - वैसे ही वैसे मनुष्य की रोग प्रति रोधक क्षमता कम हो जाती हैं। और मनुष्य का शरीर रोग वाहन किटाणुओं को अपनी ओर आकर्षित करने लगता है और मनुष्य के रोग का शिकार हो जाने की सम्भावनाए अधिक बढ़ जाती हैं। जब हमारा मस्तिष्क विश्राम की अवस्था में होता है या ध्यान की अवस्था में होता है तो हमारे मस्तिष्क से उत्सर्जिज होने वाली तरंगो की संख्या कम हो जाती हैं। इस अवस्था में हमारा मस्तिष्क 7 से 14 तरंगे प्रति सेकेण्ड उत्सर्जित करती हैं। वैज्ञानिक इस अवस्था को एल्फा स्तर का नाम देते हैं। यदि मस्तिष्क की तरंग आवृत्ति का स्तर हैं। यही मस्तिष्क की वह अवस्था हैं जिसमे हमारे मस्तिष्क के दायें तथा बायें भाग सामञ्जस्य में कार्य करते हैं।

एल्फा स्तर की अवस्था में हमारे मस्तिष्क की औसत तरंग आवृत्ति 10 कम्पन प्रति सेकेण्ड हो जाती है।

जब हम हल्की निद्रा की स्थिति में होते हैं तो हमारा मस्तिष्क 4 से 7 तरंगे प्रति सेकेण्ड उत्सर्जित करता हैं। इसे वैज्ञानिक 'थीटा' स्तर का नाम देते हैं।

जब हमारी निद्रा अत्यधिक गहरी होती हैं तो हमारा मस्तिष्क 1/2 से 4 कम्पन प्रति सेकेण्ड उत्सर्जित करता है और इस अवस्था को वैज्ञानिक डेल्टा स्तर के नाम से पुकारते हैं। वैज्ञानिको ने मस्तिष्क की इन अवस्थाओं का और गहरायी से अध्ययन किया और इन अवस्थाओं को एक नए दृष्टिकोण से प्रस्तुत किया।

गर्भस्थ शिशु और मस्तिष्क तरंगे

जब शिशु माँ के गर्भ में रहता है उस समय भी उसका मस्तिष्क तरंगे उत्सर्जित करता है। जितनी आवृत्ति 1/2 से 4 कम्पन प्रति सेकेण्ड होती हैं। बालक के चार वर्ष के होने तक बालक की तरंगो की आवृत्ति यहीं रहती है। इस समय

तक बालक आवश्यक क्रिया में और बाते सीखता हैं। अत: गर्भस्थ अवस्था से चार वर्ष तक की अवस्था तक बालक का मस्तिष्क डेल्टा आवृत्ति के कम्पन करना आरम्भ कर देता हैं।

इसके पश्चात् इन ऊर्जा तरंगो की गति का बढ़ना प्रारम्भ हो जाता हैं। और बालक का मस्तिष्क 'थीटा' आवृत्ति के कम्पन करना शुरु कर देता हैं जो कि 4 से 7 कम्पन प्रति सेकेण्ड के होते हैं। यह कहा जाता है कि इस समय तक बालक तीन चौथाई ज्ञान प्राप्त कर चुका होता हैं। जिसका उपयोग वह जीवन भर करेगा।

लगभग 7 से 14 वर्ष की आयु तक बालक का एल्फा स्तर का होना कहा जा सकता हैं क्योंकि उसकी तरंग आवृत्ति 7 से 14 कम्पन प्रति सेकेण्ड होती हैं। इस समय बालक का मस्तिष्क अद्वितीय रूप से कार्य करता है। इस आयु का बालक खूब कल्पना करता हैं। सोचता विचारता हैं, ऊँची उड़ाने भरता है। नये-नये प्रयोग करता हैं। नयी-नयी चीजो की विधियाँ खोजता हैं। तथा ऐसे-ऐसे विचार उसके मस्तिष्क में आते हैं कि लोग चकित रह जाते हैं।

ध्यान की स्थिति में

जब हम ध्यान की क्रिया द्वारा अपने मस्तिष्क को विश्राम की स्थिति में लाते हैं तो हमारे मस्तिष्क से निकलने वाली तरंगे लगभग आधा हो जाती हैं। हमारा मस्तिष्क एल्फा स्तर पर आ जाता है। और यह वही स्थिति हैं और यह वहीं अवस्था हैं जबकि हमारे मस्तिष्क के दाये तथा बाये भाग पूर्ण सामञ्जस्य के साथ कार्य करते हैं। इस अवस्था में हमारे मस्तिष्क का दाया भाग तथा बाया भाग लगभग बराबर क्रियाशील हो जाते है। यानी हमारे मस्तिष्क के दाये भाग के क्रियाशील हो जाने के कारण हमारे भीतर जिन अलौकिक विचारों का आगमन होता हैं, उनको हमारे मस्तिष्क का बाया भाग भी ग्रहण कर लेता हैं। इस प्रकार हमको ईश्वरीय मार्ग दर्शन प्राप्त होना प्रारम्भ हो जाता हैं। निश्चित रूप से जिसको भी ईश्वरीय मार्ग दर्शन प्राप्त होने लग जायेगा वह जीवन में ऐसी सफलता प्राप्त करेगा जो तनाव उत्पन्न करने वाली नहीं होगी, बल्कि सुख-शान्ति और आनन्द की वर्षा करने वाली होगी। यही कारण है कि ध्यान की अवस्था में दोहराये गये शुभ संकल्प एवं सकारात्मक चित्रण या दृश्यीकरण जो हमारे शुभ संकल्पो को बदल? देने वाले होते हैं और हमारे लक्ष्यों को हमारे निकट ले आने वाले होते हैं। हमारे लिए ऐसी परिस्थितियों का सृजन कर देते हैं कि हमारे शुभ संकल्प एवं लक्ष्य अत्यन्त आश्चर्यजनक रूप से पूरे हो जाते हैं। ध्यान की अवस्था में

या अपने मस्तिष्क को 'एल्फा' स्तर पर लाकर हम न केवल अपनी जटिल समस्याओं का समाधान ईश्वरीय मार्ग दर्शन द्वारा खोज सकते हैं बल्कि अन्य दुखी मनुष्यों की भी जटिल समस्याओं के समाधान कर सकते हैं।

सामूहिक ध्यान का परिणाम

घोषाल महाशय एक गुप्त संघ के सदस्य थे उस संघ में सप्ताह में एक दिन रात्रि के समय सामूहिक ध्यान होता था। इसी के लिए वह संघ स्थापित हुआ था। उसका नाम था ध्यान संघ। वाराणसी के कमच्छा स्थित एक बड़े से मकान में वह ध्यान संघ स्थापित था। उस समय संघ के केवल तीस सदस्य थे। अपने निश्चित समय पर सभी लोग एकत्र होकर मकान के एक बड़े-से हाल में भूमि पर गोलाकार रूप में बैठते थे और उस समय हाल में हल्के पावर का एक बल्ब केवल जलता था। और गोलाकार वृत्त के मध्य में एक बड़ी-सी मोमबत्ती स्टूल पर जलती थी। सदस्यगण उस मोमबत्ती की ज्योति को अपने भ्रूमध्य में जलने की कल्पना करते हुए उसी पर मन को केन्द्रित करते थे। और उस सामूहिक ध्यान के द्वारा बड़ी सी बड़ी और कठिन से कठिन समस्याओं को हल करने का प्रयास करते थे। समस्या दूर की है या समीप की इसका कोई प्रश्न ही नहीं था। उस सामूहिक ध्यान की शक्ति से 'समय' और दूरी की सीमाएं समाप्त हो जाती थीं। एक बार उस ध्यान संघ में मुझे भी अपने साथ ले गये थे घोषाल महाशय। उस रात ध्यान संघ के सदस्यगण अपने सामूहिक ध्यान द्वारा पूना स्थित एक रोगी को स्वस्थ करने में संलग्न थे। वह रोगी को कोई ऐसा भयंकर रोग था जिसका उपचार करने में बड़े-बड़े से डॉक्टर भी असमर्थ हो गये थे। एक प्रकार से रोगी को डॉक्टरो ने जवाब दे दिया था। और रोगी मृत्यु के समीप अपने को अनुभव कर रहा था। बाद में ज्ञात हुआ कि वह रोगी उसी रात स्वस्थ हो गया। घोषाल महाशय ही बतलाया था मुझे यह! यह कहना अतिशयोक्ति न होगी कि एकाकी ध्यान से जो ऊर्जा उत्पन्न होती हैं वही ऊर्जा सामूहिक ध्यान ये आशतीत रूपो से बढ़ जाती हैं। जैसा कि कहा गया कि उसके लिए समय और दूरी दोनों बाधक सिद्ध नहीं होती।

इस सिद्धान्त की पुष्टि आइस्टीन के विश्व विख्यात सूत्र 'ई-एम-सी' की सहायता से भी की जा सकती हैं। इस सूत्र में ई. का अर्थ है 'ऊर्जा' 'एम.' का अर्थ होता हैं पदार्थ सा द्रव्य और 'सी' का अर्थ होता है - प्रकाश की गति जो कि 3 10^0 मी/से0 होती है। इस सूत्र के अनुसार ऊर्जा द्रव्य या पदार्थ में कोई अन्तर नहीं है। और दोनों एक ही है। यदि एक प्रकार सामान्य गति से धीरे-धीरे

चले तो हमे दिखलायी देती हैं किन्तु वही कार बहुत अधिक तीव्र गति 'सी' यानी प्राकश की गति का वर्ग - से चलने लगे तो वह एक ऊर्जा के पिण्ड के रूप में परिवर्तित हो जायेगी और हमे 'कार' के स्थान पर चमकता हुआ एक ऊर्जा का पिण्ड ही दिखलायी देगा। यदि हम इस्पात के ठोस जड़ के भीतर एक अत्यन्त शक्तिशाली माइक्रोस्कोप से देखे तो हम जायेंगे कि उसके भीतर हम ऊर्जा के चमकदार कम्पनों के अतिरिक्त और कुछ नहीं दिखलायी देगा और इन ऊर्जा के चमकदार कम्पनों के अतिरिक्त सारा स्थान रिक्त होगा।

एक आकाशगामी योगी का आगमन

रात्रि का दूसरा प्रहार गुजर रहा था। धीरे-धीरे बर्फ गिरने लगा था। अब वापस लौटने के लिए सोच रहा था मठ में कि तभी मेरी दृष्टि आकाश की ओर घूम गयी। आकाश में छाये हुए धुन्ध को चीरते हुए एक महात्मा आकाशमार्ग से मठ की ओर तीव्र गति से आ रहे थे।

मैं मठ में न जाकर अपने स्थान पर खड़ा हो गया। और अपलक महात्मा की ओर देखने लगा - आश्चर्य और कौतूहल मिश्रित भाव से। महात्मा मठ के प्रांगण में धीरे-धीरे उतरे और उतर कर स्थिर दृष्टि से देखा मेरी ओर उन्होंने। वह महात्मा 'लामा' नहीं थे, कोई भारतीय सिद्ध पुरुष प्रतीत हुए मुझे। लम्बी चौड़ी काठी का गौर वर्ण शरीर सिर पर जटाजूट गले में कई प्रकार की मालाएं, मस्तक पर भस्म का त्रिपुण्ड शरीर पर कषाय वस्त्र और पैर में खड़ाऊँ।

महात्मा मेरी ओर देखने के बाद द्रुत गति से मठ के भीतर चले गये।

योगी मणि पद्‌म सेंग

दूसरे दिन ज्ञात हुआ कि वह आकाशचारी योगी का नाम मणि पदम सेंग है। उच्चकोटि के साधक थे वह। दिव्य दृष्टि प्राप्त थी उन्हे। वे तिब्बत के एक गुप्त मठ के सवेसर्वा थे। वह मठ तिब्बत और सीयाचीन की सीमा पर स्थित था। और लगभग सात सौ वर्ष प्राचीन था। लामावर्तन ने मुझे बतलाया कि मठ काफी रहस्यमय हैं उससे कहीं अधिक मणिपदम सेंग का व्यक्तित्व है रहस्यमय। निश्चय ही वे त्रिकालज्ञ थे इसमें सन्देह नहीं। नेत्र बन्द करते ही उस योगी की दिव्य दृष्टि अपने आप खुल जाती थी। और उसी के साथ भूत भविष्य वर्तमान उनके मानस चक्षु के पटल पर धीरे-धीरे उभरने लग जाते थे। और मुद्रा अतीत में घटी घटनाओं और भविष्य में भी घटने वाली घटनाओं का वर्णन इस प्रकार वे करने लग जाते थे जैसे सामने देख रहे हो सब कुछ। इतना ही नीं वर्तमान में कहाँ क्या हो रहा हैं उसका भी सविस्तार वर्णन किया करते थे महाशय।

योगी मणि पद्म सेंग को लोग लामा सेंग कहते थे। इस संबंध में लामावर्तन ने बतलाया कि मणि पदम सेंग कुशीनगर के थे। वही उनकी भेंट एक लामा योगी से हुई। उन्होंने मणिपद्म को दीक्षा दे कर उनके नाम के साथ-सेंग शब्द जोड़ दिया। और आपने साथ उनको तिब्बत ले आये।

लामा वर्तन ने मेरा परिचय जब योगी मणि पद्म सेंग से कराया और यह बतलाया कि मैं तीसरा नेत्र पर विशेष रूप से खोज कार्य की दृष्टि से तिब्बत भ्रमण कर रहा हूँ तो वे अति प्रसन्न हुए। बोले तीसरा नेत्र योग तंत्र का गम्भीर विषय हैं। उसके खुलने का अर्थ है दिव्य दृष्टि की उपलब्धि। उन्होंने बतलाया कि पिछले चार जन्मों से वे साधना करते चले आ रहे हैं जिसके परिणाम स्वरूप इस जन्म में जाकर उनका तीसरा नेत्र खुला हैं। और वह भी पूरा नहीं।

क्या आपकी साधना अगले जन्मों में भी चलेगी। मेरे इस प्रश्न के उत्तर में लामा सेंग ने बतलया कि किसी भी साधना का कोई अन्त नहीं है और कोई सीमा भी नहीं है। जो अन्त समझ कर बैठ जाता हैं वह बहुत बड़ी उपलब्धि से वंचित रह जाता हैं। जहाँ तक योग-तंत्र की साधना का प्रश्न हैं। वह एक ही शरीर और एक ही जन्म में पूर्ण नहीं होती। उसके लिए कई शरीर धारण करने पड़ते हैं और कई जन्म लेने पड़ते हैं।

एक जन्म से दूसरे जन्म के बीच अन्तराल होता हैं। क्या उस अन्तराल के कारण साधना क्रम में व्यवधान उपस्थित नहीं होता?

मेरे इस प्रश्न के उत्तर में लामा सेंग ने बतलाया कि अन्तराल से व्यवधान तो उपस्थित होता ही है। क्योंकि मृत्यु और पुर्नजन्म के बीच की जो अवधि है वह स्पष्ट नहीं है। अत्यन्त रहस्यमय है वह। अभी तक प्रामाणिक रूप से उसका रहस्योद्घाटन सम्भव नहीं हो सका। लेकिन जैसे पिछले जन्म का कोई प्रबल संस्कार अगले जन्म में संबंधित किसी घटना के कारण अकस्मात् जागृत हो जाता है, उसी प्रकार पिछले जन्म का साधना संस्कार भी किसी मानसिक अथवा शारीरिक घटना के फलस्वरूप अकस्मात् जागृत हो उठता है।

क्या आपके जीवन में भी कोई घटना घटी थी? हाँ। क्यों नहीं? लामा सेंग बोले मैं जब बारह वर्ष का था उस समय एक दिन अचानक ठोकर खाकर रास्ते में गिर पड़ा। सिर में काफी चोट लगी। कुछ क्षण के लिए मूर्च्छित हो गया मैं। परिवार के सदस्य उपचार के लिए मुझे इसी मठ के प्रधान लामा के पास ले आये। प्रधान लामा ने उपचार तो किया लेकिन यह भी बतलाया कि यह बालक पूर्व जन्म का साधक है और यह दुर्घटना उसी साधना संस्कार को जागृत करने के लिये ही घटित हुई है। बात सच थी। उसी के बाद से अपनी दिव्य दृष्टि से तीनो

काल को देखने लग गया। और यह बात भी मेरी समझ में अपने आप आ गयी कि साधना मार्ग में आगे कैसे बढ़ा जा सकता है।

आपके गुरू कौन ? मैंने पूछा।''

साधना भूमि में साधक के दो गुरू होते हैं। पहला तो दीक्षा गुरू और दूसरा इष्ट। यदि इष्ट नहीं है तो दीक्षा गुरू को उपलब्ध नहीं हुआ जा सकता। इसीलिए इष्ट का होना आवश्यक है। इष्ट की कृपा से ही सदगुरू यानी दीक्षा गुरू की कृपा होती है। और फिर उन्हें खोजना नहीं पड़ता। वे स्वयं दीक्षा दान के लिये साधक के सम्मुख उपस्थित होते हैं। साधनामार्ग में सद्गुरू पथ प्रदर्शक होते हैं और इष्ट होता है रक्षक। यह परम्परा, जन्म जन्मान्तर तक चलती रहती है। मुझे चार जन्म पूर्व सद्गुरू उपलब्ध हुए थे। तभी से हर जन्म में वे ही मेरे गुरू है। और आगे भी रहेंगे।

प्रत्येक जन्म में सद्गुरू से सम्पर्क कैसे जुड़ता है – मैने पूछा।''

मेरे इस प्रश्न के उत्तर में लामा सेंग ने कहा–पुनर्जन्म होने पर साधना – संस्कार का बीज ब्रह्ममाण्ड में स्थित रहता है। और उसी के साथ स्थित रहता है सद्गुरू द्वारा प्रदत्त दीक्षा बीज भी। उसी बीज के कारण सद्गुरू आकृष्ट होते है और उन्हें इस बात का पता लग जाता है कि उनका पिछले जन्म का शिष्य कहाँ है और किस रूप में है? पता चलते ही वे अपने सूक्ष्म शरीर द्वारा उपस्थित होकर अपने स्पर्श से उस बीज को जाग्रत कर देते हैं। यदि ऐसा सम्भव न हो सका तो स्थूल शरीर द्वारा प्रत्यक्ष उपस्थित होकर स्पर्श दीक्षा प्रदान कर बीज को जागृत कर देते हैं। मेरे साथ भी ऐसा ही हुआ। मेरे पूर्व जन्म के सद्गुरू मुझे खोजते हुए कुशीनगर आये और मुझे स्पर्श दीक्षा प्रदान की।

वर्षा ऋतु समाप्त हो गयी थी। अब वातावरण में हर समय धुन्ध छाया रहता था चारों तरफ। सूर्य का दर्शन कभी कदा ही हो पाता था वहाँ। उस दिन शरद पूर्णिमा थी। पूर्णिमा की स्निग्ध धवल चाँदनी। धुन्धमय शान्त नीरव वातावरण। गहरी नीरवता छायी हुई थी चारों तरफ उस समय।

सिद्ध लामा योगी तिंग लम् छेम्!

प्रातःकाल लामा सेंग ने बतलाया कि प्रत्येक वर्ष की तरह इस वर्ष भी आज की रात मठ में पधार कर हम सब साधकों को आर्शिवाद प्रदान करेंगे उनके गुरू।

आपके गुरू कौन है?

लामा तिंग लम छेम्।

कहाँ से आना होगा आपके गुरूदेव को?

सीयाचीन से! वहाँ उनकी अपनी गुप्त साधना स्थली है। पहले गुरूदेव इसी मठ में निवास करते थे, लेकिन कुछ वर्षो से वहाँ रह रहे हैं वह।

सियाचीन तो यहाँ से काफी दूर है। मार्ग भी अति दुर्गम हैं। कैसे यहाँ आ सकेंगे आपके गुरूदेव, इस विकट मौसम में?

मेरा प्रश्न सुनकर एक बार धीरे से मुस्कराये लामा सेंग और फिर बोले - योगी का अर्थ हैं प्रकृति विजयी। जो जितना प्रकृति के रहस्यों से परिचित होता है और जितना प्रकृति पर विजय प्राप्त करता है। वह उतना बड़ा योगी होता है। मेरे गुरूदेव के लिये प्रकृति बाधक नहीं, बल्कि उनकी सहयोगिनी हैं। उनका दर्शन तुम्हारे लिये भी होगा लाभप्रद।

लगभग सात सौ वर्ष प्राचीन उस मठ में उस समय लामा सेंग के अतिरिक्त चार और लामा थे। जिनमें एक मेरे पूर्व परिचित थे, जिनके साथ वहा पहुँचा था मैं लामा सेंग से मिलने के लिये।

सायं काल से ही उस सिद्ध महापुरुष के स्वागत के निमित्त तैयारियाँ की जाने लगी। सत्तू, मक्खन, छम्ब (एक प्रकार की तिब्बती मदिरा) ओर याक् (तिब्बती पंशु) के मांस की पर्याप्त व्यवस्था की गयी। रेशमी वस्त्रों के लाल हरे पीले रंग के टुकड़ों की मालायें भी तैयार की गयी।

धीरे-धीरे रात गहराने लगी। भयंकर हिमपात हो रहा था। चारों ओर सांय सांय हो रहा था उस समय। कोई अज्ञात संकेत पाकर सहसा सतर्क और सावधान हो गये लाम सेंग और उनके साथ-साथ अन्य लामा भी।

एकाएक मठ का रहस्यमय वातावरण किसी अपरिचित सुगन्ध से भर उठा। मन और प्राण को एक साथ सम्मोहित कर देने वाली वह दिव्य गन्ध धीरे-धीरे बढ़ती ही जा रही थी, सहसा किसी व्यक्ति विशेष की उपस्थिति का आभास हुआ मुझे उस छोटे से कक्ष में। ध्यान से देखा मैंने। एक महात्मा सामने खड़े मन्द-मन्द मुस्करा रहे थे। महात्मा का कद बहुत छोटा था। उनके शरीर पर केवल एक कौपीन मात्र था। उनकी आँखे स्थिर थी। चेहरे पर गम्भीर भाव था और दप् दप् कर रहा था मुँख मण्डल साधना के प्रखर तेज से।

वह महात्मा और कोई नही लामा सेंग के गुरू तिगलम् छेम थे।

लामा सेंग ने थोड़ा आगे बढ़कर बौद्ध परम्परा के अनुसार अपने गुरू का अभिनन्दन किया, जिसका अनुसरण हम सब लोगों ने भी किया। फिर उन्हें आसन देकर भोज्य पदार्थ प्रस्तुत किया गया उनके सामने और अन्त में माला पहनायी गयी। माला पहनने के बाद हम सभी की ओर स्थिर नेत्रो से एक बार देखा गुरू लामा छेंम ने और दोनों हाथ उठा कर आर्शीवाद दिया सभी को। इसके बाद लामा

सेंग ने गुरूदेव से मेरा परिचय कराया और अन्त में मेरे तिब्बत यात्रा का बतलाया उद्देश्य। जिसे सुनकर वह सिद्ध योगी आश्चर्यचकित हो उठा एक वारगी।

ज्ञान के लिए श्रद्धा आवश्यक

तुम पच्चीस वर्ष के युवक हो और इस अल्प आयु में सत्य परक ज्ञान की खोज में दुर्गम हिमयात्रा कर रहे हो - यह वस्तुतः आश्चर्यजनक है। साधारण मानव के लिए असम्भव कार्य है यह। निश्चय ही यह सब तुम्हारे पूर्व जन्म के संस्कार का परिणाम हैं। इसमें सन्देह नहीं उस महापुरुष ने मेरी ओर स्थिर दृष्टि से देखते हुए कहना शुरू किया। सत्य परक ज्ञान की उपलब्धि के लिये दो वस्तु अति आवश्यक है- पहली वस्तु है श्रद्धा और दूसरी है विश्वास। श्रद्धा और विश्वास का ही दूसरा नाम शक्ति और शिव है, जिनको तुम परमेश्वरी और परमेश्वर भी कह सकते हो। श्रद्धा परमेश्वरी का और विश्वास परमेश्वर का स्वरूप है। कहा भी गया है ''श्रद्धा विश्वासरूपिणै''

नकारात्मक दृष्टि और विधायक-दृष्टि जीवन को देखने और समझने के लिए दो दृष्टि है जिनका कहना है कि जीवन मात्र पदार्थ है, उनकी दृष्टि नकारात्मक है और जिनका कहना है कि जीवन पदार्थ नहीं, परमात्मा है, उनकी दृष्टि विधायक है।

इन दोनों दृष्टियों का भलीभाँति समझ लेना आवश्यक है। क्योंकि संसार वैसा ही दिखलायी देता है जैसी हमारी दृष्टि होती है। संसार में हम जो कुछ भी देखते है वह सब हम अपनी दृष्टि से देखते है। वह हमारा ही भाव है और हमारे ही भाव का प्रत्यक्षीकरण है। प्रबुद्ध वर्ग का कहना है कि मनुष्य तटस्थ होकर भी देख सकता है। व्यक्ति तटस्थ होकर निरीक्षण करें। उसका कोई भाव न हो उसकी कोई दृष्टि न हो तभी सत्य क्या है वह पूर्ण रूप से जाना जा सकेगा लेकिन विगत तीन सौ वर्षो की खोज ने, इस विचार को डगमगा दिया है। तब यह धारणा सामने आयी है कि व्यक्ति दृष्टि को छोड़कर और तथ्य को देख सके। योग ''विज्ञान'' है। उसका सिद्धान्त अपरिवर्तनीय है। उसके अनुसार कोई भी ज्ञान, व्यक्ति से मुक्त नहीं हो सकता। जानने में जानने वाला समविष्ट हो जाता है। हमारी आँखे जिस वस्तु को देखती है उस वस्तु पर आँखों की छाप तुरन्त पड़ जाती है। किसी वस्तु का स्पर्श करने पर हमे जो अनुभव होता है - वह वस्तु का ही नहीं अपने हाथ की क्षमता का भी है। हम जो सुनते है उस सुनने से हमारे कान के पर्दे पर पड़ी ध्वनियाँ की चोट ही नहीं हमारे कान की व्याख्या भी सम्मिलित होती है।

व्याख्या रहित देखना, सुनना और जानना-समझना असम्भव है। इसका कोई विकल्प नहीं। हम कितनी ही चेष्टा करें प्रयत्न करें और प्रयास करें, फिर भी जो निरीक्षण कर रहा है वह हमारे भीतर प्रविष्ट हो जाता है। उदाहरण के रूप में जैसे आप कोई खिला हुआ फूल देखते है। वह आपको सुन्दर दिखायी देता है, इसमें फूल का सौन्दर्य तो है ही, इसके अतिरिक्त आप भी उसमें सम्मिलित है, क्योंकि ऐसा भी सम्भव है कि जब आप दु:खी हो तो उस अवस्था में आपको वह फूल सुन्दर न दिखलायी दे। यह भी सम्भव है कि आप आनन्दित हो तो उस आनन्द के क्षणों में वह फूल और अधिक सुन्दर दिखायी देने लगे सच पूछा जाय तो इस संसार में जो कुछ भी प्रकट अथवा प्रकाशित है - उसमें तथ्य कम है - व्याख्या अधिक है जो कुछ हम देखते है उसे हम शुद्ध रूप में नहीं देखते क्योंकि वह हमसे सम्मिलित हो जाता है। मनुष्य का कोई भी ज्ञान मनुष्य से मिश्रित हुये बिना नहीं रह सकता। सर्वत्र दृष्टि दोष है। उससे बचना कठिन है। जब भी हम कुछ देखते है तो उस वस्तु की जिस बात पर हमारा ध्यान रहता है। वह हमारे में समाविष्ट हो जाता है वही हमे दिखलायी देता है और जिस पर ध्यान नहीं देते वह हमें दिखलायी नहीं देता। "ध्यान ही हमारा अनुभव है" तात्पर्य यह कि जब तक हमारे में दोष दृष्टि है तब तक हमें सत्य दिखलायी नहीं देगा। हमे सत्य की प्रतीति नहीं होगी। और सत्य का अनुभव भी न होगा हमें।

यदि हम संसार को दोष दृष्टि से देखेंते तो हमें संसार में कुछ भी श्रेष्ठ दिखलायी न देगा, सत्य की कोई प्रतीति न होगी। सौन्दर्य का कोई अनुभव न होगा। कही कोई "रस" न ही मिलेगा। आनन्द नहीं मिलेगा। काव्य की झलक भी कही नही मिलेगी हमें। "संसार एक महान और परम उत्सव है। वह हमारी प्रतीति कदापि नहीं बनेगी। इन सबका जो जोड़ होगा। वही नास्तिक का संसार है। दोष दृष्टि से संसार को देखा जाय तो आस्तिक के दर्श्यान का होगा जन्म। योगी की दृष्टि दोष रहित होती है इसीलिए उसे सर्वत्र भगवद दर्शन होते है। इसी को "समदृष्टि" भी कहते है। सत्य के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा दोष दृष्टि है। जिसे हम गोपनीय ज्ञान कहते है और कहते है परम ज्ञान उसके रहस्य से तब तक हम परिचित नही हो सकते जब तक दृष्टि दोष है।

राजविद्या और राजयोग

गीता में भगवान श्रीकृष्णजी ने भी तो कहा है :

हे अर्जुन: तुम दोष दृष्टि रहित भक्त के लिए मैं इस परम गोपनीय ज्ञान को कहूँगा। (गीता अ0 9 श्लोक 1,2)।

अब यहाँ थोड़ी गम्भीरता से तत्थ को समझना है।

गोपनीय ज्ञान यानि परम ज्ञान का जो रहस्य है उसी को "राज विद्या" कहते है। और उस राज विद्या को जिस माध्यम से ह्दयंगम किया जाता है वह है राजयोग।

योगी सच्चे अर्थों में सत्यान्वेषी होता है। वह सत्य को जानने के लिए सर्वप्रथम बृद्धि से संघर्ष करता है। "राजयोग" वास्तव में बुद्धि से संघर्ष करने का योग है। जब संघर्ष से बुद्धि कट-कट कर गिर जाती है तब ह्दय उभर कर सामने आता है और सामने उभर कर आने वाले उस ह्दय में तभी सत्य की प्रतीति सत्य का ज्ञान, सत्य का अनुभव और सत्य का साक्षात्कार होता है। राजयोग का उद्देश्य है बुद्धि को हटाना। क्योंकि बुद्धि जब तक कार्य करती है तब तक ह्दय विश्राम करता है। और जब बुद्धि विश्राम करने चली जाती है तब ह्दय सक्रिय हो जाता है। जिसे योग शास्त्र अथवा तंत्र शास्त्र गोपनीय रहस्य कहता है - वह केवल ह्दय से ही जाना समझा जा सकता है। मतलब यह कि जो भी रहस्य हैं वे ह्दय से ही समझे जा सकते है क्योंकि जरा सा भी वह भेद रेखा नहीं खींचता। वहा भेद है ही नहीं। वास्तव में ह्दय निकट ले आता है जब कि बुद्धि दूर ले जाती है।

जिस संबंध का आधार बुद्धि है उस सम्बन्ध में जमीन आसमान का अन्तर है, वह संबंध कितना ही निकट का हो अन्तर होगा ही उसमें। निकटता और निस्तंरगता आत्मीयता का नाम है। जब दो के बीच कोई तरंग न उठती हो तब वहाँ समझिये आत्मीयता है। जहाँ बुद्धि को तिलांजलि दे दी जाती है वही आत्मभाव जन्म लेता है और आत्मीयता उत्पन्न होती है।

गुरू शिष्य सम्बन्ध

गुरू और शिष्य के बीच ऐसा ही आत्मीय सम्बन्ध होना चाहिए। शिष्य का प्रश्न बुद्धि के तल का नहीं ह्दय के तल का होना चाहिए। प्रश्न दो प्रकार से किया जाता है। पहला तो इसलिए कि जो कहा गया है उसे और गम्भीरता से यानी और गहराई से समझना है। इस प्रकार का प्रश्न ह्दय के तल से उठता है। दूसरा कि जो कहा गया है उसे गलत सिद्ध करना है। इस प्रकार का प्रश्न बुद्धि के तल से उठता है। ह्दय के तल से उठने वाले प्रश्न में सन्देह नहीं होता। वह सत्संग बन जाता है। बुद्धि के तल से उठने वाला प्रश्न दो के बीच की खाई को और गहरा कर देता है। दो बुद्धि के बीच की खाई को पाटना असम्भव है। दो बुद्धि के बीच किसी प्रकार का भी संबंध निर्मित नहीं होता। दोनों का मेल होना सम्भव नहीं। लेकिन दो ह्दय के बीच किसी भी प्रकार की खाई सम्भव नहीं।

उनका मेल स्वाभाविक है। हृदय के तल से उठने वाले प्रश्न में अथवा जिज्ञासा में श्रद्धा होती है। श्रद्धावान व्यक्ति के शरीर और मन की जो रासायनिक व्यवस्था होती है वह रूपान्तरिक हो जाती है और उस रूपान्तरण का प्रभाव उसके मुख पर स्पष्ट दिखलायी देने लगता है और झलकने लगता है उसकी आँखें में श्रद्धा और विनम्रता का मिला जुला भाव। इस मठ में तुम्हारी उपस्थिति का आभास मुझे लग गया था। और तुम्हे देखते ही यह मैं समझ गया था कि तुम जिन आध्यात्मिक प्रश्नों और ज़िज्ञासाओं के समाधान के लिये हिम प्रान्त में भ्रमण कर रहे हो उनसे बुद्धि का कोई सम्बन्ध नहीं है। वे सब तुम्हारे हृदय तल की सामग्री हैं। जिसके फलस्वरूप तुम्हारे शरीर का कण-कण बदल गया है और बदल गया है उसी के साथ तुम्हारा मन भी। क्योंकि शरीर मन की छाया के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। शरीर जो भी है वह मन का ही प्रतिफल हैं।

दोषदृष्टि क्या है? मैंने प्रश्न किया? नकारात्मक दृष्टि से देखने का ढंग। समझे न। महात्मा थोड़ा रूक कर आगे कहने लगे - नकारात्मक दृष्टि की माँग विश्लेषण है। विश्लेषण करने पर जब पाया कि ''हैं'' तभी हम विश्वास करेंगे कि ''हैं''। नकारात्मक दृष्टि खण्ड-खण्ड करने पर विश्वास रखती है। नकारात्मक दृष्टि फूल को तोड़ कर उसकी पंखुड़ियों को अलग अलग कर सौन्दर्य की खोज करेगी। स्वभावत: फूल का सौन्दर्य नहीं मिलेगा। क्योंकि फूल का सौन्दर्य फूल की पूर्णता में निहित है। उसकी समग्रता में निहित है फूल का सौन्दर्य और फूल की सुगन्ध उसकी अखण्डता में उसके निहित है खण्डों में नहीं और जो भी अखण्डता में है उसे नकारात्मक दृष्टि कभी भी प्राप्त नहीं कर सकती। ''सत्य'' परमात्मा है और परमात्मा परिपूर्ण अखण्डता है। परमात्मा का अर्थ है सारे अस्तित्व की समग्रता। पूरा अस्तित्व यदि एक फूल है तो परमात्मा उसकी समग्रता का सौन्दर्य है।

श्रद्धा का जन्म

जब बुद्धि असहाय हो जाती है। थक कर बैठ जाती है। तभी उसके मरघट पर श्रद्धा का फूल खिलता है, जब तक सत्य की खोज करने वाले के हृदय में श्रद्धा का भाव न हो तब तक कोई भी ज्ञान खतरनाक सिद्ध हो सकता है। आज के विज्ञान का ज्ञान ऐसे ही खतरनाक सिद्ध हो रहा है। कोई भी ज्ञान स्वयं खतरनाक नहीं होता, लेकिन ज्ञान जिसको उपलब्ध होता है, उसके पास श्रद्धा का हृदय नहीं है तो उस ज्ञान का खतरनाक होना निश्चित है।

विज्ञान ने बड़े-बड़े ज्ञान की खोज की और पदार्थ के गुह्यतम रहस्यों को बाहर निकाला लेकिन उसका परिणाम हिरोशिमा और नागासाकी हुआ। और उस

परिणाम का परिणाम यह हुआ कि अब वैज्ञानिक इस बात से चिन्तित और दुःखी है कि उनसे बहुत बड़ा अन्याय और पाप हो गया। ऐसा अन्याय और ऐसा पाप की जिसका कोई प्रायश्चित् नहीं है। ओजोन हीमर और आइन्स्टीन जैसे जिन वैज्ञानिकों ने ''अणु विस्फोट'' में सर्वाधिक योग दान दिया था। उनका अन्तिम क्षण अत्यन्त पश्चाताप पूर्ण था। वे अपने आपको बहुत बड़ा अपराधी समझते थे। उनकी छाती पर भारी बोझ था मरते समय। लीनियस पोलिंग जैसे आज के दूसरे वैज्ञानिक भी अपने जीवन के अन्तिम चरणों में एक ही बात से चिन्तित और परेशान है कि हमने इतनी खोज और इतने परिश्रम से जिस ज्ञान को उपलब्ध कर मानव जाति को दिया है कही वह ''ज्ञान'' उसके लिए आत्मघाती सिद्ध न हो जाय भविष्य में ? और उसके द्वारा नष्ट न हो जाय सारा जगत। हमने तो यही सोचा था कि ''ज्ञान'' सदैव हितकारी ही सिद्ध होता है लेकिन ऐसा है नहीं।

वास्तव में ''ज्ञान'' सदैव हितकारी और कल्याणकारी नहीं है। कभी-कभी 'अज्ञान' भी हितकारी और कल्याणकारी सिद्ध होता है, क्योंकि ''ज्ञान'' परमात्मा की परम शक्ति हैं। ''ज्ञान'' प्रकाश है, परमात्मा का। ज्ञान परम मुक्ति का साधन है। पश्चिम का महान चिन्तक वेकन ने कहा है -"ज्ञान" और ''शक्ति'' यदि अयोग्य व्यक्ति के पास है तो समझिये खतरा निश्चित है। योग और तंत्र दोनों ''शक्ति'' की साधना है। दोनों शक्ति के द्वारा सत्य की खोज करते है। उनसे गलती कभी नहीं हो सकती। इसीलिए कि गलत करने वाली प्रवृत्ति उनके पास होती ही नहीं। योगी और साधक का अर्थ है जिसने जीवन में अब परम सत्य को देखने की क्षमता अपने में एकत्र कर ली है। अब वे निकृष्ट के लिये प्रयत्नशील नहीं हो सकते। उनके द्वारा उक्त शक्ति का सदुपयोग ही होगा दुरूपयोग नहीं।

वैज्ञानिकों की समस्या

वैज्ञानिकों को अपनी जो भूल और जो गलती आज समझ में आ रही है, वैसी ही भूल और वैसी ही गलती आज लगभग पाँच हजार वर्ष पूर्व भारत के मनीषियों और तत्व वेत्ताओं की समझ में आ चुकी थी लेकिन उस भूल और उस गलती का सन्दर्भ कुछ दूसरा ही था।

अभी कुछ समय पूर्व पश्चिम में शीषस्र्थ वैज्ञानिकों ने पदार्थ की मूल इकाई के गर्भ में प्रवेश कर जिस ''तत्व'' को उपलब्ध किया है उस तत्व से संबंधित ज्ञान से सर्वसाधारण विशेष कर राजनितिज्ञों को परिचित कराना चाहिए अथवा नहीं। जो रहस्यमय ज्ञान उन्हें प्राप्त हो रहा है और भविष्य में जो प्राप्त होने वाला है उसे सर्व सामान्य के लिये सुलभ किया जाना चाहिये या नहीं?

पश्चिम के एक मूर्धनय वैज्ञानिक का यह भी कहना है कि यदि उपलब्ध उस रहस्यमय ज्ञान को हमने प्रकट कर दिया तो वह अहितकर सिद्ध तो होगा? उससे संसार का अकल्याण तो नहीं होगा? अनर्थकारी तो सिद्ध नहीं होगा वह? अगर होगा तो उसे रोकेगा कौन? कौन उससे रक्षा करेगा?

ये और ऐसे ही अन्य सारे प्रश्न इस समय विश्व के मूर्धन्य वैज्ञानिकों के मस्तिष्क में उथल पुथल मचा रहे हैं। कहने की आवश्यकता नहीं निकट भविष्य में वैज्ञानिकों के दल को यह निश्चित करना पड़ेगा कि वैज्ञानिक अनुसंधान से हुई उपलब्धियों को मात्र केवल वैज्ञानिक ही जान समझ सकेंगे न राजनितिज्ञ लोग और न तो सामान्य लोग। उन उपलब्धियों को संसार से दूर रखने के लिये ऐसी "भाषा" का निर्माण होगा जिसे वैज्ञानिकों के अतिरिक्त और कोई नहीं समझ सकेगा। वैसे भी इस समय वैज्ञानिकों की भी भाषा शनैः शनैः स्पष्ट रूप से गोपनीय होती चली जा रही है।

उस महान योगी के मुंख से आधुनिक विज्ञान की चर्चा सुनकर घोर आश्चर्य हुआ मुझे। संसार समाज से सर्वथा दूर घोर हिम प्रान्त में रहने वाले उस साधक को भौतिक विज्ञान का ज्ञान कैसे हुआ? मेरे कौतूहल को सम्भवतः लामा सेंग समझ गये। थोड़ा मुस्कराकर धीरे से कान में उन्होंनं कहा - योग की जिस अवस्था को ये महापुरुष उपलब्ध है, उसमें ज्ञान का अविर्भाव और विकास किस रूप में कहाँ और कैसे हो रहा है उस सबकी विस्तृत जानकारी बराबर होती रहती है इन्हें। इसमे आश्चर्य की कोई बात नहीं। यह सुनकर स्तब्ध रह गया मैं एकबारगी, और सिर घुमाकर उस महान योगी के चेहरे की ओर अपलक देखने लगा, जहाँ कोई भाव नहीं था और न तो था कोई विकार।

गुप्त और रहस्यमय ज्ञान की सूत्रबद्धता

तुम सबको बतला दूँ थोड़ा रूक कर लामा लिंग छेंम आगे कहने लगे - आत्मज्ञान के संबंध में एक ऐसा ही अनुभव भारत को भी हुआ था। आज से कई हजार वर्ष पूर्व भारत के ऋषियों ने जो अपने समय के महान वैज्ञानिक थे अन्तश्चेतन के उस मूल केन्द्र को उपलब्ध कर लिया था जो मूल शक्ति का स्रोत था, फिर जिन सूत्रो के माध्यम से उस स्रोत का पता चला था उन्हें गुप्त रखने की दिशा में प्रयत्न शुरू हुआ, क्योंकि उन गोपनीय सूत्रों को प्रकट किये जाने पर खतरा सम्भव था। वह खतरनाक सिद्ध हो सकता था। इसलिये उन ऋषियों ने एक विशेष प्रकार का गोपनीय "गुह्य ज्ञान" का अविर्भाव किया। उन सूत्रों को इतना गुह्य और गोपनीय करना पड़ा कि उनका उल्लेख शास्त्रों में भी न हो।

क्योंकि शास्त्रों को लोग पहले अपनाते है। लेकिन उन सूत्रों को व्यक्त करना भी आवश्यक था। इसीलिये सोच विचार कर उन महान वैज्ञानिक ऋषियों ने इस प्रकार और इस ढंग से उन्हें लिपिबद्ध किया कि पढ़ने वाला कुछ का कुछ समझे। वह नहीं समझे जो लिपिबद्ध किया गया है। उसकी भाषा और शब्दावली ऐसी थी जिसके दो अर्थ थे। एक वह जिसे सामान्य व्यक्ति समझने का प्रयत्न करें - और उसी में खोजी जायँ। और समझ ले कि यही अर्थ ठीक और उचित है। दूसरा वह जिसे वह व्यक्ति समझने की चेष्टा करे जिसके पास गुरू की दी हुई कुंजी हो। यहाँ यह भी बतला देना आवश्यक है कि इसी के साथ-साथ भारत का यह भी अनुरोध और आग्रह रहा कि विशेष ज्ञान-विज्ञान से संबंधित कोई भी पुस्तक न लिखी जाय। इस आग्रह और अनुरोध का पालन करते हुये हजारों वर्षो तक तत्ववेता ऋषियों ने उसे मुखाग्र रखा और रखा सुरक्षित श्रुति और स्मृतियों के रूप में।

शास्त्र लिखने की विवशता

बाद में लिखने की विवशता उन परिस्थितियों में उत्पन्न हुई जब ज्ञान-विज्ञान की अनेक शाखायें हो गयी और साथ ही साथ वह अनेक गुप्त मार्गों से यात्रा करते हुए कतिपय ऐसे लोगों के हाथों में पहुँच गयी जिन्होंने उसके वास्तविक स्वरूप और रहस्य को समझ न सकने के कारण अपने अनुमान ज्ञान के आधार पर अपनी ओर से कहीं-कहीं कुछ बातें उसमें जोड़ दी। जिसके परिणाम स्वरूप ज्ञान-विज्ञान में विश्रंखला उत्पन्न होने लगी और होने लगा अर्थ का अनर्थ। किसी ने कुछ अर्थ लगाया और किसी ने कुछ। किसी ने कुछ समझा तो किसी ने कुछ। इस स्थिति में यह स्पष्ट करना अति आवश्यक हो गया कि अज्ञानतावश जो बाते जोड़ी गयी है वह पूर्णतया गलत है और वह ठीक नहीं है। कहने की आवश्यकता नहीं, इस विकट परिस्थिति में भारत के तत्ववेता मनीषियों ने श्रुति और स्मृतियों के गर्भ से ज्ञान-विज्ञान को निकाल कर पुस्तक रूप में उसे लिपिबद्ध करना शुरू किया लेकिन वह भी सूत्र के रूप में।

सूत्र से आपका क्या तात्पर्य है मैंने प्रश्न किया? सूत्र की अपनी भाषा होती है। जो उस भाषा में पारंगत और निष्ठावान होता है वही सूत्र को समझ सकता है दूसरा और कोई नहीं। सूत्र का अर्थ है संक्षिप्त सार तत्व जिसे वही जान समझ सके जिसको सूत्र के पूरे विस्तार का ज्ञान हो। सूत्र के गर्भ में स्थित पूरे विस्तार से जो पूर्ण परिचित हो। सूत्र से विस्तार नहीं जाना जा सकता। यदि विस्तार का ज्ञान हो तो उसके आधार पर सूत्र अवश्य खोजा जा सकता है। सूत्र, मात्र केवल स्मरण रखने के लिये है ताकि पूरे विस्तार को स्मरण न रखना पड़े।

प्रारम्भिक काल में जितने भी शास्त्र हैं वे सब सूत्रों में लिखे गये और उन सूत्रों को गुरू शिष्य के बीच रखा गया। गुरू अपने योग्य शिष्य को सूत्र बतलाता था और शिष्य उसे अपने आपमे समाविष्ट कर लेता था। आत्मसात कर लेता था। बाद में वही शिष्य अपने शिष्य को उसका उपदेश देता था तो उस ज्ञानोपदेश में केवल शब्द ही नहीं होता था, बल्कि उसके साथ ज्ञानोपदेशक का अनुभव भी होता था। ज्ञानोपदेश का प्रत्येक अक्षर और प्रत्येक शब्द ज्ञानोपदेशक के अनुभव के रस में पैदा होता था। उस पर उसका पूर्ण अधिकार भी होता था।

इस उदाहरण से यह समझा जा सकता है कि गुरू शिष्य परम्परा कितनी प्राचीन है। गुह्य ज्ञान से संबंधित उपदेश गुरू अपने योग्य शिष्य को सूत्र के माध्यम से देता था और वह भी कान में। गुरू के अनुभवों से ज्ञानोपदेश सूत्र के द्वारा शिष्य के कान में प्रवेश करता था और कान के मार्ग से वह अनुभव युक्त ज्ञानोपदेश शिष्य की आत्मा में प्रवेश कर जाता था और शिष्य भी वही अनुभव प्राप्त कर लेता था जो उसके गुरू को पहले उपलबध था।

गुरू शिष्य परम्परा का निर्वाह अब भी हो रहा है लेकिन जहाँ तक अनुभव का प्रश्न है वह विरले ही किसी गुरू के पास होता है। गुरू शिष्य को जो भी ज्ञानोपदेश देता है वह केवल शब्द होता है और जानते हो, अनुभवहीन शब्द मृतक के समान होता है। वह ''शव'' के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता। गीता के उदाहरण से इस तथ्य को सरलता से समझा जा सकता है। गीता में भगवान श्रीकृष्ण - अर्जुन से कहते है - ''हे अर्जुन! अब मैं तुमसे गोपनीय ज्ञान को उसके रहस्य के साथ बतलाऊँगा, क्योंकि केवल गोपनीय बात कहने से कोई लाभ नहीं। उसका रहस्य भी जानना परम आवश्यक है। तभी तू दु:ख रूपी संसार से मुक्त हो सकेगा।

दु:ख का कारण अज्ञान

जिसे हम ''परम ज्ञान'' कहते है, वह क्या है? वह है गोपनीय ज्ञान का परम रहस्य जो उसे परम रहस्य से भलीभाँति परिचित हो जाता है वह सभी प्रकार के दु:खों से निवृत हो जाता है। सच बात तो यह है कि सभी प्रकार के दु:खों का कारण एक मात्र अज्ञान है। ''अज्ञान'' वास्तव में समस्त दु:खों का पर्याय है। इसे मैं थोड़ा विस्तार से तुम सबको समझा देना चाहता हूँ। हम अज्ञानी है इसलिये हम दु:खी है-ऐसी बात नहीं। वास्तव में हमारा अज्ञान ही हमारा दु:ख है। हमारा अज्ञान ही हमारे समस्त क्लेशों हमारी समस्त पीड़ाओं और हमारी समस्त व्यथाओं का जन्मदाता है। हम अपने अज्ञान के कारण ही इस संसार में आकर उलझ गये है। जिसके कारण हमारा जीवन विषमय हो गया है। यह हमारी सबसे बड़ी भूल है।

तुम सबको ज्ञात होना चाहिए कि विश्व में मात्र केवल दो ही मुख्य धर्म है। पहला है हिन्दू धर्म और दूसरा है यहूदी धर्म। ये दोनों धर्म ही सर्व प्राचीन है। संसार में जितने भी प्रचलित धर्म है उनका जन्म या तो हिन्दू धर्म से हुआ है या फिर हुआ है यहूदी धर्म से। पश्चिमी देशों की जितनी भी धर्म परम्परायें है उन सबका अविर्भाव यहूदी धर्म से हुआ है जैसे इस्लाम, इंसाइयत, हसीद आदि। इसी प्रकार भारत की जितनी भी धर्म परम्परायें है उन सबका आविर्भाव एक मात्र हिन्दू धर्म से हुआ है।

यहूदी धर्म से आविर्भूत पश्चिम के जितने भी धर्म है वे सब मनुष्य के समस्त दुःखों का कारण ''पाप'' को बतलाते है। ''पाप'' के ही कारण मनुष्य दुःखी है और है पोड़ित। इसके ठीक विपरीत हिन्दू धर्म से आविर्भूत भारत के जितने भी धर्म है वे मनुष्य के समस्त दुःखों का कारण ''अज्ञान'' को बतलाते है। अज्ञान ही मनुष्य के समस्त दुःखों का एक मात्र कारण है।

यह बात विचारणीय है कि मनुष्य अज्ञानता के कारण ही ''पाप'' दुःख का कारण अथवा मूल नहीं हो सकता। इससे स्पष्ट है कि पाप से भी पहले अज्ञान है। पापी होने के पूर्व अज्ञानी होना आवश्यक है। मनुष्य कोई गलती करता है तो समझ लेना चाहिए कि उसके जानने समझने में कहीं कोई भूल अवश्य हो गयी है। बिना भूल के गलती हो ही नहीं सकती। और यही कारण है कि हिन्दू धर्म कहता है अज्ञान के अतिरिक्त न कोई पाप है न कोई क्लेश है और न तो कोई है दुःख। इसी प्रकार ''ज्ञान'' के अतिरिक्त न कोई पुण्य है न कोई सुख है और न तो कोई है आनन्द।

पश्चिमी धर्म परम्परा के अनुसार यदि दुःख का कारण अथवा आधार ''पाप'' है तो निश्चय ही ''पुण्य'' होगा कारण अथवा आधार मुक्ति का। सम्भवतः इसीलिए क्रिश्चियन धर्म ''सेवा'' को प्रमुखता देता है और उसकी सारी मिशनरी सेवा कार्य में लगी है। क्रिश्चियन धर्म की दृष्टि से सेवा का प्रयोजन है ''पाप'' को नष्ट करना। पाप बुरा है। बुरे काम को सेवा रूपी अच्छे काम से नष्ट किया जा सकता है। यह धारणा है ईसाइयत की और इसी धारण के फलस्वरूप पश्चिमी चिन्तकों, विचारकों और मनीषियों को यह बात अभी तक भी समझ में नहीं आयी कि भारत के योगी साधक सन्यासी आदि लोग ''ध्यान'' को सर्वाधिक महत्व क्यों देते है?

सेवा भाव का भी महत्व

हम यह नहीं कहते है कि सेवा भाव व्यर्थ है। व्यर्थ है लेकिन उस समय है, जब उसमे ज्ञान और श्रद्धा का अभाव हो। ज्ञानहीन और श्रद्धाहीन ''सेवा''

उसी प्रकार है जैसे बिना चीनी की मिठाई। ज्ञान और श्रद्धायुक्त ''सेवा'' भी मुक्ति का साधन है। इसीलिए कलियुग में सेवा को सर्वाधिक महत्व दिया गया। कलियुग में सेवा मुख्य है। यदि ज्ञान और श्रद्धा से युक्त सेवा भाव है तो निश्चय ही कलियुग में मुक्ति उपलब्ध है।

''सेवा'' को दो रूप दिया गया है - ज्ञानयुक्त सेवा, और श्रद्धायुक्त सेवा। इन दोनों रूप के प्रतीक रामायण के भरत और लक्ष्मण है। राम के प्रति भरत की सेवा ज्ञानयुक्त है, जबकि लक्ष्मण की सेवा में श्रद्धा की अधिकता है, लेकिन उसके मूल में भी ''ज्ञान'' निहित है। अगर ऐसा न होता तो लक्ष्मण न जाने कब के वापस हो गये होते अयोध्या। इसी प्रकार भरत की ज्ञानयुक्त सेवा थी, लेकिन उसके मूल में श्रद्धा। यदि ऐसा न होता तो भरत भी चरण पादुका की पूजा न कर कुछ और ही करते।

भारतीय मनीषी का कहना है कि ज्ञान और श्रद्धायुक्त सेवा भी ध्यान युक्त होना चाहिये। मतलब यह कि सेवक के चित्त को ''सेव्वाय'' में स्थित व एकाग्र होना आवश्यक है तभी सेवा भाव सफल होगा। मुक्ति का साधन बनेगा, अन्यथा नहीं, इसलिए भारतीय अध्यात्म का कहना है कि ''सेवा'' भी मुक्ति का साधन है लेकिन तभी जबकि सेवा भाव ज्ञान और ध्यान दोनों से युक्त होगा अन्यथा नहीं। यही कारण है कि भारतीय समीक्षा ध्यान को सर्वाधिक महत्व देती है। क्योंकि ''ध्यान'' से ज्ञान का अविर्भाव होता है। ''ज्ञान'' का पिता है ध्यान।

सांराश यह कि पश्चिम की आध्यत्मिक चेतना सेवा पर और पुण्य पर बल देती है जबकि भारत की आध्यात्मिक चेतना बल देती है ध्यान पर। यदि विचार पूर्वक देखा जाय तो मौलिक आधार में अन्तर है, यदि ज्ञान चाहिए तो उसके लिये ध्यान मार्ग को स्वीकार करना पड़ेगा और यदि ''पाप'' से मुक्त होना है तो पुण्य करना होगा और करना होगा सत्कर्म, लेकिन भारतीय मनीषी कहता है कि यदि बिना ज्ञान का पुण्य भी किया जाय तो उसका फल छिछला ही होगा गहरा नहीं। क्योंकि अज्ञानी के पुण्य का मूल्य और महत्व ही कितना हैं।

अज्ञानी के द्वारा किया गया पुण्य, पूजा, अर्चना साधना उपासना आदि अत्यन्त अल्प परिणाम वाला ही सिद्ध होता है। अज्ञानी की सेवा भी किसी क्षण अत्यन्त घातक सिद्ध हो सकती हैं क्योंकि उसके सेवा भाव के पीछे अज्ञान रहता हैं। वह स्वार्थ की सेवा में भयंकर स्वार्थ छिपा रहता है इसलिये कभी किसी क्षण विस्फोटक रूप धारण कर सकता है। अज्ञानी, सेवा भाव से तुम्हारा आज पैर दाब रहा है तो समझ ले कल वह तुम्हारा सिर अवश्य काटेगा। किसी न किसी रूप में यह निश्चित है।

स्मृति ''ज्ञान'' नहीं

जैसा कि लोगों की धारणा है कि वेद, पुराण, उपनिषद आदि का अध्ययन करने शास्त्रों का चिन्तन, मनन करने तथा पुराणों का श्रवण करने से ज्ञान उपलब्ध होता है और साथ ही साथ पुण्य लाभ भी। यह बहुत बड़ा भ्रम है। यह अन्धविश्वासी धारणा है। यदि इतना सस्ता ज्ञान होता और होता इतना सस्ता पुण्य तो संसार में न कोई अज्ञानी होता न होता पापी ही।

सबसे बड़ी भ्रामक धारणा तो यह है कि मनुष्य पढ़ने अध्ययन करने चिन्तन मनन करने और सुनने को भी ''जानना'' समझ बैठता है और वह जानना उसका ज्ञान हो जाता है जो कुछ उसकी स्मृति में चला गया वह उसका ज्ञान हो जाता है और वह अपने को ज्ञानी समझने लग जाता है। कितनी मूर्खता पूर्ण धारण है यह।

स्मृति ''ज्ञान नहीं है'' लेकिन सारा जगत स्मृति को ही ज्ञान मानता है कोई व्यक्ति बहुत कुछ जानता है और बहुत कुछ पढ़ा है क्योंकि उसकी स्मृति कोशिकाओं में स्मृतियों की मात्रा अधिक है। स्मृति कोशिकाओं में स्मृतियों की अधिकता ''ज्ञानी'' होने का सूचक समझा जाता है संसार में।

किसी व्यक्ति को पूरी गीता कण्ठस्थ है। किसी व्यक्ति को चारो वेद कण्ठस्थ है किसी व्यक्ति को पूरा रामायण कण्ठस्थ है। कण्ठस्थ होने से क्या लाभ? कौन सी गरिमा है, और कौन सा महत्व है इसका? लेकिन संसार इसे महत्व देता है ऐसे व्यक्ति को परमज्ञानी और प्रकाण्ड विद्वान समझता है। उसके लिये वह गरिमामय और महिमामय है।

ज्ञान का स्थान कण्ठ नही हृदय है। हृदयस्थ ज्ञान ही परम ज्ञान अथवा वास्तविक ज्ञान है। कण्ठस्थ ज्ञान का न कोई महत्व है और न तो है कोई गरिमा।

कण्ठ और हृदय में बड़ा अन्तर है। कण्ठ ऊपर है और हृदय है नीचे। कण्ठस्थ ज्ञान से कोई लाभ नहीं। वह तोते के ''ज्ञान'' के समान है। जैसे तोता को ''राम'' ''राम'' रटा दिया जाता है और बराबर राम राम रटता रहता है वह जानता भी नहीं कि जो वह बोल रहा है वह है क्या? उसे उससे कोई लाभ नहीं, लेकिन हाँ। सुनने वाले को अवश्य उसका राम राम कहना अच्छा लगता है। यही स्थिति है कण्ठस्थ ज्ञान की। वास्तव में वह ज्ञान होता नही। वह बोलने के लिये शास्त्रार्थ करने के लिये और प्रवचन देने के लिये ही होता है। स्वयं के लिये वह निरर्थक होता है। स्वयं के जीवन के लिये उसका कोई उपयोग नहीं।

जानने का अर्थ स्मृति नहीं है। जानने का अर्थ है अनुभव से गुजर जाना। कण्ठस्थ ज्ञान जानना नहीं है। वह मात्र ''स्मृति'' है। वास्तविक जानने को जान

लेना यानी अनुभव से गुजर जाना हृदयस्थ ज्ञान है, कहने की आवश्यकता नहीं हृदस्य ज्ञान ही एकमात्र दु:ख निवृति का साधन है जिसे योगीगण ज्ञानान्मुक्ति कहते है। यानि अनुभव से गुजर जाना।

''जानने'' में क्या अन्तर है? मेरे इस प्रश्न के उत्तर में लामा योगी बोले एक जानना वह है जिसे हम सब लोग जानते है जैसे एक आस्तिक व्यक्ति कहता है कि ''ईश्वर'' है। परमात्मा का अस्तित्व है। हांलाकि वह ''जाना'' कुछ भी नहीं है। इसी प्रकार एक नास्तिक व्यक्ति कहता है कि ईश्वर या परमात्मा के विषय में मुझे कोई ज्ञान नहीं।

इसलिये कैसे स्वीकार करू कि उसका अस्तित्व है। यदि गहराई में विचार किया जाये तो किसी न किसी दिन वह नास्तिक व्यक्ति ''आस्तिक'' हो सकता है। आस्तिक होने की सम्भावना है उसके लिये। लेकिन जो आस्तिक व्यक्ति है और जो कहता है कि ईश्वर या परमात्मा है उसने सुना है पढ़ा है, ईश्वर या परमात्मा के संबंध में। उसने अनुभव नहीं किया है ईश्वरत्व का। केवल वह जानता है और यह ''जानना'' ज्ञान नहीं है। लेकिन उसी जानने को ज्ञान समझते है। ऐसे ''जानने'' से कोई लाभ नहीं। ऐसा ''जानना'' रूपी ज्ञान मात्र केवल अहंकार को उत्पन्न करता है, विनम्रता को नहीं। विनम्रता को उत्पन्न करता है ''अनुभव''। जिसको जितना ज्ञानात्मक अनुभव होगा और जो जितना ज्ञान की गोपनीय रहस्यो से परिचित होगा। वह उतना अधिक विनम्र होगा। और तुम जानते हो सच्चे अर्थों में जो जितना होगा विनम्र वह उतना ही छलकपट से रहित सरल उदार चित होगा। निश्चय ही ''ज्ञान'' को उपलब्ध व्यक्ति सरल, निष्कपट, शान्त और बाल्य स्वभाव का होता है। अहंकार का तो नाम ही नहीं रहता उसमें।

प्रात:काल होने वाला था। कुहरा छंटने लगा था। पूरब का आकाश सफेद हो रहा था धीरे-धीरे। मुझे लक्ष्य करके उस महान योगी ने अब तक जो कुछ कहा था। वह सब अति मूल्यवान था आध्यात्मिक दृष्टि से इसमें सन्देह नहीं।

सुपरिचित गन्ध से सहसा पुनः भर गया वह प्रकोष्ट। और उसी के साथ लुप्त हो गया, उस महान आत्मा का अस्तित्व।

६

अध्याय

तिलक टीका और त्रिपुण्ड का योग तांत्रिक रहस्य

अपने स्थान पर वापस लौट गये थे लामा सेंग के गुरूदेव और छोड़ गये थे, अपनी स्मृति और अपना अपूर्व ज्ञान। जिसे लेकर कई दिनों तक मथता रहा मेरा मन, मस्तिष्क। फिर एक दिन पूर्व प्रसंग का उल्लेख करते हुए तिलक टीका त्रिपुण्ड आदि के संबंध में अपनी जिज्ञासाओं का समाधान करने का आग्रह किया मैंने लामा सेंग से।

थोड़ी देर बाद गम्भीर मुद्रा में लामा सेंग बतलाने लगे यदि विचार पूर्वक देखा जाय तो योग और तंत्र की दृष्टि से मानव शरीर का सर्वाधिक महत्वपूर्ण और साथ ही सर्वाधिक रहस्यमय अंग आज्ञा चक्र है। उसी को जाग्रत और चैतन्य करने के लिये सच पूछा जाय तो तिलक टीका त्रिमुण्ड आदि का प्रयोग हैं। लेकिन इन तीनों की गुणवत्ता इन तीनों का उपयोग और इन तीनों का प्रभाव भिन्न हैं।

तिलक तीन प्रकार का होता है - एक रेखाकृति तिलक, द्विरेखा कृति तिलक और त्रिरेखाकृति तिलक। इन तीनों प्रकार के तिलकों के लिये चन्दन, केशर, गोरोचन और कस्तूरी का प्रयोग किया जाता हैं जिनमें कस्तूरी का तिलक सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। आपको ज्ञात होना चाहिए इन तीनों प्रकार के तिलकों और उनके निमित प्रयुक्त होने वाले चारों प्रकार के द्रव्यों का अपना अलग-अलग गुण और प्रभाव है।

लामा सेंग थोड़ा रूककर आगे कहने लगे-आपको ज्ञात होना चाहिए कि शरीर की बहत्तर हजार नाड़ियों के मूल में केवल तीन नाड़ियाँ है, इडा, पिगला व सुषुम्ना। इन्हीं तीनों नाड़ियों का माया जाल बहत्तर हजार नाड़ियों के रूप में सम्पूर्ण मानव शरीर में फैला हुआ हैं। मूलाधार चक्र से ये तीनों नाड़ियाँ निकल

कर मेरूदण्ड के द्वारा ऊपर आयी हैं और मस्तिष्क के तीनों भागों का अलग-अलग स्पर्श करती है। और फिर वहाँ से वे तीनों नाड़ियाँ रस्सी की तरह आपस में गुंथी हुई कपाल प्रदेश में ऊपर से नीचे की ओर आती है। जिनको स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। तदन्तर भ्रूमध्य बिन्दु पर तीनों अलग होकर सुषुम्ना तो आज्ञा चक्र में अपनी यात्रा समाप्त कर देती है लेकिन इडा और पिंगला दोनों नेत्रों की कर्णिकाओं का स्पर्श कर उनकी रक्त वाहिनी तन्तुओं के रूप में परिवर्तित हो जाती है। यहाँ पर यह बतला देना आवश्यक है कि इन दोनों नाड़ियों का संबंध दोनों नेत्रों के माध्यम से जाग्रत अवस्था और स्वप्नावस्था से है, जबकि सुषुम्ना का संबंध तीसरे नेत्र के माध्यम से सुषुप्ति तुरीय व तुरीयातीत अवस्था से है। योगीगण भ्रूमध्य में मन अथवा चित को एकाग्र कर सुषुम्ना मार्ग से इन्ही अवस्थाओं के द्वारा आन्तर जगत में प्रवेश करते है। यह योगी के सामर्थ पर निर्भर है कि आन्तर जगत में किस सीमा तक प्रवेश कर सकता है वह। क्योंकि आन्तर जगत के विस्तार की कोई सीमा नहीं है। वासना लोक से लेकर मनोलोक, आत्मलोक के अतिरिक्त देव मण्डल, ऋषि मण्डल आदि दिव्य मण्डल भी उसी के अन्तर्गत है।

हाँ, तो मैं बतला रहा था तिलक के संबंध में लामा सेंग बोले-एक रेखाकृति तिलक का संबंध केवल सुषुम्ना से है और द्विरेखा कृति तिलक का संबंध है इडा और पिंगला से। जहाँ ये तीनों रेखाएँ तीनों नाड़ियों के प्रतीक है, वही दूसरी ओर उन्हें सदैव जागृत व चैतन्य रखने के लिए भी है। इसलिये कि तीनों नाड़ियों का कपाल प्रदेश से संबंध हैं, जिस संबंध के माध्यम से वे विश्व ब्रह्माण्ड के तीनों भागों से भी अदृश्य रूप से जुड़ी हुई है। यह अति गूढ़ विषय है। जिसे एक परम योगी ही समझ सकता है।

आपने इसी सन्दर्भ में चन्दन आदि की भी चर्चा की थी। उसका क्या रहस्य है-मैंने पूछा?

श्वेत और रक्त चन्दन भक्ति का प्रतीक है। विशेष कर भक्त समुदाय के लोग इसके तिलक का प्रयोग करते है। केशर व गोरोचन का तिलक ज्ञान और वैराग्य का प्रतीक हैं ज्ञानी तत्व चिन्तक और विरक्तहृदय वाले लोग इसके तिलक का प्रयोग करते हैं, रही कस्तूरी की बात। कस्तूरी, ज्ञान, वैराग्य, भक्ति, प्रेम, सौन्दर्य, ऐश्वर्य आदि सभी का प्रतीक हैं। परमैश्वर्य को उपलब्ध होने के लिये विशेषकर परम अवस्था प्राप्त योगीगण ही इसके तिलक का प्रयोग करते है। भगवान विष्णु के लिये इसी कारण कस्तूरी चन्दन का प्रयोग होता है।

इसी प्रसंग में आपको त्रिपुण्ड के विषय में थोड़ा बतला हूँ, लामा सेंग जरा थमकर बोले-त्रिपुण्ड का प्रयोग विशेष कर शैव सम्प्रदाय के विभिन्न अनुयायी

करते हैं। जैसे तीन रेखाये तिलक में प्रयुक्त होती है उसी प्रकार तीन रेखाये त्रिपुण्ड के लिए भी प्रयुक्त होती है। त्रिपुण्ड, प्राय: भस्म का होता है। इसके लिये कापालिक सम्प्रदाय को छोड़कर अन्य शैव सम्प्रदाय के लोग विभिन्न प्रकार से निर्मित भस्म का प्रयोग करते हैं। चिता भस्म का प्रयोग कापालिक सम्प्रदाय के लोग करते हैं क्योंकि चिता भस्म पूर्ण रूप से असारता और वैराग्य का प्रतीक है। उसको मस्तक पर धारण करने से चित में वैराग्य भाव स्वयमेव उत्पन्न होता है।

त्रिपुण्ड का प्रयोग भी अपने आपमे रहस्यमय है। दोनों कानों के बगल में अनहद नांद के दो केन्द्र हैं। त्रिपुण्ड द्वारा दोनों केन्द्रों को आपस में मिलाया जाता हैं। त्रिपुण्ड की तीनों रेखाये एक ओर जहाँ ज्ञान, भक्ति, वैराग्य का प्रतीक है वही दूसरी ओर मन, बुद्धि, अहंकार, और सत्व, रज, तम, इन तीनों गुणों से भी उसका आन्तरिक संबंध है।

टीका का क्या आध्यात्मिक तात्पर्य है? मेरे इस प्रश्न के उत्तर में लामा सेंग बोले-टीका का संबंध भ्रूमध्य और उसमें स्थित तीसरा नेत्र से है। ''भ्रूमध्य'' में तीसरा नेत्र की स्थिति किस स्थान पर है यह केवल योग्य गुरू ही बतला सकता है। जिसका भ्रूमध्य के रहस्य का ज्ञान होगा वही तीसरा नेत्र के विषय में भी ठीक-ठीक बतला सकता है सभी नहीं। तिलक का सबसे पहला और सबसे महत्वपूर्ण उपयोग यह है कि भ्रूमध्य में जिस स्थान पर टीका लगाया गया है, उस स्थान का बराबर स्मरण बना रहे और उस स्मरण के कारण चेतना वहाँ उस पर बराबर केन्द्रित रहे।

यदि सद्‌गुरू उपलब्ध न हो तो उस अवस्था में क्या करें।

वैसे साधारणत: दोनों भौहो के मध्य से लेकर ऊपर एक बड़े सिक्के के आकार का गोलाकृति स्थान भ्रूमध्य कहलाता है। भ्रूमध्य में सभी का एक ही स्थान पर तीसरा नेत्र नहीं रहता। उसका स्थान निश्चित भी नही है। यदि गुरू का आभाव है तो स्वयं अपनी तर्जनी उगली से अपने नेत्र के आकार की टीका ब्राह्म मुर्हुत में लगाना चाहिए। ज्ञान की उपलब्धि के लिए तर्जनी, ऐश्वर्य की उपलब्धि के मध्यमा और धन वैभव सुख शान्ति आदि के लिये अनामिका उँगली का प्रयोग टीका के लिए करना चाहिए। तर्जनी से लाल या श्वेत चन्दन का टीका मध्यमा से सिन्दूर का टीका अनामिका से केशर कस्तूरी और गोरोचन का टीका लगाना चाहिए। इनके लिए क्रमश पूर्व दिशा, उत्तर दिशा और पश्चिम दिशा है। संबंधित दिशा की ओर मुंखकर तिलक लगाना चाहिए।

कुछ लोग अंगूठे से उसके आकार का चन्दन का टीका लगाते है और इसी प्रकार काला टीका भी प्रयोग करते है मेरे इस प्रश्न के उत्तर में लामा सेंग

बोले-विशेषकर वे ही लोग अंगूठे से चन्दन का टीका लगाते है जो सभी धर्म, और सभी सम्प्रदाय को समान दृष्टि से देखते है। काला टीका तामसिक-क्रिया अथवा कठोर तामसिक साधना का प्रतीक है। कापालिक अथवा अघोर साधक इसका विशेष प्रयोग करते है।

हाँ तो आप स्वयं टीका लगाइए - लामा सेंग ने एक पल रूककर पूर्व विषय पर बोलना शुरू किया-और लगाने के पश्चात् ध्यानास्थ होकर उस टीके पर अपनी चेतना को कम से कम एक घण्टा केन्द्रित करिये। कुछ समय पश्चात् उसी स्थान पर अपने आप सरक कर आपके तीसरे नेत्र की बिन्दु आ जायेगी। जिसका अनुभव आपको स्वयं धीरे-धीरे होने लगेगा।

तिलक द्वारा तीसरा नेत्र जागृत करने की यह प्रथम प्रक्रिया है लेकिन इसके लिए अति अभ्यास की आवश्यकता है। तिलक तो एक माध्यम है चेतना को केन्द्रित करने के लिए। चेतना ही घनीभूत होकर तीसरे नेत्र को खोलने में सहायक सिद्ध होती है। वास्तव में यह योग की बाहय साधना क्रिया है। तीसरा नेत्र की दिशा में। समझ गये न।

संकल्प बिन्दु, आज्ञाचक्र

जैसे दोनों नेत्रो में बिन्दु रूप कर्णिका है उसी प्रकार तीसरे नेत्र में भी बिन्दु रूप कर्णिका है लेकिन उस कर्णिका का संबंध आन्तर जगत से हैं। वह कर्णिका संकल्प का भी बिन्दु है। उसी को योग की भाषा में तीसरा नेत्र कहते है। आज्ञाचक्र इसलिए कहते है कि हमारे जीवन में जितना जो कुछ भी अनुशासन है वह सब इसी चक्र से उत्पन्न होता है। हमारे जीवन की सारी व्यवस्था, सारी आज्ञा और सारी संगति उसी चक्र से उत्पन्न होती है। इस गुह्य विषय को इस प्रकार भी समझा जा सकता है:

सभी के शरीर में ''काम केन्द्र'' है। जिसे सभी सरलता से समझते है। उसे समझाना नहीं पड़ता। क्योंकि वह सबका परिचित है लेकिन आज्ञाचक्र से हम सब परिचित नही है।

मानव जीवन की सारी वासना और सारी कामना एक मात्र काम केन्द्र से उत्पन्न होती है। जब तक वह केन्द्र सक्रिय नही हो जाता तब तक काम वासना उत्पन्न नहीं होता। उसका ज्ञान अथवा उसका अनुभव भी नहीं होता। प्रत्येक शिशु काम केन्द्र लेकर जन्म लेता है। काम वासना का पूरा का पूरा यंत्र जन्म के समय उसके पास होता है, लेकिन काम शक्ति नहीं होती उसमें। समयानुसार काम शक्ति उत्पन्न होते ही वह काम केन्द्र स्वयं अपने आप सक्रिय हो जायेगा उसके लिए

कोई प्रयास नहीं करना पड़ेगा। तात्पर्य यह कि हमारे शरीर में जितने यौगिक व तांत्रिक चक्र है उनमें केवल हम इसी काम केन्द्र यानी काम चक्र से ही परिचित है। अन्य चक्रों से नहीं। और इसलिए अपरिचित है कि हम उसे शुरू नही करते। उसे शुरू प्रकृति करती है। यदि उसे मनुष्य को ही शुरू करना पड़ता तो इस संसार में बहुत ही कम लोग काम वासना से परिचित हो पाते। फिर करोड़ो, अरबों की जनसंख्या भी न होती। वह तो प्रकृति से शुरू होता है, इसलिए हमे ज्ञात होता है कि ''वह है'' कभी सोचिए। जरा सी वासना का विचार उत्पन्न होते ही आपका काम केन्द्र अपने पूरे यंत्र के साथ सक्रिय हो उठता है। विचार तो होता है मस्तिष्क में, लेकिन यंत्र उससे होता है दूर। परन्तु विचार उत्पन्न होते ही यंत्र तत्काल सक्रिय हो जाता है। उसे सक्रिय करना नहीं पड़ता है। इसलिए मस्तिष्क में ऐसे विचार उत्पन्न होने चाहिए जिनका संबंध वासना से न हो। विचार जितना ''वासना'' से संबंधित होगी उतनी हमारी मानसिक शक्ति क्षीण होगी इसमें सन्देह नहीं।

हम परतंत्र है

हमारा जीवन हमारा व्यक्तित्व और हमारी इन्द्रियाँ हमारे आधीन नही है। हम परतंत्र है हमारा जीवन सम्पूर्ण परतंत्र है, हमारा सम्पूर्ण व्यक्तित्व परतंत्र है और है हमारी सभी इन्द्रियाँ भी परतंत्र। जिनका आज्ञाचक्र क्रियाशील और चैतन्य न होगा वे इन सब परतंत्रताओं के बंधन में हमेशा-हमेशा बंधे रहेंगे। इस चक्र की चैतन्यता के अभाव में कोई स्वतंत्रता नहीं। राजनीतिक स्वतंत्रता, सामाजिक स्वतंत्रता, आर्थिक स्वतंत्रता, पारिवारिक स्वतंत्रता आदि जितनी भी स्वतंत्रता है वे वास्तविक स्वतंत्रता नही है। कहीं न कहीं और किसी न किसी रूप में वे परतंत्रता ही है। क्योंकि जिस व्यक्ति का आज्ञाचक्र सक्रिय नही हैं, वह किसी न किसी प्रकार की परतंत्रता में रहेगा ही। एक परतंत्रता से छूटेगा, तो दूसरी में पड़ेगा, दूसरी से छूटेगा तो तीसरी में पड़ेगा। वह परतंत्र रहेगा ही। उसके पास स्वयं के स्वामी होने का कोई साधन है ही नहीं, जहाँ से स्वामित्व का स्रोत फूटता है, और अधिकार की किरणें फूटती है।

जानते है वह साधन है एक मात्र आज्ञाचक्र। आज्ञाचक्र के अभाव में ''संकल्प शक्ति'' जैसी कोई वस्तु उसमें कभी भी उत्पन्न नहीं हो सकती। संकल्प और संकल्प शक्ति का आविर्भाव होता है, तब जब आज्ञाचक्र खुलता है चैतन्य होता है और होता है सक्रिय।

उसके अभाव में वह अपने को आज्ञा दे सके ऐसी सामर्थ्य उसमें नहीं होती। ऐसी स्थिति में और ऐसी अवस्था में उसका शरीर और उसकी इन्द्रियाँ ही उसको

हर काम के लिए और बात के लिए बराबर आज्ञा दिये चली जाती है। पेट कहता है भूख लगी है तो उसको भूख लगती है। काम केन्द्र कहता है वासना जगनी चाहिए तो उसकी वासना जगती है। शरीर कहता है बीमार हूँ तो वह बीमार हो जाता है। शरीर कहता है बूढ़ा हो गया तो वह वृद्ध हो जाता है। आँखे देखना चाहती है तो वह देखता है। कान सुनना चाहता है तो वह सुनता है। मुंह बोलना चाहता है तो वह बोलता है।

इस प्रकार शरीर आज्ञा देता जाता है और वह उस आज्ञा के अनुसार काम करता जाता है। इन्द्रियाँ आदेश देती जाती है और वह उस आदेश का पालन करता जाता है।

लेकिन जो आज्ञाचक्र है। उसके जाग्रत होते ही और उसके चैतन्य होते ही शरीर और इन्द्रियाँ आज्ञा देनी बन्द कर देती है और उसकी जगह आज्ञा और आदेश लेना प्रारम्भ कर देती है और वह आज्ञा तथा वह आदेश देता है आज्ञाचक्र। इस प्रकार पूरा का पूरा आयोजन परिवर्तित हो जाता है। कहने की आवश्यकता नही, यही है आज्ञा चक्र का सबसे बड़ा और सबसे महत्वपूर्ण गुण। समझ गये न आप। थोड़ा रूक कर लामा सेंग आगे कहने लगे - जिस व्यक्ति का आज्ञा चक्र सक्रिय और चैतन्य रहता है वह यदि बहती हुई नदी को कह दें, बहना बन्द हो जा, तो नदी तुरन्त बहनी बन्द हो जायेगी उसकी धारा अपने आप ठहर जायेगी। वह यदि अपनी चलती हुई नाड़ी का कह दे, मत चल, तो नाड़ी कभी भी न चल सकेगी जब तक उसे चलने के लिए वह कहेगा नही। वह यदि कह दे कि सांस न चले, तो उसकी सांस चलनी तुरन्त बन्द हो जायेगी। कहने का तात्पर्य यह कि वह व्यक्ति अपने शरीर, अपने मन और अपनी समस्त इन्द्रियों का स्वामी हो जाता है। उसका अधिकारी हो जाता है परन्तु इसके लिए आज्ञा चक्र का भेदन, जागरण और उसका चैतन्य होना आवश्यक है इसलिए इस परमचक्र का टीका, तिलक के माध्यम से जितना स्मरण करेगे और जितना स्मरण रखेगे उतना ही अधिक अपने आप पर आपका स्वामित्व होगा। उतना अधिक अपने आप पर अधिकार होगा आपका।

काशी के परम साधक सोमेश्वर नाथ ब्रह्मचारी

तिलक, टीका और त्रिपुण्ड के विषय में मुझे लामा सेंग आगे कुछ न बतला सके, इसलिए कि उनकी समाधि का समय हो गया था। लेकिन भारत लौटने पर सन् 1953 ई० में डॉक्टर गोपीनाथजी कविराज जी के माध्यम से एक महाशय से मेरा परिचय हुआ था। जिनका नाम था सोमेश्वर नाथ ब्रह्मचारी।

सोमेश्वर नाथ ब्रह्मचारी वंगदेशीय थे और प्रौढ़वय के थे। कभी किसी समय ढांका विश्वविद्यालय में विज्ञान के प्राध्यापक थे। पूर्व जन्म के आध्यात्मिक संस्कार

के जाग्रत होने पर उन पर सद्गुरू की सहसा कृपा हुई और सर्वस्व त्याग कर काशी चले आये और तभी से काशी के बंगाली टोला मुहल्ला में एक छोटा सा मकान किराये पर लेकर उसमे रहने लगे थे। डॉ. कविराजजी ने बतलाया था कि सोमेश्वर नाथ ब्रह्मचारी वास्तव में परम साधक है। पूर्व जन्म का साधना संस्कार उनमे गुरु कृपा से उदित हुआ है। सम्भवतः तीसरा नेत्र जागृत है।

यह सुनकर साधक सोमेश्वर ब्रह्मचारी के दर्शन के व्याकुल हो उठा मेरा मन और दूसरे ही दिन उनके निवास पर पहुँच गया मैं।

सायंकाल का समय था। अपने कमरे में अकेले बैठे थे सोमेश्वर नाथ ब्रह्मचारी। अत्यधिक दिव्य और आकर्षक व्यक्तित्व था उनका। परिचय देकर अपने आने का उद्देश्य बतलाया मैंने।

मेरी बात ध्यान से सुनी ब्रह्मचारी जी ने, फिर गम्भीर स्वर में बोले - वह तिब्बत के लामा सेंग ने तुम्हे जो कुछ बतलाया वह अपने आपमें वैज्ञानिक सत्य है, लेकिन उसके स्वरूप से बहुत ही कम लोग परिचित हैं। तुम तो यह जानते ही हो कि योग-तंत्र का मुख्य विषय एक मात्र कुण्डलिनी साधना है। और उस साधना का प्रमुख अंग षट्चक्र भेदन है। उन षट्चक्रों में आज्ञा चक्र सर्वोपरि और मुख्य है। यह शरीर का अत्यन्त रहस्यमय उपांग है। आज्ञा चक्र का जागृत अथवा चैतन्य होना ही तीसरा नेत्र का खुलना है। इस बात को ध्यान में रखना चाहिए।

योग-तंत्र ने आज्ञाचक्र को जागृत करने की दिशा में अनेक प्रयोग किये है। जिनमें तिलक भी एक महत्वपूर्ण प्रयोग है यदि आप स्मरणपूर्वक बार-बार आज्ञा चक्र पर ध्यान करे तो उसका परिणाम अत्यन्त आश्चर्यजनक होगा। तिलक, टीका आदि इसीलिए मस्तक पर लगाया जाता है कि तीसरा नेत्र के स्थान पर बार-बार ध्यान जाय। क्योंकि तिलक, टीका लगते ही वह स्थान अपने आप भिन्न यानी पृथक हो जाता है। आपको ज्ञात होना चाहिए कि वह अति संवेदनशील स्थान है। वैसा संवेदनशील स्थान शरीर में अन्यत्र नही है। यदि तिलक, टीका उसी संवेदनशील स्थान पर लगा दे तो निश्चय ही आपका ध्यान बराबर उस स्थान पर अपने आप जाता रहेगा। योगी अपने शिष्य को उसी संवेदनशील स्थान का अपने अंगूठे से स्पर्श कर ''स्पर्शदीक्षा'' देता है। उस संवेदनशीलता का जिस वस्तु के माध्यम से स्पर्श करने की विधि है वह है चन्दन का तिलक लगाना। चन्दन में एक ऐसा गुण है जो तीसरे नेत्र के बिन्दु की संवेदनशीलता को और अधिक गहन कर देता है। हर वस्तु का तिलक या टीका नही लगाना चाहिए। कुछ वस्तुओं के तिलक टीके तो उसकी संवेदनशीलता को नष्ट कर देते है। क्योंकि उनकी कोई वैज्ञानिकता नहीं है। योग-तंत्र से उनका कोई संबंध नहीं है। तिलक टीका के लिए प्रयोग में लाने वाली प्रत्येक वस्तु का अपना अलग-अलग अच्छा और

बुरा परिणाम है कुछ वस्तुएं संवेदनशीलता को बढ़ाती है तो कुछ घटाती भी है। आपको मालूम होना चाहिए कि इस संसार में एक छोटे से अन्तर से भारी अन्तर पड़ जाता है। इसी बात को ध्यान में रख कर भारत के तत्ववेत्ताओं ने कुछ विशेष वस्तुओं की खोज की ताकि उनका तिलक, टीके के रूप में प्रयोग किया जाय और उस प्रयोग से आज्ञा चक्र के बिन्दु अधिक से अधिक संवेदनशील हो सके। और हो सके सक्रिय। जिसके परिणाम स्वरूप आपके व्यक्तित्व में एक विशेष प्रकार की गरिमा और एक विशेष प्रकार का ओज आविर्भूत हो और एक समग्रता भी उत्पन्न हो। ऐसी समग्रता जो खण्ड-खण्ड नहीं अखण्ड हो।

''टीका'' का प्रयोग विशेषकर स्त्रियों के लिए

यहाँ एक बात जान लेना आवश्यक है कि तिलक का प्रचलन सर्वप्रथम हुआ, तत्पश्चात् टीका का। त्रिपुण्ड पर तो पूर्ण रूपेण शैव सम्प्रदाय और उससे आविर्भूत अन्य सम्प्रदायों का अधिकार है। टीका का प्रयोग विशेषकर स्त्रियों के लिए प्रारम्भ हुआ। वैसे तो यह ''योग'' का विषय है लेकिन स्त्रियों के लिए उसका प्रयोग इस दृष्टि से प्रारम्भ किया गया कि उनका आज्ञा चक्र अत्यन्त कमजोर, शिथिल और एक प्रकार से निष्क्रिय होता है। होगा ही, इसलिए कि स्त्री का सम्पूर्ण व्यक्तित्व का निर्माण समर्पण के लिए है। उसके सम्पूर्ण व्यक्तित्व की जो विशेषता है, वह समर्पण की है। समर्पण ही स्त्री के व्यक्तित्व की एक मात्र विशेषता है। यदि उसका आज्ञाचक्र संवेदनशील और दृढ़ होता तो उसमें समर्पण का भाव ही उत्पन्न न हो पाता। अत्यन्त कठिन हो जाता उसमें समर्पण के भाव का उत्पन्न होना।

आपको ज्ञात होना चाहिए कि आज्ञा चक्र के अशक्त होने के ही कारण स्त्री किसी न किसी रूप में किसी न किसी का आश्रय लेने के लिये सदैव व्याकुल और लालायित रहती है। उसे सहारा चाहिये। बिना सहारा के वह रह ही नही सकती। सहारा किसी का भी हो, पिता का पुत्र का या पति का हो अवश्य। आज्ञाचक्र की संवेदनशीलता के अभाव में स्त्री अपने पैर पर पूरी तरह खड़ी होने का साहस जुटा नही पाती। भले ही वह कहे कि वह अपने पैर पर पूरी तरह खड़ी है। उसे किसी का भी सहारा नही चाहिए।

निश्चय ही इस विषय पर ब्रह्मचारीजी का चिन्तन-मनन अत्यन्त गहन था, इसमें सन्देह नहीं। कुछ देर न जाने क्या सोचते रहे फिर आगे कहने लगे वह - कुछ भी हो, स्त्री कुछ भी कहे, लेकिन उसकी अन्तरात्मा सदैव यही चाहती है कि कोई आगे आये, कोई अपना हाथ बढ़ाये, कोई आज्ञा दे, कोई आदेश दे और वह उसका पालन करे पूर्ण समर्पिता होकर। इससे उसे जो आन्तरिक सुख

मिलता है, जो आनन्द मिलता है और मिलती है आन्तरिक शान्ति। वह उसके नारीत्व को और उसके व्यक्तित्व को निखार देती है एक वारगी। यही नही पूर्ण नारी बन जाती है वह।

स्त्री का आज्ञाचक्र संवेदनशील होना आवश्यक क्यों?

स्त्री के आज्ञाचक्र को सक्रिय और संवेदनशील बनाने के लिये सर्वप्रथम भारन ने प्रयास किया। इसलिए कि बिना उसकी सक्रियता और संवेदनशीलता के परलोक में उसके लिए कोई स्थान नहीं, और कोई गति नहीं। स्त्री की आत्मा को परलोक में उच्च स्थान प्राप्त हो, और उसकी आत्मा की सद्गति हो इसके लिये भारतीय मनीषीयों ने उसके आज्ञा चक्र को सक्रिय और संवेदनशील करना आवश्यक समझा और इसी दृष्टि से स्त्री के लिए ''टीका'' लगाना अनिवार्य बतलाया। दूसरी बात यह भी है कि बिना टीका के स्त्री किसी भी प्रकार की साधना उपासना आदि में पूर्णतया सफल भी नही हो सकती। इस दृष्टि से भी टीका लगाना स्त्री के अनिवार्य हैं।

इसी प्रसंग में आपको एक बात और बतला दूँ वह यह कि स्त्री के आज्ञा चक्र को पूर्ण सक्रिय और पूर्ण संवेदनशील हो जाने पर उसमे 'स्त्रेण' का अभाव हो जाता है और पुरुषत्व के गुण विकसित होने लग जाते है, इसीलिए स्त्री के टीके का संबंध उसके पति के साथ जोड़ दिया गया, अनिवार्य रूप से।

स्त्रियाँ मांग में सिन्दूर क्यों भरती है, पति के निमित, इसका क्या कारण है, मैंने पूछा-

वास्तव में स्त्री के मांग का सिन्दूर तिलक का प्रतीक है। ''टीके'' के प्रयोग से स्त्री में स्त्रैण का अभाव होकर पुरुषत्व का जो जागरण होता है, वह पुरुषत्व, पति के पुरुषत्व में समाहित होता रहे। इस दृष्टि से स्त्री अपनी मांग में सिन्दूर भरती है। पति का तो स्वयं अपना पुरुषत्व रहता ही है, उसमे जब मांग के सिन्दूर द्वारा टीका से उत्पन्न स्त्री के पुरुषत्व का सम्मिश्रण होता है तो पति का आत्मबल अत्यधिक प्रबल हो जाता है और उसकी आत्मशक्ति भी अत्यन्त प्रखर हो उठती है। यही दो सफलता के मूल आधार है जीवन में, और पति उसी के आधार पर जीवन के हर क्षेत्र में उन्नति करता जाता है सफल होता जाता है और साकार करता जाता है, अपने उद्देश्य को।

भारतीय संस्कृति में एकमात्र यही ऐसा सूत्र है जो पुरुष और स्त्री को पति पत्नी के रूप में सदैव के लिए बांध देता है। ब्रह्मचारीजी जो कहना चाहते थे

उसका सारांश मेरी समझ में आ गया था। निष्कर्ष यह था कि स्त्री के मस्तक से सीधा संबंध टीके का नही रखा गया। यदि रखा जाता तो उससे उसका स्त्रीत्व कम होता और वह स्वनिर्भर होने लगती और जितना स्वनिर्भर होती उतनी ही उसकी कमनीयता और लावण्यता भी कम हो जाती और अन्त में समाप्त हो जाती। इसलिए टीके का संबंध उसके पति से सीधा जोड़ दिया गया। जो अनिवार्य भी था। दूसरी बात यह कि स्त्री दूसरे का सहारा हमेशा खोजती है, यह उसकी कोमलता है, पर जब वह अपने सहारे खड़ी होती है, तो वही कोमलता कठोरता में परिवर्तित हो जाती है। भारतीय संस्कृति ने इस तथ्य पर बड़ी गहरायी से विचार किया कि यदि स्त्री को सीधे टीका लगा दिया जाय तो उसके व्यक्तित्व को भारी हानि पहुँचेगी और उसको मातृत्व उपलब्ध होने में भी बाधा पहुँचेगी। उसके समर्पण में बाधा पहुँचेगी, वह अलग। इसलिए उसकी आज्ञाचक्र को उसके पति से ही जोड़ने का समग्र प्रयास किया गया। कहने की आवश्यकता नही इससे दोहरे लाभ की सम्भावना बन गयी। इससे उसके स्त्रेण होने में कोई अन्तर नहीं पड़ेगा, बल्कि अपने पति के प्रति अत्यधिक अनुगत हो पायेगी और इसके बावजूद फिर भी उसका आज्ञा चक्र सक्रिय हो सकेगा।

ब्रह्मचारीजी आगे बोले - एक बात और समझ लेना आवश्यक है वह यह कि आज्ञाचक्र का संबंध जिससे स्थापित कर दिया जाय, उसके विपरीत कभी नहीं जाता वह।

मैं समझा नहीं। जरा स्पष्ट करें - मैंने कहा। मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि आज्ञाचक्र परम चेतना का केन्द्र है। टीका का प्रयोग जिसके निमित आज्ञा चक्र पर किया जाता है उससे आज्ञा चक्र का संबंध अपने आप स्थापित हो जाता है। यदि हम गुरु के निमित आज्ञा चक्र पर टीका लगाते है तो हमारा संबंध गुरू से बराबर बना रहेगा, गुरु की परम चेतना से हमारी परम चेतना मिलकर एकाकार हो जायेगी। जिसके फलस्वरूप गुरु का मार्ग हमारा मार्ग हो जायेगा। गुरु की आध्यात्मिक उपलब्धि हमारी उपलब्धि बन जायेगी। और गुरु का लक्ष्य हमारा लक्ष्य बन जायेगा। तात्पर्य यह कि गुरु और हम एकाकार हो जायेंगे परम चेतना के धरातल पर। इसी प्रकार यदि हम अपने इष्ट अथवा अपने आराध्य देव के निमित्त आज्ञाचक्र पर टीका का प्रयोग करते है तो आज्ञा चक्र का संबंध उसी टीका के माध्यम से हमारे इष्ट और हमारे आराध्य देव से स्थापित हो जायेगा और उस इष्ट और उस आराध्यदेव की परम चेतना हमारी परम चेतना से मिलकर एकाकार हो जायेगी। जिसके परिणाम स्परूप इष्ट अथवा आराध्य देव की परम चेतना की सहायता से हमारी चेतना विकसित होती जायेगी, उन्नति करती जायेगी और अन्त में आध्यात्मिक

स्वरूप धारण कर लेगी वह। इष्ट और आराध्यदेव का आन्तरिक सहयोग हमें इस मार्ग से प्रत्येक क्षेत्र और प्रत्येक दिशा में उपलब्ध होता है चाहे वह भौतिक हो चाहे आध्यात्मिक।

पति पत्नी के मध्य टीका

यदि स्त्री अपने पति के निमित्त, आज्ञाचक्र पर टीका का प्रयोग करती है तो आज्ञाचक्र कभी भी उसके पति के विपरीत नही जायेगा। यदि स्त्री के माथे पर ठीक स्थान पर टीका लगा है तो वह अपने पति के प्रति तो पूर्ण समर्पिता और पूर्ण अनुगता हो जायेगी लेकिन और लोगों के लिये पूर्ण प्रबला हो जायेगी और हो जायेगी आक्रामक।

इस तथ्य को मैं एक उदाहरण देकर समझा दे रहा हूँ। सम्मोहन विद्या एक अत्यन्त रहस्यमयी विद्या है जो इस विद्या का प्रयोग करता है, वह सर्वप्रथम अपनी सारी चेतना को अपने आज्ञाचक्र पर केन्द्रित करता है। यही सम्मोहन विद्या की विशेषता है। इस विशेषता के फलस्वरूप अपने चित्त को स्थिर और एकाग्र कर अपने आज्ञाचक्र का सम्मोहित होने वाले व्यक्ति के आज्ञा चक्र से संबंध स्थापित करता है सर्वप्रथम वह। जिससे उसकी चेतना और सम्मोहित होने वाले व्यक्ति की चेतना आपस में मिलकर एकाकार हो जाती है। जिसका परिणाम यह होता है कि सम्मोहित व्यक्ति सम्मोहनकर्ता की ही आवाज सुनता है, उसकी ही बातें सुनता है और उसी की आज्ञा का पालन करता है। वह दूसरे की न आवाज सुनेगा न बाते सुनेगा और न तो किसी दूसरे की आज्ञा का पालन करेगा। क्योंकि उसकी चेतना के अन्य सभी मार्ग बन्द हो चुके होते है केवल एक ही मार्ग खुला रहता है और वह मार्ग है, आज्ञा चक्र और उस आज्ञा चक्र का संबंध जुड़ा हुआ होता है सम्मोहनकर्ता के आज्ञा चक्र से।

इसी प्रकार स्त्री के टीके से संबंध उसके पति के साथ जोड़ दिया गया है। जिससे एक ही ओर उसका अनुगत भाव रह जायेगा। एक ही ओर वह समर्पिता हो जायेगी अब उसके स्त्री तत्व पर कोई बाधा नहीं पड़ सकेगी। इसीलिए पति के मरते ही स्त्री का टीका हटा दिया जाता है माथे पर से।

वैधव्य से टीका का संबंध इसलिए हटा दिया जाता है कि अब उसकी किसी के प्रति भी अनुगत भाव और समर्पण भाव का प्रश्न ही नही रहा। लोग इतना ही समझते है कि टीका इसलिये पोछ दिया गया कि विधवा हो गयी। पोछने के पीछे गहरा प्रयोजन है। अब उसके अनुगत होने का प्रश्न ही नहीं। सच पूछा जाय तो उसे स्त्री की तरह नहीं पुरुष की तरह जीना पड़ेगा संसार में। एक विधवा

का जीवन, पुरुष के जीवन के ही समान होता है इसमें सन्देह नहीं। एक विधवा के जीवन में पुरुष जैसी जितनी स्वतंत्रता उपलब्ध हो जाय उतनी ही उसके जीवन के लिए लाभ कारक और हितकर सिद्ध होगी वह।

टीके का प्रयोग उचित स्थान पर आवश्यक

ब्रह्मचारीजी बोले-वास्तव में टीके का प्रयोग अत्यन्त गहरा प्रयोग है। भारतीय संस्कृति का एक अति रहस्यमय अंग है यह। यदि मस्तक के ठीक स्थान पर टीका लगाया गया है टीका में प्रयुक्त होने वाली वस्तु अनुकूल है और नियोजित ढंग से लगाया गया है तो सफल है अन्यथा व्यर्थ है। सजावट, श्रृंगार, शौक की दृष्टि से लगाया गया टीका का कोई मूल्य व महत्व नहीं। कोई अर्थ भी नहीं। यह तो एक औपचारिक घटना है। टीका एक विशिष्ट अनुष्ठान है। सर्वप्रथम गुरु अपने शिष्य के मस्तक पर टीका लगाता है तो उसके पूरे अनुष्ठान के साथ लगाता है। पूर्ण अनुष्ठान द्वारा लगाया गया टीका ही परिणामकारी सिद्ध होती है।

ब्रह्मचारीजी थोड़ा रुककर आगे बोले - आज सारी चीजें हमे व्यर्थ और काल्पनिक मालूम पड़ने लगी है। इसका कारण है और वह, यह कि उसका कोई भी वैज्ञानिक रूप रह नही गया है। रह गया है तो उसका मात्र खोल। और उसी खोल को हम सब घसीट रहे हैं और वह भी बेमन से। आज "मन" मर गया है। आत्मा का भाव भी नही रह गया है। सबसे बड़ी बात तो यह है कि उसकी वैज्ञानिकता का कोई भी सूत्र हम सब के पकड़ में नहीं है।

प्राय: मनुष्य के मस्तक पर विशिष्ट रूप से तीन रेखाएं होती है, जिनका संबंध मस्तिष्क के तीनों भाग से समझना चाहिए। आपको यह जानकर आश्चर्य होगा कि हमारे सबके मस्तिष्क का आधा भाग बिल्कुल निष्क्रिय और व्यर्थ है। प्रसुप्त अवस्था में है। प्रतिभाशाली से भी प्रतिभाशाली व्यक्ति के भी मस्तिष्क का आधा भाग अन्धकार में डूबा रहता है और आधा काम करता है। शरीर शास्त्री और वैज्ञानिक चिन्तित है कि मस्तिष्क का वह व्यर्थ भाग क्यों अन्धकार में डूबा हुआ है ? क्यों नहीं काम करता ? यदि उस भाग को काटकर निकाल भी दिया जाय तो कोई नुकसान नहीं। शरीर में कुछ कम हो गया है, इसका भी अनुभव नहीं होगा। सोचने विचारने में भी कोई अन्तर नहीं आयेगा। वह पूर्ववत् रहेगा और उसका जीवन भी रहेगा पूर्ववत्। लेकिन योग विज्ञान कहता है मस्तिष्क के उस हिस्से का संबंध विश्व ब्रह्माण्ड के सैकड़ो हजारो लोक लोकान्तरों से हैं। यत्पिण्ड तत् ब्रह्माण्डें को वही भाग प्रमाणित करता है। योग के अनुसार आज्ञाचक्र के जागृत होने पर मस्तिष्क का वह रहस्यमय प्रसुप्त भाग जागृत और सक्रिय होता है क्योंकि

आधा मस्तिष्क आज्ञाचक्र के नीचे के चक्रों से संबंधित है और आधा मस्तिष्क आज्ञा चक्र के ऊपर के चक्रों से है संबंधित है। नीचे के चक्र जब सक्रिय होते है तो आधा मस्तिष्क काम करता है और इसी प्रकार जब आज्ञाचक्र के ऊपर के चक्र चैतन्य होते है तो शेष आधा मस्तिष्क काम करता है।

जब इन्द्रियों की शक्ति स्वयं बढ़ जाती है

आधा मस्तिष्क प्रकृति द्वारा संचालित है, और आधा मस्तिष्क तब क्रियाशील होता है, जब आज्ञाचक्र जागृत होता है। आज्ञाचक्र के सक्रिय होते ही ज्ञानेन्द्रियों का संबंध तत्काल मस्तिष्क के शेष आधे भाग से अपने आप स्थापित हो जाता है और जिसका परिणाम होता है कि ज्ञानेन्द्रियों की जो शक्ति है, वह एक विशेष सीमा तक बढ़ जाती है और बढ़ जाती है उसकी क्षमता भी। आँखे जो नहीं देख पाती है, वह देखने लग जाती है। काम जो नही सुन पाता है वह सुनने लग जाता है। नाक जो नही सूंघ पाती है वह सूंघने लग जाती है। इतना ही नहीं मस्तिष्क के उस आधे भाग का संबंध सम्पूर्ण विश्व ब्रह्माण्ड से होने के कारण व्यक्ति का वैचारिक और मानसिक संबंध भी सम्पूर्ण विश्व ब्रह्माण्ड और उसमे रहने वाली विभिन्न कोटि की विदेही आत्माओं से अपने आप जुड़ जाता है।

सच बात तो यह है कि जब तक कोई वस्तु सक्रिय नही होती तब तक उस पर हम ध्यान नहीं देते। सक्रिय होने पर ही हमारा ध्यान उधर आकृष्ट होता है।

कुछ वर्ष पहले स्वीडेन में चलती ट्रेन से एक व्यक्ति गिर पड़ा। बेहोशी की स्थिति में उसे अस्पताल ले जाया गया। काफी प्रयत्न के बाद जब उसे होश आया तो पच्चीस तीस मील के क्षेत्र की रेडियो आवाजे उसके कान पकड़ने लगे। वैसे तो रेडियो स्टेशन से प्रसारित होने वाली आवाजे वायुमण्डल में सदैव विद्यमान रहती है लेकिन कान की सीमा के बाहर होने के कारण वे उसे सुनाई नहीं पड़ती। कान को सुनने की अपनी एक सीमा है। उसी सीमा से कम या अधिक तरंगों की ध्वनि को वह ग्रहण नही कर पाता। लेकिन वह व्यक्ति रेडियो स्टेशन से प्रसारित होने वाले संगीत को वैसे ही सुनने लगा जैसे सामने रेडियो बज रहा हो। निश्चय ही उस दुर्घटना के कारण उस व्यक्ति के कान का संबंध मस्तिष्क के शेष भाग से स्थापित हो गया था। उस व्यक्ति की आकस्मिक घटना से बिल्कुल आकस्मिक रूप से वैज्ञानिकों के मन में इस विचार ने जन्म लिया कि इस संसार में जो नयी-नयी घटनाएं जन्म लेती है यानी घटती है, और उनसे सदैव जो नये दृष्टिकोण जन्म लेते है वे सदैव आकस्मिक ही होते है क्योंकि हम अपने पिछले ज्ञान से तो कोई

अनुमान ही नहीं लगा सकते उनका। कोई यह सपने में भी नही सोच सकता कि कभी कान भी रेडियो का काम कर सकता है। सच तो यह है कि रेडियो का निर्माण कान के आधार पर ही हुआ है। कान की और क्या-क्या सम्भावनाएं हो सकती हैं ये जब तक सहसा उद्घाटित न हो जाय तब तक उसका पता नही चल सकता।

इसी प्रकार दूसरे महायुद्ध के समय एक सैनिक घायल हुआ और बेहोश हो गया। जब होश में आया तो दिन में उसे तारे दिखलायी देने लगे। तारे तो आकाश में दिन में भी रहते है लेकिन सूर्य के तीव्र प्रकाश के कारण वे दिखलायी नही देते। आपको ज्ञात होना चाहिए कि कोई-कोई ''तारा'' सूरज से सैकड़ो हजारो गुना बड़ा है और सूरज से उनकी दूरी भी बहुत है। सूरज की किरणों को पृथ्वी तक पहुँचने में नौ मिनट लगते है जबकि उस तारे के प्रकाश को पहुँचने में चालीस से पच्चास साल का समय लगता है। सूरज की किरण एक सेकेण्ड में 1 लाख 86 हजार मील की गति से चलती है। तब कही जा कर नौ मिनट में धरती पर पहुँच पाती है।

उस व्यक्ति की आँखों का संबंध मस्तिष्क के दूसरे भाग से जुड़ गया था तभी तो उसकी आँखों के देखने की क्षमता बढ़ गयी थी और वह दिन में भी तारे देखने लग गया था। आँख की भी बहुत सी सम्भावनाएं है, लेकिन वे सुप्तावस्था में हैं। हमारी प्रत्येक इन्द्रिय की बहुत सी सम्भावनाएं है पर वे सारी सम्भावनाएं सुप्त हैं। इस जगत में हम जो चमत्कार देखते है, वह और कुछ नहीं है। वह सुप्त पड़ी किसी सम्भावना का कही से टूट जाना मात्र है। वास्तव में हम जिसे चमत्कार कहते है वह कोई सुप्त पड़ी सम्भावना के अलावा और कुछ नहीं है। लेकिन हम चमत्कृत हो जाते है। यदि सच पूछा जाय तो हमारे भीतर चमत्कारों का भण्डार भरा पड़ा है। जो अचानक किसी सम्भावना के टूट जाने पर बाहर प्रकट हो जाता है। योग और तंत्र को कुछ ऐसी विशिष्ट साधनाएं है, जो मानव शरीर के भीतर सुप्त शक्तियों को जागृत करती है। जिन योग तांत्रिक सिद्धियों की चर्चा हम पुस्तकों में पढ़ते है, वे सिद्धियाँ वास्तव में सुप्त शक्तियों को चमत्कार के रूप में प्रकट होने के अलावा और कुछ नहीं है। (विशेष अध्ययन के लिए पढ़े ''कालपात्र'' लेखक-अरूण कुमार शर्मा)

मैंने जो आधे मस्तिष्क के सक्रिय होने की बात आपसे कही है वह योग का विषय हैं। वह योग की अपनी मौलिक दृष्टि है। और योग की दृष्टि एक दो वर्ष की धारणा नहीं है। लगभग पच्चीस हजार वर्ष पूर्व उसकी यह परिपुष्ट दृष्टि है। विज्ञान की किसी भी दृष्टि पर विश्वास नहीं किया जा सकता क्योंकि

साल छै महीने में उसकी दृष्टि बदल जाती है। आज वह कुछ कहेगा तो कल कुछ और कहेगा लेकिन योग की दृष्टि परिपुष्ट दृष्टि है कम से कम पच्चीस हजार वर्ष की। आपको मालूम होना चाहिए हम जिस सभ्यता में जी रहे है वह सभ्यता, किसी भी स्थिति में पच्चीस हजार वर्ष से कम प्राचीन नहीं है। हमारा यह सोचना भ्रम है कि हमारी सम्यता पृथ्वी की पहली सभ्यता है। हमारी सभ्यता के पूर्व न जाने कितनी सम्यताओं ने जन्म लिया और नष्ट हो गयी। न जाने कितनी बार मनुष्य ने ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में उन्नती की, सफलता के शिखर को चूमा और नष्ट हो गया अन्त में।

सोमेश्वर नाथ ब्रह्मचारी इतना बोलकर कुछ देर मौन रहे और फिर उठकर भीतर कमरे में चले गये। जिसका अर्थ था आज बातें यहीं समाप्त। मैं भी उठा और चला आया। रात अधिक हो गयी थी। फिर चार पांच दिन किसी कारणवश न जा सका और जब एक दिन गया तो मुझे देखते ही ब्रह्मचारीजी ने ऐसा व्यवहार किया जिससे लगा कि काफी व्यग्रता से मेरी प्रतिक्षा कर रहे थे वह।

आओ-आओ कहां थे तुम बैठो उस दिनं प्रसंग अधूरा ही रह गया था।

मैं कुछ बोला नहीं मुस्कराते हुए बैठ गया चटाई पर।

सर्वप्रथम अणु की खोज

फिर स्वयं बतलाने लगे ब्रह्मचारीजी - तुमको मालूम होना चाहिए कि सन् 1924-25 के आस-पास जर्मनी में अणु विज्ञान पर शोध के लिए पहला संस्थान स्थापित हुआ था। एक दिन एक व्यक्ति जिसका नाम फल्का मेली था संस्थान के एक उच्च अधिकारी को एक कागज का टुकड़ा दे गया। उस कागज के टुकड़े पर लिखा था - मुझे अणु के संबंध में कुछ विशेष बातें मालूम हैं। जिनके आधार पर मैं यह सूचित करता हूँ कि अणु की खोज न की जाए। उस पर किसी भी प्रकार का शोध आदि भी न की जाए। क्योंकि हमारी सभ्यता के पहले और भी कई सभ्यताएं इस खोज और शोध के रहस्यमय मायाजाल में फंस कर नष्ट हो चुकी है। कृपया खोज बन्द कर दें।

सन् 1940 ई0 में जर्मनी में एक बहुत बड़ा वैज्ञानिक हुआ। जिसका नाम था हैसिन वर्ग। हैसिन वर्ग ने अणु पर काफी खोज की थी और उसे अपनी खोज पर भारी सफलता भी मिली थी। एक बार उसे भी फल्का मेली का पत्र मिला जिसमें लिखा था - तुम पापी बनने की दिशा में प्रयास मत करो क्योंकि अणु में पड़ने वाली यह पहली सभ्यता नही है इसके पहले भी न जाने कितनी सभ्यताएं अणु उपद्रव में पड़कर नष्ट हो चुकी हैं।

लेकिन उस व्यक्ति की सूचना पर किसी ने कोई ध्यान नही दिया और जो होना था वह होकर ही रहा। सन् 1945 में जब पहली बार हिरोशिमा पर अणु बम गिरा। जिसके परिणाम को देखकर सारा संसार स्तब्ध रह गया एक बारगी। उस अणु बम के निर्माण में बारह वैज्ञानिकों ने सहयोग दिया था। तुमको मालूम होना चाहिए कि उन सभी वैज्ञानिको को फल्का मेली के पत्र मिले थे। कहने की आवश्यकता नही उन बारह वैज्ञानिको में एक वैज्ञानिक था ओपिन हीमर। अमेरिका का सबसे बड़ा अणुशास्त्री था वह। सर्वाधिक सहयोग अणु बम के निर्माण में उसी का था। फल्का मेली का पत्र मिलते ही तत्काल अणु आयोग से अलग हो गया वह। और अलग होकर उसने जो अपना पहला वक्तव्य दिया वह यह था हमने बहुत बड़ा पाप किया है?

फाल्का नेली कौन था ? कहाँ का रहने वाला था और उसके पास अणु शास्त्र का क्या अनुभव था। यह सब अन्त तक किसी को ज्ञात न हो सका।

अधिक दूर जाने की आवश्यकता नहीं। चार हजार वर्ष पूर्व महाभारत काल को ही लो। महाभारत का युद्ध क्या था? अणु युद्ध ही तो था। खुलकर अणु परमाणुओं का प्रयोग हुआ था उस युद्ध में। जिसका परिणाम हुआ सर्वस्व नाश। उस अणु युद्ध में उस समय की सारी सभ्यता नष्ट हो गयी। सब कुछ उसकी आग में जलकर भस्म हो गया। कल्पना करो महाभारत की। कैसा रहा होगा महाभारत का भयंकर सर्वनाशक युद्ध।

विषय बदल कर आगे कहने लगे ब्रह्मचारीजी - योग के संबंध में मैंने पच्चीस हजार साल की बात की, इसलिए कि पच्चीस हजार साल का इतिहास पूरा स्पष्ट है। इतने दीर्घकाल से योग बराबर यही कहता आ रहा है कि आज्ञाचक्र से संबंधित आधा मस्तिष्क निष्क्रिय है। बन्द पड़ा है। अन्धकार में डूबा हुआ है। यदि इस संसार के पार कुछ जानना समझना और अनुभव करना है तो उस आधे मस्तिष्क को सक्रिय करना आवश्यक है उसे चैतन्य करना आवश्यक है। यदि परमेश्वर के विषय में ज्ञान प्राप्त करना हैं तो उस आधे मस्तिष्क को चैतन्य करना आवश्यक है। यदि पदार्थ के पार देखना है तो उस आधे मस्तिष्क को प्रकाशित करना आवश्यक है। और उसका एक मात्र द्वार है आज्ञा चक्र जहाँ हम सब टीका और तिलक लगाते है। लेकिन वह ऊपर का हिस्सा है। उसके भीतर लगभग एक से डेढ़ इंच भीतर वह बिन्दु हैं - जो भीतर द्वार का काम करता है भावातीत जगत के लिये। (भावातीत अवस्था के संबंध में विस्तृत अध्ययन के लिए पढ़ें - मरणोत्तर जीवन का रहस्य लेखक - अरूण कुमार शर्मा)।

पदार्थ से अतीत जो है वह मानसिक जगत है और उसके अतीत जो है वह विचार का जगत है और इसी प्रकार उससे भी जो अतीत है वह भाव जगत है। योगी गण अपने साधना बल पर इसी जगत तक पहुँच पाते है। इसके आगे बिरले ही किसी परम योगी की गति होती है। भाव जगत के आगे जो कुछ भी है वह भावातीत है। ध्यान योग में जो योगि पारंगत होता है वही भावातीत - अवस्था को भी उपलब्ध होता है। भावातीत अवस्था में ही योगी का शाश्वत ज्ञान, विज्ञान से साक्षात्कार होता है और होता है परमेश्वर रूपी परम सत्य का भी। योग का चरम उद्देश्य मात्र यही है।

तीसरा नेत्र और तिब्बत

तुमने हिमालय के विभिन्न स्थानो के अतिरिक्त तिब्बत की भी यात्रा की है। अनेक योगी साधको और लामाओं का सत्संग भी किया है। लेकिन इस सत्य का पता तुमको शायद न लगा होगा कि जैसे भारत ने तिलक, टीका का आविष्कार किया वैसे ही तिब्बत ने शल्य क्रिया (ऑपरेशन) का आविष्कार किया। यह आविष्कार एक मात्र तिब्बत ही कर सकता था। क्योंकि तीसरे नेत्र पर जितनी खोज और जितना परिश्रम तिब्बत ने किया उतनी खोज और उतनी मेहनत किसी और देश की सभ्यता और संस्कृति ने नही की। वास्तविकता तो यह है कि तिब्बत का सम्पूर्ण ज्ञान-विज्ञान और आध्यात्मिक विचार जीवन के अनेक आयामो की 'समझ' है। जो तीसरे नेत्र पर ही आधारित है। ब्रह्मचारीजी बोले-तुमने मुझसे कायसी की चर्चा की थी। एक बार जो समाधि में प्रवेश कर जड़ी बूटियों और दवाओ का नाम इलाज के लिये बतलाता था वह तो एक साधारण व्यक्ति था। अचानक तीसरे नेत्र को उपलब्ध हो गया था वह। तिब्बत में तो कोई व्यक्ति जब तक समाधि को उपलब्ध नहीं हो जाता है तब तक जड़ी-बूटी अथवा किसी प्रकार की दवा का पता ही नही लगता हैं। तिब्बत की पूरी की पूरी सभ्यता और पूरी की पूरी साधना यही काम करती है। समाधि में प्रविष्ट व्यक्ति से ही लोग इलाज के लिये दवा पूछते है। रोग के विषय में जानकारी प्राप्त करते हैं। क्योंकि उनके लिये समाधिस्थ व्यक्ति द्वारा बतलायी गयी ''दवा'' ही महत्वपूर्ण और उपयोगी हैं। शेष सब अंधेरे में टटोलना मात्र है। इसीलिये तिब्बत ने शल्य क्रिया को विकसित किया। जिसके द्वारा मस्तक के मध्य में स्थित लगभग डेढ़ इंच भीतर उस बिन्दु को बाहर से काटा जा सके जो भावातीत जगत का प्रवेश द्वार है यानि तीसरा नेत्र। मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि तिब्बत ने तीसरे नेत्र को बाहर से खोलने के लिये शल्य चिकित्सा की सहायता ली। जो सफल भी हुई आज भी तिब्बत शल्य चिकित्सा

की सहायता से तीसरे नेत्र को खोलता है। और उसे सफलता भी मिलती है। लेकिन यह बात ध्यान में रखना चाहिये कि तीसरे नेत्र को बाहर से खोलने और भीतर से खोलने में भारी अन्तर है। और यही कारण है कि भारत ने कभी-भी बाहर से तीसरे नेत्र को खोलने की दिशा में प्रयास नहीं किया।

क्यों, किसलिए प्रयास नहीं किया? मेरे इस प्रश्न के उत्तर में ब्रह्मचारीजी बोले "यह एक बहुत बड़ा रहस्य है"। वास्तव में भीतर से तीसरे नेत्र का खुलना साधनागत है और बाहर से उसे खोलना क्रियागत है। साधनागत और क्रियागत में जमीन-आसमान का अन्तर है। यौगिक साधनाओं द्वारा आज्ञाचक्र का भेदन होने पर ही मस्तिष्क का सम्पूर्ण आधा भाग प्रकाशित और क्रियाशील होता है शल्य क्रिया द्वारा उसका कुछ ही अंश प्रकाशित और क्रियाशील होता है। यह तो है ही इसके अतिरिक्त भी एक बहुत बड़े महत्व की बात है, वह यह की आज्ञा चक्र के भेदन से ही तीसरा नेत्र खुलता है। और इसके लिए जहाँ योग में गहन, गम्भीर साधना का विधान है, वही इसके लिए तिब्बत में शल्य चिकित्सा का विधान है योग की साधनाओ का महत्व नही है उसके निमित्त। तिब्बत योग और उसकी साधनाओ के झंझट में नहीं पड़ना चाहता वह शल्य क्रिया से आज्ञाचक्र का भेदन कर तीसरे नेत्र को खेलने के पक्ष में है। और इससे जो आंशिक सफलता मिलती है उसी पर उसकी सभ्यता संस्कृति और आध्यात्म का सम्पूर्ण ढाचा खड़ा हैं। यहाँ समझने की बात यह है कि एक अति साधारण व्यक्ति की शल्य चिकित्सा द्वारा आज्ञाचक्र का भेदन किया जाता है तो उसके द्वारा आधे मस्तिष्क की सक्रियता का दुरूपयोग करने की सम्भावना अधिक होगी। क्योंकि उस व्यक्ति का अंत:करण वहीं का वहीं है। उसकी चेतना में किसी प्रकार के साधनागत अन्तर तो हुए नही है। और इधर शल्य क्रिया से आज्ञाचक्र का भेदन होने के फलस्वरूप आधे मस्तिष्क के कुछ विशेष अंश ने अपने काम शुरू कर दिये। यदि उस व्यक्ति को ठोस वस्तु के आर-पार देखने की शक्ति प्राप्त हो गयी हो तो इस बात की कम सम्भावना है कि वह कुएं में गिरे किसी आदमी को दिव्य दृष्टि से देखकर निकालेगा। इस बात की अधिक सभ्भावना है कि वह किसी के गड़े खजाने को खोदकर निकालने जायेगा। यदि वह व्यक्ति यह समझ पाता है कि उसके आज्ञाचक्र के संकेत से किसी को आज्ञा दी जा सकती है तो इस बात की बहुत कम संभावना है कि वह उससे कोई कल्याणकारी काम करायेगा। इस बात की अधिक सभावना है कि उससे निश्चय ही कोई बुरा काम करायेगा। बिना साधना उपासना के उपलब्ध पारलौकिक अथवा लौकिक शक्ति द्वारा साधरण और अज्ञानी व्यक्ति कभी-भी कल्याण कारी कार्य नही कर सकता। वह समाज में संसार में बराबर उपद्रव ही

खड़ा करता रहेगा ऐसा व्यक्ति समाज संसार का अकल्याण तो करता है ही साथ-साथ अपना और अपने परिवार का भी अकल्याण करता है कहने की आवश्यकता नही ऐसा व्यक्ति अत्यंत कठोर, मानव समाज का शत्रु, अहंकारी और प्रबल महत्वाकांक्षी होता है। कहने की आवश्यकता नही ऐसे व्यक्ति के अनेक उदाहरण है लेकिन इस शताब्दी में इसका सबसे बड़ा उदाहरण एक मात्र हिटलर है।

क्या हिटलर तांत्रिक था ?

हिटलर। एक बारगी चौक कर बोला मैं।

हाँ हिटलर, ब्रह्मचारी थोड़ा रूककर बोले-एक समय ऐसा था जब दूसरा महायुद्ध और हिटलर एक दूसरे के पर्याय बन गए थे। सारे संसार में अपने विजय का डंका बजाने का स्वप्न देखने वाले हिटलर के संबंध में सम्भवतः कुछ ही लोग जानते होगे कि वह महत्वाकांक्षी तानाशाह और कुशल शासन के साथ-साथ एक सिद्ध तांत्रिक भी था। लेकिन उसे लोग जादूगर समझते थे। क्योंकि एक माहिर जादूगर की तरह दूसरो को प्रभावित करने की असाधरण क्षमता रखता था वह। सभी वर्ग के और सभी प्रकार के लोग उसकी ओर चुम्बक की तरह खिचे चले आते थे और उसकी बातो से सम्मोहित से हो जाते थे। उसके समय में ही अधिकतर लोगों के मन में यह धारणा बन गयी थी कि वह काला जादू जानने के कारण लोगो को अपनी ओर आकर्षित कर अपने वश में कर लेता है। लेकिन उसे काला जादू कहाँ से उपलब्ध हुआ? इसकी जानकारी किसी को नही थी। सच बात तो यह है कि वह कोई काला जादू-वादू नही जानता था वह थी तंत्र विद्या की एक विशेष काली विद्या जो उसे आज्ञाचक्र के ऊपर से भेदन होने के कारण अपने आप प्राप्त हो गयी थी। ऊपर से उसका आज्ञाचक्र कैसे टूट गया? यह अपने आप में अवश्य रहस्यमय है।

तुमको मालूम होना चाहिये तांत्रिक काली विद्या के ज्ञाता का लक्ष्य यह होता हैं कि वह किसी प्रकार प्राकृतिक शक्तियों पर अपना वर्चस्व और अपनी प्रभुता स्थापित करें। वह ब्रह्माण्ड की अनन्त शक्तियों को अपने वश में करना चाहता है। वह उनको वशीभूत करके उनका उपयोग अपनी सेवा के लिए तलवार की भांति करना चाहता है।

काली विद्या को जानकर अपने ही स्वार्थो की पूर्ति के लिए प्राकृतिक शक्तियों का उपयोग करता है और उसके मन में कोई अच्छा कार्य करने की इच्छा ही नही होती।

रहस्य विद्या के मर्मज्ञों के अनुसार काली विद्या जानने वाले को अन्त में अपने अहंकार का गहरा मूल्य चुकाना पड़ता है। बहुधा वह उन्ही प्रेतात्माओं अथवा पराशक्तियों से स्वयं आविष्ट हो जाता है जिन्हें वह अपने कार्यो को करने को बुलाता है। वे ही प्रेतात्माएं अथवा पराशक्तियाँ उसका विनाश भी करती है।

अनेक तांत्रिको और रहस्य विद्या के गहरे ज्ञाताओं के अनुसार हिटलर एक अति भयंकर काली विद्या का ज्ञाता था, इसमें सन्देह नही।

जैसा कि मैं संकेत कर चुका हूँ। सुप्त आधे मस्तिष्क के अन्दर कुछ लाख कोशिकाए ऐसी है जिनका संबंध ब्रह्माण्ड में क्रियाशील तामसिक पराशक्तियों से है। किसी प्रकार आज्ञाचक्र के कुछ ही अंशो में विखण्डित होने पर वे कोशिकाएं जागृत और क्रियाशील हो उठती है और व्यक्ति का संबंध अपने आप उन पराशक्तियों से स्थापित हो जाता है। यह आवश्यक नही है कि आज्ञाचक्र को इसके लिए बाहर या भीतर से तोड़ा ही जाये। तंत्र में बहुत ऐसी भी आन्तरिक क्रियाए है जिनके द्वारा भी आज्ञाचक्र टूट जाता है।

जानकारी के अनुसार हिटलर ने अपना काफी समय प्राचीन रहस्य विद्या, ज्योतिष शास्त्र, सम्मोहन विद्या तथा तंत्र शास्त्र के अध्ययन में व्यतीत किया था। सन् 1909 तक वह सुप्रसिद्ध तंत्र शास्त्री डॉ. पोर्ग लाज के सम्पर्क में रहा। वह अपने देवालय के ऊपर स्वास्तिक ध्वज लहराता था और भयंकर से भयंकर तांत्रिक अनुष्ठान करता था। हिटलर उसका परम शिष्य था। उसी के आदेश पर हिटलर ने स्वास्तिक चिन्ह को अपने राज चिन्ह के रूप में स्वीकार किया, लेकिन उसका स्वास्तिक उल्टा था। क्यों उल्टा था ? यह तो वही जाने या उसका गुरू। यह रहस्य अभी तक रहस्य ही बना हुआ है। खैर यह तो निश्चित है कि डॉ. पोर्ग लाज ने हिटलर से कोई तांत्रिक क्रिया करवायी होगी। जिससे उसका आज्ञाचक्र कुछ अंशो में टूट गया होगा और जिसके फलस्वरूप उसका संबंध स्थापित हो गया होगा पराशक्तियों से इसमें सन्देह नही। इस बात का प्रमाण यह है कि सन् 1932 में डॉ. पोर्ग लाज ने अपने एक मित्र को पत्र में लिखा था - हिटलर मेरा परम शिष्य है। एक दिन वह एक ऐसा आन्दोलन चलाएगा जिससे सारा संसार कांप जायेगा।

कहने की आवश्यकता नही प्रथम विश्व युद्ध के आरम्भ तक हिटलर में तांत्रिक शक्ति पूर्ण विकसित हो चुकी थी। एक बार युद्ध के दौरान आश्चर्यजनक ढंग से मौत से बच पाने के बाद उसने कहा था - मै अभी मर कैसे सकता हूँ। अभी तो मुझे वह कार्य करना बाकी है जिसके लिये भविष्य मेरी प्रतीक्षा कर रही है। युद्ध के समाप्त होने तक उसमे लोगों को सम्मोहित करने की अद्‌भुत शक्ति

आ गयी थी। 1930 के दशक में हिटलर जब कभी अपने अनुयायियों के बैठक में जाता था तब उसे देखते ही उसके साथियों को न जाने क्या हो जाता था कि वे एक टक सम्मोहित होकर उसे देखने लग जाते थे और उसकी बातो को ध्यान से सुनते थे। अधिकतर लोगो को विश्वास था कि उसके पास अलौकिक शक्तियाँ हैं।

सन् 1936 में एक बार स्वयं हिटलर ने अपने एक वक्तव्य में कहा था कि वह किसी अदृश्य शक्ति से निर्देशित होता है। इसी सन्दर्भ में उसने यह भी कहा था मैं उसी रास्ते पर चल रहा हूँ जिस पर चलने का दैवी शक्ति मुझे आदेश दे रही है।

इससे यही तात्पर्य निकलता है कि हिटलर के सारे कर्मो का संचालन उसका दिमाग और उसकी आत्मा नही करती थी बल्कि कोई और ही पराशक्ति करती थी। लेकिन वह पराशक्ति सदैव हिटलर के प्रति कृपालु व दयालु नहीं रहती थी इस बात के लिखित प्रमाण है कि आविष्ट होने की स्थिति में हिटलर उन्माद में चीखता चिल्लाता था। मुंह से झाग निकालता था और जमीन पर गिर पड़ता था। हिटलर के विश्वास पात्र राशचनिंग ने अपनी पुस्तक ''हिटलर स्पीक्स'' में इससे भी अधिक चौकाने वाला विवरण दिया है।

लेखक ने अपनी पुस्तक में एक स्थान पर लिखा है - हिटलर रात में जग जाता था। वह चीखने लगता था उसके शरीर में ऐंठन होने लगती थी। वह मदद के लिये चिल्लाता था। ऐसा लगता था कि उसके आधे शरीर पर फालिज पड़ गया है। वह भय और तनाव से कापनें लगता था। उस समय उसके मुंह से जो शब्द निकलते थे वह स्पष्ट नही होते थे। सांस लेते समय उसे देखकर ऐसा लगता था जैसे उसका दम घुट रहा है।

आज्ञा चक्र के भेदन के लिए भारत में भी शल्य क्रिया हो सकती थी

ब्रह्मचारीजी ने कहा-आज्ञाचक्र के भेदन के लिए भारत भी शल्य क्रिया कर सकता था। लेकिन नही, ऐसा उसने इसलिए नहीं किया कि जब तक व्यक्ति की अन्तर चेतना भीतर से इतनी विकसित न हो कि नयी शक्तियों का उपयोग करने में समर्थ हो जाय, तब तक उसे नयी शक्तियों से परिचित कराना खतरनाक है। यह वैसा ही है जैसे हम बच्चे के हाथ में धारदार तलवार दे दें। और बच्चे के हाथ में अथवा नादान के हाथ में दी गयी तलवार से किसी का मंगल हो सकेगा, इसकी आशा करना व्यर्थ है। यदि चेतना के तल पर व्यक्ति के भीतर की चेतना विकसित न हो तो उसके हाथ में नयी शक्तियाँ देना खतरनाक है।

तिब्बत ने आज्ञाचक्र के भेदन के लिए भौतिक उपकरणों का प्रयोग किया, इसलिए तिब्बत बहुत सारे अलौकिक रहस्यो से परिचित हो सका। बहुत से पारलौकिक अनुभव प्राप्त कर सका। योग और तंत्र के तमान गूढ़ गोपनीय रहस्यों से भी परिचित हो सका। लेकिन इतना सब होते हुए भी तिब्बत नैतिक अर्थों में कोई महान देश न बन पाया। यह बहुत ही आश्चर्यजनक बात है। यह मैं स्वीकार करता हूँ कि योग तंत्र और आध्यात्म के क्षेत्र में तिब्बत को बहुत बड़ी उपलब्धि समय-समय पर हुई है। उसका ज्ञान बढ़ा। उसकी शक्ति बढ़ी। आश्चर्यजनक बातो का उसे पता चला। लेकिन उन सबका उपयोग अत्यन्त साधारण कार्यो में हुआ संसार के लिये कोई बड़ा कार्य न कर सका वह। जानते हो इसी कारण सारे विश्व से दीर्घ काल तक तिब्बत कटा रहा। उसके अस्तित्व से भी लोग अपरिचित रहे इसी कारण। यदि चीन तिब्बत पर आक्रमण न करता तो शायद ही किसी देश की नजर उसकी ओर घूमती। और लोग उसके अस्तित्व से परिचित ही हो पाते।

तीसरे नेत्र के प्रति भारत का साधनागत् उद्‌देश्य

साधना के क्षेत्र में भारत ने कभी भी भौतिक उपकरणो का प्रयोग नही किया। उसने सदैव यही चेष्टा की कि आन्तर चेतना को इतना एकत्र किया जाय और इतना एकाग्र किया जाय कि उसी की शक्ति से आज्ञाचक्र का भेदन होकर अपने आप तीसरा नेत्र खुल जाय। क्योंकि चेतना के प्रवाह को आज्ञाचक्र तक लाना एक बहुत बड़ा नैतिक उपक्रम है। चेतना का संबंध मन से है। मन जब ऊपर उठेगा तभी चेतना का प्रवाह भी ऊपर की ओर गतिशील होगा। यह एक रहस्यमयी योग गत क्रिया है। लेकिन हमारा मन सदैव नीचे की ओर जाता है। साधारणत: उसकी गति ऊपर की ओर नही है। यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो हमारा मन हर स्थिति में और हर अवस्था में काम केन्द्र की ओर अग्रसर रहता है। हम कुछ भी करते हों सब कुछ करने के पीछे कहीं गहरायी में हमारे मन को काम वासना खींचती रहती है। मान, सम्मान, पद, प्रतिष्ठा, यश, कीर्ति, धन, वैभव आदि इसी आशा से प्राप्त करने का हम प्रयत्न करते हैं कि उनसे अधिक से अधिक काम उपलब्ध हो। उच्चपद की लालसा के पीछे भी काम की ही आकांक्षा काम करती है। हमारी सारी योजना सारा कार्य और सारा प्रयास काम केन्द्र की ही ओर है अव्यक्त रूप से, और जब तक मन की शक्ति काम केन्द्र की ओर दौड़ती रहेगी तब तक हमारा जीवन अनैतिक ही रहेगा। नैतिक नही हो सकेगा कभी। यदि मन की शक्ति को ऊपर ले जाना है तो काम की यात्रा को रूपान्तरिक करना होगा। यदि आज्ञाचक्र की ओर शक्ति को ले चलना है तो उसका

प्रवाह ऊपर की ओर ध्यान योग द्वारा मोड़ना होगा। ऊर्ध्व मुखी करना होगा और इसीलिए वहिरंग प्रयोगो के कारण तिब्बत में काली विद्या जैसी अनेक तामसिक विद्याओ का जन्म हुआ। जिसके फलस्वरूप तमोगुण तांत्रिक विद्याओं तांत्रिक क्रियाओ और साधनाओं का भंडार भर गया वहाँ। यही कारण है कि भारत ने समय-समय पर बहुत से गूढ़ और गोपनीय सूत्रों को जानबूझ कर छिपा दिया कि कहीं उनका प्रयोग अयोग्य और अनुपयुक्त व्यक्तियों द्वारा न हो जाय। इससे भारी अनर्थ की आशंका थी भारत को। सामान्य व्यक्ति को तभी कुछ दिया गया और इस ढंग से दिया गया कि जब वह पूर्ण योग्य हो जाय तभी उसका उपयोग कर सके।

दु:ख की विस्मृति और सुख की स्मृति

माँ अपने बच्चे के माथे पर टीका लगा देती है। बच्चे को इसका कोई ज्ञान नही। क्यों लगाया गया है उसके माथे पर टीका? इसके संबंध में उसे कोई जानकारी नही। जीवन में जब कभी उसे ज्ञान होगा तब उसके रहस्य को समझ सकेगा वह। जब उसकी चेतना समर्थ होगी तब तिलक का उपयोग कर पायेगा वह।

तिलक का इतना मूल्य और इतना सम्मान? कि जब भी कोई विशेष घटना घटित हो - विवाह हो रहा है तो तिलक हो। कोई युद्ध पर जा रहा हो तो तिलक हो। कोई युद्ध से लौटा है तो उसका तिलक हो। आपने कभी सोचा है कि हर सम्मान की घटना के साथ तिलक का उपयोग क्यों है ? इसलिए कि हमारे चित्त का स्वभाव अति विचित्र है। वह दु:ख को भूलना चाहता है और सुख को हमेशा याद रखना चाहता है। इसीलिए हमे अपने जीवन के पिछले दिन अच्छे और सुखद मालूम पड़ते है। वृद्ध कहता है कि बचपन सुन्दर और सुखद था। यह कोई बड़ी बात नही है। हमारा मन दु:ख को छोड़ देता और सुख की श्रृंखला को बराबर कायम रखता है और जब वह पीछे लौटकर देखता है तो उसे इसी कारण सुख ही सुख दिखायी पड़ता है। कोई बच्चा कभी नही कहता है कि बचपन सुखद है। बच्चों से पूछिये तो कहेंगे हम बड़े होना चाहते है। और वृद्धो से पूछिए तो कहेंगे हम बच्चे होना चाहते है। बच्चा तो यही चाहता है कि वह शीघ्र से शीघ्र बड़ा हो जाए वह। इसके लिए वह ऐसा प्रयास करता है कि जिसका कोई हिसाब नही। वह सिगरेट पीने लगता है इसलिए कि वह देखता है कि सिगरेट पीना बड़े आदमी का लक्षण है प्रतीक है। मनोवैज्ञानिक कहते है कि सौ में सत्तर बच्चे इसीलिए सिगरेट पीते है कि सिगरेट सम्मान का प्रतीक है। सिगरेट ताकतवर लोग, बड़े लोग, प्रतिष्ठा वाले लोग पीते है।

तिलक का सम्बन्ध सुख के साथ

तिलक के जितने उपयोग है उसमे एक उपयोग उसका संबंध सुख से स्थापित करना भी है। जब कोई मंगलमय सुखद घटना घटती है तब उस समय तिलक लगाया जाता है इसलिए कि उस मंगलमय सुखद घटना के साथ-साथ तिलक भी स्मृति पटल पर अंकित रहेगा इसके पीछे उद्देश्य यही है कि तिलक के माध्यम से सुख का संबंध तीसरे नेत्र से जुड़ जाय। भारतीय संस्कृति ने सुख और मंगल कार्य के साथ सदा तिलक को जोड़ा है। जब भी कोई मंगलमयी सुखद घटना घटी कि तिलक और सुख को एक किया। शनैः शनैः तिलक और सुख इतने एकाकार हो जाए कि तिलक को कभी भूला न जा सके। वह पूरी तरह स्मृति में बैठ जाए। जब भी सुख की स्मृति जागृत हो और मांगलिक घटना की याद आये तब आज्ञाचक्र की भी स्मृति जागृत हो। दुःख के बजाय हमे सुख की बहुत याद आती है। उसी की स्मृति में तो मनुष्य जीता है। सुख भले ही छोटा रहा हो लेकिन मनुष्य और उसे विस्तृत करके उसकी याद में बराबर डूबा रहता है। धीरे-धीरे उसे वह इतना बड़ा कर लेता है कि जिसका कोई हिसाब नही। मनुष्य जैसे सुख को बड़ा करता जाता है वैसे ही उसे छोटा भी करता जाता है। दोनों के नियम एक ही है। प्रेयसी मिली थी, प्रेमिका का साथ मिला था, कितना सुख और कितना आनन्द आया था। आप सोचेंगे तो बड़ा मालूम होगा बहुत बड़ा। अभी मिल जाए तो पता चले, एक दम छोटा हो जाएगा। सिकुड़ जाएगा। थोड़ी देर बाद फिर, आहा कितना सुख व आनन्द है। वास्तव में जीवन में इतना दुख है कि यदि हम सुख को बड़ा कर न पाये तो जीना कठिन हो जायेगा जीवन में सुख को बड़ा कर के रस ले-ले कर चलते है। इधर पीछे बड़ा कर लेते है और उधर आगे आशा में बड़ा कर लेते है और चलते है।

तिलक के साथ सुख जोड़ने का प्रयोजन

तिलक के साथ सुख को जोड़ने का भारतीय संस्कृति का अपना प्रयोजन है। वह यह कि जब कल्पना में सुख बड़ा हो जाए तो उसके साथ तिलक भी बडा हो जाए इधर सुख की याद आये तो साथ-साथ तिलक की भी स्मृति जागृत हो। स्मरण का प्रभाव धीरे-धीरे आज्ञाचक्र से संबंधित हो जाता है ? जब ऐसा हो जाता है। तो समझिए आपने तीसरी आँख को जगाने के लिए सुख का उपयोग किया। सब सुख की स्मृतियाँ आज्ञाचक्र से संबंधित हो गयी। हम सुख की धारा का उपयोग कर रहे है। उसको चोट करने के लिए। वह चोट जितने मार्गो से पड़ सके उतनी उपयोगी है।

जिस देश में तिलक टीका का उपयोग नहीं, सच पूछिए उस देश को तीसरे नेत्र का भी कोई पता नही है। इधर दो दशक से पश्चिम के लोग अधिक भारत में आने लगे है। वे भारत के साधु सन्तों की नकल कर जटा रखने लगे हैं गेरूआ वस्त्र पहनने लगे हैं और तिलक टीका और त्रिपुण्ड भी लगाने लगे हैं। यह केवल अनुकरण हैं। इसमें कोई वास्तविकता नही। इसीलिए कि तीसरे नेत्र से इसका कोई संबंध नही है। वास्तव में ऐसे पश्चिमी देश के लोग भारत और भारतीय संस्कृति का उपहास मात्र करते है।

तीसरे नेत्र पर जोर कब पड़ता है?

आपने कभी विचार किया होगा। शायद नही किया होगा। जब भी आप किसी भारी चिन्ता में होते है। तब उस समय आपके तीसरे नेत्र पर जोर पड़ता है। माथा आपका सिकुड़ जाता है उस समय। उसी स्थान पर सर्वाधिक दबाव पड़ता है जहाँ तिलक का स्थान है। बहुत चिन्ता करने वाले बहुत चिन्तन-मनन करने वाले, बहुत सोच विचार करने वाले और बहुत क्रोध करने वाले लोगों के मस्तक पर अत्यधिक बल पड़ता है और बल उसी स्थान पर पड़ता है जहाँ आज्ञाचक्र का बिन्दु है, जहाँ तीसरे नेत्र का स्थान है और जहाँ है तिलक का स्थान।

जिसने कभी किसी जन्म में तीसरे नेत्र पर अभ्यास किया है

जिसने पिछले किसी जन्म में आज्ञाचक्र पर तीसरे नेत्र को जागृत करने के निमित्त अभ्यास किया है तो उसका पता स्पष्ट लग जाता है। यदि उसके मस्तक पर हल्के-हल्के से उँगलियाँ फेरे तो आपको तिलक की अवश्य प्रतीती होगी। भले थोड़ा सा ही ठीक तिलक जैसा ही धंसा हुआ होगा। दोनों तरफ के हिस्से थोड़े उभरे हुए होगे। ठीक उसी स्थान पर जहाँ पिछले जन्मों में अभ्यास किया गया होगा। और यह आप अंगूठा लगाकर और आँखे बंद करके भी पहचान सकते है। वह स्थान आपको सर्वथा अलग मालूम होगा। तिलक हो या टीका दोनों का उपयोग विशेष है। लेकिन दोनों के पीछे तीसरी आँख छिपी है इसे बराबर स्मरण रखना चाहिए।

मैं इस सन्दर्भ में एक वैज्ञानिक प्रयोग की चर्चा करूँगा। यह प्रयोग सम्मोहन विद्या से सम्बन्धित है। फ्रांस मे चारकाट नाम का एक बहुत बड़ा मनस्विद् हुआ था। उसने इस दिशा में अनेक सफल प्रयोग किए। चारकाट का एक यह प्रयोग यह भी है कि अगर आप किसी के सामने उसके मस्तक पर अपनी दोनों आँखे

गड़ा कर देखें तो वह व्यक्ति आपको आँख गड़ाने न देगा। अगर आप किसी के माथे पर आँखे गड़ाते हैं तो वह व्यक्ति हद से ज्यादा आपके ऊपर क्रोधित हो उठेगा।

आप थोड़े दिन इसका अभ्यास करें फिर किसी खास व्यक्ति को अपने आगे पीठ करके बिठा दें। वह व्यक्ति पलथी लगाकर और तन कर बैठे। अपनी आँखें वह सामने रखे और बन्द रखे। आप उसके मस्तक के पिछले भाग ठीक आज्ञाचक्र के पीछे - पर अपनी दृष्टि स्थिर करें। पलक न गिरे। तीक्ष्ण दृष्टि से देंखे। मन को भी एकाग्र रखें। फिर थोड़ी देर बाद मन ही मन उसे आज्ञा दें। जैसे अपना हाथ उठाओ। वह तुरन्त अपना हाथ उठा देगा। सिर घुमाओ। वह सिर घुमा देगा। बायी ओर घूम जाओ। वह बायी ओर घूम जाएगा। स्मरण रखें। मन में आज्ञा देते समय आप बराबर स्थिर रहें। अपनी आँख भी अपने में स्थिर रहे।

योग की रहस्यमयी पर्णावटी साधना

ब्रह्मचारीजी बोले - योग की बहुत सी ऐसी साधनाएं है जो अपने में अत्यन्त रहस्यमयी हैं। उन्हीं रहस्यमयी साधनाओं में एक साधना है पर्णावटी साधना। पर्णावटी साधना वास्तव में अत्यन्त कठिन और गूढ़ है। रहस्यमयी तो है ही वह। लाखों में कोई इसका साधक होता है।

पर्णावटी साधना क्या है - मेरे पूछने पर ब्रह्मचारीजी ने बतलाया कि इस साधन के प्रथम चरण में योगी प्राण तत्व, मनःस्तत्व और आत्मतत्व को आज्ञाचक्र पर केन्द्रित करता है। लेकिन यह केन्द्रीकरण लम्बे अभ्यास के बाद ही सम्भव होता है। सर्वप्रथम प्राणायाम के आधार पर प्राणतत्व को केन्द्रित किया जाता है। जब प्राणतत्व केन्द्रित हो जाता है तो उसका लक्षण प्रकट होता है। लक्षण क्या होता है ? मैंने पूछा।

योगी की गति अति तीव्र हो जाती है। जिसके परिणाम स्वरूप श्वास प्रश्वास नियन्त्रित हो जाता है। लेकिन हृदय की धड़कन बढ़ जाती है। योगी पहले अत्यधिक व्याकुलता का अनुभव करता है। लेकिन बाद में शान्तचित्त होकर एकान्तवासी और मौनव्रती हो जाता है।

इसी प्रकार योगी ध्यान के द्वारा मनःस्तत्व को आज्ञाचक्र पर केन्द्रित करता है। जब प्राणतत्व और मनःस्तत्व आपस में मिलकर एकाकार हो जाते है। प्राण का मन में और मन का प्राण में विलीन हो जाता है अस्तित्व, तब इस स्थिति में आत्मतत्व का स्वयं आकर्षण हो जाता है आज्ञाचक्र में, और वह भी पूर्ण समर्पित भाव से लीन हो जाता है दोनों के अस्तित्व में। इन तीनों तत्वों के विलक्षण संयोग

से एक परम शक्ति का आज्ञाचक्र में उदय होता है। जिसे तंत्र में अपर्णा शक्ति कहते हैं। अपर्णा शक्ति की जो सिद्धि साधक को सर्वप्रथम उपलब्ध होती है वह है प्रबल इच्छाशक्ति। आज्ञाचक्र के माध्यम से अपनी प्रबल इच्छा शक्ति के द्वारा योगी चेतन जगत को ही क्या जड़ जगत को भी आज्ञा देकर तत्काल संचालित कर सकता है। किसी भी व्यक्ति से अपने इच्छानुसार आज्ञा देकर कार्य करा सकता है, भले ही वह व्यक्ति सामने हो या हजारो मील दूर। ऐसे योगी को पर्णावटी सिद्ध योगी कहते हैं।

एक सीमा तक ऐसा योगी प्रकृति को भी अपने आधीन कर लेता है। इच्छानुसार वर्षा करा सकता है वर्षा रोक भी सकता है। आँधी तूफान पैदा कर सकता है उसे रोक भी सकता है।

भयंकर से भयंकर रोग व्याधि का निवारण तुरन्त कर सकता है। तात्पर्य यह कि असम्भव से असम्भव कार्य कर सकता है। योग में जिसे शक्तिपात कहते हैं उसके मूल में एक मात्र यही सिद्धान्त है।

योग तंत्र में शक्तिपात

योग और तंत्र में शक्तिपात् अत्यंत गोपनीय रहस्यमयी दीक्षा है। वही योगी अपने योग्य शिष्य को दे सकता है जो पर्णावटी में पूर्ण सिद्धि लाभ किया होगा। योग तंत्र में सबसे महत्वपूर्ण और सबसे रहस्यमय कोई क्रिया है तो वह है शक्तिपात। जिसको वह शक्तिपात दीक्षा दे सके। योग्य शिष्य उपलब्ध होने पर सर्वप्रथम उसे अपने साथ रखकर 'योग' का निर्देश देता हैं, जिसे 'योग्यता लाभ' कहते हैं। योग्यता लाभ हो जाने पर सद्गुरु अपने शिष्य को पद्मासन की मुद्रा में अपने सामने बिठा देता है। इस स्थिति में शिष्य के नेत्र बन्द रहते है। शिष्य समझता है सद्गुरु कुछ कर रहे है जबकि सद्गुरु कुछ भी नही करते हैं। वे तो शिष्य के आज्ञाचक्र को बिन्दु पर अपने नेत्रों को अपलक स्थिर रखकर मौन और ध्यानस्थ बैठे रहते हैं। इस अवस्था में सद्गुरु अपनी प्रबल इच्छा शक्ति द्वारा शिष्य को जो भी आदेश देता है जो भी परामर्श देता हैं और जो भी निर्देश देता है योग्य शिष्य को उसी आदेश, परामर्श और निर्देश की बराबर प्रतीति होगी।

विशेष तांत्रिक क्रियाओं पर आधारित योग की सर्वोच्च दीक्षा है शक्तिपात दीक्षा ब्रह्मचारीजी बोले इसके रहस्य और इसकी क्रिया से बहुत ही कम लोग परिचित है। यत्र-तत्र पुस्तकों में शक्तिपात की चर्चा मिलती है। अनेक साधक लोग भी शक्तिपात की बातें कहते हैं लेकिन सब व्यर्थ। वास्तविक नहीं कुछ।

प्रत्येक व्यक्ति में एक अमूल्य शक्ति विद्यमान हैं जिसे अमानवीय चेतना अथवा नैसर्गिक शक्ति कहते है। व्यवहार के लिए हम उसे अमानवीय नैसर्गिक चेतना कह सकते है। चेतन और अचेतन मन से इसका नाता रिंशता नही है। अमानवीय नैसर्गिक चेतना भले ही मानव पिण्ड में हो लेकिन उसका संबंध सर्वव्यापिनी परम चेतना से होता है। मानव पिण्ड में निष्क्रिय भाव से वह रहती है। लेकिन निष्क्रिय भाव से रहते हुए भी उसका संबंध विश्व ब्रह्माण्ड से बराबर बना रहता है।

जैसे कुण्डलिनी शक्ति सुप्तावस्था में मूलाधार में स्थित है वैसे ही अमानवीय नैसर्गिक चेतना स्थित है ब्रह्मरन्ध में। मानव शरीर में जितने योगांग है उनमे ब्रह्मरन्ध सर्वाधिक रहस्यमय है। सर्वप्रथम सद्‌गुरु शिष्य को आदेश देता है कि अपनी सारी वृत्तियों, भावनाओ, इच्छाओ और सारे विचारों, भावों को अपने हृदय में लीन करो। शिष्य जैसे ही आदेश का पालन करता है उसी क्षण उसका हृदयाकाश स्वर्ण वर्ण की आभा से आलोकित हो उठता है। तत्पश्चात शिष्य उसी दिव्य प्रकाश में अपने निज स्वरूप यानि आत्म स्वरूप का दर्शन अथवा लाभ करता है। यह शक्तिपात का प्रथमचरण है।

दीक्षा के दूसरे चरण में सद्‌गुरु के निर्देश के अनुसार अपने आत्म स्वरूप में योग्य शिष्य शनैः शनैः गुह्यनी नाड़ी मार्ग द्वारा ऊर्ध्व गति में ले जाती है। यहाँ एक बात समझ लेना चाहिए वह यह कि हृदय केन्द्र के ऊपर का मार्ग ऊर्ध्व मार्ग कहलाता है और उसके नीचे का मार्ग अधोमार्ग कहलाता है। हृदय से ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्त अधोमार्ग है इसी मार्ग का नाम गुह्यनी नाड़ी मार्ग है।

योग की दृष्टि से गुह्यनी नाड़ी अत्यन्त महत्वपूर्ण और रहस्यमयी नाड़ी है। योग तंत्र की यावत साधना की सफलता इसी नाड़ी पर निर्भर है। साधक इसी महा-नाड़ी मार्ग से यात्रा करते हुए ब्रह्माण्ड में प्रवेश कर पूर्ण रूप से अपने आत्म स्वरूप में स्थित होता है।

ब्रह्माण्ड के तीन धाम

विश्व ब्रह्माण्ड का जो स्वरूप हैं उसी का लघु स्वरूप मनुष्य का भी ब्रह्माण्ड है। विश्व ब्रह्माण्ड में तीन मुख्य धाम हैं - वृजधाम, कैवल्य धाम और परम धाम। सर्वप्रथम साधक आत्म स्वरूप में स्थित होकर वृज धाम में शान्ति लाभ करता है और उसी अवस्था में उसे सर्वप्रथम अपने इष्ट का वहाँ दर्शन होता है। तत्पश्चात् सद्‌गुरु के निज स्वरूप का लाभ होता है। इष्ट और सद् गुरु दोनों उसे आशीर्वाद प्रदान करते है।

वृजधाम का वर्ण श्वेत है कैवल्यधाम का पीतवर्ण है, और परमधाम का नील वर्ण है। वृजधाम में ज्ञानी, भक्त और कर्मनिष्ट योगी साधक गण निवास करते है। कैवल्य धाम में परम अवस्था प्राप्त योगीगण निवास करते है। परम धाम परमेश्वर का अपना निजधाम है। यही गोलोक भी है। बृजधाम के मध्य में नीलपीत और रक्त वर्ण के दलों वाला एक सहस्त्र दल कमल है। वह दिव्य प्रकाश से युक्त है। उसी कमल दल की मध्य कर्णिका पर श्री राधा के रूप में ब्रह्माण्डीय नैसर्गिक चेतना शक्ति योग मुद्रा में विराजमान है। वृजधाम में निवास होने के कारण उस महाशक्ति को भक्तगण ब्रजवल्लभा भी कहते है। इष्ट और सद्गुरू का दर्शन और आशीर्वाद उपलब्ध होने के पश्चात् योगी का साक्षात्कार दर्शन व्रजवल्लभा श्री राधा रूपिणी ब्रह्माण्डीय नैसर्गिक चेतना शक्ति से होता है।

आगे के विषयों को भली भाँति समझने के लिए यहाँ यह बतला देना आवश्यक है कि नैसर्गिक चेतना शक्ति के दो रूप है। पहले रूप को परमात्म शक्ति और दूसरे को आत्म शक्ति कहते है। परमात्म शक्ति ब्रह्माण्डीय नैसर्गिक परम चेतना शक्ति है। यह सम्पूर्ण विश्व ब्रह्माण्ड में व्याप्त है। उसी के प्रभाव से ग्रह, नक्षत्र सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी आदि अपने-अपने नैसर्गिक रूप से कार्य करते है और गतिवान है। प्रकृति भी उसी के प्रभाव से नैसर्गिक रूप से समय-समय अपना कार्य करती है।

इसी प्रकार आत्म शक्ति पिण्डीय नैसर्गिक चेतना शक्ति है। जिसे मैंने अमानवीय कहा है। अमानवीय इसीलिए कि मानव पिण्ड के परे है। जब योगी ब्रजधाम में प्रवेश करता है तभी वहाँ उसका अविर्भाव स्वयं अपने आप होता है योगी के आध्यात्मिक कल्याण के निमित्त।

पिण्डीय नैसर्गिक चेतना शक्ति का भी अपना प्रभाव है जिसके फलस्वरूप मनुष्य अपने आप बिना किसी प्रयास के श्वास-प्रश्वास लेता है। पलके भी बराबर नैसर्गिक रूप से गिरती उठती है हृदय भी अपने आप धड़कता रहता है बिना प्रयास के। व्रास्तव में आयुर्वेद के अनुसार इस शक्ति का संबंध शरीर के स्वतंत्र तंत्रिकातंत्र से है।

अब मुख्य विषय पर विचार करूँगा - ब्रह्मचारीजी बोले। ''साक्षात्कार'' क्षण अति महत्वपूर्ण माना गया है साधना भूमि में। जब ब्रह्माण्डीय नैसर्गिक परम चेतना का साक्षात्कार होता है तब योगी का आत्म स्वरूप उससे एक प्रकार से संयुक्त हो जाता है और वह परम शक्ति उसी क्षण उसके साथ गुह्यनी मार्ग से नीचे उतर कर हृदय केन्द्र में स्थित हो जाती है - इसी को शक्तिपात कहते है।

शक्तिपात के लिए कुण्डलिनी शक्ति का जागरण आवश्यक

यहाँ एक बात समझ लेना चाहिए कि जिसे मैने एक पिण्डीय नैसर्गिक चेतना शक्ति कहा है वह एक मात्र कुण्डलिनी शक्ति है। जो अपने केन्द्र में प्रसुप्तावस्था में विद्यमान होते हुए जागृत, स्वप्न व सुषुप्ति - इन तीन अवस्थाओं में क्रियाशील है। वह आत्मशक्ति है जैसे ब्रह्ममाण्डीय नैसर्गिक परमचेतना शक्ति परमात्म शक्ति है।

स्मरण रहे शक्तिपात तभी सम्भव है जब आत्म शक्ति कुण्डलीनी अपने स्थान में जागृत होकर अपने चित्रिणी नाड़ी मार्ग द्वारा उत्थित होकर मणिपूरक में स्थित हुई होती है। जैसे ही परम चेतना ब्रह्माण्डीय नैसर्गिक शक्ति ह्दयाकाश में अवतरित होती है उसी क्षण आत्म शक्ति कुण्डलिनी विद्युत वेग से अन्य चक्रो का भेदन करते हुए ह्दय केन्द्र में पहुँचती है और परम चेतना से संयुक्त हो जाती है। इसी को योग की भाषा में कहते है परमतत्व और आत्मतत्व का महामिलन। इसी को तंत्र की भाषा में कहते है परमात्म शक्ति और आत्म शक्ति का योग। और इसी को भक्तियोग की भाषा में कहते है राधा कृष्ण महामिलन। मिलन का स्थान है वृज भूमि ह्दयाकाश। उस महामिलन की परिणीत होती है महारास में। परमात्मा और आत्मा का यह परम दिव्य अवस्था है।

७
अध्याय

सूक्ष्म शरीर द्वारा तिब्बत के रहस्यमय क्षेत्र की यात्रा

महासमाधि महोत्सव में सम्मिलित होने आये प्रायः सभी सन्त महात्मा और सिद्ध साधकगण एक-एक कर वापस लौट गये थे अपने अपने स्थानों पर। अब रह गये थे लामा हूंग च्यांग, लामा सेंग, हरिसिद्ध स्वामी और मणि सम्भव। हरिसिद्ध स्वामी और मणि सम्भव भी जाने की तैयारी करने लगे। पूर्व निश्चय के अनुसार उनके साथ मुझे भी जाना था छांगा तक। और जब लामा सेंग को ज्ञात हुआ कि मैं रहस्यमयी झील की रहस्यमयी देवी के दर्शन के अतिरिक्त कापालिको की शवसाधना देखने के लिये आकुल हूँ तो उन्होंने गम्भीर स्वर में कहा - तुम्हारे लिए यह अतिकठिन है। कई बार आकाश मार्ग से उस रहस्यमय स्थानों की यात्रा की है मैंने। वास्तव में अति दुर्गम क्षेत्र है वह। फिर थोड़ा रूक कर लामा सेंग बोले - आप झांगा तक पहुँच भी गये तो आगे की भौगोलिक स्थिति कैसे समझेंगे। वह तो एक सुनसान विरान घाटी हैं। जिसके वातावरण में शून्य के सिवा और कुछ भी नहीं है।

यह सब सुनकर हताश हो गया मैं। शायद मेरे मन की स्थिति समझ गये लामा सेंग! गम्भीर स्वर में बोले यदि ऐसा ही है तो आपको यहाँ बैठे ही बैठे उस क्षेत्र की यात्रा करा सकता हूँ। क्या स्थूल शरीर से ही यात्रा करना आवश्यक और महत्वपूर्ण है?

यह सुनकर आश्चर्य और कौतूहल से भर उठा मेरा मन। कौतूहलवश पूछ ही बैठा-यह कैसे सम्भव हैं?

योग द्वारा - लामा सेंग बोले - आप अपने सूक्ष्म शरीर से यात्रा करिये। मैं आपको सहयोग दूँगा इस दिशा में।

लामा सेंग की यह बात मेरी समझ में नहीं आयी। मुँह बाये उनकी ओर देखने लगा मैं। हँस पड़े मेरी ओर देखकर लामा सेंग! बोले-हरिसिद्ध स्वामी और मणि सम्भव को अपने-अपने स्थानों पर जाने दें। उनके साथ आपको जाने की आवश्यकता नहीं। दो दिन रूकों, आपकी कामना पूरी कर दी जायेगी? कहने की आवश्यकता नहीं, मैं चक्रेश्वरी मठ में रूक गया और वे दोनों महापुरुष चले गये।

सायंकाल का समय था। लामा सेंग ने अपने कक्ष में बुलाया मुझे और अपने सामने आसन पर बैठने का संकेत किया।

सूक्ष्म शरीर द्वारा दुर्धर्ष कापालिकों के रहस्यमय साधना क्षेत्र की यात्रा क्या सम्भव हैं मेरे लिए - सहसा विश्वास नहीं हो रहा था मुझे। मेरे मनोभाव को समझ गये शायद लामा सेंग। बोले आप बस नेत्र बन्द कर बैठे रहे। मन को शान्त रखे। किसी भी प्रकार का विचार मन में आने न दें। अपने शरीर को भी शिथिल कर दें। सब कुछ वैसा ही किया मैंने। अचानक लामा सेंग के हाथ के अंगूठे का स्पर्श प्रतीत हुआ। अपने मस्तक पर मुझे और उसी के साथ सारे शरीर से एक विचित्र प्रकार की सनसनाहट का भी अनुभव होने लगा मुझे। वह विचित्र सनसनाहट बराबर बढ़ती ही जा रही थी। मेरा मन व्याकुल होने लगा था अब असहनीय गर्मी के ताप से भर उठा मेरा सारा शरीर एक बारगी। फिर एक झटका सा लगा और उसी झटके के साथ अपने पार्थिव शरीर से अलग हो गया मैं।

वैसे मैंने अपने अस्तित्व का सूक्ष्म शरीर में कई बार अनुभव कर चुका था। लेकिन इस बार का अनुभव कुछ विचित्र ही था। मैं अपने स्थूल शरीर से जैसे ही सूक्ष्म शरीर द्वारा अलग हुआ उसी समय भौतिक जगत का अस्तित्व लुप्त हो गया मेरे लिए। और उसी के साथ लुप्त हो गया लामा सेंग का पार्थिव काया भी। अब उनको उनके सूक्ष्म शरीर में देख रहा था मैं।

भौतिक जगत के स्थान पर अभौतिक जगत में मेरा और लामा सेंग का था अस्तित्व। हम दोनो उस अवस्था में एक दूसरे के विचारों भावों उद्देश्यों को भली भांति समझ रहे थे। स्थूल वाणी की जैसे हम दोनों को आवश्यकता ही नहीं थी। इसलिए कि सूक्ष्म शरीर में मध्यमा वाणी कार्य करती हैं जैसे स्थूल शरीर में करती हैं बैखरी वाणी। हम दोनों उस अवस्था में मध्यमा वाणी का सम्भवतः उपयोग कर रहे थे।

लामा सेंग ने कहा - आइये चले - यह कह कर वे अपने आसन से उठे और हवा में चलने लगे द्रुत गति से। मैं भी उसी गति से चल पड़ा उनके पीछे-पीछे। धीरे-धीरे गति बढ़ने लगी हम दोनों की अपने आप। मैं जिस वातावरण में था

वह अपार्थिव था। उस अपार्थिव वातावरण में देशकाल का ज्ञान नहीं था। बस बोध था और थी अनुभूतियाँ जो अपने आपमें विलक्षण और शब्दलील थीं।

लामा सेंग के साथ आकाश गमन करते हुए मुझे बड़ा आनन्द आ रहा था। उस समय अपने पार्थिव शरीर का कोई ज्ञान नहीं था। मेरी मानसिक बौद्धिक और वैचारिक चेतना अति तीव्र हो गयी थीं।

अचानक मुझे सामने विशाल जल राशि से भरा एक विस्तृत भूभाग दिखलायी दिया। समझते देर न लगी मुझे वह वही झील थी जिसकी चर्चा की थी मणि सम्भव ने। झील का पानी स्थिर और मिश्रित रंगो का था। कभी लाल तो कभी नीला दिखलायी देता था तो कभी दिखलायी देता था बिल्कुल काला।

उस विस्तृत और रहस्यमयी झील के ऊपर से होते हुए हम दोनों देवी के मन्दिर के निकट पहुँचे। पत्थर के बड़े-बड़े टुकड़ों से बना था अज्ञात देवी का वह रहस्यमय मन्दिर। काफी लम्बा चौड़ा था मन्दिर। कपाट नहीं था मन्दिर में। भीतर घोर अन्धकार था। भीतर जाने का साहस नही हो रहा था मुझे। सूक्ष्म शरीर में होने के कारण एक विलक्षण दृश्य देखा मैंने वहाँ, जो भौतिक सत्ता की सीमा के बाहर था।

मन्दिर के चारो ओर सुन्दर सुगन्धित रंग बिरंगे पुष्पों का बाग था। जिससे सोलह वर्ष से लेकर बीस बाईस वर्ष की नवयुवतियाँ सन्यासिनी के भेष में इधर-उधर घूम रही थी। सभी मुण्डित सिर थी, लेकिन सभी अनर्वचनीय सौन्दर्य की साकार प्रतिमा थी इसमें सन्देह नहीं। उनके चौड़े मस्तक पर भस्म का त्रिपुण्ड था। गले में रुद्राक्ष की मालाएं थीं। कषाय वस्त्र उनके गौर शरीर पर बड़ा अच्छा लग रहा था। उन सभी के मुंख पर दिव्य आभा थी कमनीयता थी लावण्यता थी और थी गम्भीरता। निश्चय ही वे सन्यासिनी युवतियाँ किसी अन्य लोक की थी इसमें सन्देह नहीं। मेरे अस्तित्व का आभास लग गया था उन सभी को। एक साथ सभी ने सिर घुमाकर देखा मेरी ओर।

मैंने देखा-अन्धकार के सागर में डूबा हुआ वह मन्दिर सहसा उद्‌भासित हो उठा शुभ्र प्रकश से। और धीरे-धीरे चलकर वे सभी सन्यासिनियाँ मन्दिर के भीतर चली गयी। भीतर वे कहाँ कयी? यह कुछ समझ में नहीं आया। पहले की तरह खाली दिखलायी दिया मुझे वह मन्दिर। आश्चर्यचकित रह गया मैं यह देखकर। तीव्र शुभ्र प्रकाश से उद्‌भासित सा हो रहा था मन्दिर का भीतर भाग। लेकिन वह प्रकाश का स्रोत कहाँ था समझ में नहीं आ रहा था।

धीरे-धीरे आगे बढ़कर मन्दिर में प्रविष्ट हो गया मैं। तीव्र प्रकाश से मेरी आँखे चुधियां गयी एक बारगी। उस रहस्यमयी तांत्रिक देवी की आदमकद मूर्ति

उस प्रकाश में चमक रही थी जैसे। मूर्ति के अंग प्रत्यंग स्पष्ट हो रहे थे प्रकाश में मैने देखा, तो देखता ही रह गया मूर्ति की ओर अपलक। निश्चय ही बड़ी ही विचित्र और रहस्यमयी मूर्ति थी वह और साथ ही दुर्लभ और अलौकिक भी। इसलिए कि तंत्र शास्त्र के प्रचीन से प्राचीन ग्रन्थों में भी वैसी देवी का वर्णन अथवा उल्लेख उपलब्ध नहीं है कहीं।

देवी का वह भयानक रूप

देवी की मूर्ति नीले रंग के पत्थर की थी। और थी लगभग छै फुट ऊँची। मूर्ति एक ऊँची वेदी पर स्थापित थी और जिस आधार पर खड़ी थी वह आधार था लाल पत्थर के बने हुए खिले कमल दल के भीतर लेटे अर्ध नारीश्वर। सचमुच बड़ी ही अद्‌भुत मूर्ति थी वह इसमें सन्देह नहीं।

देवी का मुख काफी बड़ा और गोलाकार था। मुण्डित सिर था। कान अनुपात से बड़े थे। जिनमें सर्प कुण्डल झूल रहे थे। नासिका तोते की तरह थीं। दोनों नेत्र बड़े-बड़े और गोल थे और थे रक्ताभ और रक्ताभ नेत्रो में क्रोध, घृणा, क्रूरता, आक्रोश के साथ ही साथ दया, अनुकम्पा करुणा के भी मिले जुले भाव स्पष्ट झलक रहे थे। मुंख का कुछ अंश खुला हुआ था। लम्बे लम्बे दातों के बीच में रक्त वर्णी जीभी बाहर निकली हुई थी। देवी के स्तन बड़े बड़े थे गले में पड़ी नाग मालाएं उन स्तनों को आवृत्त किये हुए थीं। पेट थोड़ा बाहर निकला हुआ था, जिसके नीचे कमर में नाग वेणी थीं। देवी के मस्तक पर एक गोल सा छेद था - जिसमें से हल्के सुनहले और नीले रंग के मिली जुली किरणें बाहर फूट रही थी। जिसके हल्के प्रकाश से देवी का मुख मण्डल प्रदीप्त हो रहा था। देवी के चार हाथ थे। नीचे के दो हाथो में यक्ष और यक्षिणी की मूर्तियाँ थे। ऊपर को बाये हाथ में त्रिशूल था, जिसकी लम्बाई देवी के बराबर थी। दाहिने हाथ में नर कपाल था। कहने की आवश्यकता नहीं, कुल मिलाकर उस भव्य अद्‌भुत और साथ ही रहस्मययी देवी की वह रहस्यमयी दिव्य अलौकिक मूर्ति सचमुच अति भयानक थी इसमें सन्देह नहीं। मन्दिर का वातावरण म्लान प्रतीत दुआ मुझे। एक विचित्र सी उदासी भरी खिन्नता व्याप्त थी चारो ओर। सहसा उस म्लान उदास और खिन्न वातावरण में वे सन्यासिनियाँ फिर प्रकट हो गयी न जाने कहाँ से। और नृत्य करने लगी झूम-झूम कर चारो ओर। उनकी नृत्य मुद्रा विचित्र तो थी ही इसके अतिरिक्त अश्लीलता और कामुकता से भी भरी हुई थी। थोड़ी ही देर बाद नृत्य करती हुई फिर गायब हो गयी वे न जाने कहाँ।

क्या वह नर बलि थी?

मेरा मोह जैसे भंग हुआ और न जाने कैसे मेरी दृष्टि वेदी के नीचे चली गयी। स्तब्ध रह गया मैं एक बारगी। पाषाणवत् हो गया मेरा सूक्ष्म अस्तित्व रोमान्चित हो उठा मैं। मुँख से चींख निकलते-निकलते रूक गयी। भय, आश्चर्य और कौतूहल के मिले जुले भाव से भर उठा मेरा मन। भयभीत होकर थोड़ा पीछे हट गया मैं। मैंने देखा-वेदी के नीचे एक कापालिक सन्यासी पेट के बल औंधा पड़ा हुआ था। उसके कमर में एक काला वस्त्र लिपटा था और सारा शरीर नग्न था। उसका सिर कट कर धड़ से अलग पड़ा था। सन्यासी के जटा जूट जैसे घने काले बाल खून में भींगे हुए थे। कटे हुए सिर का मुंख थोड़ा खुला हुआ था और नेत्र अंधमुदे थे। मस्तक पर भस्म का त्रिपुण्ड था। शव के आसपास की जमीन पर खून फैलकर काला पड़ गया था। सन्यासी के दाहिने हाथ में काफी लम्बा चौड़ा खड्ग था। जिस पर लगा खून भी सूख कर काला पड़ गया था। खड्ग की मूढ पर सन्यासी के हाथ की पाचों उंगलियाँ अभी भी कसी हुई थी। वह नर बलि थी। निश्चय ही उस युवा कापालिक सन्यासी ने अपनी किसी कामना की अपूर्णता के कारण अपने हाथों अपनी बलि दे दी थी उस भयंकर देवी के चरणों में। उसकी कौन सी कामना को देवी ने पूर्ण नहीं की थी, इसे भला कौन बतला सकता है?

भयभीत दृष्टि से कुछ देर तक युवा कापालिक की सिर कटी लाश की ओर देखता रहा? खून से लतपथ बालो से उसका चेहरा वैसे तो ढका था, लेकिन दोनो खुली हुई आँखे साफ दिखलायी दे रही थी। मैंने देखा उन खुली हुई आँखो में निराशा, उदासी और क्षोभ को मिले जुले भाव अभी भी विद्यमान थे। मैं वहाँ से जल्दी से जल्दी निकल जाना चहता था कि तभी एक अशोचनीय और अकल्पनीय घटना घट गयी वहाँ। मैंने जैसे ही मन्दिर के बाहर निकलना चाहा, उसी समय हवा के झोके की तरह एक नवयुवती लगभग मुझे ढकेलती हुई मन्दिर में घुसी विलाप करती हुई। गौर वर्णीया वह युवती अति सुन्दर कोमलांगी थी। उसके बाल खुलकर बिखरे हुए थे। उसके चेहरे पर दुःख वेदना, पीड़ा, व्यथा के भाव स्पष्ट थे। उसके मस्तक पर सिन्दूर का लाल गोल टीका था और गले में रुद्राक्ष की मालाएं झूल रही थीं। उसके शरीर के कपड़े अस्त व्यस्त थे। युवती को देखकर लगा कि वह कोई भैरवी थी और देवी के सामने निर्जीव रक्तालिप्त पड़े कापालिक से निश्चय उसका कोई गहरा सा संबंध, इसमें कोई सन्देह नहीं।

कापालिक का खण्डित शव देखकर हाहाकार कर उठी वह युवती। उसके विलाप के करूप स्वर से भर उठा मन्दिर का प्रकोष्ठ। वह वहीं बैठ गयी विलाप करती हुई और कापालिक के कटे हुए सिर को उठाकर अपनी गोद में रख लिया

उसने फिर रक्त में सने और उलझे हुए बालो को हटाकर अपने आंचल से मुंख पर लगे रक्त को पोछले लगी वह।

वह दृश्य देखकर करुणा से द्रवित हो उठा मैं। अन्त में रहा नहीं गया मुझसे। आगे बढ़कर पूछा मैंने - कौन है आप? और यह आपका कौन हैं?

मेरा प्रश्न सुनकर युवती ने सिर घुमाकर मेरी ओर कातर दृष्टि से देखा। उसकी बड़ी-बड़ी स्वप्निल आँखो से झर-झर आँसू गिर रहे थे गालो पर। उसके रक्ताभ होठ थर थरा रहे थे उस समय। किसी प्रकार कांपते स्वर में बोली वह मैं ... मैं ... कात्यायिनी हूँ। नाम मेरा कात्यायनी है। ... फिर थोड़ा रूककर गोद में रखे खण्डित मुण्ड की ओर देखती हुई आगे बोली - उसी प्रकार कांपते स्वर में - ये नित्यानन्द है, कापालिक नित्यानन्द! मैं भैरवी हूँ इनकी। कापालिक साधक की आसन होती हैं उसकी भैरवी। आसाम के एक समृद्ध और कुलीन परिवार की कन्या हूँ मैं। मेरे पिता मृत्यु शैय्या पर थे। उनकी लालसा और जीवित रहने की थी। उस समय उनकी अवस्था ही क्या थी? बस चालीस के लगभग थी उनकी आयु। कापालिक नित्यानन्द ने उनकी पूरी कर दी लालसा। पिता जी एक दो दिन में ही पूर्ण स्वस्थ हो गये। उनको नया जीवन प्राप्त हो गया था। वे प्रसन्न थे। उस समय मेरी आयु पन्द्रह वर्ष थी। युवावस्था में प्रवेश कर चुकी थी मैं। मेरे यौवन और सौन्दर्य को देखकर कापालिक नित्यानन्द मुग्ध हो गये एक बारगी। अपलक निहारते रहे मेरी ओर काफी देर तक वे, और सिर घुमाकर निकट खड़े पिताजी से बोले-अपनी यह कन्या मुझे दे दीजिये आप। इसने सांसारिक जीवन व्यतीत करने के लिए जन्म नहीं लिया है। इसकी आत्मा दिव्य हैं और यह दिव्य आत्मा मुझे चाहिए। अब तक ऐसी ही आत्मा की खोज में था मैं। मेरी खोज पूर्ण कर दी महामाया ने। मैं अपना आसन बनाऊँगा इसे भैरवी दीक्षा प्रदान कर। मुझे अपनी साधना में पूर्णत्व लाभ होगा इस देवी स्वरूपा कन्या को अपनी भैरवी बनाकर एक सांस में इतना सब बोले गये कापालिक नित्यानन्द फिर अपना दोनों हाथ ऊपर उठाकर गम्भीर स्वर में कहा उन्होंने - हे त्रिपुरारी, हे शम्भो?

बम... बम... भोले नाथ की।

पिताजी को भला क्या आपत्ति हो सकती थी? उन्हें तो जीवन दान प्राप्त हुआ था कापालिक से। उनके लिए तो वे साक्षात परमेश्वर ही थे। उन्होंने प्रसन्नता पूर्वक मेरा हाथ थमा दिया साधक को। फिर क्या हुआ - मैंने उत्सुक होकर पूछा।''

अपने आंसुओ को पोछती हुई कात्यायिनी आगे बोली - मन ही मन सोचने लगी मैं, मेरी नियति में यही था। किसी कापालिक की भैरवी बनना ही लिखा था मेरे भाग्य में। इसीलिए स्वीकार कर लिया मैंने कापालिक नित्यानन्द को अपने

गुरु के रूप में। वे अपने साथ इस प्रान्त में ले आये मुझे। भैरवी दीक्षा दी मुझे फिर। भैरवी दीक्षा के फलस्वरूप मेरा सारा शरीर एक अनर्वचनीय उत्ताप भर गया एक बारगी। प्राय: ध्यानस्थ रहने लगी मैं। धीरे-धीरे समय व्यतीत होता गया और उसी के साथ साधना की सीढ़ियाँ चढ़ते गये एक-एक कर कापालिक नित्यानन्द। अब मेरी अवस्था पचास साल के ऊपर हो चुकी थी। लेकिन काल का प्रभाव मुझपर नहीं पड़ा था। अप्रभावित था मेरा भौतिक शरीर उससे। इस दीर्घ अवधि में अनेक प्रकार की योग तांत्रिक सिद्धियाँ प्राप्त हुई मुझे। कापालिक नित्यानन्द मेरे गुरु भी थे और पति भी। मैं उनकी भैरवी भी थी और पत्नी भी। कापालिक सम्प्रदाय में साधक चाहे तो अपनी भैरवी को पत्नी रूप में भी स्वीकार कर सकता है। लेकिन साधना मार्ग में पत्नी से ऊंचा स्थान हैं भैरवी का। इसलिए मैं कापालिक नित्यानन्द को गुरुदेव कहकर सम्बोधित करती थी।

दीपावली की महानिशा बेला थी। अर्ध रात्रि का समय था। नित्य की साधना से उठ कर गुरुदेव ने मुझे अपने निकट बुलाया। अपने आसन से उठकर मैं उनके समीप जा कर बैठ गयी। गुरुदेव कुछ समय तक मौन साधे रहे और फिर शून्य में निहारते हुए कहने लगें कात्यायनी। तुम्होर सहयोग से साधना की जिस सीमा पर पहुँचा हूँ मैं, वह न अन्तिम सीमा हैं और न तो हैं अन्तिम उपलब्धि ही। मेरे पास अब समय बहुत ही कम हैं। यदि मैं एक निश्चित अवधि के अन्तर्गत साधना के सर्वोच्च शिखर पर नही पहुँचा तो अपनी बलि देकर इस पार्थिव शरीर का त्याग कर दूंगा मैं।

गुरुदेव का स्वर गम्भीर था और था साथ ही साथ आद्र भी। उनकी बातों की गहरायी को न समझ सकी मैं उस समय। काश समझ गयी होती तो आज यह दृश्य देखने को न मिलता।

इतना कहकर फिर विलाप करने लगी कात्यायनी। बड़ा ही मर्म भेदी था उसके विलाप का स्वर। असहनीय था वह मेरे लिए। कातर और व्यथित हो उठा मैं।

कुछ देर बाद विलाप का वेग कम हुआ और कात्यायनी थोड़ी आश्वस्त हुई तो मैंने विगलित स्वर में पूछा - फिर क्या हुआ कात्यायनी? यह सब कैसे हो गया?

होगा क्या? आँसुओ को पोछती हुई बोली कात्यायनी - पिछले तीन चार दिनों से गायब थे गुरुदेव। ऐसा कभी नही हुआ था। आश्रम छोड़कर बहुत ही कम इधर-उधर जाते थे वह। प्रतीक्षा करती रही मैं। अन्त में रहा न गया मुझसे। खोज में निकल पड़ी मैं। किसी ने बतलाया कि तीन दिन पूर्व मन्दिर में देखे गये

थे गुरुदेव। यह सुनकर सहसा दीपावली की रात्रि वाला उनका वाक्य स्मरण हो आया मुझे। हाहाकार कर उठी मेरी आत्मा। भय और शंसय से भर गया मेरा मन। गिरती पड़ती दौड़ती हुई तीन मील का मार्ग किसी प्रकार चलकर यहाँ पहुँची मैं। सब कुछ देखकर दंग रह गयी। अब भला क्या हो सकता था। जो होना था वह तो हो ही गया। अपने वाक्य को साकार कर दिया था गुरु देव ने। बोलिए क्या करु मैं? कहाँ जाऊँ कौन सहारा देगा मुझे। कौन अपना योग इस दुर्भागी को? कुछ कहिए, कुछ बतलाइये ... आप?

मैं क्या बोलता? क्या बतलाता? और क्या कहता? सोचने लगा - इस विकट परिस्थिति में भला मैं क्या कर सकता हूँ? और किस प्रकार की सहायता कर सकता हूँ कात्यायनी की।

एक अज्ञात रहस्यमय प्रदेश में प्रवेश

अचानक लगा जैसे काल का प्रवाह एक पल के लिए थम सा गया हो और एक पल में एक अविश्वसनीय घटा घटित हो गयी। एक झटके से कात्यायनी अपने स्थान से उठी और माँ जैसे अपने छोटे से बच्चे को गोद में उठाती है, वैसे ही उसने कापालिक नित्यानन्द के मृत शरीर को अपनी गोद में लिया और उनके रक्त रंजित मुण्ड को हाथ में पकड़ा उसने और तूफान की गति से मन्दिर के बाहर निकल गयी। कौन सी अव्यक्त अदृश्य सम्मोहन शक्ति थी जिसके वशीभूत होकर मैं भी कात्यायनी के पीछे-पीछे चल पड़ा एक बारगी।

बड़ा ही अद्‌भुत और साथ ही साथ लोम हर्षक दृश्य था मेरे सामने। अपने गुरु का शव दबाये और उनके रक्त में सने मुण्ड को हाथ मे लटकाये हवा में जैसे तैरती हुई जा रही थी कात्यायनी। उसके खुले हुए बाल और आंचल हवा में लहरा रहे थे। मैं भी उसका अनुशरण कर रहा था न जाने किस प्रेरणा के वशीभूत होकर। मेरी समझ में नहीं आया। बड़ी तेजी से पीछे छूट गयी लम्बी चौड़ी झील। कात्यायनी के पीछे आगे बढ़ता चलता जा रहा था मैं। अन्त में एक अत्यन्त रहस्यमय और अनजाने प्रदेश में पहुँच गया मैं कात्यायनी के साथ। उस अज्ञात प्रदेश की भूमि दिशाएं और आकाश हल्के नारंगी रंग के प्रकाश से भरे हुए थे जैसे। और उस प्रकाश में विचित्र सा सम्मोहन था और था आकर्षण। जिसके अज्ञात प्रभाव से भूल गया मैं एक बारगी कात्यानी के अनुशरण को। सचमुच मैं पृथ्वी के अति दुर्लभ और मानव जाति के लिए एक ऐसे अगम्य प्रदेश में था, जिसकी कल्पना मनुष्य सपने में भी नहीं कर सकता। इतना ही नहीं वह सपने में यह भी नहीं सोच सकता कि इस धरती पर कोई अगम्य अगोचर और अति रहस्यमय अति प्राचीन योग तांत्रिक प्रदेश का अस्तित्व भी कहीं।

तृतीय आयाम से परे चतुर्थ आयाम के विस्तार में प्रकृति का कितना कुछ गम्भीर रहस्य भरा हुआ हैं - इसका ज्ञान मुझे तब हुआ जब उस प्रदेश में प्रवेश किया मेरा सूक्ष्म अस्तित्व।

उस रहस्यमय प्रदेश सम्पूर्ण वातावरण सुनहले, रुपहले और नारंगी रंग के मिले जुले प्रकाश से भरा हुआ था। आश्चर्य की बात तो यह थी कि उस प्रकाश के पटल पर कभी कोई मोहक दृश्य उभरते तो कभी कोई और फिर अपने आप मिट जाते। पहली बार मैंने उस प्रकाश पटंल पर एक विशाल महल को देखा वह बहुत ही आलीशान महल था। उसका रंग सफेद संगमरमर जैसा था। वह महल अपने आपमे जैसे झिलमिला रहा था। थोड़ी ही देर बाद उसके स्थान पर कई सुन्दर मन्दिर प्रकट हो गये और शंख घंटे की आवाज से वातावरण गूंज उठा एक बारगी।

धीरे-धीरे मन्दिर और मन्दिर का वातावरण न जाने कहाँ विलीन हो गया। और उसके स्थान पर उभरने लगा सुदूर तक फैला हुआ हरियाली और विभिन्न प्रकार के पेड़ पौधो लताओं से भरा हुआ एक मैदान। वह मैदान बड़ा ही रमणीक और सूरम्य था। विभिन्न प्रकार के पक्षी कलरव कर रहे थे मैदान में। लगा जैसे वह मैदान सरकता जा रहा हो अपने स्थान से। अब उसी विशाल हरे भरे मैदान में थी मेरे सामने सुरम्य बाग बगीचों से घिरी एक लम्बी चौड़ी झील। झील का पानी बर्फ की तरह बिल्कुल सफेद था और था निर्मल। जिसमे बत्तकों के झुण्ड तैर रहे थे और नीले सफेद और लाल रंग के कमल में खिले हुए थे। अब मेरे सामने काफी दूर तक फैली हुई एक सुरम्य घाटी थी। जिसके एक ओर सर्पिल गति से एक नदी प्रवाहित हो रही थी। जो काफी चौड़ी थी और जिसका प्रवाह प्रखर था। नदी के दोनों किनारों पर कतारों में ऊँचे-ऊँचे सघन वृक्ष थे। और थी सुगन्धित रंग बिरंगे फूलो की क्यारियाँ। सब कुछ अपने आपमे मनमोहक आकर्षक था और था सुन्दर और रमणीय।

थोड़ी देर बाद मैंने उस हरी-भरी मनमोहक और रमणीक घाटी में लम्बी चौड़ी कद काठी के सन्त, महात्माओं और सिद्ध साधकों को गम्भीर मुद्रा में टहलते हुए देखा। वे सभी सात फुट से कम नही था। उनके घने चमकते काले बाल पीठ पर बिखरे हुए थे। तेजोमय मुख मण्डल तो था ही। सम्भवत: सभी किसी गहरे चिन्तन-मनन में लीन थे ऐसा प्रतीत हुआ मुझे। थोड़ी देर बाद दृश्य परिवर्तित हो गया। अब था मेरे सामने सिद्ध साधकों और सन्त महात्माओं की दूसरी मण्डली थी। वह मण्डली पहली मण्डली से भिन्न थी। वे सभी उज्ज्वल वर्ण के सुन्दर और आकर्षक व्यक्तित्व के थे। उनके शरीर सफेद रेशमी चोंगा था जो काफी

नीचे तक झूल रहा था। गले में गेरुये रंग की रेशमी चादर थीं। मस्तक चौड़ा था। सिर के बाल लम्बे घने और काले थे। उनकी बड़ी-बड़ी आँखे स्वप्निल थी। वे आपस में बातें करते हुए धीरे-धीरे आगे बढ़ रहे थे। उनकी संख्या कभी कम हो जाती थी तो कभी अधिक।

मैं आपको यह बतलाना भूल ही गया कि जो कुछ भी देख रहा था - उसका विस्तार ऊपर नीचे और चारो तरफ था, वैसो ही समझिए जैसे आपके चारो ओर और ऊपर नीचे लम्बे चौड़े दर्पण लगे हो और एक ही दृश्य को आप सिर घुमा घुमाकर उन दर्पणों में एक साथ देख रहे हों।

समय की गति अतिमन्द प्रतीत हुई थी मुझे वातावरण में। अपने आपमें लीन सा हो गया था मैं जैसे।

अपनी भाषा पर और अपने भाव पर मेरा पूर्ण अधिकार हैं। जो कुछ देखता हूँ, सुनता हूँ, और जो कुछ करता हूँ चिन्तन-मनन। उनको शब्दों में अभिव्यक्त करने की जो क्षमता मुझमें हैं। वह एक ईश्वरीय वरदान के समान हैं मेरे लिए। उस अभिव्यक्ति की जो भाषा होती है और उस भाषा में जो भाव होता हैं, कहने की आवश्यकता नहीं उस भाषा पर और उस भाव पर मेरा पूर्ण अधिकार होता है और यही एक मात्र कारण है कि मेरी रचना मोहित कर देती हैं मन को और उसमें निहित सत्य स्पर्श कर लेता हैं आत्मा को। जिसके परिणाम स्वरूप अविभूत हो उठते हैं मेरी रचनाओं को पढ़कर आप।

निश्चय ही वह चतुर्थ आयामी वातावरण था। और उस अवर्णनीय वातावरण में आगे जिन मोहक छटाओं और मनोहारी दृश्यों को मैंने देखा उन सबके अभिव्यक्त करने के लिए मेरे शब्द कोष में न शब्द हैं न तो हैं मेरे हृदय में भाव। भाषा भी पंगु हो गयी हैं मेरी जैसे। शब्द भाव और भाषा से हीन मेरी लेखनी असहाय हो गयी हैं वह। इसमे सन्देह नहीं। अब उनकी कल्पना ही कर सकता हूँ मैं। इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं।

एकाएक होश आया मुझे। लामा सेंग कहाँ गये? चारो ओर सिर घुमाकर देखा, कही भी उनका अता-पता नहीं था। जैसे लुप्त हो गया हो उनका अस्तित्व उस रहस्यमय वातावरण में। धीरे-धीरे आगे बढ़ने लगा मैं। थोड़ी ही देर में चारो ओर फैले हुए सफेद बादलों के झुण्ड के बीच में एक छोटा सा आश्रम दिखलायी दिया। किसी अज्ञात सम्मोहन के वशीभूत होकर उस आश्रम में प्रवेश कर गया मैं। बड़ा ही भव्य और सुन्दर था आश्रम। एक महात्मा की दृष्टि पड़ गयी अचानक मुझे पर। वे आश्चर्य के भाव से मेरी ओर देखते हुए बोले - अरे तुम सूक्ष्म शरीर द्वारा इस अपार्थिव सत्ता में कैसे प्रवेश

कर गये? जाओ, जाओं यहाँ से। लौट जाओं अपने पार्थिव शरीर में, शीघ्रता करो, नहीं तो शरीर के लिए न जाने कब तक भटकना पड़ेगा तुम्हे। कौन बतला सकता है भला। भौचक्का सा मुँह ताकने लगा मैं उस महात्मा का। कुछ बोला न गया मुझसे। मेरी तो समझ में नहीं आ रहा था कि पार्थिव शरीर भी कोई है मेरा। यदि है तो कहाँ है? और किस स्थिति मैं। बड़ी परेशानी का अनुभव करने लगा मैं उस समय। कहाँ जाऊँ? किधर जाऊँ? एक प्रकार से सच पूछा जाय तो अपने स्थूल शरीर को भूल ही गया था मैं! आश्रम से निकल कर मुँह लटकाएं एक ओर बढ़ने लगा धीरे-धीरे। काफी चलने के बाद मुझे सामने दिखलायी दिया चक्रेश्वरी मठ। और चक्रेश्वरी मठ को देखते ही सब कुछ याद आ गयी, अपना शरीर भी। स्मृति जागृत होते ही एक अज्ञात और गहनतम शून्य में प्रवेश कर गया मैं। निश्चय ही वह तृतीय आयाम और चतुर्थ आयाम के सन्धि स्थल का शून्य था इसमें सन्देह नहीं। और उस गहन शून्य की अवस्था में भी अपने अस्तित्व का बोध मैं के रूप में बराबर बना रहा मुझे। अगर ऐसा न होता तो लिखता कैसे इन पंक्तियों को मैं।

सहसा एक विचित्र सा अवर्णनीय उत्ताप का अनुभव हुआ मुझे और उसी के साथ हुआ मुझे भौतिक जगत के अस्तित्व की अनुभूति भी। मेरी आर्न्तचेतना लुप्त हो गयी थी और उसके स्थान पर जागृत हो गयी थी बाह्य चेतना।

धीरे-धीरे आँखे खोली और अपने सामने पूर्ववत् लामा सेंग को बैठा हुआ देखा मैंने। मुस्करा रहे थे वह उस समय। फिर धीरे से बोले - यात्रा कर ली अपने वाञ्छित स्थानों की?

तुरन्त लामा सेंग के इस प्रश्न का उत्तर न दे सका मैं। उनके भावहीन चेहरे की ओर अपलक देखते हुए मन ही मन सोचने लगा -'क्या सत्य है? यह सत्य है कि वह सत्य हैं। एक गहरी भ्रान्ति में फंस गया था मेरा चित्त उस समय।

मेरी मन:स्थिति को समझ गये लामा सेंग। बोले-वास्तव में एक मात्र आत्मा सत्य हैं। उसके अतिरिक्त सब माया हैं यानी अस्थिर। स्थिर हैं तो केवल आत्मा। स्थिर वस्तु ही सत्य होता हैं अस्थिर नहीं। यह सुनकर मन हल्का हुआ कुछ मेरा। सिर नीचें कर धीरे से बोला - आप तो मेरे साथ यात्रा पर निकले थे, फिर कहाँ लुप्त हो गये आप? मैं आपके साथ गया ही कहाँ था? मैं तो यही था - लामा सेंग ने कहा।''

ऐं। आप यहीं थे!

हाँ! लेकिन आपने अपनी यात्रा के अन्तर्गत जो कुछ देखा सुना और अनुभव किया उससे भली भांति परिचित हूँ मैं।

कुछ बोला न गया मुझसे यह सुनकर। मुँह बाये देखता भर रह गया मैं उनकी ओर। योग में कितनी शक्ति हैं इसका ज्ञान तो पहले ही था मुझको लेकिन अब मेरे ज्ञान भण्डार में और वृद्धि हो गयी थी।

लामा सेंग मुझे मौन और आश्चर्य चकित देखकर स्वयं आगे कहने लगे - 'आपने मन्दिर में कापालिक की जो नर बलि का दृश्य देखा था। वह लगभग छैः सात सौ वर्ष पूर्व घटित हुआ था। दिक काल से परे का जो सिद्धान्त है-उसके अनुसार भौतिक जगत में जिस समय और जिस स्थान पर जैसी जो घटना घटती है। भले ही वह अच्छी हों या बुरी - वह चतुर्थ आयामी अभौतिक सत्ता में बराबर उसी समय और उसी स्थान पर घटती रहती हैं। आप अपने सूक्ष्म शरीर में थे इसलिए इतनी प्राचीन हृदय विदारक और अविश्वसनीय दृश्य को देख सके। वैसे भी कभी कदा संयोगवश चतुर्थ आयाम में तृतीय आयाम की बराबर घटने वाली घटनाओं के दृश्य की झलक मिल जाती है, जिसे लोग देवी चमत्कार अथवा अनहोनी कह कर चल देते हैं।

नरबलि के संबंध में लामा सेंग ने आगे कहा - कापालिक की बली की कथा से तुम परिचित हो ही गये हो संक्षिप्त रूप में। लेकिन यह नही जानते कि उस परम और महान साधक की भैरवी कात्यायनी भी एक परम और उच्च कोटि की साधिका थीं। उसे कई प्रकार की दुर्लभ सिद्धियाँ प्राप्त थी। उसका पार्थिव शरीर तो नष्ट हो गया लेकिन उसके व्यक्तित्व का अस्तित्व सूक्ष्म शरीर में चतुर्थ आयामी जगत में अभी भी विद्यमान हैं और कभी कदा अवसर प्राप्त होने पर तथा किसी महत्वपूर्ण उद्देश्य से चतुर्थ आयाम की सीमा लांघकर इस तृतीय आयामी जगत में भी आ जाती हैं वह।

अच्छा। आश्चर्य से बोला मैं।

आपको ज्ञात होना चाहिए कि कात्यायनी अपने सूक्ष्म शरीर के परमाणुओं अणुओं में विघटित करने की कला से पूर्ण परिचित है। जैसा कि कहा-योग तांत्रिक सिद्धियाँ तो ही उसके पास गुरु की दी हुई। परमाणु को अणु में और अणु को परमाणु में विघटित कर इच्छानुसार कभी सूक्ष्म शरीर का तो कभी स्थूल शरीर का निर्माण कर लिया करती है। योग की यह अत्यन्त रहस्यमयी कला है। इस कला से लाखों में कोई एक सिद्ध योगी परिचित होता है सभी नहीं। इस प्रसंग में मैं आपको यह भी बतला दूँ कि वह महा भैरवी आपसे परिचित हो चुकी है। कभी न कभी अवश्य मिलेगी आपसे वह, यह समझ रखिये आप।

यह सुनकर किसी अज्ञात भय से सिहर उठा मैं। बोला क्यों - मुझसे मिलना चाहेगी? क्या काम होगा उसका मुझसे?

यह तो मैं नहीं बतला सकता। वही जाने लेकिन यह अवश्य बतला सकता हूँ कि जिस स्थूल शरीरधारी व्यक्ति को सूक्ष्म शरीर में अपनी सीमा के अन्तर्गत एक बार देख लेती हैं तो उससे निश्चित रूप से कभी न कभी सम्पर्क स्थापित करती है वह यह निश्चित है। लेकिन मेरी समझ में यह नही आता कि जब मैं सम्मोहित सा उसके पीछे भागा जा रहा तो एकाएक अदृश्य क्यों हो गयी वह - मैंने पूछा?'' मेरा प्रश्न सुनकर लामा सेंग ने कहा - कई कारण है इसके, समझे न आप! सबसे पहले आपको यह ज्ञात होना चाहिए कि इस भौतिक जगत के साथ क्रम से तीन और जगतो का अस्तित्व है। जो एक प्रकार से भौतिक जगत के ही प्रति रूप है। पहले आपको उसी के विषय में मैं बतलाना चाहूँगा।

भौतिक जगत में अन्तर्निहित वे दो जगत हैं सूक्ष्म जगत और सूक्ष्मतम जगत। हमारा यह भौतिक जगत यानी पार्थिव जगत अणुओं के समूह से निर्मित है। इस जगत की प्रत्येक वस्तु और प्रत्येक पदार्थ अणु निर्मित है। इस जगत में जो कुछ भी हम अपनी आँखों से देख रहे है वे सब अणुओं के समूह के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। प्रत्येक अणु त्रिआयामी होता हैं। इसीलिए भौतिक जगत त्रिआयाम का जगत है। इस संबंध में आगे चर्चा करूगा मैं। भौतिक जगत की ही तरह हमारा स्थूल शरीर भी त्रिआयामो है और अणुओं के समूह से निर्मित। आपको ज्ञात होना चाहिए अणुओं का समूह अपने स्थान पर बराबर द्रुत गति से घूमते रहते हैं। उनके इसी क्रिया के परिणाम स्वरूप प्रत्येक स्थूल पदार्थ और प्रत्येक वस्तु में बराबर परिवर्तन होता रहता है। उनका रूप और आकार बराबर होता रहता है परिवर्तित। शरीर भी इसका अपवाद नहीं उसमें भी इसी कारण बराबर शुरू से लेकर अन्त तक परिवर्तन होता रहता है। जिसका अन्तिम परिणाम होता है मृत्यु। इसीलिए शरीर और संसार को परिवर्तनशील कहा गया है।

इस दृश्यमान पार्थिव जगत के दो भाग है। पहला भाग तो पूर्ण रूपेण दृश्यमान हैं और है पूर्ण रुपेण त्रिआयामी। लेकिन दूसरा भाग दृश्यमान होते हुए भी अदृश्य है। इसीलिए कि उसका कुछ अंश चतुर्थ आयाम की सीमा के भीतर है। ऐसा आप समझे उसका तीन अंश चतुर्थ आयाम में हैं और एक अंश तृतीय आयाम में है। इसलिए जगत के उस भाग की झलक हमे कभी कदा किसी न किसी रूप में मिल जाती हैं। जिसे हम अनजाना लोक कहकर आश्चर्य चकित हो उठते हैं। हम यह नहीं जानते है कि वह अनजाना लोक अपने ही जाने पहचाने लोक का एक भाग हैं। लामा सेंग थोड़ा रुककर आगे बोले - यहाँ में आपको सृष्टि शास्त्र के दो एक महत्वपूर्ण सिद्धान्त बतलाना चाहता हूँ ताकि आप अपने प्रश्न का उत्तर भली भाँति समझ सके। वह कौन सा सिद्धान्त है - मैंने पूछा? वह है

अणु-परमाणु का सिद्धान्त। वैसे वह है अति गम्भीर किन्तु आपको उसका उतना ही अंश बतलाऊँगा, जितना आवश्यक है।

सृष्टि शास्त्र का अणु-परमाणु सिद्धान्त

आपको ज्ञात होना चाहिए कि इस विश्व ब्रह्माण्ड में दो प्रकार की सत्ता है पहली हैं अव्यक्त सत्ता और दूसरी है व्यक्त सत्ता। जो अव्यक्त सत्ता है उसका विस्तार असीम है। उसकी सीमा अन्तहीन हैं लेकिन जो व्यक्त सत्ता हैं उसकी अपनी मर्यादित सीमा हैं। और उसी सीमा के अन्तर्गत तीन जैविक अवस्थाएं है - जागृत, स्वप्न और सुषुप्ति। पहली अवस्था से व्यक्त सत्ता शुरू होती है और तीसरी अवस्था में समाप्त हो जाती है। सुषुप्ति के बाद शुरु होती है अव्यक्त सत्ता की सीमा जो अपने आपमें अन्तहीन है।

भारतीय अध्यात्म विद्या का प्रारम्भ - आप जानते हे - शून्य से शुरू होता है। शून्य यानी कुछ नहीं लेकिन बहुत कुछ। अध्यात्म विद्या को हृदयगम करने के लिए उस 'शून्य्' को 'बिन्दु' नाम और रूप दिया गया। बिन्दु अर्थात शून्य।

अव्यक्त सत्ता का प्रारम्भ एक बिन्दु से होता है। यानी परम शून्य से। इसी परम शून्य की उपलब्धि योगियों का मोक्ष अथवा परम निर्वाण हैं। अध्यात्म के अनुसार परम शून्य परब्रह्म का वाचक है। परम शून्य यानी बिन्दु से किस प्रकार चेतन और अचेतन सृष्टि हुई हैं वह अति रहस्यमय है। 8 बिन्दु से सर्वप्रथम 1 सूक्ष्माति सूक्ष्म 'रेणु' का निर्माण हुआ सर्वप्रथम। फिर क्रम से सू0सू0 रेणु से 1 सूक्ष्म रेणु 8 सू0 रेणु से रेणु। रेणुओ के समूह से ब्रह्माण्ड के जिस भाग का निर्माण हुआ है - वह है भाव राज्य। भाव राज्य में केवल भाव अथवा भावना की ही प्रधानता है। परम निर्माण की उपलब्धि के समीप पहुँचने वाले महात्मा लोगो का वह भाव राज्य निवास स्थल है। भाव राज्य में केवल भावना का ही हर तरफ प्रवाह है। वहाँ के निवासी महात्माओं में इसीलिए केवल भाव रहता है। भाव के अतिरिक्त और कुछ नहीं। इसीलिए 'योग' में भाव को प्रधानता दी गयी है। भाव से ही ज्ञान की प्राप्ति होती है और भाव से ही देव दर्शन भी होता है।

अब आगे चलिए। 8 रेणु से 1 सू0सू0 परमाणु का निर्माण होता है। सू0सू0 परमाणुओं से ब्रह्माण्ड में जिस राज्य का निर्माण हुआ है उसे सूक्ष्मतम देवी राज्य कहते हैं। उस सत्य में दो मण्डल है एक तो है ऋषि मण्डल और दूसरा है देव मण्डल। एक में उच्च कोटि के ऋषिगण निवास करते है और दूसरे में निवास करते है उच्चकोटि के स्थायी देवगण। ऋषियों और देवताओं में भाव के साथ-साथ विचार भी हैं। इसीलिए उस राज्य को विचार लोक भी कहा जाता है।

प्रावर बुद्धिजीवी उच्च कोटि के विद्वान चिन्तक विचारक आदि को मस्तिष्क की कोशिकाएं उसी सूक्ष्मतम देवी राज्य से भाव और विचार ग्रहण करती है।

इसी प्रकार 8 सूक्ष्माति सूक्ष्म परमाणु का 1 सूक्ष्म परमाणु होता है। इस सूक्ष्म परमाणुओं के समूह से निर्मित राज्य को सूक्ष्माति सूक्ष्म जगत कहते हैं। आगे 8 सूक्ष्म परमाणु से 1 परम अणु का निर्माण हुआ है। इस परमाणुओं के समूह से परम सूक्ष्म जगत की रचना हुई हैं।

3 परम अणु से 1 त्रसरेणु का निर्माण होता है इस त्रसरेणु के समूह से सूक्ष्मतम जगत की रचना हुई हैं। इसी प्रकार 9 त्रसरेणु से 1 सूक्ष्माति सूक्ष्म अणु का निर्माण होता हैं। इस सूक्ष्माति सूक्ष्म अणुओं के समूह से जिस जगत का निर्माण होता है वह हैं सूक्ष्म जगत। यहाँ यह बतला देना आवश्यक है कि इस सूक्ष्म जगत की अन्तिम सीमा से विश्व ब्रह्माण्ड की अव्यक्त सत्ता समाप्त हो जाती है और व्यक्त सत्ता हो जाती है शुरु।

8 सू0सू0 अणु का 1 सूक्ष्म अणु होता है। इस सूक्ष्म अणु के समूह से उस सूक्ष्म जगत का निर्माण होता हैं जिसे हम चतुर्थ आयामी की संज्ञा देते हैं। भारतीय परलोकवाद की दृष्टि में वह सूक्ष्म जगत वासना जगत अथवा वासना लोक हैं।

इसी प्रकार 8 सूक्ष्म अणु से 1 अणु निर्मित होता है। इसी अणु समूह से भौतिक अथवा पार्थिव जगत का निर्माण हुआ है जिसे स्थूल जगत भी कहते है।

वैसे तो सात शरीर है लेकिन जिन शरीरों से मनुष्य जीवन यात्रा करता हैं वे केवल तीन हैं - स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर और कारण शरीर। इनके अतिरिक्त एक उप शरीर है, जिसे वासना शरीर कहते है। यह शरीर स्थूल और सूक्ष्म के बीच रहता है। मनुष्य की अच्छी बुरी सभी वासनाएं उसी शरीर में उत्पन्न होती है और उसी शरीर में सभा भी जाती हैं। लेकिन उन अच्छी-बुरी वासनाओं के अच्छे बुरे संस्कारों को सूक्ष्म शरीर ग्रहण कर लेता हैं और उसी के अनुसार अगला स्थूल शरीर मनुष्य को प्राप्त होता है।

जैसा कि हम आपको बतला चुके हैं स्थूल शरीर अणुओं के समूह से निर्मित होता हैं। वासना शरीर सूक्ष्म अणुओं के समूह से होता है निर्मित। उन्ही सूक्ष्म अणुओं के समूह से होता है निर्मित। उन्ही सूक्ष्म अणुओं में वासनाएं चिपकी रहती हैं। यदि हम उन सूक्ष्म अणुओं को वासना के अणु कहें तो साधुतर होगा।

इसी प्रकार सूक्ष्माति सूक्ष्म अणुओं के समूह से मनुष्य के सूक्ष्म शरीर की रचना होती हैं। यह मनुष्य का दूसरा मुख्य शरीर हैं। यह कर्म शरीर नहीं भोग शरीर हैं।

इसके पश्चात तीसरा मुख्य शरीर हैं कारण शरीर। इसे सूक्ष्मतम शरीर भी कहते हैं। इसका निर्माण त्रस रेणुओं के समूह से होता है। 'स्व' का बोध इसी शरीर से मनुष्य को होता है। अन्य दोनों शरीर के नष्ट हो जाने पर भी इस शरीर का अस्तित्व बराबर बना रहता है।

कई दृष्टि से कारण शरीर अपने आपमे अति महत्वपूर्ण है। इसी शरीर का दूसरा नाम लिंग शरीर भी हैं। स्त्री-पुरुष का लैंगिक भेंद इसी शरीर तक हैं। इसके महत्व का सर्वप्रथम कारण यह है कि हम अपने अस्तित्व का यानी अपने 'स्व' का बोध इसी शरीर में करते है। 'मैं' शब्द भी इसी शरीर से निकल कर बाहर आता है। जिसे हम 'अहम्' कहते हैं वह इसी शरीर की देन हैं।

कारण शरीर एक ऐसे स्थान पर है जिसके एक ओर तो बाह्य जगत यानी स्थूल और व्यक्त सत्ता और दूसरी ओर है - आन्तर जगत यानी सूक्ष्मतम से भी सूक्ष्मतम अव्यक्त सत्ता। यह दूसरा महत्वपूर्ण कारण हैं। आध्यात्म की जितनी भी गुह्य साधनाएं हैं वे सब इसी शरीर की साधनाएँ है। साधक अपनी साधना की पूर्णता इसी शरीर में उपलब्ध करता है। यह तीसरा महत्वपूर्ण कारण है। योग-तन्त्र जितनी भी गुह्य साधनाएं हैं-उनका पहला लक्ष्य हैं स्थूल शरीर पर पूर्ण अधिकार तदन्तर सूक्ष्म शरीर पर् अधिकार। दोनों शरीर पर पूर्ण अधिकार हो जाने पर साधक के लिए वे दोनों महत्वहीन हो जाते हैं। उसके लिए महत्वपूर्ण हो जाता है कारण शरीर। जिसके द्वारा अपनी वास्तविक साधना-यात्रा शुरु करता है। और उस यात्रा का पहला लक्ष्य होता है अव्यक्त सत्ता में प्रवेश। यह चौथा महत्वपूर्ण कारण हैं। कारण शरीर सच पूछा जाय तो शुद्धतम-विशुद्धतम और सूक्ष्मतम शरीर हैं।

अव्यक्त सत्ता में प्रवेश करने पर जैसे-जैसे साधक आगे बढ़ता जाता हैं वैसे ही वैसे उसके कारण शरीर में परिवर्तन भी होता जाता है। वास्तव में वह परिवर्तन परमाणुओं, रेणुओं आदि का होता हैं। उसी प्रकार जैसे हम अपने स्थूल शरीर में बाल्यावस्था, किशोरावस्था, युवावस्था, तरूणावस्था, जठरवस्था, वृद्धावस्था आदि अवस्थाओं का समयानुसार अनुभव करते हैं। उसी प्रकार साधक अपनी यात्रा काल में अपने कारण शरीर में परिवर्तन का अनुभव करता हैं। परिवर्तन का वह अनुभव उस सीमा तक करता है, जहाँ पहुँच कर उसका कारण शरीर रेणुओं का मात्र समूह रह जाता हैं। और उसके आगे बढ़ते ही 'स्व' का बोध समाप्त हो जाता और उसके स्थान पर उत्पन्न हो जाता हैं अहं ब्रह्मास्मि का बोध। यह बोध होता है अव्यक्त सत्ता की अन्तिम सीढ़ी पर और जिसमे वह बोध होता हैं वह होता है सूक्ष्माति सूक्ष्म रेणुओं के समूह से निर्मित शरीर। इसके पश्चात है परम शून्य।

थोड़ा रूक कर फिर मुस्कराते हुए लामा सेंग बोले - मेरे इस प्रवचन से आपकी जिज्ञासा का समाधान हो जाना चाहिए।

मैंने सिर हिलाते हुए कहा - समझ गया मैं। कात्यायनी सूक्ष्म से सूक्ष्मतम कारण शरीर में थी और मैं था सूक्ष्म शरीर में जिसमे थे वासना के संस्कार। वैसे भी कोई साधक योगी और महात्मा तो था नही। जिस शक्ति के बल पर मैंने यह अविश्वसनीय यात्रा की वह शक्ति आपकी थी। मेरा तो अपना कुछ भी नहीं था। इन्ही सब कारणों से अलग हो गया मेरा अस्तित्व कात्यायनी से। ठीक समझा आपने - लामा सेंग बोले - आपकी धारण बिल्कुल ठीक है। मै और आपको बतला दूँ। देवी का मन्दिर भौतिक सत्ता में हैं किन्तु आपने जिस अवर्णनीय मोहक और अनुपम छटा से परिपूर्ण वातावरण में भैरवी के साथ प्रवेश किया था वह वास्तव में चतुर्थ आयामी जगत था और था शव साधना स्थल भी।

ऐ क्या कहा आपने - वहीं था रहस्यमय शव साधकों का रहस्यमय साधना स्थल मैंने आश्चर्य भरे स्वर में अपने कौतूहल को प्रकट किया?

आपको यह भी ज्ञात होना चाहिए कि जिन महात्माओं को आपने देखा वे लोग और कोई नहीं अपने आपमे महान साधक थे। उनकी आयु का कोई अता पता नहीं है। और न तो ज्ञान हैं किसी को उनकी योग तांत्रिक सिद्धियों का ही। वास्तव में उनकी मानवेतर शक्तियों की कोई ईयत्ता नहीं। यह सब सुनकर भौचक्का सा रह गया मैं।

गर्सियांग मठ के लिए प्रस्थान

एक प्रकार से रिक्त हो गया था चक्रेश्वरी मठ। लामा सेंग भी आकाश मार्ग से अपने गन्तव्य की आरे चले गये थे। शेष रह गये थे केवल चार जन - प्रधान लामा, लामा वर्तन, लामा हूंग च्यांग और मैं। पूर्व निर्धारित कार्यक्रम के अनुसार लामा हूंग च्यांग के साथ गर्सियांग मठ के लिए प्रस्थान करना था। इतने सान्निध्य में रहने के कारण अत्यन्त प्रगाढ़ संबंध हो गया था मेरा लामा वर्तन से। प्रस्थान करते समय कुछ दूर तक मेरे साथ आये थे लामावर्तन। अलग होते समय मेरे दोनों हाथों को थामकर अवरूद्ध कण्ठ से बोले वह - अब तो हम दोनों का मिलन असम्भव ही हैं। आप कहाँ और मैं कहाँ। कभी कदा स्मरण अवश्य करियेगा मुझे अन्तिम शब्द के साथ उनकी आँखे में आँसू भर-भरा आये थे। आगे कुछ बोला न गया उनसे। यह सुनकर मुझसे भी रहा न गया। अपनी छाती से लामावर्तन को लगाते हुए भर्राये स्वर में मैंने कहा - 'यह क्या कहते हैं आप? आप जैसे योगी और विद्वान को कभी भूल सकेगी मेरी आत्मा। कभी नहीं भूल पायेगी वह। शरीर से भले ही मैं न मिलू आपसे लेकिन आपसे बराबर सम्पर्क रहेगा मेरी आत्मा का। कभी भविष्य में अवसर प्राप्त हुआ और परमेश्वरी ने चाहा तो तिब्बत की

यात्रा अपने तीन वर्ष के प्रवास काल और संबंधित संस्मरण को अवश्य लिपि बद्ध करूंगा मैं और उस संस्मरण में आपका एक महत्वपूर्ण और गरिमामय स्थान होगा इसमे सन्देह नहीं। मेरे सिने से लगे सिसकते रहे कुछ क्षण तक और फिर वापस लौट गये अपने मठ में आँखो में आँसू लिए वह और मै चल पड़ा लामा हूंग च्यांग के साथ गर्सियांग मठ के लिए।

अब तक मैंने जितनी हिम यात्रा की थी उसमें यह यात्रा मेरे लिए अत्यन्त कष्ट दायिनी थी। लामा हूंग च्याग के साथ उनकी शिष्य मण्डली भी थी। जिसमे आठ लामा थे। हम सभी लोग याक पर बैठकर यात्रा कर रहे थे। एक लामा शिष्य ने मुझे कोई वनौषधि घिसकर पिला दी थी जिसके फलस्वरूप भूख प्यास समाप्त हो गयी थी मेरी। एक विशेष प्रकार की शारीरिक मानसिक स्फूर्ति का अनुभव भी करने लगा था मैं। पहले दिन की यात्रा सकुशल समाप्त हो गयी लेकिन उसके बाद अनेक कठिनाइयों और परेशानियों का सामना करना पड़ा।

सोचता हूँ अगर वे कठिनाईयाँ और परेशानियाँ न हुई होती तो निश्चय ही तिब्बत का चमत्कार देखने को न मिला होता मुझे।

मार्ग में एक बहुत बड़ा पत्थर गिरा हुआ था। जिससे मार्ग अवरूद्ध हो गया था। वह शिलाखण्ड इतनी भारी था कि कोई शक्ति शाली ''क्रेन'' ही उसे उठा सकता था। लामा हूंग च्यांग याक से उतर कर पत्थर के समीप पहुँचे और अपनी झोली से पत्थर की एक कटोरी और चमड़े की कुप्पी (शीशी) निकाली। कुप्पी में कोई गाढ़ा तेल भरा था। लामा ने उसे कटोरी में डाला और ताँबे की एक कूंची से उस तेल को कई बार उस पत्थर पर छिड़का। कुछ देर बाद लामा ने अपने शिष्यों को उसे मार्ग से हटाने का संकेत किया मुझे यह देखकर काफी आश्चर्य हुआ कि उस विशाल और भारी पाषाण खण्ड को तीन-चार शिष्यों ने मिलकर इतनी आसानी से हटा दिया कि जैसे वह वजनी शिला खण्ड न होकर रूई का ढेर हो। मुझे आश्चर्यचकित देखकर लामा मुस्कराये और कहा कि दो घंटे बाद फिर उस पत्थर का वजन पूर्ववत् हो जायेगा। कारण पूछने पर लामा ने बतलाया कि कुछ समय के लिए इस पत्थर में विद्यमान गुरूत्वाकर्षण शक्ति को सुला दिया गया है। यानी पृथ्वी की गुरूत्वाकर्षण शक्ति को निश्चेष्ट कर दिया गया है। जिस प्रकार गुरूत्वाकर्षण का विज्ञान सत्य है वैसे ही उसका कुछ समय के लिए नियन्त्रण भी सत्य है। यह मैंने किसी मंत्र शक्ति के बल पर नहीं किया है। यह तो कुछ द्रव्यो का रासायनिक प्रभाव मात्र था। परन्तु हम साधारणतया गुरूत्वाकर्षण के सिद्धान्त को इतना अकाट्य मानते हैं कि इसके विरुद्ध होने वाली प्रत्येक घटना को अप्राकृतिक कहने से कभी संकोच नहीं करते।

जैसा कि बतलाया जा चुका है। मेरी यह हिम यात्रा अत्यन्त कष्टदायिनी थी। तीसरे दिन फिर एक बाधा आ गयी मार्ग में। एक काफी लम्बा चौड़ा पहाड़ी नाला था। जिसमें तीव्र गति से पानी बह रहा था। लामा का चमत्कार यहाँ भी देखने को मिला मुझे उन्होंने किसी वनस्पति की जड़ झोले से निकाली और उसे एक रासायनिक द्रव में डुबों कर रख दिया फिर कुछ देर बाद निकाल कर उसे नाले के किनारे जमीन में गाड़ दिया। दो घण्टे बाद उसमें से अंकूर फूट निकले - लम्बी लम्बी लताएँ बढ़ने लगी। जो पहले से रखी हुई रस्सियों के सहारे इस पार से उस पार तक फैल गयी। और खूब मोटी भी हो गयी। रात भर में चार फीट चौड़ा झूले का एक मजबूत पुल तैयार हो गया। हम सब लोगों ने बड़ी आसानी से उस तीस फुट चौड़ें नाले को पार लिया। मालूम हुआ कि थोड़े दिनों में ये लताएँ रस्सियों को खाकर केवल अपने ही सहारे स्थित रहेगी। और तब तक नष्ट न होगी, जब तक उनकी मूल जड़ सुरक्षित रहेगी। यदि पुल का नष्ट करना हो तो तांबे के तार को एकोनाइट में भीगो कर जड़ में कोच देने से बीस मिनट में सारी लताएँ सूखकर गिर पड़ेगी। तिब्बत में उस लता को ''सावा'' कहते है। बाल्मीकी रामायण में भी इसी लता का वर्णन मिलता है।

कहने की आवश्यकता नहीं लामा हूँग च्यांग निश्चय ही चमत्कारी पुरुष थे। इसमें सन्देह नहीं, वे योग और तंत्र-मंत्र के अलावा दुर्लभ जड़ी-बूटियों के भी परम ज्ञाता थे। उनसे मुझे अनेक प्रकार की बनौषधियों का ज्ञान हुआ। जिसे मैंने अपनी पुस्तक '''बनौषधि विज्ञान'' में संकलित किया है।

लगातार पाँच दिन की कठिन हिम यात्रा के बाद लामा हूँग च्यांग उनके शिष्यों के साथ एक झील के किनारे पहुँचा मैं। झील काफी लम्बी चौड़ी थी और गन्धक की थी। उसके पानी में कई रंगों का मिश्रण था। और उस विभिन्न रंग के पानी में कई हिमखण्ड तैर रहे थे। वातावरण में गहरी खामोशी पसरी हुई थी। झील के किनारे थोड़ा ऊपर हटकर एक गुफा थी जो काफी लम्बी थी। जिसमें से होकर गर्सियांग मठ जाना था। गुफा ही एक मात्र प्रवेश मार्ग था। मठ का। भीतर काफी अंधेरा था। लामा और उनके शिष्यगण गुफा के मार्ग से परिचित थे और उसके अभ्यस्त थे मगर मैं न परिचित था और न तो था अभ्यस्त, किसी प्रकार उन लोगों के पीछे-पीछे गिरते पड़ते चलने लगा। लगभग एक घंटे के बाद मैं एक काफि लम्बे-चौड़े स्थान पर पहुँचा। वह स्थान खुला हुआ था। देखा, उस स्थान के एक ओर एक काफी बड़ा फाटकनुमा दरवाजा था। मठ का वह मुख्य द्वार था। लेकिन वहाँ भी अंधेरा ही अंधेरा था। प्रकाश का कहीं नामोनिशान नही था। भीतर जाने पर मुझे एक बहुत बड़ा हाल मिला जिसकी छत काफी ऊँची

थी हाल में प्रवेश करते ही लामा ने एक घड़ियाल उठाई। जिसके साथ लकड़ी की एक मुंगरी बंधी हुई थी। घड़ियाल ताँबे की थी और चमक रही थी उस अंधेरे में भी, उसके चारों ओर चाँदी के तारों की एक बड़ी सी सुन्दर झालर लगी हुई थी। मैंने देखा घड़ियाल को मुंगरी से मारते ही ढन् ढन् की ध्वनि निकली और उस ध्वनि के साथ ही कई स्थानों पर हल्के रंग का प्रकाश हो गया। पहले तो प्रकाश मद्धिम था, लेकिन बाद में धीर-धीरे बढ़ता गया, और अन्त में इतना बढ़ गया कि लगा जैसे वहाँ एक साथ हजारों पावर के कई बल्ब जल रहे हों। काफी देर बाद जब प्रकाश कम होने लगता तो लामा या कोई शिष्य फिर घड़ियाल पर उसी मुंगरी से चोट कर देता - जिससे प्रकाश फिर पूर्ववत हो जाता था। आश्चर्यचकित होकर मुँह बाये चारों ओर देखने लगा मैं - यह जानने के लिए कि उस प्रकाश का उद्‌गम है कहाँ।

मुझे आश्चर्यचकित और अवाक देखकर लामा हूंग च्यांग बोले - इस मठ के मुख्य-मुख्य स्थानों पर एक विशेष प्रकार के ऐसे पत्थर के टुकड़े लगाये गये है - जिसमें प्राय: सभी धातुओं का समिश्रण पाया जाता है। घड़ियाल से उत्पन्न होने वाली ध्वनि उन टुकड़ों से टकराती है तो उसके स्पन्दन शक्ति के फलस्वरूप उन टुकड़ों से अपने आप प्रकाश निकलने लगता है। वास्तव मैं यह ध्वनि विज्ञान का एक विशिष्ट अंग है। जहाँ ध्वनि है वहाँ प्रकाश है। इसी प्रकार जहाँ प्रकाश है वहाँ ध्वनि है। यह ध्वनि का सिद्धान्त है।

ध्वनि से प्रकाश होने की बात निस्सन्देह विलक्षण है। विज्ञान से प्रमाणित और सिद्ध न होने पर भी इसे अप्राकृतिक नहीं कहा जायेगा।

जिन चमत्कारों को मैंने अपनी आँखों से देखा वे निश्चय ही अविश्वसनीय है लेकिन अप्राकृतिक नही है। कलकत्ता के विक्टोरिया मेमोरियल के अध्यक्ष वी. डी. अनवरे ने भी तिब्बत में इसी प्रकार की चमत्कार पूर्ण अविश्वसनीय घटनाओं को देखा था। जिनका वर्णन उन्होंने पटना की एक विद्वत सभा के सामने किया था। जिसके अध्यक्ष स्वयं स्थानीय गवर्नर थे। (पूरे विवरण के लिए द्रष्टव्य-बिहार-उड़ीसा रिसर्च सोसायटी जर्नल 1940 में प्रकाशित)।

जिसे हम अद्‌भुत घटना और अप्राकृतिक घटना कहते है। वास्तव में दोनों एक ही वस्तु नही है। दोनों में भारी अन्तर है। स्वभावत: हम प्रकृति के विरुद्ध घटनाओं में विश्वास नहीं करते। जो घटना प्रकृति के नियमों का तिरस्कार करती है वह हमारे विश्वास का भाजन नही बन सकती। परन्तु जिसे हम अद्‌भुत घटना कहने की अभ्यासी है वह अप्राकृतिक घटना नहीं होती। दिन प्रतिदिन होने वाली साधारण घटना से जहाँ कहीं थोड़ी सी भी भिन्नता दिख पड़ी, वहाँ हम अप्राकृतिक

कह कर चिल्ला उठते है। परन्तु बात कुछ दूसरी है। विज्ञान से सतत प्रयोग और अनुशीलन से प्रकृति के जो नियम उद्घाटित हुए है या हो रहे है वे तो साधारण अंश मात्र है। प्रकृति का साम्राज्य विशाल है। जिसे हम आज अप्राकृतिक कह कर तिरस्कार करते है उसे ही कल विज्ञान प्रकृति के नियमों का वशीभूत बतलाता है। आज की अलौकिक घटना कल ही लोकानुकूल बन जाती है। जिसका स्वप्न में भी ध्यान हम नहीं करते वही घटना नये अनुशीलन, परिशीलन, अध्ययन खोज तथा नेत्रों की सहायता से आज अभ्यस्त बन जाती है। ऐसी विषय दशाओं में आधुनिक विज्ञान के द्वारा अभी तक अमान्य घटनाओं को अप्राकृतिक कहकर हम उनका अनादर नहीं कर सकते। क्योंकि इस नाना रूपात्मक जगत को जिन नियमों की अभिव्यक्ति अभी तक हो पायी है वह तो समुद्र में एक बूँद के समान है।

कहने की आवश्यकता नहीं अपने तीन वर्ष के तिब्बत प्रवास काल में मैंने अनेक ऐसी घटनाओं को घटते हुए देखा ऐसे अद्‌भुत और अविश्वसनीय दृश्यों को देखा और ऐसे चमत्कारों को भी देखा जिन पर किन्चित मात्र विश्वास नहीं किया जा सकता। वास्तव में प्रकृति के विशाल और गूढ़ नियमों की अज्ञानता के ही कारण उन्हें विश्वास के योग्य हम नहीं समझते। लेकिन सत्य जो है उसके लिए प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। प्रमाण तो उसके लिए आवश्यक है जो असत्य है।

दुर्गम और रहस्यमय गर्सियांग

तिब्बत में कुल तीन सौ मठ है। जिनमें सर्वाधिक दुर्गम और रहस्यमय मठ है गर्सियांग। इस मठ के तीन और हिमाच्छादित दुर्भेध उत्तुंग पर्वत शिखर है और एक ओर है गन्धक की विशाल झील। मठ में जाने के लिए केवल एक ही मार्ग है और वह है अन्धकार में डूबी हुई लगभग एक मील लम्बी गुफा। बाहरी दुनिया से बिल्कुल अलग और सर्व साधारण लोगों के लिए अपरिचित वह मठ अपने आप में एक इतिहास है और वह इतिहास काफी पुराना है लगभग हजारों वर्ष पुराना।

मठ का वातावरण अत्यन्त रहस्यमय लगा मुझे ऐसा लगा मानों किसी अनजाने लोक में आ गया हूँ मैं। मठ काफी लम्बा-चौड़ा और विशाल था। मठ के बीच में एक काफी बड़ा प्रांगण था। जिसके चारों ओर दालान थे और उसके बाद थे छोटे छोटे साधना गृह। प्रांगण के बिल्कुल बीच में लाल पत्थर की ऊँची वेदी थी। जिस पर महाकाल के प्रतीक श्मशान भैरव की अट्हास करती हुई भयंकर मूर्ति स्थापित थी। वह मूर्ति लगभग दस फुट ऊँची अवश्य रही होगी। मूर्ति काले

पत्थर की थी और चतुर्भुजी थी। ऊपर के दो हाथों में काल पाश और गदा थी। नीचे के दो हाथों में अंकुश और अग्नि पात्र था। गले में नरमुण्ड की माला झूल रही थी, नकली नहीं असली नरमुण्डों की। मालूम हुआ कि मठ के जिनकी बलि दी गयी थी कभी, उन्हीं के नरमुण्ड थे वे। मूर्ति के दोनों पैर नर नारी के हृदय पर थे। और गतिशील मुद्रा में थे।

श्मशान भैरव की वह मूर्ति सजीव लगी मुझे सारा शरीर रोमान्चित हो उठा मेरा भय और आतंक से। दूसरे क्षण अपनी दृष्टि हटा ली मैंने वहाँ से।

प्रतिमा के ठीक सामने बलि वेदी थी। जिस पर कभी किसी समय श्मशान भैरव को प्रसन्न करने तथा अपनी साधना को पूर्ण करने के उद्देश्य से नर बलि दी जाती थी। कैसा रहता होगा नर बलि का लोमहर्षक और भयानक दृश्य कल्पना कर के ही सिहर उठा मेरा रोम-रोम।

प्रधान लामा और उनकी शिष्य मण्डली के अलावा उस रहस्यमय मठ में साधक गण भी निवास करते थे, जिनकी संख्या पच्चीस थी। उन साधकों में एक थे वज्र सम्पत। वज्र सम्पत युवा थे और अत्यन्त विनम्र और मृदुभाषी। वे योग और तंत्र के विद्वान तो थे ही साधक भी थे। उनका मुख मण्डल हमेशा साधना के तेज से दप् दप् करता रहता था। उन्होंने बतलाया कि मठ में बाहरी लोगों का प्रवेश पूर्णतया वर्जित है। आप ही पहले व्यक्ति है जिसने इस मठ में प्रवेश किया है। इसमें प्रधान लामा की कृपा ही समझना चाहिए। वैसा देखा जाय तो इस मठ के अस्तित्व का ज्ञान स्वयं तिब्बत वासियों को भी बहुत कम है। वास्तव में यह अत्यन्त गुप्त मठ है - थोड़ा रूक कर मेरी ओर गहरी नजर से देखते हुए साधक वज्र सम्पत बोले-आपको इस मठ में भैरव की विकराल मूर्ति और बलि वेदी देखकर अवश्य आश्चर्य और कौतूहल हुआ होगा। जो हाँ। सिर हिलाकर उत्तर दिया मैंने।

वास्तव में यह मठ कभी कापालिकों का था।

कापालिकों का...?

हाँ। कापालिकों का। आदि शंकराचार्य से तो अवश्य परिचित होंगे। उन्ही के समय में इस मठ का निर्माण हुआ था और स्थापित हुई थी भैरव और भैरवी की मूर्ति भी।

भैरवी की भी मूर्ति है इस मठ में - आश्चर्य से पूछ मैंने?

हाँ। आंगन के नीचे गर्भ गृह है। उसी गर्भ गृह में स्थापित है श्मशान भैरवी की मूर्ति। क्या देख सकता हूँ मैं?

अवश्य। आइए चलिए मेरे साथ।

प्रांगण के बगल में एक छोटा सा कमरा था। उसी कमरे से नीचे गर्भ गृह में जाने के लिए सीढ़िया बनी हुई थी। अंधेरा था। किसी प्रकार टटोल-टटोल कर

नीचे उतरा मैं साधक वज्र सम्पत के साथ। गर्भगृह भी घोर अंधकार में डूबा था। मगर वहाँ भी ध्वनि-प्रकाश की व्यवस्था थी। घड़ियाल पर मुंगरी की चोट पड़ते ही सारा गर्भ गृह प्रकाश से भर उठा एक बारगी। और उस प्रकाश में सर्वप्रथम मेरी दृष्टि जिस पर पड़ी - वह थी महा श्मशान भैरवी की आदम कद मूर्ति। एक ऊँची वेदी पर स्थापित थी काले पत्थर की बनी वह मूर्ति। मूर्ति भव्य और विकराल थी। शवा रूढ़ महाश्मशान भैरवी की उस मूर्ति को देखकर रोमांचित हो उठा मेरा सारा शरीर। चार हाथ और उन हाथों में खड्ग, पाश, नरमुण्ड और अग्नि पात्र। गले में वास्तविक नरमुण्डों की माला। क्रोध से भरे नेत्र और बाहर की ओर निकली जिव्हा। पूर्ण नग्ना, उस मुक्त केशी को देखकर कौन भयभीत नही हो सकता था। भला। वहाँ भी बलि वेदी थी। साधक वज्र सम्पत उसकी ओर संकेत कर कहने लगे- आप भैरवी के गले में जिन मनुष्यों के मुण्डों की माला देख रहे हैं, उनकी बलि कभी इसी वेदी पर दी गयी थी। इसी प्रकार उन लोगों की भी बलि दी गयी थी जिनके मुण्ड की माला श्मशान भैरव ने धारण की है। श्मशान भैरवी के हाथ में आप जिस मुण्ड को देख रहे है, वह एक युवती की है। कौन थी वह युवती?

कापालिक भैरवानन्द और बिन्दुमति

मेरा प्रश्न सुनकर साधक वज्र सम्पत कुछ क्षण मौन रहे। फिर मूर्ति की ओर देखते हुए बोले इस विषय में अधिक तो मैं नहीं जानता। बस इतना ही जानता हूँ कि कोई राजकुमारी थी वह। नाम था बिन्दुमति। कापालिक भैरवानन्द की भैरवी थी वह। श्मशान भैरवी की पाषाण प्रतिमा में प्राण प्रतिष्ठा नहीं हो पा रही थी। जब भी वह कापालिक माँ को पुष्पान्जलि अर्पित करता माँ स्वीकार न करती उसे। उनकी इच्छा तो कुछ और ही थी और वह थी बिन्दुमती की बलि। बिन्दुमति का शोणित पान करना चाहती थी श्मशान भैरवी। कापालिक असमंजस में पड़ गया। वह नहीं चाहता था बिन्दुमति की बलि। इसलिए कि उसकी समस्त तांत्रिक साधना की आधार भित्ति एक मात्र बिन्दुमति ही थी। उसी का आश्रय लेकर उसने अनेक तांत्रिक सिद्धियां प्राप्त की थी। मगर उसकी बलि दे देता तो वे सिद्धियाँ उसके हाथ से निकल जाती। पूरे तीन दिन तक लगातार वह कपालिक माँ के चरण पकड़ कर रोता रहा, विलाप करता रहा और करूण स्वर में कहता रहा - माँ महामाया मैनें तुम्हारी कठोर साधना की है। बिन्दुमति के बदले मैं अपनी बलि देने के लिए तैयार हूँ। तू मुझे स्वीकार कर, मेरे शोणित का पान कर। बिन्दुमति को छोड़ दे। यह कहकर वह बार-बार बलि देने वाला विशाल खड्ग उठा लेता था। लेकिन कोई अदृश्य शक्ति उसका हाथ थाम लेती थी। फिर क्या हुआ?

होगा क्या? श्मशान भैरवी की ही इच्छा पूर्ण हुई। दीपावली की महानिशा बेला में बलि दे दी गयी इसी बलि वेदी पर बिन्दुमति की। अपने हाथों से बलि दी कापालिक भैरवानन्द ने।

कौन था कापालिक भैरवनानन्द? और उसने क्यों इस दुर्गम स्थान पर मठ का निर्माण किया। इसका एक लम्बा इतिहास है जो आदि शंकराचार्य के समय से शुरू होता था।

क्या आप थोड़ा प्रकाश डाल सकते हैं अन्धकार में डूबे उस इतिहास पर?

मेरी बात सुनकर वज्र सम्पत थोड़ी देर मौन रह कुछ सोचते रहे फिर बोले-जिस सीमा तक मैने इस विषय का अध्ययन किया है उसके अनुसार गुप्तवर्धन युग भारतीय धर्म संस्कृति और विभिन्न साधनाओं के इतिहास में अपना विशेष महत्व रखता है।

यदि यह कहा जाय कि वैदिक, बौद्ध, जैनियों का वह संघर्ष युग था तो अतिश्योक्ति न होगी। बौद्ध न्याय, और बौद्धधर्म का उदय तथा अभ्युदय, इस युग की महती विशिष्टता है। इसी युग में नागार्जुन, वसु बन्धु, दिड नाथ, तथा धर्म कीर्ति जैसे प्रकाण्ड पण्डितों ने बौद्ध न्याय को जन्म दिया। तथा उसकी आश्चर्यजनक उन्नति भी की। इन लोगों ने उधर ब्राह्ममण नैयामिकों के सिद्धान्तों का खण्डन बड़ी ही सतर्कता के साथ किया। ब्राह्मण नैयायिकों ने भी चुपचाप बैठे न रह कर बड़े कौशल और विद्वता के साथ ब्राह्मण न्याय की उन्नति की। वात्सायन, उद्योतकर और प्रशस्तपाद ने बौद्ध तार्किकों के मतों का खण्डन किया। और अपने सिद्धान्तों की रक्षा की। इतना होने पर भी एक विशेष दिशा में ब्राह्मणों की ओर से वेदान्त की रक्षा का प्रयास नहीं हो रहा था। वह था वैदिक कर्मकाण्ड तथा ज्ञान काण्ड का संयुक्त मण्डन। इन दोनों विषयों के प्रति बौद्धों ने जो निन्दा और अवहेलना प्रदर्शित की थी उसे ध्वस्त करने के निमित्त ऐसे विज्ञ वैदिक की आवश्यकता थी जो वैदिक क्रिया कलापों का औचित्य प्रदर्शित करता तथा वैदिक अध्यात्म शास्त्र की विशुद्धि उद्घोषित करता।

उधर जैन मतावलम्बियों की ओर से भी विरोध की कमी न थी। उसके अनुयायी भी अपने सिद्धान्तों के प्रति पादन में तथा पर मत के खण्डन में विशेष रूप से जागरूक थे। समन्त भद्र तथा सिद्ध सेन दिवाकर की महत्वपूर्ण रचनाओं ने जैन न्याय को एक प्रतिष्ठित शास्त्र बना दिया था। वैदिक आचार के अनेकांश में ऋणि होने पर भी जैन लोग श्रुति की प्रामाणिकता नहीं मानते थे। श्रुति के क्रिया कलापों पर दोहरा आक्रमण हो रहा था। एक तो बौद्धों की ओर से तथा दूसरा जैनियों की ओर से। बड़ी ही विकट स्थिति थी वह मैंने कहा।

है और क्या? वज्र सम्पत बोले-वैदिक धर्म बड़े ही संकट से गुजर रहा था। उसकी पुनः प्रतिष्ठा के लिए यह बहुत ही आवश्यक था कि श्रुति के सिद्धान्तों की यथार्थता साधारण लोगों की भलीभाँति समझायी जाय। श्रुति के कर्मकाण्ड में जो विरोध आजाततः दृष्टि गोचर होता था उसका उचित परिहार किया जाय तथा यज्ञ पात्र की उपयोगिता तर्क की कसौटी पर कसकर विद्वानों के सामने रखी जाय। इस आवश्यकता की पूर्ति दो प्रसिद्ध विद्वानों ने की। इस कार्य को समुचित रीति से सम्पादन करने का श्रेय आचार्य कुमारिल और आचार्य शंकर को है। आचार्य कुमारिल ने वेद की प्रमाणिकता न कटने वाली युक्तियों के बल पर सिद्ध किया। तथा वैदिक कर्मकाण्ड की उपादेयता को भी प्रमाणित किया। जो कार्य कुमारिल ने कर्मकाण्ड की विशुद्धि के लिए किया था वहीं कार्य शंकर ने ज्ञान काण्ड की गरिमा के लिए किया। शंकर ने अवैदिक दर्शन तथा द्वैत वादियों के मतों का भली भाँति खण्डन कर उपनिषदों के आध्यात्मिक अद्वैत तत्व का प्रतिपादन बड़ी ही प्रबलं युक्तियों के सहारे किया। इस प्रकार गुप्त काल में जिस वैदिक धर्म की जागृति के जो लक्षण दिख पड़ते थे - उसका पूर्ण रूप इस कुमारिल-शंकर युग में सर्वत्र अभिव्यक्त हुआ।

जिस प्रकार पाण्डित्य पूर्ण शब्दों में वज्र सम्पत इतिहास के इस विषय को समझा रहे थे निश्चय ही वह अति महत्वपूर्ण था। सांयकाल हो चुका था। वज्र सम्पत ने विनम्र स्वर में कहा - आइये चलिए मेरे कक्ष में। अभी तक मैंने वज्र सम्पत का कक्ष नहीं देखा था। मठ के अन्तिम छोर पर था उनका कक्ष। कई घुमावदार सीढ़ियाँ चढ़ने के बाद उनके कक्ष में पहुँचा मैं। काफी बड़ी छत थी और उस छत के एक ओर कक्ष था उनका, कक्ष के भीतर जाने के लिए पत्थर का दरवाजा था जिस पर पीले रंग का रेशमी पर्दा लटक रहा था। पर्दा हटाकर जब मैंने प्रवेश किया तो एक बारगी दंग रह गया। लगा जैसे किसी के आधुनिक कमरे में आ गया हूँ मैं। कमरे के फर्श पर कीमती कालीन बिछी हुई थी। योग तंत्र, ज्योतिष आदि विषयों से संबंधित सैकड़ों पुस्तकों और दुर्लभ पाण्डुलिपियाँ बड़ी-बड़ी आलमारियों में लगी हुई थी। वे सभी पुस्तकें और पाण्डुलिपियाँ संस्कृत, पाली और तिब्बती भाषा में थी। दीवारों पर भगवान तथागत, दलाई लामा के अलावा अनेक तांत्रिक देवी देवताओं के तैल चित्र टंगे हुए थे। एक ओर काफी बड़ा तख्त लगा था, जिस पर याक के बालों के मोटे मोटे कम्बल बिछे थे। दूसरी ओर वज्र सम्पत का साधना आसन था। और उसी के निकट था पढ़ने लिखने के लिए एक काफी लम्बा चौड़ा टेबुल नुमा तख्त। उस तख्त पर भी बहुत सारी पुस्तके कागज फाइले और अन्य लेखन सामग्रियाँ बिखरी हुई थी। कमरे के एक ओर तीन

बड़ी-बड़ी खिड़कियाँ थी। उन पर भी रेशमी पर्दे झूल रहे थे। एक खिड़की का पर्दा धीरे से हटाकर बाहर झांका मैंने। जहाँ तक दृष्टि जाती थी वहाँ तक ऊँचे-ऊँचे हिमाच्छादित उत्तुग पर्वत शिखरों और उन शिखरों के ऊपर अठखेलियाँ करते हुए बादलों के छोटे बड़े टुकड़ों के अलावा और कुछ नहीं दिखलायी देता था। पूरव की ओर का आकाश सफेद हो रहा था। शायद चाँद निकल रहा था पर्वतों के पीछे से।

सांसारिक वातावरण; तमाम कोलाहल और तमाम झंझटो व परेशानियों से सैकड़ों मील दूर उस हिम प्रान्त में पहली बार मेरी आत्मा ने एक ऐसी शान्ति का अनुभव किया - जिसका वर्णन शब्दों में नहीं किया जा सकता। आज सोचता हूँ क्यों उस परम शान्ति को छोड़कर चला आया मैं संसार के नारकीय वातारवण में ? क्यों आ गया उस हिम प्रदेश को छोड़कर, ईर्ष्या, द्वेष, घृणा और छल कपट के सांसारिक वातावरण में। काश ! फिर एक बार किसी तरह पहुँच जाता उस रमणीक और सुरम्य लोक में। उत्तुग हिम शिखरों के पीछे से चतुर्दशी का चाँद झांकने लगा था अब। बर्फ की धवल चादर में लिपटी हुई उसकी मनमोहक रूपहली चांदनी चूमने लगी थी खिड़की को। अधिक शान्त और स्निग्ध हो उठा था कमरे का वातावरण। गरम-गरम काफी मक्खन और ज्वार की मोटी मोटी रोटी आ गयी थी। भोजन करते समय पूछ बैठा मैं आप कब से है इस मठ में?

मेरा असामयिक प्रश्न सुनकर वज्र सम्पत एक बार चौके और फिर मुस्कराते हुए बोले लगभग सत्तर वर्ष से।

ऐ। क्या कहा आपने ... सत्तर वर्ष से?

हाँ। सत्तर वर्ष से। जब बीस वर्ष का था तभी ले आये थे मुझे गुरूदेव इस मठ में।

मगर... मगर... दीखते नहीं आप इतनी आयु के। कौन कहेगा आप जैसे युवक को नब्बे वर्ष का वृद्ध?

वज्र सम्पत हंस पड़े। बोले फिर योगाभ्यास और तंत्र साधना से लाभ क्या? निर्विकल्प अवस्था को उपलब्ध साधक के शरीर पर काल अथवा आयु का प्रभाव नहीं पड़ता।

समझ गया, - हंस कर मैं भी बोला।

वैदिक धर्म और बौद्ध धर्म का संघर्ष

वज्र सम्पत ने विषय को आगे बढ़ाते हुए कहना शुरू किया वास्तव में वैदिक और बौद्ध धर्म की लड़ाई तलवार की नहीं बल्कि लेखनी की लड़ाई थी। दोनों

पक्षों के तर्क कुशल पण्डित लोग अपनी लेखनी का संचालन कर प्रतिपक्षियों के सिद्धान्तों की, प्रसारता दिखाते थे। तात्पर्य यह कि शास्त्रीय युक्तियों का संग्राम था और था निपुण लेखनी का युद्ध। जिसके परिणाम स्वरूप न्याय, भाष्य, प्रमाण, समुच्चयम्, न्यायवार्तिक, प्रमाण व्रार्तिक, जैसे महत्वपूर्ण ग्रन्थ प्रकाश में आये। उस समय कुमारिल और शंकराचार्य के कठोर परिश्रम से वैदिक मार्ग की जो प्रतिष्ठा की गयी वह बड़ी ही दृढ़ नींव पर थी। इन आचार्यो के आक्षेपो को बौद्ध धर्म अधिक सह न सका। वह भारत से धीरे-धीरे हटकर तिब्बत, चीन, जापान आदि दूरस्थ देशों में चला गया। यहाँ यह कहना आवश्यक है कि शंकराचार्य के पहले भारत में बौद्ध और जैन धर्मो के साथ साथ अन्य अनेक अवैदिक मतों का काफी प्रचार और प्रसार था। सप्तम शताब्दि में जो धर्म सम्प्रदाय प्रचलित थे उनका उल्लेख महाकवि वाणभट्ट ने "हर्षचरितम्" में किया है। भागवत कपिल, जैन लोकाचार्य तर्क (चार्वाक) कणाद, पौराणिक, ऐश्वर्य, कारणिक कारन्धमिन् (धातु वादी) सपृतान्तव (मीमांसक) शाब्दिक (वैयाकरण) बौद्ध पाँच रांत्रिक और औपनिषद, इनके औषनिषद मत को छोड़कर शेष सभी एक प्रकार से अवैदिक ही थे। औपनिषद लोगों की व्याख्या संसार की असारता कहने वाले 'ब्रह्मवादी' शब्द से की गयी है। इस प्रकार शंकराचार्य के आविर्भाव के पहले यह पवित्र भारत भूमि नाना मतो, नाना सिद्धान्तों और नाना सम्प्रदायों की क्रीडा स्थली अथवा आखेट स्थली बनी हुई थी। सर्वत्र घोर विरोधाभास व्याप्त था। एक मत वाले दूसरे मत वालों से और एक सम्प्रदाय वाले दूसरे सम्प्रदाय वालों से हमेशा हन्त त्वंच और तर्क-कुतर्क करते रहते थे।

तंत्रो का युग

व्रज सम्पत थोड़ा रूककर आगे कहने लगे-तांत्रिकता का भी वही युग था। तंत्र-मंत्र की साधना, उपासना, विविध प्रकार की तमोगुणी-रजोगुणी पूजा आदि उस युग की विशिष्ठ वस्तु थी। नरबलि, पशुबलि का भी बाहुल्य था। तंत्र-मंत्र के नाम पर अनेक असामाजिक और अव्यावहारिक क्रिया पद्धतियों का तो बोल बाला था ही। मांस, मदिरा आदि का सेवन तथा भैरवी के रूप में कुमारी कन्याओं व रमणियों का खुलकर उपयोग होता था। कहने की आवश्यकता नहीं तंत्र की वास्तविकता तथा उसके यथार्थ स्वरूप से अपरिचित उपासको ने अपनी नयी नयी कल्पनाओं के आधार अनेक ऐसी उपासना पद्धतियों और तांत्रिक साधनाओं का जन्म दिया था जिनका कोई भी शास्त्रीय प्रमाण नहीं था। और यही कारण था कि तंत्र-मंत्र और उनकी साधना उपासना के नाम पर चारों ओर भ्रष्टाचार, पापाचार,

व्यभिचार और स्वार्थ सिद्धि का डंका बज रहा था उस समय। यहाँ यह कहना अप्रासंगिक न होगा कि तंत्र-मंत्र के नाम पर आज भी कुछ वैसी ही स्थिति है। अस्तुः

वज्र सम्पत बोले-तंत्र साधना के जितने आधार हैं उनमें प्रमुख और महत्वपूर्ण आधार है पंचमकार, मांस, मदिरा, मुद्रा, मैथुन और मीन - ये पंच प्रकार के नाम से तंत्र प्रसिद्ध है। वास्तव में यदि विचार पूर्वक देखा जाय तो यही पंचमकार तंत्र-मंत्र के नाम पर सारे भ्रष्टाचार, पापाचार आदि का मूल है। इसी प्रकार मारण मोहन, वशीकरण, उच्चाटन, विद्वेषण और शान्तिकर्म ये तंत्र के षट्कर्म साधन है। मगर इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि सभी साधना उपासना और पूजा पद्धतियों चाहे वे वैदिक हो पौराणिक हो या हो तांत्रिक के दो रूप है - वहिरंग रूप और अन्तरंग रूप। जिनको आध्यात्मिक शब्दों में बहिर्योग और अन्तर्योग कहते है। बहि र्योग साधना उपासना पूजा कर्मकाण्ड आदि का लौकिक अथवा भौतिक रूप है। इसे प्रतीकात्मक रूप भी कह सकते है। इसी प्रकार अन्तर्याग साधना, उपासना, पूजा, कर्मकाण्ड आदि का पारलौकिक अथवा आध्यात्मिक रूप है। पंच मकार और षट्कर्म साधन के संबंध में भी ऐसा ही समझना चाहिए।

कुल और अकुल का अर्थ और साधना की योग्यता

वज्र सम्पत को भारतीय तंत्र और भारतीय संस्कृति का गहरा ज्ञान था, इसमें सन्देह नहीं। पंच मकार का आध्यात्मिक रहस्य क्या है? मेरे इस प्रश्न के उत्तर में वज्र सम्पत बोले - इस जिज्ञासा के समाधान में थोड़ा विस्तार में जाना होगा। उन्होंने बतलाया मानव शरीर में पांच तत्व पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश विद्यमान है। वैसी ही सम्पूर्ण विश्व ब्रह्माण्ड में भी उनकी सत्ता है। पंच मकार उन्हीं पंचतत्वों का प्रतिनिधित्व करता है। प्रतीक है वह। पंच मकार के माध्यम से अथवा उसके द्वारा पंच तत्वों पर क्रमशः अधिकार प्राप्त करना तत्पश्चात् उन पर विजय प्राप्त करना तंत्र साधना का पहला लक्ष्य है।

तंत्र का सबसे प्राचीन और सबसे पहला मत और सम्प्रदाय कौल मत और कौल सम्प्रदाय है। जहाँ तक पंच मकार का प्रश्न है वह वास्तव में इसी मत और इसी सम्प्रदाय से संबंधित है। बाद में अन्य तांत्रिक मतों और उनके सम्प्रदायों ने उसे अपनाया।

वज्र सम्पत बोले-प्रथम तंत्र की आध्यात्मिक कल्पना के विषय में आपको बतला दूँ। उसकी आध्यात्मिक कल्पना के अनुसार परब्रह्म "शिव" रूप है। "शिव" उसके लिए "परब्रह्म" है। वह सर्वज्ञ, स्वयं ज्योति निर्विकार और आदि

अन्त हीन है। सच्चिदानन्द स्वरूप भी है वह। उसी के गर्भ से जीव और जगत का आविर्भाव हुआ है। विचार पूर्वक देखा जाय तो तंत्र की यह धारणा निश्चय ही उपनिषद मूलक है।

ऋग्वेद में एक सूक्त है - वागाम्मृणी सूक्त। उस सूक्त में जिस शक्ति का प्रतिपादन किया गया है वह तंत्र की कुण्डलिनी शक्ति है। शाक्त तंत्र उसी शक्ति के भाष्य माने जाते है। कौल मत और कौल सम्प्रदाय इसलिए तंत्र का आदि मत और आदि सम्प्रदाय माना है कि उसमें कुण्डलिनी शक्ति मुख्य है और उसकी यावत् साधना का आधार है। इसी कारण उसे ''कौल'' कहते हैं। ''कौल'' शब्द ''कुल'' शब्द से बना है। ''कुल'' का अर्थ है ''कुण्डलिनी शक्ति'' और ''अकुल'' का अर्थ है ''शिव''।

आपके कहने का मतलब यह है कि कुण्डलिनी शक्ति साधना की प्रधानता जिस मत और जिस सम्प्रदाय में है - वह कौल मत और है कौल सम्प्रदाय। ऋग्वेद से इस शक्ति का अविर्भाव होने के कारण कौल मत और कौल सम्प्रदाय भी उतना ही प्राचीन है जितना कि ऋग्वेद है।

हाँ। ठीक समझा आपने। अब आगे बतलाऊँ मैं आपको - वज्र सम्पत बोले - शिव और शक्तियाँ मानव शरीर में भी विद्यमान है। लेकिन उनका अस्तित्व का केन्द्र अलग-अलग है। शिव का केन्द्र मस्तिष्क के एक ऐसे स्थान पर है - जिसे योग की भाषा में ''सहस्रार'' कहते है। इसी प्रकार शक्ति का केन्द्र ''गुदा'' के एक ऐसे स्थान पर है - जिसे योग की भाषा में ''मूलाधार'' कहते है। शरीर में इन दोनों केन्द्रों की आपस में कितनी दूरी है इसे स्वयं समझा जा सकता है लेकिन योग-तंत्र की दृष्टि में साधक के लिए इतनी ही दूरी पूर्ण करने में एक लम्बी यात्रा करनी पड़ती है, जिसमें कई जन्म का समय लग जाता है।

वह यात्रा क्या है? वास्तव में उस दीर्घ यात्रा का एक मात्र लक्ष्य है शिव और शक्ति का संयोग करा देना। एक को दूसरे से मिला देना। दोनों को एक कर देना। इसी को तंत्र की भाषा में कहते है ''सामरस्य महामिलन''। जिसका एक मात्र परिणाम है - जीव भाव से मुक्ति। जिसकी एक मात्र उपलब्धि है आत्म मुक्ति, परम मुक्ति अथवा परम निर्वाण। वास्तव में इसी को प्राप्त करना मानव मात्र का उद्देश्य है और इसी उद्देश्य को साकार करने के लिए आत्मा बार-बार मानव काया में जन्म लेती है, लेकिन बार-बार ''माया'' के कारण वह भटक जाती है और विचलित हो जाती है - अपने मार्ग से।''

उस ''माया'' से निवृत्त होने का कोई उपाय है? मैने पूछा। हाँ है। और वह है सद्गुरू की कृपा और वह भी अहैतुकी होनी चाहिए। साधना मार्ग में जो

अग्रसर होना चाहते है - उनके लिए सद्‌गुरू की अहैतुकी कृपा अति आवश्यक है। क्योंकि उसके अभाव में साधना में न प्रवृत्त हुआ जा सकता है और न तो साधना मार्ग में अग्रसर ही हुआ जा सकता है। सद्‌गुरू की उपलब्धि अति महत्वपूर्ण और अति मूल्यवान है। मगर यह तभी सम्भव है-जब संस्कार का उदय होता है। सद्‌गुरू को खोजने की आवश्यकता नहीं। यदि व्यक्ति में योग्यता है और संस्कार है तो उसे खोजते हुए सद्‌गुरू स्वयं ही आयेंगे। सच तो यह है कि सद्‌गुरू को खोजना नहीं बल्कि उपलब्ध करना होता है। लेकिन सद्‌गुरू की उपलब्धि तभी सम्भव है - जब संस्कार होगा और होगी योग्यता।

योग-तांत्रिक साधना के लिए संस्कार और योग्यता अति आवश्यक है। यदि आप में आध्यात्म के प्रति हृदय से कौतूहल जिज्ञासा है। आध्यात्मिक ग्रन्थों के पढ़ने में अधिक से अधिक रूचि है। आन्तरिक रूप से संसार, समाज, परिवार के प्रति मन में विरक्त भावना है। लोभ, लालच, घृणा, द्वेष, ईर्ष्या आदि का चित्त में यदि अभाव है तो समझे आप में साधना संस्कार है।

इसी प्रकार आपने पिछले कई जन्मों में सत्संग किया है। तीर्थ यात्रा की है। कभी सन्यास लिया है। राग-द्वेष से आप मुक्त रहे है। परस्त्री गमन नहीं किया है। धर्माचरण का पालन किया है। योगाभ्यास किया है। साधना-उपासना आदि की है। अध्यात्म-शास्त्र का अध्ययन किया है। किसी भी प्रकार का पाप नहीं किया है और अपने पितरों को पूर्ण रूप से तृप्त किया है तो समझिये आपमें योग्यता है।

रात्रि का पहला प्रहर समाप्त होने वाला था। घने कुहरे की धुन्ध में चाँद छिप गया था। पहले धीरे-धीरे फिर बाद में जोर शोर से होने लगी हिम वर्षा। एकाएक हवा का झोंका आया भीतर और बिखर गये पूरे कमरे में हिम-कण! आइए भोजन कर लिया जाय फिर आगे होगी विषय चर्चा-वज्र सम्पत् बोले। लेकिन भोजन है कहाँ। कौन लायेगा। इस हिममयी निविड़ रात्रि में मैंने हँसकर कहा - मेरी बात सुनकर बज्र सम्पत् किन्चित मुस्कुराये फिर बोले-अभी व्यवस्था हो जाता है भोजन की। आप अल्प समय के लिए अपने नेत्र बन्द कर ले और अपनी अभीष्ठ खाद्य सामग्री चिन्तन करें।

वैसा ही किया मैंने। वर्षो से दाल-चावल और रोटी-सब्जी के दर्शन नहीं हुए थे मुझे। आँखें बन्द कर उन्ही पदार्थो का चिन्तन करने लगा मैं। परिणाम यह हुआ कि भूख और तीव्र हो उठी मेरी। लगभग पन्द्रह मिनट बाद आँखे खोली मैंने। आश्चर्य कौतूहल और जिज्ञासा के मिले जुले भाव से भर उठा मेरा मन।

इच्छित भोजन रखा था मेरे सामने कैसे सम्भव हुआ यह? निश्चय ही योगसृष्टि थी वह। योग बल से वज्र सम्पत् ने मेरे चिन्तन के आधार पर दाल चावल और रोटी सब्जी का निर्माण किया था और वह भी गरम-गरम। उन्होंने अपने लिए भी मकई का सतुआ मक्खन और छाँछ की व्यवस्था कर ली थी। योग का एक सूत्र है - इच्छा मात्र प्रभों सृष्टि। निश्चय ही वज्र सम्पत् ने इसी सूत्र को क्रियात्मक रूप दिया था उस समय इसमें सन्देह नहीं।

कौल सम्प्रदाय

भोजन के बाद वज्र सम्पत ने प्रसंग को आगे बढ़ाते हुए कहना शुरू किया - ''कौल मतावलम्बी शक्ति'' को कुण्डलिनी कहते है। ''कुण्डलिनी शक्ति'' से सम्बन्धित शब्द हैं कौल, कुलीन और कुलाचार। कुण्डलिनी शक्ति की साधना करने वाले कौलमतावलम्बी साधक को कौल कहते है। सहस्रार चक्र में स्थित अकुल से 'शिव' और मूलाधार चक्र में स्थित कुल शक्ति का जो साधक मिलन यानी सामंजस्य करा देता है उसको कुलीन कहते है। इसी प्रकार दोनो को मिलाने की दिशा में जो प्रक्रिया है जो साधना है और जो आचरण है उसे कौलाचार की संज्ञा दी गई है। कौलाचार पंचमकार द्वारा अनुष्ठित और सम्पन्न होता है लेकिन उसका रहस्य अत्यन्त गूढ़ है। उसकी गूढ़ता गोपनीयता और उसके आध्यात्मिक स्वरूप को न समझने के ही कारण लोगो में तंत्र और उसकी साधनाओं के प्रतिजन साधरण में विभिन्न प्रकार की भ्रान्तियाँ फैली और लोग उसे आडम्बर और पाखण्ड के सिवाय और कुछ नहीं समझे। आज भी ऐसी ही स्थिति है। आपको ज्ञात होना चाहिए पंचमकार का सम्बन्ध वहिर्योग और अन्तर्योग दोनों से है। वहिर्योग में उसका भौतिक रूप है जबकि अन्तर्योग में है उसका आध्यात्मिक रूप। वहिर्योग से अन्तर्योग को उपलब्ध होना ''कौल'' का लक्ष्य है। यदि वहिर्योग के जाल में फँसे रह गये तो माँस ''माँस'' है। मदिरा ''मदिरा'' है। मैथुन ''मैथुन'' है। मीन ''मीन'' ही है और मुद्रा ''मुद्रा'' ही है। केवल वहिर्योग को ही महत्व देकर पंचमकार का सेवन करने वाले साधक में और एक सांसारिक भोगी व्यक्ति में कोई अन्तर नहीं है। एक और बात स्पष्ट कर दूँ मैं - यदि साधक वहिर्योग अथवा वाह्य तंत्रोपासना, साधना और पूजा अर्चना की सीमा में ही रह गया और उसका आश्रय लेकर अन्तर्योग अथवा आन्तरिक तंत्रोपासना, साधना भूमि में उसने प्रवेश नहीं किया तो समझिए उससे कोई लाभ नहीं। अकल्याण ही होगा उससे। न वह लौकिक सुख प्राप्त कर सकता है और न तो पारलौकिक ही।

पंचमकार का आध्यत्मिक स्वरूप

अब हम पंचमकार के आध्यात्मिक स्वरूप पर विचार करेगे थोड़ा रूक कर वज्र सम्पत बोले - आपको ज्ञात होना चाहिए कि बाह्य मुहुर्त में प्रत्येक के ब्रह्म रन्ध्र से नित्य अढ़ाई बूंद अमृत यानि दिव्य चेतना का क्षरण होता है। वह दिव्य चेतना दैवी राज्य से सम्बन्धित हैं।

ब्राह्म मुहुर्त किसे कहते है?

आप तो जानते ही हैं कि चौबिस घण्टे में आठ प्रहर होते हैं। प्रत्येक प्रहर तीन घण्टे का होता है चार प्रहर रात का और चार प्रहर दिन का होता है। हर प्रहर का एक अधिष्ठाता होता है जिसे ''बसु'' की संज्ञा दी गयी है। अष्ठ बसु हमारे शास्त्रो में प्रसिद्ध वे अष्ट बसु वास्तव में प्रकृति के विशाल साम्राज्य को अपने नियन्त्रण में रखते हैं। रात्रि का पहला प्रहर और दूसरा प्रहर यानि सूर्यास्त से रात्रि बारह बजे तक का समय राजसी होता है और तीसरा प्रहर यानि रात्रि बारह बजे से तीन बजे तक का समय तामसी होता है। इसी प्रकार चौथा प्रहर यानि रात्रि का तीन से सूर्योदय तक का समय सात्विक होता है। इसी समय को ब्राह्म मुहुर्त कहते है। इस बेला में देवगण ऋषिगण और योगीगण अपने अपार्थिव शरीरों द्वारा पृथ्वी पर संचरण-विचरण कहते है। जबकि इसी प्रकार राजसी प्रहर में यक्ष, गन्धर्व, किन्नर आदि संचरण विचरण कहते है और तामसी प्रहर में संचरण विचरण कहते है भूत, प्रेत, पिशाच आदि।

ब्रह्म रन्ध्र किसे कहते है?

मेरे इस प्रश्न के उत्तर में वज्र सम्पत ने बतलाया कि कपाल प्रदेश के तीसरे भाग में जहाँ हिन्दू धर्म में शिखा रखने की प्रथा है - सूई की नोंक के बराबर एक छिद्र है उसी छिद्र को ''ब्रह्मरन्ध्र'' कहते है (विस्तृत अध्ययन के लिए पढ़े कुण्डलिनी शक्ति) योग में इस छिद्र का भारी महत्व है इसलिए कि अखिल ब्रह्माण्ड व्यामिनी परम चेतना का वह एक मात्र प्रवेश द्वार है। उसी मार्ग से परम चेतना जिसे हम दिव्य चेतना भी कह सकते हैं - मानव शरीर में अमृत रूप में प्रवेश करती है ब्राह्म मुहुर्त में।

परम चेतना रूपी उस अमृत का एक बूँद कण्ठ प्रदेश में एक बूँद हृदय प्रदेश में और शेष आधा बूँद नाभि प्रदेश में प्रविष्ठ होता है जिसके फलस्वरूप मुँख में बराबर पानी यानि लार बना रहता है। हृदय बराबर धड़कता रहता है और इसी प्रकार नाभि प्रदेश में आधे बूँद के प्रवेश के कारण हम बोलते रहते है। शब्दों का भण्डार कभी भी समाप्त नहीं होता। वाणी कभी समाप्त नहीं होती। वास्तव में वह आधा बूँद नाभि प्रदेश में जाकर शब्द शक्ति के रूप में परिवर्तित हो जाता

है। एक बात आप को बतला दूँ-वह अढ़ाई बूँद भक्तिमार्गिय साधना भूमि में प्रेम के अढ़ाई अक्षर के रूप में अभिव्यक्त है। प्रेम शब्द में अढ़ाई अक्षर है। यह तो आपने बिल्कुल नयी बात बतलायी मुझे थोड़ा हँसकर कहा मैंने।

नहीं यह कोई नयी बात नहीं है। सर्वसम्मत शस्त्रीय है यह। थोड़ा रूक कर वज्र सम्पत आगे बोले-परम चेतना अथवा दिव्य चेतना रूपी उस अमृत को योग की भाषा में ''मद्य'' कहते है। मुँख में पड़ने वाले बूँद को खेचरी मुद्रा द्वारा उस मदिरा का पान योगीगण करते है। जिसके फलस्वरूप वे कालंजयी होते है। आयु का और काल का प्रभाव उनपर कभी नहीं पड़ता। मदिरा का यही यौगिक और आध्यात्मिक स्वरूप है। वह आरण्यक उपनिषद में जिस पंचाग्नि विद्या का उल्लेख है उसमे एक मधु विद्या भी है। जिसका सम्बन्ध इसी मधु यानि मदिरा से है। उच्च कोटि के तंत्र साधक ही मधु विद्या और उसके रहस्य से भलिभाँति परिचित होते है। वे इस परम गोपनीय विद्या की सहायता से भौतिक मदिरा को संशोधित कर उसका सेवन एक विशेष यौगिक स्थिति में करते है। जिसके परिणाम स्वरूप ''मस्तिष्क स्थित अमृत वहानाड़ी का मार्ग खुल जाता है और मार्ग खुल जाता है तो वे खेचरी मुद्रा द्वारा मधुपान करने के योग्य हो जाते है। उसके बाद उन्हें भौतिक मदिरा की आवश्यकता नहीं पड़ती।

तंत्र की दृष्टि में पाप-पुण्य

तंत्र की दृष्टि में पाप और पुण्य दोनों बंधन हैं इसलिए दोनों को तंत्र-पशु की संज्ञा देता है दोनों पशु है। जो साधक अपने ज्ञान रूपी खड्ग से उन दोनों पशुओं की बलि देता है और अपने चित्त को ब्रह्म में लीन रखता है वही मांसाहारी है। ''कुलार्णव तंत्रम्''

मानव शरीर में 72 हजार नाड़ियाँ है जिनमे इडा और पिंगला नाम की दो नाड़ियाँ अति महत्वपूर्ण है। (पढ़ें कुण्डलिनी शक्ति) तांत्रिक भाषा में इन दोनों नाड़ियों को गंगा और यमुना कहते है। गंगा-यमुना रूपी इस दोनों नाड़ियों में प्रवाहित होने वाला श्वास-प्रश्वास दो मत्स्य है जो साधक प्राणायाम द्वारा श्वास प्रश्वास को बन्द कर कुम्भक द्वारा सुषुम्ना मार्ग में प्राण वायु का संचालन करता है-वही साधक मत्स्य भक्षक है। ''आगम सार तंत्रम्''

सत्संग से मुक्ति व बुरी संगति से बन्धन होता है। जो साधक बुरी संगति का त्याग कर सत्संग को उपलब्ध होता है-वही वास्तव में मुद्रा साधक है। असत्संगति के मुद्रण का नाम ''मुद्रा'' है। जो बुरी संगति का मुद्रण करता है - वही वास्तव में मुद्रा साधक हैं 'विजय तंत्रम्''

स्त्री सहवास से जो सुख प्राप्त होता है उससे लाखों गुना अधिक सुख प्राप्त होता है, सुषुम्ना में प्राण को स्थित करने में। इसी अवस्था को योग की भाषा आध्यात्मिक सम्भोग अथवा यौगिक मैथुन कहते है। लेकिन इस परम आध्यात्मिक अवस्था को उपलब्ध होने के लिए विशेष यौगिक क्रिया द्वारा प्राकृतिक सम्भोग में पारंगत होना आवश्यक है (इस विषय में विस्तृत अध्ययन के लिए पढ़ें - कुण्डलिनी शक्ति)। वास्तव में पंचमकार और षट्कर्म साधन का यौगिक अथवा आध्यात्मिक रहस्य अत्यन्त गूढ़ और गम्भीर है। तंत्र के आचार्यो ने उनका सांकेतिक भाषा में वर्णन किया है। इस सम्बन्ध में उनका एक मात्र यही अभिप्राय: था कि योग से अनभिज्ञ और अनाधिकारी लोग जो तंत्र साधना के गूढ़ और गोपनीय रहस्यों को समझने में असमर्थ है उनका प्रयोग कर उन्हें दूषित न करें। परन्तु तंत्र साधना की यह गूढ़ता और गोपनीयता गुण न होकर दोष स्वरूप बन गयी जिसका परिणाम यह हुआ कि शव पर बैठकर आचमन करने वाले तथा कथित तांत्रिको ने पंचमकार के भौतिक अर्थ में ही ग्रहण किया। वे उनके सांकेतिक भाषा को न समझ सके। जिसका परिणाम यह हुआ कि तंत्र और उसकी साधना, उपासना के नाम पर भ्रष्टाचार, व्यभिचार और भयंकर यौनाचार फैलने लगा। तंत्र और उसकी साधना, उपासना आदि को लोग घृणा की दृष्टि से देखने लगे।

हिमवर्षा तेज हो गयी थी और उसीके साथ ठण्डक भी बढ़ गयी थी। वज्र सम्पत शरीर पर कम्बल लपेटते हुए बोले-आप इस समय जिस स्थान पर है वह समुद्र तल से लगभग अट्ठारह हजार फीठ ऊपर है। यहाँ बारहों मास इसी प्रकार का वातावरण रहता है। सूर्य के दर्शन तो कभी कदा ही होते है। यहाँ आपके शरीर ने इतना शीत सहन कर लिया है कि जब आप नीचे आयेगे तो मामूली सी गर्मी भी आपके लिए असहनीय हो जायेगी। श्वास का कष्ट भी सम्भव है।

कहने की आवश्यकता नहीं उस परम योगी की दोनों भविष्यवाणी सत्य सिद्ध हुई। किंचित गर्मी मेरे लिए असहनीय है। श्वास कष्ट से तो पीड़ित हूँ ही मैं। कुछ देर मौन रहे वज्र सम्पत। शायद कुछ चिन्तन कर रहे थे। फिर कहने लगे - समस्त तांत्रिक साधना उपासना आदि की मूलभित्ति के तीन भाव और सात आचार है। पशु-भाव, वीर-भाव, और दिव्य-भाव, ये तीन भाव है। इसी प्रकार वेदाचार, वैष्णवाचार, शैवाचार, दक्षिणाचार, वामाचार, सिद्धान्ताचार और कौलाचार ये सात प्रकार के आचार मार्ग है। ''भाव'' आम्यन्तरिक, मानसिक अवस्था है और आचार वाह्य चरण है। इन आचारों में समस्त भारतीय धर्म-संस्कृति और साधना उपासना की सुन्दर झाँकी दिखलायी पड़ती है।

कौल सम्प्रदाय में दो मत है-उत्तर कौलमत और पूर्व कौलमत। इनके अपने अपने आचार है उत्तर कौलमत के आचार को कौलाचार और पूर्व कौलमत के आचार को समयाचार कहते है। उत्तर कौल मत और उसका आचार कौलाचार रजोगुणी और तमोगुणी मिश्रित है, जबकि पूर्व कौल और उसका आचार समयाचार पूर्ण सात्विक है। उत्तर कौल मतावलम्बियों का साधना केन्द्र ''कामाख्या'' (गौहाटी) है और पूर्व कौल मतावलम्बियों का साधना केन्द्र श्रीनगर। उत्तर कौल और पूर्व कौल के सिद्धान्तो को लेकर कालान्तर में एक और मत का आविर्भाव हुआ जिसे योगिनी कौल कहते है। योगिनी कौल सम्प्रदाय के केन्द्र की स्थापना ''कामाख्या'' में हुई। इसीलिए कहा भी गया है-''कामरूप इंद शास्त्रं योगिनीनां गृहे गृहे। यह वही सम्प्रदाय है जिसके गर्भ से आगे चलकर हठयोग के नाथ सम्प्रदाय ने जन्म लिया। प्रसिद्ध चौरासी सिद्ध इस सम्प्रदाय से सम्बन्धित थे।

पूर्ण अद्वैत भावना रखने वाले दिव्य साधक को कौल कहते है। कौलाचार का रहस्य नितान्त गूढ़ है। कौल मत से सम्बन्धित चार महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। सौभाग्य भास्कर, कुलामृत चूणामणि, कौलावली निर्णय और चिद गगन चन्द्रिका। इन ग्रन्थों के अनुसार जिस साधक की अद्वैत भावना पूर्ण तथा विशुद्ध है वही वास्तव में कौल कहलाने के योग्य है। भावचूणामणि तंत्र का कहना है-चमड़े और चन्दन में शत्रु और मित्र में श्मशान और भवन में सोना और तृण में-जो किंचित भेद बुद्धि नहीं रखता वहीं वास्तविक अद्वैतसिद्ध ''कौल'' हे।

वास्तव में कौल साधना वेदागम यहोदधि का एक मात्र सार है। सच्चे कौल भीतर से शाक्त बाहर से शैव और सभा में वैष्णव बतलाये गये हैं।

कौलाचार और समयाचार

कौलमत ही एक ऐसा मत है जिसने सर्वप्रथम मानवपिण्ड में सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की कल्पना की। और ब्रह्माण्ड में चैतन्य व क्रियाशील आदि-शक्ति अथवा पराशक्ति के व्यष्टिरूप की स्थिति मानव पिण्ड में बतलायी है। इतना ही नहीं उस परमात्मशक्ति पराशक्ति के छः केन्द्र भी मानव पिण्ड में बतलाया हैं जिन्हे योग-तंत्र में षट्चक्र कहते है।

कौलमत का कहना है कि षट्चक्रों में मूलाधार चक्र में शक्ति का और अन्तिम सहस्रार चक्र में शिव का वास है। शरीर में इन दोनों केन्द्रों की दूरी एक दूसरे से अत्यन्त न्यून हैं लेकिन दोनों तत्वों ''शक्ति तत्व'' और ''शिव तत्व' को मिलाने अथवा दोनों में सामंजस्य स्थापित की जो क्रिया है और साधना है-उसकी यात्रा बहुत लम्बी है।

कौलमत ने आदि शक्ति की कल्पना मानव पिण्ड में कुण्डलिनी के रूप में की है। कुण्डलिनी शक्ति कौलमत की आदि शक्ति, पराशक्ति और महामाया है। वह मूलाधार चक्र में त्रिकोणाकृति योनि रूप में अवस्थित है। त्रिकोण, योनि का प्रतीक चिन्ह है। कौलाचार के अनुयायी साधक प्रत्यक्ष योनि की पूजा करते थे। उनकी समस्त तांत्रिक साधना की आधार भित्ति अक्षत यौवन सम्पन्न तरूणी स्त्री थी और उस पूजा के अन्तर्गत गौरी पूजा, रोहिणी पूजा, कन्या पूजा, निशा पूजा, भैरवी पूजा आदि पूजाएँ भी थी जो अपने आपमें विशिष्ट और अत्यन्त गोपनीय थी। उनका कहना था ''कृत भष्यं कृतं भवेत्''। बिना योनि के कोई भी तांत्रिक पूजा सफल और सिद्ध नहीं। ये समस्त पूजाएँ पंचमकार द्वारा अनुष्ठित होती थी। पंचमकार द्वारा सम्पन्न होने वाला चक्रार्चन और भैरवीचक्र पूजन तो पूर्ण रूपेण यौनाचार पर अबलम्बित था और जिनके कारण ही इस परम योग, परम तंत्र साधना की अपकीर्ति हुई और समाज में तंत्र के नाम पर भ्रष्टाचार फैला। जबकि कौलाचार के ठीक विपरीत समायाचार था। समयाचार के साधक भी योनि पूजक थे लेकिन वे श्रीचक्र के भीतर स्थापित त्रिकोणाकृति योनि के उपासक थे कौलाचार की कुण्डलिनी शक्ति उनकी श्री शक्ति थी। वे श्री विद्या के उपासक थे। जिसका प्रतीक रूप श्री यंत्र था। पंचमकार का भी सेवन वे करते थे लेकिन उसके यौगिक रूप का। वास्तव में समयाचार मार्ग पूर्ण योग परक तंत्र का विशिष्ट मार्ग था। आदि शंकराचार्य इसी समयाचार मार्ग के अनुयायी और श्रीविद्या के उपासक थे।

वज्र सम्पत आगे बोले-कालान्तर में कौलाचार मार्ग से शाक्तमत और समयाचार मार्ग से शैवमत का अविर्भाव हुआ जिनको शाक्तागम और शैवागम कहते है और कहते है - शाक्त सम्प्रदाय और शैव सम्प्रदाय। शैवागम में शिव और शाक्तागम में शक्ति की प्रधानता है। शैव मत में शिव लिंग रूप में पूजनीय है और शाक्त मत में शक्ति पूजनीया है योनि रूप में आप अर्घा पर स्थापित शिवलिंग से परिचित ही है, लिंग तो शिव का प्रतीक है और जिस अर्घा पर वह स्थापित है-वह योनि का प्रतीक है जिसे पीठिका भी कहते है। वेदागम में लिंग और पीठिका को दो अरणियों के रूप में परिकल्पित किया गया है। ऊपर वाली अरणी पुरूष वाचक है और नीचे वाली अरणी स्त्री वाचक है। वैदिक काल में इन दोनों अरणियों के मन्थन पर अग्नि जन्म की परम्परा से सभी विद्वत्वर्ग परिचित है। स्थूल साधना, भूमि में इन दोनों अरणियों की परिकल्पना अर्धनारीश्वर के रूप में की गयी है।

कालान्तर में पूर्व कौल और उत्तर कौल के समन्वय से समय-समय पर शाक्त सम्प्रदाय, शैव सम्प्रदाय, वीर शैव सम्प्रदाय, शैक्शाक्त सम्प्रदाय, अधोर सम्प्रदाय,

पाशुपत सम्प्रदाय, कालामुख सम्प्रदाय, जंगम सम्प्रदाय आदि विशिष्ट योग तांत्रिक सम्प्रदायों ने जन्म लिया वही दूसरी ओर स्वतन्त्र रूप से एक भयंकर योग परक तांत्रिक सम्प्रदाय अविमूर्त हुआ। जिसका नाम था ''कापालिक सम्प्रदाय'' कापालिक मत योग के सिद्धांतो पर आधारित एक अति उग्र और और तमोगुणी मत था। इस सम्प्रदाय में भी शिव और शक्ति की योगपरकतांत्रिक साधना-उपासना थी लेकिन भैरव और भैरवी के रूप में। कापालिक सम्प्रदाय जीवात्मा को पशु और परमात्मा को ''पति'' रूप में परिकल्पित करता है। इसीलिए भगवान शंकर को ''पशुपति'' कहते हैं। जिस सम्प्रदाय में पशुपति के रूप में प्रधानता है-उसी सम्प्रदाय को पाशुपत सम्प्रदाय कहते है खैर। थोड़ा रूककर वज्र सम्पत आगे बोले - कापालिक मत से सम्बन्धित जितनी भी ऐतिहासिक सामग्री उपलब्ध है-उनमें मालती माधव, प्रबोध चन्द्रोदय, शंकर दिग्विजय और शंकर विजय शीर्षक ग्रन्थ महत्वपूर्ण और मुख्य है।

प्रबोध चन्द्रोदय में कापालिकों के रहन-सहन, वेष-भूषा, साधना-उपासना और नरबलि, पशुबलि आदि का विस्तार से वर्णन किया गया है। ग्रन्थ के रचयिता श्री कृष्ण मिश्र ने कापालिकों के विषय में एक स्थान पर लिखा है:

''मस्तिष्कान्गवसा मिधारित महामांसा हुतिर्जुहृंता।
ब्रह्मौ ब्रह्म कपालकल्पित सुरापानेन नः पारणाः।।
सद्यः कृत कठोर कण्ठ विगलत्कोलाल धारा जेले
रर्च्चोनः पुरूषोपहार बलिभिर्देवो महाभैरवः।

कापालिक सम्प्रदाय के अनुयायी अपनी पहचान के लिए माला, अलंकार, कुण्डल, चूणामणि, मस्य और यज्ञोपवीत - ये छः मुद्रिका धारण करते है-जो उनका परिचय चिन्ह था। इसके अतिरिक्त वे मनुष्य की हड्डियों की माला नर मुण्ड भी धारण करते थे। श्मशान में रहते थे। नरमुण्ड में भोजन करते थे। परन्तु किसी विचित्र योग के अभ्यास से उन्हें विचित्र सिद्धियाँ प्राप्त थी उनकी पूजा उपासना आदि अत्यन्त उग्र, भयानक और वीभत्स थी। वे शंकर के उग्ररूप महा भैरव के उपासक थे। उनकी तांत्रिक अनुष्ठानों में मदिरा माँस, आदि का पर्याप्त व्यवहार होता था। उनके इष्टदेव महा भैरव का रूप अति भयंकर था। वे उनको प्रसन्न करने के लिए अग्नि में नर-माँस की आहुति देते थे। उनके सम्मुख, पशु बलि और नर बलि देते थे। ब्राह्मण की खोपड़ी में मदिरा पान करते थे। मनुष्य की उंगलियों की हड्डी की माला पर जप करते थे। वामाचार और यौनाचार का तो उनके समाज में बोलबाला था। शक्ति संगम तंत्र में कापालिक के सम्बन्ध में लिखा है-

''कपाल पात्र सम्भोजी, मद्य मांसेषु तत्परः
स्त्री योनि दर्शको नित्यं मुण्डमाला धरा सदा।
श्मशाग्नि प्रभोजीयः सच कापालिकः स्मृतः।

कापालिक सम्प्रदाय में तीन मुख्य साधनाए थी -

श्मशान साधना, चिता साधना और शव साधना। इन तमोगुणी तांत्रिक साधनाओं के बल पर कापालिक लोग भयंकर तामसिक सिद्धि प्राप्त करते थे। जिसकी सहायता से वे असम्भव कार्य को सम्भव कर देते थे। शंकराचार्य के समय उनका प्रभुत्व इतना बढ़ गया था कि जिसका कोई उदाहरण नहीं। किसी परिवार में कोई मरता था तो उसके शव को जबर्दस्ती अपनी साधना के लिए उठा लाते थे। इसी प्रकार किसी परिवार में कोई कन्या युवती होती थी तो उसे भी अपनी साधना के लिए जबर्दस्ती उठा लाते थे। भय के कारण किसी को विरोध करने की शक्ति नहीं थी। समाज के सभी वर्ग के लोग उनसे भयभीत रहते थे। तत्कालीन शासन भी इसी कारण मौन था

शिव पुराण में कापालिकों को महाव्रतधर कहा गया है। जिस भैरवानन्द की चर्चा मैंने की है, उसके विषय में कर्पूरमंजरी में राजशेखर ने लिखा है कि भैरवानन्द अपने सम्प्रदाय का सबसे भयानक और उग्र कापालिक था। वह लाल वस्त्र का चोगा पहनता था। मुण्डमाला धारण करता था। एक हाथ में त्रिशूल और एक हाथ में मदिरा से भरी खोपड़ी लिए आँख लाल-लाल किए, मस्ती में झूमता हुआ विचरण करता था उसका युक्तिपूर्ण यह उद्घोष था।

मन्तोण तन्तोण अकिंजि जांण
झांण तणो किंपि युरूप्य सादा
मज्जं मिग्रामो महिलं रमाओं
भोक्सं च जामों कुल मग्न खग्गा।

मैं मंत्र नहीं जानता, तंत्र नहीं जानता, न तो हमारे जैसा कोई दूसरा ज्ञानी है। हमे तो एक वस्तु इष्ट है और वह है गुरू का प्रसाद। ध्यान से भी हमें कुछ लेना देना नहीं। हम मदिरा पान करते है और रमणियों के साथ रमण करते है और कुल मार्ग में अनुरक्त होकर इसी सरल उपाय से हम मोक्ष को प्राप्त कर लेते है।

कापालिक सम्प्रदाय का केन्द्र

कापालिकों का सबसे बड़ा केन्द्र श्री शैल पर्वत था। आज भी उस क्षेत्र की रमणीयता, पवित्रता, प्राचीनता, और भव्यता कम नही है। यह स्थान मद्रास

प्रान्त के कर्नूल जिले में एक प्रसिद्ध देव स्थान है। यहाँ एक अति विशाल और भव्य शिव मंदिर है। जिसकी लम्बाई 660 फीट और चौड़ाई 510 फीट है। मंदिर की दीवारों पर रामायण और महाभारत की कथाओं से सम्बन्धित सुन्दर चित्र अंकित हैं। मंदिर के गर्भ गृह में मल्लिकार्जुन महादेव स्थापित है जो द्वादश ज्योतिर्लिंगो में एक है। शंकराचार्य के समय में इस स्थान की महत्ता और भी अधिक थी। मंत्र सिद्धि और तांत्रिक उपासना से इस स्थान का गहरा सम्बन्ध था। आचार्य सिद्ध नागार्जुन ने इसी पर्वत पर निवास कर अलौकिक सिद्धियाँ प्राप्त की थी। वाण भट्ट ने भी इस स्थान का सिद्धि क्षेत्र के रूप में उल्लेख किया है (हर्ष चरितम्) महाराज हर्ष वर्धन ने अपनी ''रत्नावली'' नाटिका में इसी श्री शैल पर्वत से एक सिद्ध योगी के आने का वर्णन किया है जिसे अकाल में भी फूलों को खिला देने की अपूर्व सिद्धि प्राप्त थी। महाकवि भवभूति ने भी ''मालती माधव'' में इस स्थान को तांत्रिक साधना और सिद्धि के लिए उपादेय और सिद्धपीठ बतलाया है।

तांत्रिक सिद्धि और साधना पीठ होने के कारण ही कापालिकों ने श्री शैल पर्वत को अपना गढ़ बनाया था। कापालिक भैरवानन्द का विशेष प्रभाव था उस समय। उसका एक कापालिक सरदार था जिसका नाम था क्रकच उसके यहाँ हथियार बन्द कापालिकों की सेना रहती थी। जिसकी सहायता से वह लोगों को अपने मत में दीक्षित किया करता था।

जिस समय कापालिक सम्प्रदाय अपने चरमोत्कर्ष पर था उसी समय अन्य तांत्रिक सम्प्रदायों का आपस में खूनी संघर्ष हो रहा था। सभी सम्प्रदाय एक दूसरे को नीचा दिखाने के लिए अपने अपने वर्चस्व और प्रभुत्व का खुलकर प्रयोग कर रहे थे। जिसके फलस्वरूप समाज में विकृति और भ्रष्टाचार फैला हुआ था। चारो ओर आडम्बर व पाखण्ड का बोलबाला था। वास्तव में सभी तांत्रिक सम्प्रदायों की दिशाहीन स्थिति थी उस समय।

तांत्रिक मौन वाद पर मैं बाद में विचार करूगा, क्योंकि वह अत्यन्त गम्भीर विषय है। पहले आप को कापालिको की आध्यात्मिक विचार धारा से संक्षिप्त में परिचित करा दूँ मैं - वज्र सम्पत बोले-वेदान्त और शास्त्रों की विचार धारा के बीच की जो प्रणाली थी वह कापालिको की शक्ति थी। पाशुपत मत की तरह कापालिक मत में भी पाच पदार्थ माने जाते थे। उनकी दृष्टि भी द्वैतवादी थी। उनके विचार के अनुसार कार्य में स्वातन्त्रय शक्ति न होने से जीव ''पशु'' है। योग, आत्मा और परमात्मा का सम्बन्ध है, इनमें क्रन्दन, स्पन्दन, मन्दन, श्रृंगारण, अविततकरण, अवितत भाषण-इत्यादि चलता था। दुखान्त ही निवृति या मोक्ष था। शिव की अपनी प्रकृति है जिसे चित्त शक्ति कहा जाता है, किन्तु-पशु पात में

बँधा हुआ है जो तीन प्रकार का है आगव, अज्ञान और कर्ममाया। यह वेदान्त की माया नहीं थी। दृश्य जगत का प्रभाव डालने, भ्रम में डाल देने तथा अज्ञान से ढाँक देने के लिए वह माया थी। शक्ति पशु में निहित है जो अनुग्रह से जाग उठती है।

कापालिकों की साधना भूमि में नाड़ी शोधन, प्राणायाम, योगाभ्यास, कुण्डलिनी जागरण, षट्चक्र भेदन आदि था। कापालिक शिव और जीव की अभिन्नता में आस्था रखते थे और भोग द्वारा चित की चंचलता को रोकने से ही कैवल्य रूप में अवस्थित शिव रूप आत्मा का साक्षात्कार मानते थे तथा शक्ति युक्त शिव की प्रभनिष्णुता में ही विश्वास रखते थे। पंचामृत की आकर्षण क्रिया में कुण्डलिनी का भी प्रयोग होता थाी। पंच अमृत शरीर स्थित पाँच द्रव रस है। शुक्रः, शोणित, भेद, मज्जा, फिर मूत्र ये पाँच अमृत है। इनको आकर्षण करके ऊपर उठाने की क्रिया से ही शरीर को वज्रवत बनाया जा सकता है। समस्त योग-तांत्रिक सिद्धियाँ प्राप्त की जा सकती है। वज्रयानी साधकों और कौल भार्गी तांत्रिकों में भी यह विधि थी। नाथमत में बज्रोली साधना इसी का भग्नावेष है। कापालिकों के अनुसार शिव नेंति है। वे केवल ज्ञेय है। उपास्य शक्ति हैं, जो योनिरूप में स्थित है, तभी शिव शक्तिनाथ हैं। कापालिक जिसे सुखराज या महासुख कहते थे-वह बज्रयानी और सहजयानि साधकों का ''शून्य'' का धनात्मक रूप था। कापालिकों की दृष्टि में आनन्द चार प्रकार के है-प्रथमानन्द, परमानन्द, विरभानन्द, और सहजानन्द। सहजानन्द में अस्मिता लुप्त हो जाती है कापालिक मानते थे कि इस नश्वर शरीर में ही परम प्राप्तव्य की उपलब्धि होती है। शरीर का जो मेरूदण्ड है-वही कंकाल दण्ड है। मेरूपर्वत है। क्योंकि पैरों के तलवे में भैरव रूप वायु का स्थान है। कटि प्रदेश में त्रिकोण अद्धरण है, जिसके तीन दलों पर वर्तुलाकार वरूण का वास है और हृदय में पृथ्वी है जो चतुरस्थ भाव से सब ओर व्याप्त है। इसी प्रकार कंकाल दण्ड के रूप में गिरि राज सुमेरू स्थित हैं इसी गिरिराज के अन्दर कुहुर में नैराव्य धातु जगत के रूप में गिरि राज सुमेरू स्थित है। इसी गिरिराज के अन्दर कुहुद में नैराव्य धातु जगत-सारा का सारा उत्पन्न होता है। इसी गिरि कुहर स्थित पदम (योनि) में बोधिचित (शुक्र बिन्दु) पतित होता है तो कालाग्नि (मृत्यु) का प्रवेश होता है और सिद्धि में बाधा उत्पन्न होती है। कापालिक मत का एक प्रसिद्ध ग्रन्थ है शुक्र सिद्धि। उसके अनुसार यदि सर्व सिद्धि का विधान बोधि चित यानि शुक्र अथवा बिन्दु नीचे की ओर पतित होता है। और स्कन्द विज्ञान मूर्च्छित हो जाय तो उत्तम सिद्धि की प्राप्ति सम्भव नहीं। वासना को दबाना नहीं चाहिए। कामना और वासना के उपभोग में ही वास्तविक

सिद्धि है। समस्त विश्व ब्रह्माण्ड में जो कुछ विद्यमान है वह सब मानव शरीर में भी है। इस मानव शरीर का आधार मेरूदण्ड है। जिसके भीतर से तीन नाड़ियाँ ऊपर की ओर गयी है, जिनमें से होता हुआ प्राण वायु संचारित होता है। बायी नाक से ललना और दाहिनी नाक से रसना नामक वहन्ती नाड़िया चलती है। वे दोनों प्राण वायु की वाहिका है। ललना चन्द्र तत्व और रसना सूर्य तत्व प्रधान है। दोनों के मध्य स्थित सुषुम्ना नाड़ी अवधूति है। इस नाड़ी से जब प्राण वायु ऊर्ध्व गति को प्राप्त होता है तो ग्राह्य और ग्राहक का ज्ञान नहीं इसी प्रकार वह नाड़ी कापालिकों की भाषा में ''वर्जिता'' कहलाती है। मेरूदण्ड के शिखर पर ''महासुख'' है। वहाँ चौसठ दल का कमल है। वह कमल चार मृणालों पर स्थित है। प्रत्येक मृणाल के चार क्रम है और प्रत्येक क्रम के चार-चार दल। इस प्रकार चौसठ दलो का वह कमल है, जहाँ ब्रजधर योगी (कापालिक) उस पदम का आनन्द उसी प्रकार लेता है जिस प्रकार भ्रमक प्रफुल्ल कुसुम का।

कापालिक मत के अनुसार इन चार मृणालों के दलो को शून्य, अति शून्य-महाशून्य और सर्वशून्य कहा गया है जो सर्व शून्य का आवास है-वही उष्णी कमल है। वही डाकिनी जालात्मक जालंधर गिरि नामक महा मेरूगिरि का शिखर है। यही महासुख का आवास है। पहला आनन्द कायात्मक, दूसरा आनन्द वाचात्मक, तीसरा आनन्द मानसात्मक और चौथा आनन्द ज्ञानात्मक है। इसके बाद सहजानन्द। एक बार प्राण वायु का निरोध करके यदि योगी इस मेरू शिखर पर वास कर सका तो निस्तरंग सरोवर की भाँति उसकी वृतियों के रूद्र हो जाने से वह सहजानन्द को प्राप्त हो जाता है। कहने की आवश्यकता नहीं एक कापालिक की साधना का एक मात्र लक्ष्य इसी सहजानन्द की प्राप्ति है। लेकिन यह उपलब्धि तभी सम्भव है-जब साधक संसार के समस्त सुखों के बीच रह कर भी अथाह विरक्ति के सागर में सदैव डूबा रहता है। संसार के अथाह विरक्ति का यह स्वरूप कितना प्राचिन है-इसको जान समझ सकना अत्यन्त कठिन है। योग की भाषा में इसे वहिस्यत्य अवस्था कहते है। उच्चकोटि के कापालिक इसी अवस्था को उपलब्ध होते हैं। यही उनका लक्ष्य है। वज्र सम्पत बोले-समाधि भाषा में व्यक्त कापालिकों की यह आध्यात्मिक विचारधारा वास्तव में अति उच्च थी।

आपको यह सभी दृष्टिकोण से स्वीकार करना होगा कि तन्त्र के सभी मत सभी सिद्धान्त और सभी आध्यात्मिक साधना मार्ग का अविर्भाव भगवान शिव द्वारा हुआ हैं। यह तो मै। आपको बतला चुका हूँ कि आदि मत और आदि सम्प्रदाय कौल मत और कौल सम्प्रदाय है। लेकिन पूर्व कौल और उत्तर कौल का कालान्तर में अनेक भेद हो गये - जिनमें मुख्य थे - चन्द्र कौल, सृष्टि कौल, महा कौल,

सिद्धान्त कौल, महत कौल, शक्ति कौल ऊर्यो कौल, ज्ञान कौल, सम्बर कौल, तिमिर कौल, सिद्धेश्वर कौल, वज्र कौल, वज्र सम्भव कौल आदि। इन सभी कौल मतो के थोड़ी भिन्नता लिए अपने अलग अलग सिद्धान्त थे। कापालिक मत ने उपर्युक्त समस्त कौल मतों के आध्यात्मिक विचारों और भावों को अपनाया और उन्हें एक परिष्कृत रूप दिया। वास्तव में यदि विचार पूर्वक देखा जाय ो कापालिक मार्ग को दार्शनिकता, साधना पथ तथा चरम लक्ष्य भारतीय संस्कृति का एक निराशक्ति का अत्यन्त आसक्त अनुभव या अभ्यास था जिसमें निम्न लिखित तथ्य उपस्थित थे (1). योग साधना के बीच में था - कुण्डलिनी या बिन्दु उत्थान, (2). प्रवृत्ति से निवृति, (3). पंचमकार, (4). तन्त्र पूजा, चक्र पूजा, योनि पूजा, (5). सहज पर जोर, (6). वाहयाचार का विरोध, (7). कुल क्षेत्र और पीठो पासना, (8). वाजीकरण का प्रयोग, (9). पंच पवित्र या पंचकार साधना, (10). हाकिनी-डाकिनी आदि देवियों का एक बड़ा समूह, (11). आत्मा और नैरात्म्य का अद्भूत विरोध और सामन्जस्य, (12). विरोध करने पर भी अपने मन्त्र और सिद्धियाँ और श्मशान प्रियता, (13). ब्राह्मण विरोध, (14). सिद्धि पथ, (15). शिव सिद्धान्त मत, (16). बौद्धों में महासुख, (17). सर्वोत्म से शून्य का विरोध और सामन्जस्य, (18). असामाजिक स्वरूप, (19). देह स्थित नाड़ी चक्र, पदम ज्ञान, (20). बलि क्रिया का वीभत्स और कोमल दोनो रूप, (21). टोना मारण, उच्चारन वशीकरण पुरश्चरण आदि।

थोड़ा रूककर वज्र सम्पत बोले - शर्मा जी तंत्र में यौनवाद एक गम्भीर आध्यात्मिक विषय है उसकी गूढ़ता को समझना सभी के बस की बात नहीं है। तांत्रिक साधना का तात्पर्य है एक मात्र शक्ति साधना। तंत्र जिस शक्ति की साधना है वह है काम शक्ति। काम शक्ति आदि शक्ति है। और आदि शक्ति का आदि विकास मैथुन विषय है-मतलब कि आनन्द के लिए है। मैंने अभी आपसे जितने प्रकार के आनन्द की चर्चा की है उनकी क्रमशः उपलब्धि काम शक्ति द्वारा ही सम्भव है। जो लोग काम शक्ति के स्वरूप को गहरायी से समझते है, वे ही तंत्र साधना में पूर्णरूप से पारंगत हो सकते है। तंत्र शास्त्र की समस्त गोपनीयता काम शक्ति में निहित है इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। इसीलिए मैंने काम शक्ति और उसके आन्तरिक स्वरूपों का अति गम्भीरता पूर्वक चिन्तन-मनन और अध्ययन किया। यह मैं निस्संकोच कहूँगा कि इस दिशा में मुझे भरपूर सहयोग दिया गौरी माँ ने।

कौन थी गौरी माँ? उत्सुक होकर पूछा मैंने। उस उच्च कोटि की भारतीय साधिका थी गौरी माँ। कालिंगपांग (दार्जिलिंग) में मेरी भेंट हुई थी उनसे। वैसे

उनकी आयु बहुत अधिक थी लेकिन देखने में तीस से अधिक की प्रतित नही होती थी वह।

क्या पार्थिव शरीर में अभी है गौरी माँ ? हाँ है। भारत तिब्बत सीमा पर एक स्थान है जोजांग। जोजांग में एक अति प्राचीन काली मंदिर है। मंदिर जिस स्थान पर है - वह पुराण प्रसिद्ध काली नदी का उद्‌गम स्थल भी हैं। गौरी माँ का निवास वहीं है लगभग पचास साल से वहाँ रह रही है वह। उच्च कोटी की साधिका तो है ही इसके अतिरिक्त योग-तंत्र का गहन ज्ञान भी उन्हें है। जोजांग जाने पर क्या वह मुझसे मिल सकती है - मैंने पूछा?

हाँ क्यों नहीं। आपसे मिलकर निश्चय ही प्रसन्न होगी गौरी माँ। अत्यन्त करूणामयी है। सरल चित है उनका। साक्षात माँ भगवती का रूप समझे आप उन्हें।

इतना कह कर मौन साध गये वज्र सम्पत। शायद उनकी समाधि का समय हो गया था।

तंत्र विषय को लेकर अब तक जो चर्चा हुई थी उससे यह स्पष्ट हो चुका था कि वज्र सम्पत का अध्ययन काफी गहन और सूक्ष्म था। पूर्व और पश्चिम दोनों विचार धारा से अनुप्राणित था उनका तांत्रिक ज्ञान इसमें सन्देह नहीं। अगर उनसे मेरा साक्षात्कार न हुआ होता तो निश्चय ही मेरी तिब्बत यात्रा अधूरी समझी जाती। ज्ञान का जो विपुल भण्डार मुझे तिब्बत से मिला उसमें वज्र सम्पत का योग दान प्रमुख माना जायेगा इसमें सन्देह नहीं। मठ का कार्य अधिक हो जाने के कारण तीन चार दिनों तक मेरी भेंट नहीं हुई वज्र सम्पत से। और जब भेंट हुई तो मैंने कहा - विषय अधूरा रह गया है क्या वह पूर्ण होगा?

मेरी बात सुनकर वज्र सम्पत पहले तो मुस्कुराये फिर बोले आइये चलिये मेरे कक्ष में अब तो अवकाश ही अवकाश है मेरे पास। सांझ की स्याही धीरे-धीरे उस हिम प्रान्त पर फैल रही थी। गहरी निस्तब्धता बिखरी हुई थी वातावरण में। याक के दूध की चाय का प्याला मुझे धमाते हुए वज्र सम्पत ने कहना शुरू किया-सच पूछा जाय तो शर्मा जी तंत्र के गूढ़ और गोपनीय रहस्यों को न जान सकने के कारण ही तंत्र के प्रति भ्रामक धारणा फैली हुई है। अब तो आप संक्षिप्त में समझ ही गये होगे कि तंत्र का वास्तविक स्वरूप क्या है? और उसकी साधना कितनी गम्भीर है। शक्ति की साधना और उपासना वैदिक काल से चली आ रही है। वेद में भी शक्ति के यथार्थ स्वरूप का वर्णन उपलब्ध है। महाभारत काल के पश्चात् शक्ति साधना, उपासना तो भारत के कोने-कोने में फैल गयी। अपनी रूचि के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रान्त वालों ने उसमें परिवर्तन कर दिया। शक्ति और उसके

विभिन्न रूपों की साधना-उपासना आदि का विस्तृत उल्लेख अथवा वर्णन जिस शास्त्र में किया गया है उसे आगम शास्त्र कहते है।

शक्ति त्रिगुणत्मिक है। सात्विक शक्ति, राजसी शक्ति, और तामसिक शक्ति। जिस आगम का विषय सात्विक शक्ति है - उसे सात्विक आगम, जिसका विषय राजसी शक्ति है - उसे राजसी आगम और जिसका विषय तामसिक शक्ति है - उसे तामसी आगम कहते है। इस क्रम में आपको यह भी मान लेना चाहिए कि सात्विक आगम को ''तंत्र'' राजस आगम को ''यामल'' और तामस आगम को डामर कहते है। इन तीनों प्रकार के आगमों में वर्णित शक्ति के साधना-उपासना आदि का केन्द्र क्रमशः कश्मीर, केरल, और कामाख्या है। ये तीन प्रधान केन्द्र है तंत्रोपासना के। तंत्र में पंचमकार के निवेश आवश्यक है पर केरल में इनके स्थान पर दूध आदि अनुकल्पों का प्रयोग किया जाता था। कश्मीर में तो केवल इन तत्वों की भावना ही की जाती थी। लेकिन गौड़ देश में इन द्रव्यों का प्रत्यक्ष उपयोग होता था। प्रारम्भ में शक्ति पूजा पूर्ण सात्विक थी लेकिन कालान्तर में वह पूर्ण तामसिक हो गयी। यह बड़ी भ्रान्त धारणा है कि शंकराचार्य तंत्र के विरोधी थे। ना कभी नहीं। अगर ऐसी बात होती हो शंकराचार्य ''सांख्य'' को तंत्र के नाम से अभिहित न करते (देखे ब्रह्म सूत्र)। सच पूछा जाय तो वे तांत्रिक उपासना के बड़े भारी उन्नायक थे सौन्दर्य लहरी इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। उनकी तंत्रोपासना सात्विक मार्ग की पूर्ण रूपेण योग परक थी। उनके तांत्रिक साधना मार्ग में वेदविहित अनुष्ठान से तथा उपनिषद प्रति पादित तथ्यों से किसी भी प्रकार का विरोध नहीं था।

जिस समय शंकराचार्य वैदिक धर्म का प्रतीक पीतध्वज लेकर दिगविजय यात्रा पर निकले उस समय मध्य भारत और पूर्वी भारत के प्रान्तों में तमोगुणी तंत्रोपासना का एक छत्र राज्य था। तंत्रोपासको की धारणा थी कि स्थूल और लौकिक पंचमकार का ही प्रयोग न्याय संगत है। शंकराचार्य ने अपनी शक्ति भर इसका विरोध किया इसमें सन्देह नहीं। युक्ति और शास्त्र से खण्डन भी किया। वे पंचमकार के आध्यात्मिक अर्थ के पक्षपाती थे। वे अर्न्तयोग को महत्व देते थे। लेकिन उस समय उनके विचारों को सुनने वाला कौन था? सर्वत्र तंत्रोपासना के नाम पर यौनाचार का वीभत्स रूप के साथ-साथ भयंकर नरबलि, पशुबलि आदि बलियों का बोल बाला था। जिन्हें देखकर वह सन्यासी विगलित और द्रवित हो उठा। ऐसे तांत्रिक क्षेत्रों में शंकराचार्य को अपन वैदिक मत का प्रचार करना था। एक दिन वे भगवान मल्लिकार्जुन और भगवती भ्रमराम्बरा की पूजा अर्चना कर निकल पड़े अपने शिष्यों के साथ अपने मत का प्रचार करने के उद्देश्य से। कापालिक जैसे अवैदिक पन्थ

का खण्डन करना उनका मुख्य लक्ष्य था। धीरे-धीरे विद्वान लोग शंकराचार्य की ओर झुकने लगे। उनके अद्वैत मार्ग के उपदेश को सुनकर लोग कापालिक मत को छोड़कर वैदिक मार्ग में अनुराग दिखाने लगे। कापालिको ने देखा कि यह तो महान अलौकिक विघ्न उपस्थित हो गया परन्तु कुछ को छोड़कर उनमें कोई ऐसा विद्वान नहीं था - जो शंकराचार्य के सिद्धान्तो का खण्डन करता और उनकी युक्तियों का समुचित उत्तर देता। कापालिकों का जो समूह मात्र केवल आडम्बरी और पाखण्डी था उसमें पराजय के साथ-साथ प्रतिहिंसा की ज्वाला धधकने लगी। उस समूह ने तर्क से हार कर कर्कश तलवार का आश्रय ले लिया अन्त में। समूह के नेता का नाम था उग्र भैरव। उसने शंकराचार्य को मार डालने की एक अच्छी युक्ति निकाली। वह उनका शिष्य बन गया - साधारण नहीं बल्कि उग्र शिष्य। धीरे-धीरे वह आचार्य शंकर का प्रिय पात्र बन गया। एक दिन अवसर देखकर उसने आचार्य शंकर के सामने अपना गूढ़ अभिप्राय प्रकट किया। कहा भगवन। मैं इस समय विषम परिस्थित में फँस गया हूँ। कौन सी विषम परिस्थिति है वह? आचार्य शंकर ने सहज भाव से पूछा।

उग्र भैरव विनम्र स्वर में बोला - गुरूदेव। मैं एक अलौकिक सिद्धि प्राप्त करने के लिए साधना कर रहा हूँ लेकिन मेरे साधना मार्ग में एक विघ्न उपस्थित हो गया है। उसे दूर करने के लिए मुझे किसी राजा या सर्वज्ञ पण्डित का सिर चाहिए बलि देने के लिए। राजा का सिर तो मुझे मिल नहीं सकता और दूसरा आपकी अनुकम्पा पर अवलम्बित है। आपसे बढ़कर इस जगत में है ही कौन? इसलिए आप अपना सिर मुझे दे दीजिए। आचार्य शंकर सरल स्वभाव के परोपकारी जीव थे। वे उग्र भैरव के गूढ़ अभिप्राय को समझ न सके और उन्होंने अपनी स्वीकृति दे दी। लेकिन इस बात की चर्चा अपने शिष्यों से नहीं की इसलिए कि कहीं कोई शिष्य इस कार्य में किसी प्रकार का विघ्न उपस्थित न कर दे। पर उनके परम शिष्य पद्मपाद को उस कापालिक की दुरीभ सन्धि का पता चल गया था। अवसर पाकर जैसे ही वह आचार्य शंकर का सिर तलवार से काटने के लिए उद्धत हुआ - उसी समय पदमपाद ने त्रिशूल से उसी का काम तमाम कर दिया। उग्र भैरव की पराजय कापालिक मत और सम्प्रदाय के नाश की श्री गणेश थी। देखते ही देखते कापालिकों का वह समूह नष्ट हो गया। क्या इस ऐतिहासिक घटना का विस्तृत विवरण उपलब्ध है - मेरे इस प्रश्न के उत्तर में वज्र सम्पत बोले हाँ है। इस विषय से सम्बन्धित दो ग्रन्थ है माधव शंकर दिग्विजय और शंकर विजय सार। वास्तविकता से परिचित होने के लिए दोनों पुस्तकों का अध्ययन किया था मैंने। खैर अब आगे की कथा सुनिए - एक और समूह था जो आडम्बरी और

परम पाखण्डी होते हुए भी योगाभ्यासी सिद्ध साधक कापालिकों का समूह था और जिसका नेता था कापालिक भैरवानंद। भैरवानन्दं....।

हाँ, वहीं भैरवानन्द कापालिक जिसका अगोचर संबंध आज भी इस मठ से जुड़ा हुआ है। और जिसकी चर्चा आपसे शुरू-शुरू में कर चुका हूँ मैं । शंकराचार्य की तरह कापालिक भैरवानन्द न ज्ञानी था न शास्त्रज्ञ था और न तो था तार्किक। युक्ति भी नहीं थी उसके पास। लेकिन अपने आपमें उच्चकोटी का तंत्र साधक अवश्य था वह। कठोर शव साधना के बल पर उसने अनेक दुर्लभ तामसिक सिद्धियां प्राप्त की थी और उन्ही तांत्रिक सिद्धियों में एक सिद्धि थी मारण सिद्धि।

कापालिक भैरवानन्द ने देखा कि यह तो बड़ा भारी अनर्थ हो रहा है यदि इसी प्रकार वैदिक धर्म, साधना और संस्कृति का वर्चस्व बढ़ता गया तो एक समय ऐसा आयेगा कि भारतवासी तांत्रिक संस्कृति और साधना को बिल्कुल भूल जायेगे और यही सोचे समझेंगे कि तंत्र एक आडम्बर था और था एक पाखण्ड इसके सिवाय और कुछ नहीं था। अगर उसमें वास्तविकता होती तो उसके अनुयायी शंकराचार्य से पराजित क्यों होते? बात बिल्कुल सही थी। आक्रोश से भर उठा कापालिक भैरवानन्द और तांत्रिक संस्कृति और साधना के वास्तविक स्वरूप की रक्षा के लिए शंकराचार्य पर भयंकर मारण प्रयोग कर दिया उसने।

हे भगवान! फिर क्या हुआ?

होगा क्या? जो होना था वही हुआ। मारण प्रयोग के भयंकर प्रभाव के फलस्वरूप मरणासन्न स्थिति में पहुँच गये शंकराचार्य। योगी तो थे ही वह। उन पर मारण प्रयोग हुआ है - यह समझते देर न लगी उन्हें। एक प्रकार से महाशक्ति के उपासक वे भी थे। भगवती की स्तुति वे करने लगे अपने प्राण की रक्षा के लिए। शंकराचार्य रचित सौन्दर्य लहरी पढ़ी है आपने?

हाँ पड़ी है। योगमाया कुण्डलिनी शक्ति से सम्बन्धित अत्यन्त उपयोगी और परम रहस्यमय योगपरक तांत्रिक रचना है वह।

आपने ठीक कहा। इसमें सन्देह नहीं।

आपको मालूम होना चाहिए सौन्दर्य लहरी उसी स्तुति का परिणाम है।

अच्छा।

उसी स्तुति का साक्षी है वह अनुपन तंत्र ग्रन्थ। भगवती योग माया के तंत्र, मंत्र और यंत्र इन तीनों रूपों का समन्वय है उसमें।

अच्छा तो फिर क्या हुआ?

वहीं हुआ जो होना चाहिए। अपने योगबल और महामाया की कृपा से किसी प्रकार बच गया वह योगी।

कापालिक भैरवानन्द का क्या हुआ?

अपनी भैरवी बिन्दुमति को लेकर इसी हिम प्रदेश में चला आया वह। कालान्तर में इस मठ का निर्माण किया और फिर अपने इष्ट देव और अपनी आराध्या की प्रतिमा स्थापित की उसने। मगर आपको मैंने जैसा बतलाया था - प्राण प्रतिष्ठा के निमित्त दी जाने वाली पुष्पाञ्जलि स्वीकार नही कर रही थी महामाया। उनकी इच्छा तो कुछ और ही थी। एक महान योगी और एक परम तपस्वी पर किए गये ईर्ष्या और द्वेश वश किए गये मारणप्रयोग का प्रायश्चित चाहती थी वह उस कापालिक से।

अच्छा।

हाँ। थोड़ा रूक कर शून्य में ताकते हुए वज्र सम्पत बोले - उस दुर्धर्ष तंत्र साधक को प्राण प्रतिष्ठा के लिए "प्रायश्चित" करना ही पड़ा अन्त में और वह भी अपनी भैरवी बिन्दुमति की बलि अपने ही हाथों से देकर। इसे बिडम्बना ही कहा जायेगा न। जिस नारी शक्ति का आश्रय लेकर उस तंत्र साधक ने अमोघ तांत्रिक सिद्धियाँ प्राप्त की थी उसी नारी शक्ति को नष्ट करना पड़ा उसे।

रात गहरा गयी थी। उठकर खिड़की खोल दी मैंने। प्रचण्ड वेग से बर्फिली हवा के झोंके भीतर आकर बिखर गये। देखा सारा हिम प्रान्त डूबा हुआ था घोर निबिड़ अन्धकार में। गहरी निस्तब्धता छायी हुई थी वातावरण में। साँय-साँय हो रहा था चारो ओर। खिड़की के पास से हटा न गया मुझसे। न जाने कब तक खड़ा अपलक निहारता रहा मैं। बाहर शून्य में। और उसी अवस्था में धीरे से पूछा-बड़ा ही ह्रदय विदारक और करूण दृश्य रहा होगा बिन्दुमति की बलि का।

हाँ इसमें क्या सन्देह। वज्र सम्पत् शरीर पर कम्बल लपेटते हुए बोले - कापालिक भैरवानन्द का वह भयानक खड्ग जिससे उसने अपना सिद्धिदात्री भैरवी की बलि दी थी आज भी इस मठ में सुरक्षित रखा हुआ है।

अच्छा! क्या मैं देख सकता हूँ उस ऐतिहासिक तांत्रिक खड्ग को?

क्यों नहीं! यह कह वज्र सम्मत गर्भ गृह में गये और लाकर मेरे सामने रख दिया खड्ग को। सचमुच बड़ा भयंकर खड्ग था वह। कमसे कम बीस पच्चीस सेर का अवश्य रहा होगा त्रिधातु का बना वह खड्ग, इसमे सन्देह नहीं। सोचने लगा इस खड्ग से कितनी नर बलि दी गयी होगी? कितने नरमुण्ड धड़ से अलग हुए होगे इस खड्ग से? और कितने नर, पशुओं के शोणित से लाल हुआ होगा यह खड्ग....।

निश्चय ही इस खड्ग के एक ही प्रहार से अलग हो गया होगा - बिन्दुमति का सिर धड़ से। और रक्त रंजित हो उठी होगी दूसरे क्षण बलि भूमि।

निश्चित। इसमें क्या सन्देह?

भैरवानन्द का क्या हुआ - विषण्ण भाव से पूछा मैंने?

मेरा प्रश्न सुनकर कुछ क्षण वज्र सम्पत मौन रहे। और न जाने क्या सोचते रहे फिर गम्भीर स्वर में बोले उसने भी अपनी बलि दे दी महामाया के चरणों में।

ऐं! क्या कहा आपने? अपनी भी बलि दे दी।

हाँ! पूर्ववत् गम्भीर स्वर में बोले वज्र सम्पत - वह महान तंत्र साधक और वज्र धर बहुत देर तक शून्य दृष्टि से अपलक निहारता रहा महामाया काल रात्रि की भयंकर पाषाण प्रतिमा की ओर। अंगारे की तरह जलती हुई उसकी आँखे स्थिर थी और तांबिये रंग का चेहरा बिल्कुल स्याह और भावहीन था। किसी भी प्रकार का भाव नही था वहाँ। उसका सारा शरीर भी पाषाणवत् हो गया था। फिर अचानक किसी आंवेग से उसका विषण्ण और भावहीन चेहरा लाल होकर दप्-दप् करने लगा। नथुने फूल आये। मुँख मुद्रा भी कठोर हो गयी। दूसरे क्षण उसने अपना यही खड्ग उठा कर अपने गर्दन पर घुमा दिया। "खच्" और खच् की इस मर्म भेदी आवाज के साथ ही उस महान् कापालिक का रक्तरंजित मुण्ड, धड़ से अलग होकर गिर पड़ा परा शक्ति के चरणों पर। एक पल में अघटित घट गया।

अपनी बलि क्यों दी भैरवानन्द ने।

शायद अपनी भैरवी के अभाव में जीवित न रहना चाहत हो वह। वैसे भी मणिहीन सर्प की भाँति हो गया था उसका जीवन।

८
अध्याय

कापालिक सम्प्रदाय का प्राचीन नाग चण्डी मठ

वज्र सम्पत पूरे एक सप्ताह के लिए समाधिस्थ हो गये थे। इसलिए मैं प्रायः अपनी पथरीली कोठरी में चुपचाप मौन साधे पड़ा रहता था। मुझे कोई काम न था सिवाय चिंतन-मनन के और चिन्तन-मनन के दौरान कभी-कभी मानस पटल पर बिन्दुमति और भैरवानन्द का काल्पनिक चित्र ऊभर आता। और उस समय न जाने कैसी मेरी मानसिक स्थिति हो जाती बतला थी नही सकता मैं।

एक दिन प्रधान लामा ने मुझे अपने कक्ष में बुलाया और जब मैं वहाँ गया तो देखा-वे एक लामा से बाते कर रहे थे। वह लामा तांत्रिक लगा मुझे। उसकी लाल-लाल आँखे बड़ी ही रहस्यमयी लगी, प्रधान लामा ने उसका परिचय देते हुए जो कुछ बतलाया उसके अनुसार उस लामा का नाम था सिंग-पोच्छे। वहाँ से बीस पच्चीस मील की दूरी पर एक मठ था। जो कभी किसी समय कापालिकों की तमोगुणी साधना का अखाड़ा था। लामा सिंग-पोच्छे उस मठ के सर्वेसर्वा थे। लामा सिंगपोच्छे स्वयं एक तंत्र साधक थे और पारंगत थे तंत्र विद्या में। उनसे मुझे तंत्र की अनेक गूढ़ विधाओं के विषय में गहरी जानकारी प्राप्त हो सकती थी। लामा सिंग-पोच्छे कुछ समय तक सारनाथ में रह चुके थे। काशी से भलीभाँति परिचित थे। जब उन्हें ज्ञात हुआ कि मैं वाराणसी का निवासी हूँ और योग-तंत्र की रहस्यमयी और गोपनीय साधनाओं से परिचित होने तथा वहाँ प्रच्छन्न रूप से निवास करने वाले उच्च कोटि के योगीयों और तांत्रिकों से भी परिचित होने के लिए मैं तिब्बत की जीवन-मरण दायिनी हिम यात्रा पर निकला हूँ तो मुझसे मिलने का लोभ संवरण न कर सके वे।

लामा सिंग पोच्छे के मठ का नाम था नागचण्डी मठ थी। वे मुझे अपने साथ ले जाना चाहते थे। जिसके लिए सहर्ष तैयार हो गया मैं। दूसरे ही दिन रवाना हो गया मैं लामा सिंगपोंच्छे के साथ नागचण्डी मठ के लियें।

चारों तरफ हजारों फिट ऊँची पहाड़ों की हिमाच्छादित चोटियों खड़ी थी आसमान को चुनौती देती हुई। क्षितिज के ओर-छोर तक फैला हुआ दुर्गम हिमाच्छादित पहाड़ी इलाका जिसे देखकर ही मन में भय और आतंक की अनुभूति होती थीं। सामने मीलों तक फैली हुई थी दुर्गम हिम घाटी। और उसके बाद बर्फ की परतों से ढकी चोटियाँ। जिनकी पृष्ट भूमि में था निरभ्र नीला आकाश।

बड़ा ही अद्‌भुत प्राकृतिक दृश्य था।

लामा सिंग पोंच्छे ने बतलाया कि इस घाटी के बाद ही पहाड़ो की तलहटी में है नागचण्डी मठ।

कभी नागचण्डी मठ उग्र और उन्मत्त कापालिकों का गुप्त साधना केन्द्र था। उसमें नर बलि और शव साधना दोनों होती थी, लेकिन पिछले सैकड़ो वर्षो से न उसमें कोई रहता है और न तो किसी भी प्रकार की साधना-उपासना ही होती है।

बस मैं रहता हूँ और मेरे दो शिष्य।

जब मैं लामा सिंग-पोंच्छे के साथ उस तलहटी में पहुँचा तो वहाँ चारों ओर सांय-सांय हो रहा था। वातावरण में एक अबूझ सी शून्यता भरी थी। वहीं भारतीय संस्कृति के इतिहास में प्रसिद्ध कापालिक सम्प्रदाय की मूक साक्षी अपने समय में तूफानी हलचल मचा देने वाली भयंकर कठोर और तामसिक तंत्र साधना का प्रतीक नागचण्डी मठ खण्डहर जैसा होकर भी अतीत की स्मृति रूप में बाकी भंगिमा से सिर ऊँचा किये खड़ा था।

काफी बड़ा मठ था वह। लम्बे चौड़े विस्तृत आँगन में चारो ओर छोटे-छोटे साधना गृह बने हुए थे। और बीच में काफी ऊँची प्रस्तर बेदी पर लगभग बाहर फुट ऊँची एक पाषाण प्रतिमा स्थापित थी। वह प्रतिमा शायद किसी तांत्रिक देवी की थी। वह जितनी भव्य और आकर्षण थी, उतनी ही भयंकर भी थी।

प्रतिमा का मुख दस फण वाले सर्प का था। उसके चार हाथ थे। ऊपर वाले दो हाथों में खड्ग एवं नागपाश ओर नीचे के दो हाथो में था खप्पर और नर मुण्ड। गले में नागमाला के साथ नर मुण्डों की भी माला झूल रही थी। दोनों मालाएँ काफी नीचे तक लटकी हुई थी। देवी का एक पैर नग्न पुरूष की और दूसरा पैर नग्न स्त्री की छाती पर टिका हुआ था। और ठीक उनके नीचे तंत्र शक्ति की प्रतीक हाकिनी-डाकिनी और साकिनी की पाषाण मूर्तियाँ स्थापित थी। ठीक

सामने पशु बलि और नर बलि देने वाला यूथ था। मठ के भीतर भी घोर निस्तब्धता छायी हुई थी और चारों ओर सांय-सांय हो रहा था। एक विचित्र सी उदासी और एक अबूझ सी खिन्नता भरी थी पूरे मठ में। लाल पत्थरों से बनी उस शानदार गढ़ी जैसे मठ की धूल से पटी सीढ़िया चढ़ते समय लगा जैसे काफी लम्बे अर्से से वहाँ कोई आया न हो। टूटे-फूटे जर्जर दालानों, बारामदों में प्रवेश करते ही भय और आतंक के मिले जुले भाव से भर उठा मन। मुझे म्लान, निस्तब्ध मठ में भय मिश्रित अनुभूति होने लगी। धूल से पटी-सनी टूटी फूटी बुर्जियों पर घूमते समय हर क्षण मुझे यही लगता था कि रूधी हुई हवा की उस विवशता के बीच लाल रेशमी परिधान में पैरो में खड़ाऊ और गले में रूद्राक्ष एवं नरमुण्डों की माला पहने मस्तक पर लाल सिन्दूर का गोल टीका और त्रिमुण्ड लगाये कोई भयानक आकृति वाला जटा-जूट धारी कापालिक सन्यासी धीमे-धीमे चलता हुआ अतीत के काले पर्दे को उघार देगा। और सहज ही उस डरावने अंधियारे वातावरण में मन प्राणों को एक वारगी स्तम्भित कर देगा। मगर कोई आया नहीं। मैं सतर्कता से मठ में घूमता रहा। पर कोई अनहोनी नहीं हुई। मिस नील का अवश्य स्मरण हो आया मुझे उस वातावरण में। मिस नील ने मुझे बतलाया था कि तिब्बत में कुछ ऐसे भी मठ हैं-जो सुनसान और निर्जन है। मगर वे अभी भी सूक्ष्म शरीरधारी तांत्रिकों की अदृश्य साधना-उपासना केन्द्र बने हुए है। उन्होंने यह भी बतलाया था कि सूक्ष्म शरीरधारी तंत्र साधकगण आकाश मार्ग से उन उजाड़ सुनसान मठो में किसी निश्चित समय पर आते है पर उन्हें न कोई देख सकता है और न उनकी पूजा-उपासना साधना आदि को ही। मेरे मस्तिष्क में सहसा यह बात कौंध गयी क्या यह मठ भी ऐसा ही है।

उस विशाल मठ के एक छोर पर था लामा सिंगपोच्छे का निवास। कैसे रहते थे महाशय उस लम्बे-चौड़े और विशाल मठ में अकेले और वह भी पचासों साल से, पूछने पर इस सम्बन्ध में वे बोले - एक योगी के लिए एकान्त का और एकाकी जीवन का अपना महत्व है। एकान्त स्थान में एकाकी जीवन एक योगी ही व्यतीत कर सकता है भोगी नहीं। भोगी को तो भीड़ चाहिए शोर-गुल चाहिए।

साधारण सी पथरीली कोठरी। दैनिक जीवन की कोई भी वस्तु नहीं। बस दो तीन कम्बल और दो एक लबादे। ध्यान के लिए याक के चमड़े का एक आसन और वह भी फटा-पुराना। बस इतनी सी गृहस्थी थी सिंगपोच्छे की। बगल में एक और कोठरी थी उसी में मेरे ठहरने की व्यवस्था हो गयी। मेरे पास भी था क्या? एक लोटा एक झोला जिसमें सत्तू और कुछ कपड़े थे। दो कम्बल भी थे इन सबके अलावा। उस घाटी को तिब्बत का सर्वाधिक ठण्डा प्रदेश माना जाता

है। दोपहर के बाद बर्फिली हवा के झोके लगने लगे और फिर धीरे-धीरे अंधेरा होने लगा और कुछ ही देर बाद घोर नीरवता के सागर में आकण्ड डूब गयी पूरी हिम घाटी।

अपनी कोठरी के फर्श पर कम्बल बिछा कर बैठ गया मैं, और सोचने लगा, लामा वज्रसम्पत के यहाँ सारी सुविधा थी करीब-करीब, लेकिन यहाँ? यहाँ तो पूर्ण अभाव ही अभाव है। कैसे रहा जायेगा इस मठ में?

लाला सिंगपोच्छे शायद समझ गये मेरे मन की बात। बोले आपको किसी भी प्रकार का अभाव और कष्ट नहीं होगा। मुझे भोजन की विशेष आवश्यकता नहीं पड़ती। सालों तक मैं कुछ खाता पीता नहीं। भौतिक आवश्यकताओं की ओर ही ध्यान देने लगूं तो फिर योगी कैसा? योगी और सर्प का भोजन एक ही है और वह है वायु। जो वायु को अपना आहार बना लेता है-वही योगी है। फिर हँसते हुए लामा सिंगपोच्छे आगे बोले-आपको वायु पर आश्रित नहीं होना पड़ेगा। घबराये नहीं पर्याप्त आहार प्राप्त होगा आपको। सचमुच जब तक मैं रहा मठ में किसी भी प्रकार का अभाव नहीं रहा मुझे। न जाने कैसे और कहाँ से मेरी आवश्यकताओं की पूर्ति कर देते थे लामा सिंगपोंच्छे! समझ न सका इस रहस्य को मैं।

सन्त और संसारी में भेद

निश्चय ही लामा सिंग-पोंच्छे योगी के अतिरिक्त उच्चकोटि के दार्शनिक भी थे, इसमें सन्देह नहीं। उनका कहना था-हम जीवन में एक बार जो भूल कर बैठते है उन्हीं भूलों को करीब-करीब बार-बार दोहराते है। पिछले जन्म में भी हमने भूले की हैं। उसके पिछले जन्म में भी वही भूलें की है। आज भी हम वहीं भूलें कर रहे है और यह भी निश्चित है कि अगले जन्म में भी वहीं भूलें करेंगे। सबसे बड़ी भूल जो है वह यह कि हम अपने अन्तरस्थ भावों को भी बिना वस्तु में रूपान्तरित किये स्वीकार नहीं कर पाते। भाव तो भीतर है लेकिन उस भाव को भी सम्हालने के लिये हमें बाहरी सहारे की आवश्यकता पड़ती है। यह बुनियादी भूलों में से एक है। अगर आप प्रसन्न है और कोई आपसे पूछे कि आप क्यों प्रसन्न है? तो आप यह नहीं कह सकते कि मैं बस प्रसन्न हूँ ''क्यों इसके उत्तर ? आप कारण बतायेगे कि मैं इसलिए प्रसन्न हूँ कि आज मेरा मित्र घर आया था, इसलिए प्रसन्न हूँ कि नौकरी मिल गयी। आप कोई न कोई कारण अवश्य बतलायेंगे। आप इतनी हिम्मत कर यह नहीं कह सकते कि मैं प्रसन्न हूँ क्योंकि प्रसन्न होने में प्रसन्नता है।

और मूढ़ वे हैं जो कारण खोजते हैं क्योंकि कारण खोजने वाला अधिक प्रसन्न नहीं हो सकता।

अगर जीवन में कारण से प्रसन्नता आती हो तो बहुत थोड़ी अल्पमात्रा में प्रसन्नता आयेगी। इसलिए लोगों के जीवन में सुख बहुत कम है। दुख अधिक है। क्योंकि किसी कारण से जब सुख मिलेगा तब सुख अन्यथा दुख ही दुख है। अकारण दुख हमने स्वीकार किया है। सुख के लिये हम कारण खोजते हैं। और यदि प्रसन्न है बिना कारण के तो लोग समझेगे कि आप पागल है क्यों? इसलिये कि बिना कारण के आप प्रसन्न है, कोई कारण तो होना चाहिए। कोई कारण नहीं हैं, फिर भी आप प्रसन्न है तो लोग समझेंगे कि पागल है। बिना कारण की प्रसन्नता पागलपन का लक्षण है समाज की दृष्टि में।

जिनको हम सन्त कहते हैं। उनके जीवन का रहस्य यही है कि उन्होंने बिना किसी कारण प्रसन्न होने का रास्ता खोज लिया है। सन्त और संसारी में यही भेद हैं। संसारी कारण पहले खोजता है। पहले कारण मिल जाय तो वह प्रसन्न होगा। सन्त प्रसन्न होता है लेकिन वह कारण या आधार नहीं खोजता।

सन्त अन्तरस्थ भाव में जीता है। बाहर कारण नहीं खोजता। सन्त पूजा करता है। प्रार्थना करता है। सब कुछ करता है। उसके लिए इतना ही पर्याप्त है परमात्मा हो या न हो उससे कोई अन्तर नहीं पड़ता उसकी पूजा या उपासना में। बिना किसी कारण के और बिना किसी आधार के की गयी पूजा और उपासना वास्तविक पूजा और उपासना है यदि परमात्मा भी उसका आधार बन गया तो सब व्यर्थ है। सन्त ध्यान करता है लेकिन ध्यान के लिये वह कोई विषय नहीं खोजता।

विषय से मुक्ति हो, वस्तु से मुक्ति हो, पदार्थ से मुक्ति हो और अन्तर्भाव में रमण हो तो जीवन की परम समाधि अपने आप सध जाती है।

योग-तंत्र का कहना है कि सभी द्वैत से ऊपर उठकर परम मुक्ति को उपलब्ध होने के लिए समस्त जीवेषणा की निर्जरा अनिवार्य हैं। इस सम्बन्ध में आपका क्या विचार है? लामा सिंग पोच्छे बोले-जीवेषणा। "हम जीना चाहते है लेकिन जीने की यह जो आकांक्षा है वह वास्तव में बिल्कुल अन्धी है। कोई आपसे पूछे कि आप क्यों जीना चाहते है? तो इसका क्या उत्तर देगे आप? कोई उत्तर न होगा आपके पास। इस आकांक्षा की दौड़ में हम पशु-पक्षी से भिन्न नहीं है। पशु-पक्षी भी जीना चाहते है। वे भी जीवन की खोज में रहते है। अपने आपसे प्रश्न करिए-हम जीना क्यों चाहते हैं? क्यों चाहते है जीना? आखिर जीवन से मिल ही क्या रहा है हमें? जिसके लिए हम जीना चाहते है। जैसे ही आप ये प्रश्न अपने आपसे करेंगे तो आपको अपना दोनों हाथ खाली मिलेगा। मिल कुछ नहीं

रहा है। इसलिए कोई भी विचारशील व्यक्ति उदास और विरक्त हो जाता है कि वास्तव में कुछ नहीं मिल रहा है।

आप रोज प्रातः उठ जाते है। रोज काम कर लेते हैं। खा लेते है। पी लेते है। दौड़-धूप कर लेते हैं। लड़-झगड़ भी लेते है और फिर सो जाते है और सवेरा हो जाता है। ऐसे पचास साल बीत जाते हैं। अगर सौ वर्ष का भी जीवन हो तो बस यही क्रम रोजाना चलता रहेगा। सोचने की बात है और अभी तक कुछ नहीं मिला तो कल या परसों क्या मिल जायेगा?

और मिलने जैसा कुछ लगता भी नहीं है। मिलेगा भी कुछ, इसकी आशा करनी भी कठिन है, धन, पद, मान-सम्मान आदि सब कुछ मिल जाय तो क्या मिलेगा? जीवन तो रिक्त का रिक्त ही रहेगा।

जीवेषणा वास्तव में अन्धी होती है, इसलिए जीवेषणा उठने का जो पहला प्रयोग है वह आँखों को खोलने का प्रयोग है कि मैं अपने जीवन को देखूँ कि मिल क्या रहा है? और अगर मिल कुछ भी नहीं रहा है, यह प्रतीति स्पष्ट हो जाय तो, जीवेषणा अपने आप क्षीण होने लगती है। 'मैं जीना इसलिए चाहता हूँ कि कुछ मिलने की आशा है जीवन में। और अगर यह स्पष्ट हो जायँ कि कुछ मिलने वाला नहीं है तो जीने की आकांक्षा से छुटकारा मिल जायेगा। इसी को निर्जरा कहते है।

जीवन रहते जीने की आकांक्षा का न होना निर्जरा है।

पहली बात आँख खोलकर देखना आवश्यक है कि जीवन दे क्या रहा है? जीवन से मिल क्या रहा है?

फिर दूसरी बात देखना आवश्यक है कि मिल तो कुछ भी नहीं रहा है और जीवन हर क्षण मृत्यु के समीप पहुँच रहा है। आज नहीं तो कल और कल नहीं तो परसों मरना ही है। मरना निश्चित है। हालांकि इस सत्य को सुनने के लिये कोई तैयार न होगा।

अगर जीवेषणा की ओर थोड़ा सा भी ध्यान जाय और थोड़ा सा भी उस पर विचार किया जाय तो दूसरा प्रश्न अपने आप स्पष्ट हो जायेगा कि जीवन कही नहीं ले जा रहा है। सिवाय मृत्यु के वह कहीं नहीं जा रहा है-सिवाय मृत्यु के।

जैसे सभी नदियां सागर की ओर जा रही है वैसे ही सभी जीवन मृत्यु की ओर जा रहे है। और तब दूसरा बोध स्पष्ट होना चाहिए कि जो जीवन, मृत्यु में ले जा रहा है जो अनिवार्य रूपेण मृत्यु की गोद में ले जा रहा है जिसमे मृत्यु अपरिहार्य है। मृत्यु से बचने के लिए जिसमें कोई उपाय नहीं है वह आकांक्षा के योग्य नहीं है। वह जीवेषणा के योग्य नहीं है। वह कामना के योग्य नहीं हैं

ये दो बाते अगर आपके भीतर गहन होने लगे इनकी सघनता बढ़ने लगे तो जीवेषणा की निर्जरा हो जाती है और जिस दिन व्यक्ति जीने की आकांक्षा से मुक्त होता है उसी दिन वास्तविक जीवन का द्वार खुलता है क्योंकि जब तक हम जीवन की इच्छा से भरे रहते है, तब तक हम बुरी तरह उलझे रहते है जीवन में और हमारे लिए वास्तविक जीवन का द्वार बन्द ही रह जाता है और कभी खुलता नहीं।

जीवित रहने के लिये और जीवित बने रहने के लिए हम इतने व्यस्त रहते है कि ''जीवन'' क्या है? उससे भली-भाँति परिचित होने के लिये हमारे पास न समझ होती है और न तो होती है सुविधा।

जीवन का रहस्य उसी के सामने खुलता है अथवा जीवन के रहस्य से वही भली-भाँति परिचित होता है जिसने जीवेषणा का त्याग कर दिया है। ऐसा ही व्यक्ति बुद्धत्व को, कैवल्य को और परमगति को उपलब्ध होता है।

इतना तो निश्चित है कि जो जीवेषणा को लेकर चलता है वह मृत्यु को उपलब्ध होता है और जो जीवेषणा का त्याग कर चलता है-वह अमृतत्व को उपलब्ध होता है।

उपनिषद, गीता, कुरान, बाइबिल, धम्मपद आदि उन्हीं लोगों की घोषणायें है-जिन लोगों ने जीवेषणा का त्याग कर अमृतत्व को प्राप्त किया है।

मृत्यु के पार जाने के लिये जीवेषणा का त्याग आवश्यक है। यह बात थोड़ी विपरीत प्रतीत होगी। जीवन बड़ा जटिल है और विरोधाभासी भी है। इसका अर्थ यह हुआ कि जो जीवन को पकड़ता है वह मृत्यु को पकड़ता है और जो जीवन का त्याग करता है वह महाजीवन को प्राप्त करता है। यह ऊपर से बिल्कुल विरोधाभासी प्रतीत होता है लेकिन ऐसा है। यह विरोधाभास ही जीवन का गहनतम सत्य है।

लामा सिंगपोंच्छे थोड़ा हँसकर बोले - आप कर के देखें। धन को पकड़े-हमेशा दरिद्र ही रहेंगे। जरा धन का त्याग करके देखे-भिखारी बन कर देखे-सम्राट भी आपके सामने फीका पड़ जायेगा। शरीर को पकड़ कर देखे-दुख के सिवाय और कुछ नहीं मिलेगा आपको। शरीर से तादात्म्य तोड़ कर देखे- तो आप पायेंगे कि पकड़ के कारण आप सीमामें बंधे थे अभी तक और अब असीम हो गयें।

जीवन का यह विरोधाभास एक पहेली है। इस पहेली को हल करने की जो व्यवस्था है उसी का नाम साधना है।

दो काम करें - जीवन ने क्या दिया हैं - जीवन में क्या मिला है - इसकी परख करें। जीवन से क्या मिल सकता है - इसका हिसाब रखे। पायेगें कि दोनो

हाथ खाली का खाली है। आशा भी टूट जायेगी कि कल कुछ मिल सकता है। क्योंकि जो अतीत में नहीं हुआ - वह भविष्य में भी नहीं होगा। जो अभी नहीं हुआ - वह आगे भी कभी नहीं होगा। जरा आँख खोल कर देखे - सब जीवन मृत्यु के मुँख में चले जा रहे हैं। कोई आज और कोई कल .... ।

हम सब पंक्ति में खड़े हैं। आज नहीं तो कल बारी आ ही जायेगी मेरी और आपकी भी।

यदि जीवन मृत्यु में पूरा होता है तो निश्चित ही वह मृत्यु का ही छिपा हुआ रूप है, क्योंकि अन्त में वही प्रकट होता है जिसे हम जीवन कहते है वह मृत्यु हैं। मृत्यु के सिवाय और कुछ नहीं है। जीवेषणा का त्याग मृत्यु पर विजय है और उस विजय के फलस्वरूप हमें उस जीवन का अनुभव होगा जिसका मिटना कभी असम्भव नहीं है। ऐसे जीवन को आप मोक्ष कह सकते हैं। निर्वाण कह सकते है, मुक्ति कह सकते हैं।

तंत्र का पहला लक्ष्य है जीवेषणा से मुक्ति। और दूसरा लक्ष्य है साम्यावस्था यानि जड़ावस्था की उपलब्धि। ये दोनो लक्ष्य ऊपर से भले ही भिन्न-भिन्न दिखलाई देते है लेकिन है दोनो एक ही सिक्के के दो पहलू।

लामा सिंगपोंच्छे बोले - विश्व ब्रह्माण्ड में चैतन्य और विभिन्न रूपों में क्रियाशील आदि शक्ति तंत्र की "काम शक्ति" है जिसे दूसरे शब्दों में "कामेश्वरी" भी कहते है।

चित्त एक यंत्र है। चित्त यंत्र, जिस शक्ति के द्वारा संचालित होता है वह एक मात्र काम शक्ति ही है। चित्त यंत्र की संचालिका होने के कारण उसे चित्त शक्ति भी कहते है।

आपके कहने का तात्पर्य यह है कि काम शक्ति का दूसरा रूप चित्त शक्ति हैं। हाँ। ठीक समझा आपने। लामा सिंगपोंच्छे आगे बोले - चित्त में उठने वाली वृतियाँ एक प्रकार से उसी चित्त शक्ति का समुल्लास है और उसी समुल्लास के फलस्वरूप तरह-तरह की वासनाओं का जन्म होता है ! वृतियाँ और वासनाएँ चित्त के विषय है।

वासनाएँ अनन्त है लेकिन उन्हें मुख्य रूप से तीन श्रेणियों में विभक्त किया गया है। वित्तेषणा, दारेषणा और लोकैषणा - इन तीन श्रेणियों के अन्तर्गत समस्त वासनाएँ समाहित है। समस्त वृतियों अथवा समस्त वासनाओं के मूल में ''अहंकार'' हैं।

दार्शनिकों की भाषा में चित्त का दूसरा नाम अन्तःकरण है। अन्तःकरण में उत्पन्न होने वाली कुछ वृतियाँ ज्ञात होती है और कुछ होती है अज्ञात। अहंकार

का सम्बन्ध ज्ञात चित्त वृतियों से होता है। समयानुसार अज्ञात वृतियाँ भी ज्ञात होकर अहंकार की गोचरता में आ जाती है। वृतियाँ ज्ञात हो अथवा अज्ञात वे चैतन्य से भरी हुई होती है।

आपका चैतन्य से क्या तात्पर्य है।

''चित्तशक्ति''।

अच्छा! चित्तशक्ति ही चेतना अथवा चैतन्य है। समझ गया मैं। किन्तु अहंकार के द्वारा कोई वृति उद्धत रहती और कोई अनुद्धत। किसी वृति के विरोध करने में तथा किसी को अनुद्धत करने में प्राय: चित्त का यही मुख्य उद्देश्य रहता है कि उसमें साम्यावस्था स्थापित हो तथा उसमें किसी भी प्रकार की क्षति न पहुँचे।

जिसमें किसी भी प्रकार की संवेदना न हो वही वास्तविक ''शान्ति'' है और जिस अवस्था विशेष में न सुख का अनुभव हो और न दुख का उस अवस्था को ''साम्यावस्था'' कहते है। योग-तंत्र संवेदनहीन ''शान्ति'' को परम शान्ति कहता है और साम्यावस्था में उत्पन्न आनन्द को कहता है सहजानन्द् ! सहजानन्द ही प्रगाढ़ और पुष्ट होकर समयानुसार परमानन्द में परिवर्तित हो जाता है।

सुख-दुख दोनों से रहित जो अवस्था है वह सहजानन्द और तदन्तर परमानन्द की अवस्था है। आश्चर्य की बात यह है कि परम शान्ति और सहज अथवा परम आनन्द को प्राप्त करने के लिए हम सभी लोग इच्छुक रहते हैं, लेकिन गहरायी से यदि देखा जाय तो ऐसा है नहीं। हम उस परम शान्ति और उस परम आनन्द से घबरा उठते है। वैसे विचार पूर्वक देखा जाय तो हम अनजाने में उन दोनों अमूल्य निधियों को प्राप्त करने के लिए बराबर प्रयत्न करते रहते हैं। किन्तु विडम्बना यह है कि गम्य स्थान के समीप आते-आते हम एक वारगी विह्वल हो उठते है।

जैसा कि संकेत किया जा चुका है-तंत्र साधना का लक्ष्य है साम्यावस्था की उपलब्धि ! और यह उपलब्धि संवेदना रहित शान्ति के मार्ग पर चलकर ही संभव है।

न सुख की इच्छा हो, न दुख की इच्छा हो। दोनों का पूर्ण अभाव हो जाय जीवन में। इसी साम्यावस्था को 'परम शून्य' कहते है। परम शून्य को उपलब्ध होने पर जो एकाकी आन्तरिक अनुभूति होती है - वास्तव में वही सहजानन्द अथवा परमानन्द है। परम शून्य का मतलब है पूर्ण जड़ावस्था जिसे हम मोक्ष भी कह सकते है। आपको यह जानकर आश्चर्य होगा कि नित्यानित्य विवेकी मुमुक्षुजन भी मोक्ष से घबराते है। बड़े-बड़े ज्ञानी लोग भी संवेदना रहित शान्ति और परम शून्य से घबराते है।

शक्ति के कारण चित हमेशा अस्थिर और चंचल बना रहता है जब तक चित्त अस्थिर और चंचल है तब तक संवेदनाएँ है और संवेदनाओं के कारण परम

शान्ति सम्भव नहीं और परम शान्ति के अभाव में परम शून्य यानि जड़ावस्था भी सम्भव नहीं। जड़ावस्था - एक ऐसी परम शून्यावस्था है, जिसमे समस्त वृत्तियों का, समस्त वासनाओं का और समस्त संस्कारों का पूर्ण अभाव हो जाता है। इसी कारण इस अवस्था को परम अवस्था अथवा मोक्ष कहते है लेकिन 'मोक्ष' तभी सम्भव है जब चित पूर्णरूपेण शक्ति हीन हो जाता है और तब अन्तकरण में चैतन्य का पूर्णरूपेण अभाव हो जाता है।

यह कैसे सम्भव है - मैने प्रश्न किया?

तांत्रिक साधना के बल पर।

ऐ क्या कहाँ आपने तांत्रिक '..................।'

हाँ मेरे वाक्य को पूरा होने के पहले ही बोल पड़े लामा सिंगपोच्छे - लोहा-लोहे से ही कटता है शर्माजी। शक्ति का खण्डन और शक्ति का नाश शक्ति द्वारा ही सम्भव है। तांत्रिक साधना के मार्ग पर चलकर हम जिस शक्ति को उपलब्ध होते है, वह शक्ति हमारे अन्त:करण में वृतियों अथवा वासनाओं को उत्पन्न करने वाली चैतन्य को नष्ट कर देती है और हमे उस परम शून्यावस्था में पहुँचा देती है जहाँ कुछ भी शेष नहीं रह जाता और हम पूर्ण जड़त्व को उपलब्ध हो जाते है। आपको मैं बतला ही चुका हूँ ''जड़त्व'' का दूसरा नाम ''मोक्ष'' है।

इस सन्दर्भ में आपको यह भी बतला दूँ कि वासनाएँ परिवर्तन नहीं चाहती। सत्ता ही परिवर्तनशील है। अत: वासनाएँ सत्ता को ही नहीं चाहती। वासनाएँ व्यक्ति को जड़ावस्था में ले जाने के लिए प्रयत्नशील रहती है। इस प्रकार के सिद्धान्त पर पहुँचने में अनेक दार्शनिकों ने बल दिया है। शरीर की उत्पत्ति मिट्टी से हुई है और फिर एक दिन वह मिट्टी में ही मिल जाता है। मिट्टी की गोद में उसका अस्तित्व समाप्त हो जाता है। इस कथन की पुष्टि प्राय: पूर्व पश्चिम के सभी दार्शनिको ने किया है। पाश्चात्य दार्शनिकों का यह मत है कि सभी प्रयत्न जड़ावस्था को पाने के लिए ही किये जाते है। वही प्रत्येक व्यक्ति का गम्य स्थान है। जड़ावस्था को उपलब्ध होने के लिए ही बार-बार आत्मा शरीर धारण करती है। बार-बार जन्म लेती है संसार में। अपने गम्य स्थान पर पहुँचने के पश्चात व्यक्ति में किसी प्रकार का चाचंल्य नहीं रह जाता। चित्त यंत्र को संचालित करने वाली शक्ति का पूर्ण अभाव हो जाता है। प्रसिद्ध दार्शनिक विलियम जेम्स का कहना है - संसार के सभी विषयों में अत्युत्तम बात है - जन्म का न लेना, सूर्य का प्रकाश न देखना। इसके उपरान्त कोई उत्तम बात है तो यह कि संसार रूपी नरक के सभी द्वारों से यथा सम्भव पार हो जाना।

प्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक नीत्शे का कहना है-अनित्य, दयनीय, क्लेश तथा संयोग की सन्तान - मनुष्य जाति, जिसे न सुनने में ही तुम्हारा सर्वोत्तम लाभ है, उससे

तुम मुझे क्यों विवश कर रही हो ? जन्म न लेना, अस्तित्व न रखना, शून्य हो जाना - जो सर्वोत्तम है। वह तुम्हारे लिए सर्वथा अलभ्य है किन्तु उसके उपरान्त जो श्रेष्ठ है और सर्वोत्तम है - वह है - शीघ्र मर जाना।

सांख्य दर्शन मत का भी यही कहना है कि प्रकृति में विलीन हो जाना ही परम ध्येय है।

समझ में नहीं आया जरा इस विषय को स्पष्ट करे - मैने कहा।

कहने का तात्पर्य यह है कि सांख्य दर्शन के अनुसार 'जीव' दो अंशो का संयुक्त रूप है। उसका एक अंश हैं 'पुरुष' और दूसरा अंश है 'प्रकृति'। जड़ावस्था में केवल 'पुरुष' अंश रह जाता है। उसी का अस्तित्व बना रहता है। दूसरे अंश प्रकृति के सभी विभेद नष्ट हो जाते है। प्रकृति अपनी साम्यावस्था में रहती है। साम्यावस्था उसकी अपनी 'स्वस्थिति' हैं। इस स्थिति में उसके तीनों गुण-सत्, रज और तम - एक दूसरे में विलीन हो जाते हैं। साम्यावस्था का ही दूसरा नाम जड़ावस्था हैं। जड़ावस्था में सभी प्रकार के द्वन्द समाप्त हो जाते है। व्यक्ति को 'नास्ति न में नाद्दमित्य परिशेष:' ज्ञान उपलब्ध होता हैं यानी न मैं, न मेरा और न हूँ। न संज्ञा अस्ति अर्थात् किसी भी प्रकार की संज्ञा नहीं रह जाती हैं उसके भीतर। सभी प्रकार की संज्ञाओं से शून्य हो जाता है वह। संज्ञाओ का पूर्ण अभाव ही जड़ावस्था हैं। ऐसी ही स्थिति को कहते हैं - 'निर्दोष हि समं ब्रह्म'। जिसे प्राप्त करना एक परम साधक का परम उद्देश्य है।

सांख्य का पुरुष प्रकृति और तंत्र का शिव-शक्ति

लामा सिंगपोंच्छे समझाने की दृष्टि से आगे बोले - यदि विचार पूर्वक देखा जाय तो तंत्र शास्त्र का दार्शनिक पक्ष समस्त दर्शनों का सार है। सांख्यदर्शन का प्रकृति पुरुष तंत्र का शक्ति शिव है। जीव में प्रकृति और पुरुष - ये दो अंश है। इन दोनों अंशों का संयोग ''जीव'' है। तंत्र दर्शन का भी यही कहना है कि ''जीवात्मा'' शक्ति तत्व और शिव तत्व - प्रधान है। दोनों तत्व के मिश्रण से जीवात्मा की उत्पत्ति हुई है।

वेद विज्ञान का भूत तत्व अथवा जड़ तत्व तंत्र का शिव है। इसी प्रकार वेद विज्ञान का देव तत्व तंत्र की शक्ति है। सांख्य का ये दोनो प्रकृति और पुरूष है। प्रकृति अपने स्वतन्त्र सत्ता में जड़ है और पुरुष भी अपनी स्वतन्त्र सत्ता में उदासीन है। दोनों के संसर्ग और संयोग से प्रकृति 'चेतनादिव' होती है यानि एक नयी संज्ञा धारण करती है जिसे 'चेतना' कहते है। कहने की आवश्यकता नहीं, प्रकृति का चेतना रूप में परिवर्तित होते ही स्वयं अपने आप सृष्टि का प्रारम्भ

हो जाता है और प्रकृति के सत्व, रज और तम तीनों गुण उस सृष्टि के आलम्बन बन जाते है और सम्पूर्ण सृष्टि त्रिगुणात्मक हो उठती है। शरदऋतु प्रकृति का सत्व गुण है। वर्षा ऋतु प्रकृति का रजोगुण है और इसी प्रकार ग्रीष्मऋतु प्रकृति का तमोगुण है। तंत्र की सगुणोपासना भूमि में प्रकृति के इन तीनों गुणों को की कल्पना क्रमशः महासरस्वती, महालक्ष्मी और महाकाली में रूप में की गयी है। ये तीनों रूप तीनों गुणों का प्रतिनिधित्व करते है।

प्रकृति और पुरुष का संसर्ग - अथवा संयोग आदि वासना है और वह आदि वासना-आदि शक्ति का आदि विकास है और वह आदि विकास मैथुन विषयक है, आनन्द के लिए है और है ''रति'' के लिए। तात्पर्य यह कि सृष्टि के मूल में वासना है। वासना के अभाव में किसी भी प्रकार की सृष्टि सम्भव नहीं। इसलिए डॉ. फ्रायड़ ने वासनाओं को संवरणात्मक कहा। समस्त सृष्टि का संवरण वासनाओं के कारण हो जाता है। संसार में दो बातें देखी जाती हैं - एक चैतन्य और दूसरी भिन्नता। यदि वासनाएँ इन दोनों को पूर्णरूप से संवरण कर ले तो ''चैतन्य'' जड़ावस्था यानि शान्त भाव में परिणत हो जायेगा। क्योंकि उसी चैतन्य से जड़ द्रव्य भिन्न है। और है चेतनवत्। यदि संसार विभ्रम को समझाना है तो 'तंत्र' मत के अनुसार एक ही उपाय है और वह है वासनाओं के स्वभाव का परिज्ञान। वासनाएँ, जड़, शान्त, और दोनों अवस्था के अभाव में किसी भी स्थिति को अपना गम्य स्थान स्वींकार नहीं करती । इसी सिद्धान्त से संसार विभ्रम को समझाने के लिए डॉ. फ्रायड जैसे विचारको को भी एक ''शक्ति'' की सत्ता स्वीकार करनी पड़ी। वास्तव में इस प्रकार की विवेचना करना एक दार्शनिक का ही कर्तव्य है और डॉ. फ्रायड जैसे लोग भी गवेषणा करते हुए दार्शनिक विचार करने लगे। बात भी यथार्थ है। क्योंकि बिना दर्शन और अध्यात्म शास्त्र के भौतिक शास्त्रों को पूर्ण रूप से नहीं समझा जा सकता। शरीर, आत्मा का साकार अथवा मूर्त रूप मात्र है। जहाँ तक भिन्नता का प्रश्न है-वह अव्यक्त आत्मा या शक्ति के अभिव्यक्ति क्रम से उत्पन्न हुई। अतः भिन्नता से परिपूर्ण किसी भी वस्तु का मर्म उसकी योनि की चर्चा के एवं बिना अध्यात्म के नहीं समझाया जा सकता है।

आपको मालूम होना चाहिए डॉ. फ्रायड जैसे विचारक द्वैतवादी है। सांख्य दर्शन के अनुरूप वे एक शक्ति और एक द्रव्य को मानते है। स्वयं डॉ. फ्रायड का कहना है-जीवन का एक मात्र लक्ष्य मरण है। चेतन के पहले जड़ का अस्तित्व था। किसी समय शक्ति की किसी क्रिया से - जो हमारी बुद्धि को अब भी चकित कर रही है - जड़ - द्रव्य में जीवन के धर्म उत्पन्न हुए। योगवशिष्ट में भी इसी प्रकार के मत को व्यक्त किया है -

जीवतं मरणां चैव वत माया-विजृम्भितम्।
आपदः संपदः सर्वाः सुखं दुःखाय केवलम्।।

जीवन मरण के लिए है। जीवन की उपलब्धि मृत्यु के लिए होती है। वह माया विजम्भृत है। अब प्रश्न यहाँ यह उपस्थित होता है 'मरण' ही सभी का गम्य स्थान है और जड़ावस्था ही सभी का ध्येय हैं तो किस प्रकार संसार की सृष्टि हुई? ये आकर्षण विकर्षण, ये दुख की ज्वालाएं, ये सुख-दुख तत्व - वस्तु तत्व आदि किस प्रकार सम्पन्न हुए? यदि शून्यावस्था, जड़ावस्थ यानी शान्तावस्था ही सभी का प्राप्य है, जहाँ कोई संवेदना ही नहीं हैं। जिस जड़ द्रव्य में किसी भी प्रकार की ऊर्जा का संचालन नहीं है तो उस पर शक्ति का प्रभाव क्यों पड़ा? क्यों हुआ शक्ति का प्रकोप उस पर? वह इन नामो व इन रूपों में क्यों अभिव्यक्त हुई? जड़ द्रव्य क्यों चेतन युक्त हुआ? जीव माया के जाल में क्यो फँसा? ऐसे और इस प्रकार के अनेक प्रश्न उत्पन्न होते है? यदि ऐसे प्रश्नो का किसी न किसी रूप में उत्तर मिल भी जाते हैं और उनका समाधान भी हो जाता है तो पुनः प्रश्न उपस्थित होता है - जब हमने व्यक्त की सभी बातो को समझाने के लिए शक्ति और शक्य का आश्रय लिया। जब हमने उनकी सत्ता सिद्ध करने का प्रयत्न किया तो तर्क ने सहायता दी, किन्तु उन दोनों से संसार दृष्टि को निष्पन्न करने का बीड़ा हम क्यों उठाते हैं? इस प्रकार का प्रश्न विषम रूप धारण कर उपस्थित होता है। इस प्रसंग में डॉ. फ्रायड का कहना है कि अनुमानशक्ति इस प्रश्न के सामने चकरा जाती है। सांख्य वादी भी इसका उत्तर देने में अपने आपको असमर्थ पाते हैं। दूसरे जो लोग हैं वे इसे उसका स्वभाव कहकर मौन साध लेते है।

इस जटिल और गम्भीर विषय के संबंध में काशी के प्रतिष्ठित विद्वान पॅ. काली शंकर गोस्वामीजी से जब मेरी चर्चा हुई तो उन्होंने कहा जैसे शान्त समुद्र में तरंगो अथवा लहरों का फुरण होता हैं उसी प्रकार ब्रह्म का स्फुरण 'जीव' है। उस स्फुरण की तुलना हम वायु रहित दीप शिखा से कर सकते है। मतलब यह कि चिदाकाश का स्वाभाविक स्फुरण 'जीव' है। यह एक विचित्र बात हैं। कभी किसी कारणवश ब्रह्म सत्ता में व्यभिचार हुआ, नहीं तो 'नियति' के रहस्य को किसी भी प्रकार समझाया नहीं जा सकता है। शक्ति और शक्य के संबंध में द्वन्द का अस्तित्व ही सृष्टि का कारण कहा जाता हैं। किन्तु प्रश्न यह है कि दोनों का संबंध क्यों हुआ? इसका उत्तर किसी के पास नहीं हैं।

पदार्थ विज्ञान की दृष्टि

सृष्टि के विषय में पदार्थ विज्ञान का आधुनिकतम सिद्धान्त की भी यहीं बात हैं। उसके क्वाण्टम सिद्धान्त के अनुसार समावयव (Homogeneous) निरवच्छिन्न और एक चतुर्धारा अथवा एक 'चर्तुवैम' (Four Dimensions) से युक्तसत्ता में कभी-कभी संयोगवश किसी स्थान पर शक्ति एकत्र अथवा संचित हो जाती है और उसके क्षोभ से शक्तिपात होकर शक्ति युक्त अणु (Quantum) बन जाता है। और उसके बनते ही भिन्नता शुरू हो जाती है। पदार्थो का निर्माण शुरू हो जाता है और शुरू हो जाती हैं सृष्टि की विचित्र लीला भी। अन्त में गोस्वामी जी बोले - परन्तु एक अवच्छेद रहित सभावयव जब सत्ता में किस प्रकार इस अवच्छेद का उदय हुआ इस प्रश्न का उत्तर किसी के पास नहीं है। वह रहस्यमय है।

इस विषय पर अपने गहन चिन्तन-मनन के आधार पर इसे 'स्वभाव' कहा हैं भारत रत्न डॉ. स्व. भगवान दास जी ने। वे कहते हैं - ब्रह्म का स्वरूप है - 'अहम् एतत् न' - 'मैं यह नहीं' - एक बार स्वीकरण (में एतत्) एक बार पीरहरण (में एतत्) यही स्वभाव है। सभी दार्शनिकों को यह 'समस्या' बहुत ही जटिल दुरुह और कठिन के साथ-साथ तर्क के प्रतिकूल लगी। इसका सबसे बड़ा कारण यह है कि सभी दार्शनिकों ने अपनी-अपनी दृष्टि से सृष्टि के मर्म को समझाने का प्रयन्त किया हैं। किसको कितनी सफलता मिली समझाने में यह वहीं समझें। सच बात तो यह है कि संसृति चक्र अनादि है। संसार की सृष्टि कभी हुई ही नहीं। वास्तव में वह अनादि और अनन्त है। वह संसार है। वह सदैव परिणामशील है। सदैव परिवर्तनशील संसार की सृष्टि ही अपने आपमे एक विरुद्ध बात है। इसी विरोध के आधार पर ईश्वर की सत्ता को स्वीकार किया गया। क्योंकि सृष्टि जब मान ली जाती है तब सृष्टि करने वाले को भी मानना पड़ता है। वास्तव में सृष्टि है ही नहीं। अतः सृष्टि करने वाला ईश्वर मिथ्या है मिथ्या का मूल कारण खोजना ही निरर्थक है। क्योंकि मिथ्या, मिथ्या ही है और कारण किसी सत् वस्तु का होता है। महान विचारक श्री पाल जासन ने भी ऐसा ही व्यक्त किया है। (पढ़े The Elements of Metaphysic's p. 129)।

डॉ. फ्रायड ने भी अन्य आचार्यो की ही तरह सृष्टि को अनादि अनन्त मानते हुए भी उसके आदि को समझाने का प्रयत्न किया है। इस बात का परिशीलन हो ही नहीं सकता है क्योंकि सृष्टि हुई ही नहीं। उसे न किसी ने देखा है और न तो सुना ही है। अतः अज्ञान के कारण केवल उसका अनुमान ही किसी जा सकता है।

डॉ. फ्रायड का मत

डॉ. फ्रायड का कहना है कि प्रारम्भ में जड़ द्रव्य ही था। किसी शक्ति के कारण उसमे प्रचलन हुआ। और वह चेतनवत् हो गया। और उसी से सृष्टि का प्रारम्भ है। उस शक्ति पात के कारण उस जड़ द्रव्य में दो प्रकार की क्रियायें हुई - एक क्रिया और दूसरी प्रक्रिया! क्रिया जड़ द्रव्य को बराबर परिवर्तनशील की ओर प्रवृत्त करती है। और 'प्रतिक्रिया' जड़ द्रव्य को पुनः जड़ावस्था की ओर ले जाने में तत्पर रहती है। शक्तिपात के कारण 'क्रिया' में जो क्षोभ होता है उस क्षोभ को बाहर निकालना ही क्रिया का एक मात्र उद्देश्य है। इस दृष्टि से वह भी एक प्रकार से प्रतिक्रिया की सहायक हैं। ये जो प्रवृत्तियां है और ये दोनों प्रवृत्तियां, वासनाएं है।

(आध्यात्म योग का यह विषय अत्यन्त गम्भीर गूढ़ और रहस्यमय है। यहां उतना ही अंश प्रस्तुत किया गया है जितना प्रसंगवश आवश्यक था।)

लामा सिंगपोंच्छे ने योग-तंत्र से संबंधित जिन गूढ़ विषयों पर अपने चिन्तन मनन के आधार पर जो प्रकाश डाला था, वह वास्तव में अपने आपमें अत्यन्त महत्वपूर्ण था। रात का दूसरा प्रहर समाप्त होने वाला था, लेकिन मेरी आँखों में नींद नही थी। मेरे मस्तिष्क में वे चर्चित विषय ही चक्कर काट रहे थे उस समय। मुझे कब झपकी लग गयी और कब मैं गहरी नींद में सो गया पता ही न चला। अचानक मठ के निस्तब्ध वातावरण में एक भयंकर चींख गूंज उठी। चौंककर उठ बैठा मैं। किसी नारी कण्ठ से निकला था वह आर्तनांद। चारो तरफ आँखे घुमाकर देखा अंधेरे में लेकिन कुछ समझ में नहीं आया। उसी समय फिर चींख सुनाई पड़ी। मैं उठकर अपनी कोठरी के बाहर निकल आया। शायद आधी रात का समय था। स्तब्ध रह गया मैं। इतनी रात गये इस तिमिराच्छन्न मठ में कौन चीख रहा है? किसका था वह आर्तनांद? अचानक मेरी दृष्टि विशाल आँगन में बलि यूथ पर पड़ गयी। स्याह अंधेरे में ही वहाँ मैंने जो कुछ देखा उससे मेरा सारा शरीर भय से रोमांचित हो उठा। सिहर उठा रोम-रोम मेरा। बलि यूथ के कठोर शिकंजे में एक सर्वांग नग्न युवती का सिर फँसा हुआ था। दोनों हाथ पीछे की ओर रस्सी से बँधे थे। दोनों पैर भी शायद बँधे थे। उसके पास ही ऊँची-चौड़ी काठी का काले रंग का दानव जैसा एक व्यक्ति खड़ा था। कोहड़े जैसा उसका सिर मुड़ा हुआ था। आँखे गूलर की तरह लाल थी। हाथ में एक भयंकर आकार का खड्ग लिए हुए था वह पिशाच।

मैं आगे बढ़ू, इसके पहले ही वह भयंकर दृश्य अचानक मेरी आँखें के सामने से गायब हो गया और उसकी जगह दप से चारो ओर प्रकाश हो गया। ऐसा लगा मानों सहसा सौ-सौ वाट के कई बल्ब जल उठे हो। थोड़ी देर बाद उस प्रकाश में एक दूसरा दृश्य उभरा-बहुत ही विचित्र और अविश्वसनीय था वह दृश्य।

लम्बे-चौड़े विशाल आँगन में चारो तरफ लाल रंग की कालीन बिछी थी, जिस पर पचासों की संख्या में जटा जूट धारी कापालिक सन्यासी बैठे हुए थे। उन सबके गले में नरमुण्डों की माला थी। मस्तष्क पर त्रिपुण्ड और लाल सिन्दूर के टीके लगे थे। उन सबके हाव-भाव से ऐसा लग रहा था मानों सभी ने गले तक शराब पी रखी हो। कोई किसी से बोल नहीं रहा था, मगर अपने-अपने स्थान पर नशे में सभी झूम अवश्य रहे थे। मठ के किसी कोने में रखा नगाड़ा सहसा ठम्-ठम् कर बजने लगा लगातार। बड़ी ही भयंकर आवाज थी न गाड़े की। सारे शरीर में रोमांच हो आया मेरे। फिसलती हुई मेरी दृष्टि तांत्रिक देवी की भयंकर प्रतिमा की ओर चली गयी। देखा अलंकृत थी प्रतिमा उस समय। विभिन्न प्रकार के पुष्पो और वस्त्रों से उसे खूब सज्जित कर दिया गया था। उस समय देवी के मुख मण्डल पर एक विचित्र प्रकार का अलौकिक तेज दमक रहा था। उसके क्रूर और भयावने नेत्र बिल्कुल सजीव लगे मुझे। सहसा ऐसा लगा मानो उस प्रस्तर प्रतिमा के होंठ भी फड़क रहे हो और किसी भी क्षण बोल पड़ेगी वह। प्रतिमा के ठीक सामने एक बड़ा सा त्रिकोण हवन कुण्ड बना था, जिसमें अग्नि प्रज्जवलित थी। कुण्ड के चारों तरफ बैठे हुए भयानक शक्ल के कापालिकों के होंठ इस प्रकार हिल रहे थे जैसे कोई मंत्र पढ़ रहे हो वे। बीच-बीच में वे हवन कुण्ड में मदिरा और माँस की आहुति भी डालते जा रहे थे। कुण्ड से लाल-लाल लपटे निकल रही थी और वायु मण्डल में जलते हुए कच्चे माँस की दुर्गन्ध फैल रही थी। समीप ही एक भयंकर आकार-प्रकार का एक काफी लम्बा खड्ग भी रखा था। एकाएक मुझे चेत आया। बाप रे! यह तो कापालिकों की भैरवी पूजा और नरबलि का ढंग है। मैंने चींखना चाहा मगर कण्ठ से आवाज ही नहीं निकली। गुम-सुम खड़ा रह गया मैं अपनी जगह पर।

सहसा नगाड़े की भयंकर आवाज तेज हो गयी और उसके साथ ही मठ के फाटक पर शोर गुल सुनायी पड़ा। सिर घुमाकर देखा एक सुसज्जित पालकी भीतर आ रही थी, जिसपर रत्न जड़ित रेशमी पर्दा पड़ा हुआ था। कौन होगा, इस मूल्यवान पालकी में? फिर सोचा होगा कोई कापालिकों का गुरू। मगर नहीं, दूसरे ही क्षण मेरा भ्रम टूट गया। हवन कुण्ड के सामने लाकर पालकी जमीन पर रख दी गयी और उसके बाद हे भगवान! यह क्या देख रहा था मैं?

पालकी का रेशमी पर्दा धीरे से हटा और उसमें से एक युवती बाहर निकली। उसकी आयु अट्ठारह, उन्नीस वर्ष से अधिक नहीं थी। अनिंध सुन्दरी थी वह सुगठित देह चम्पई रंग, पुष्ट उन्नत वक्ष, नितस्बो तक लहराती काली घनी केश राशि मोरनी जैसी आँखों में काजल की तीखी रेखा, अनार के फूल जैसे कोमल रक्ताम होंठ। उसके गले में हीरे मोतियों की मालाएँ पड़ी हुई थी।

इतना रूप, ऐसा अनिर्वचनीय सौन्दर्य और ऐसा उद्याम यौवन किसी एक ही नारी में हो सकता है इसकी कल्पना तक भी मैंने कभी नहीं की थी।

पालकी से निकल कर उस युवती ने एक बार चारों तरफ देखा और फिर हवन कुण्ड के सामने बिछे मखमल के आसन पर बैठ गयी। और दोनों हाथ जोड़कर प्रतिमा को प्रणाम किया उसने।

राजकुमारी सी च्यांग की जै। सभी कापालिक एक साथ बोल पड़े। कहाँ की राजकुमारी है यह? समझ में नहीं आया। कापालिकों की तांत्रिक क्रियाओं से मैं पहले से ही कुछ परिचित था। उनकी साधना विधि भी मैंने किसी ग्रन्थ में पढ़ी थी। इसलिए समझने में देर न लगी कापालिकों की भैरवी पूजा ही थी वह। राजकुमारी सी च्यांग की तांत्रिक विधि से पूजा होने लगी। पूजा के बाद वहाँ एक बड़ा सा सोने का घड़ा लाकर रखा गया। उस स्वर्ण कलश में सुरा भरी हुई थी। प्रधान कापालिक ने उसमें से एक स्वर्ण पात्र में सुरा निकाल कर राजकुमारी को दिया और पीने का आग्रह किया। राजकुमारी धीरे-धीरे मदिरा पी गयी। उसके बाद सभी कापालिकों ने एक साथ सुरा पान किया। अन्त में खड्ग की पूजा हुई फिर बलि यूथ पर घी का दीप जला दिया गया।

सहसा लम्बा चौड़ा और भयंकर आकृति वाला एक कापालिक राजकुमारी के पीछे आकर चुपचाप खड़ा हो गया और उसने देखते ही देखते राजकुमारी सी च्यांग के दोनों हाथो को पीछे की ओर कसकर रस्सी से बाँध दिया।

एकाएक राजकुमारी के मुँह से कातर चींख निकली पर वह नगाड़े की आवाज में डूब गयी। अपने को बन्धन मुक्त करने के लिए वह बराबर छटपटा रही थी, लेकिन निष्फल रही। फिर राजकुमारी को जबरदस्ती लाकर बलियूथ के सामने खड़ा कर दिया गया और उनका सिर बलि यूथ के शिकंजे में फँसा दिया गया। मैं समझ गया कि राजकुमारी को धोखा देकर लाया गया है और अब उसकी बलि दी जायेगी। किसी तामसिक सिद्धि की प्राप्ति के लिए।

अब मेरे सामने पहले वाला दृश्य था। राजकुमारी बराबर चींख चिल्ला रही थी, रो रही थी। विलाप कर रही थी। उनके करूण क्रन्दन से वातावरण गूंज रहा था। मगर उसे सुनने वाला वहाँ मेरे सिवाय और कोई नहीं था। सभी कापालिक

सन्यासी उन्मत हो कर नाच रहे थे और घड़े से निकाल-निकाल कर सुरा पी रहे थे। वह विभत्स और तामसिक दृश्य देखकर मेरे सारे शरीर में सिहरन समा गयी। एकाएक चींख पड़ा मैं। और जोर से चिल्ला कर बोला छोड़ दो राजकुमारी को. ...।

छोड़ दो...।

मगर मेरी ओर किसी का ध्यान नहीं गया।

अब क्या किया जाय?

मैं असहाय की तरह राजकुमारी को देखता रहा। इतने में बलि देने वाला वह दानव भी आकर वहाँ खड़ा हो गया। उसके हाथ में चमचमाता हुआ भयंकर खड्ग था। उसने राजकुमारी के मस्तक से खड्ग का स्पर्श कराया और सिर झुकाकर उन्हें प्रणाम किया। राजकुमारी ने भय विस्फारित नेत्रों से उस खड्गधारी व्यक्ति को देखा। उस समय राजकुमारी के नेत्रों में न जाने कितनी कातरता थी। जैसे वह नेत्रों की मूक भाषा में कह रही हो...मुझे क्यों मार रहे हो? मैंने क्या बिगाड़ा है तुम लोगों का? तांत्रिक साधना के नाम पर एक निस्सहाय युवती की बलि देकर तुम सबको आखिर कौन सा स्वर्ग फल प्राप्त होगा?

अब मुझसे नहीं रहा गया। आखिर मैं दौड़ कर राजकुमारी के पास पहुँचा और उनकी बलि का विरोध करने लगा। मैं किस प्रेरणा से और किस शक्ति से वह विरोध कर रहा था यह स्वयं मुझे भी ज्ञात नहीं था। एक कापालिक सन्यासी जो अन्य कापालिकों का गुरू प्रतीत होता था झुककर मेरी ओर देखने लगा। उसके नेत्र लाल और खिचे से थे। नाक तिरछी थी। गालों की हड्डियाँ उभरी हुई थी। वह झुककर मेरी ओर देखने लगा तो मैं भी टकटकी बाँधे उसकी तरफ देखता रह गया। उसने मुझको सिर से पैर तक निहारा और फिर बलि देने वाले व्यक्ति को कोई इशारा किया। जिसका परिणाम तुरन्त सामने आ गया। मन प्राण को कंपा देने वाला एक भयंकर आर्तनांद गूंज उठा वातावरण में। फिर जो दृश्य देखा - वह अत्यन्त लोमहर्षक और हृदय विदारक था। राजकुमारी का कटा हुआ सिर उस भयंकर तांत्रिक देवी के चरणों पर पड़ा था, और उनकी रक्त रंजित निष्प्राण काया भूमि पर छटपटा रही थी।

मैं जोर से चिल्ला पड़ा - खून खून खून ...।

आँगन की धरती पर राजकुमारी सीच्यांग का रक्त चारों ओर फैल गया था। मैं लपक कर बलि स्थल पर पहुँचा और न जाने किस प्रेरणा के वशीभूत होकर राजकुमारी की निष्प्राण देह से लिपट गया और फूट-फूट कर रोने लगा। ऐसा लगा जैसे जनम-जनम से मैं राजकुमारी से परिचित रहा हूँ और मानो कोई अपनी

सगी हो वह। खून से मेरा सारा शरीर भींग उठा, मगर शव से लिपटा रोता ही रहा मैं। फिर न जाने कब उसी अवस्था में बेहोश हो गया मैं। मेरी बाह्य चेतना लुप्त हो गयी एक वारगी। और जब चेतना लौटी तो सबेरा हो चुका था। हिमपात हो रहा था। बर्फ से मेरा सारा शरीर ढ़क गया था। चेतना लौटते ही रात के सारे दृश्य एक-एक कर मानस में उभर आये। रात में जो कुछ देखा था - क्या वह कापालिकों की प्रेत लीला थी?

जी हाँ!

हर अमावस्या की रात भयंकर प्रेत लीला के रूप में सैकड़ो वर्ष पुरानी तांत्रिक साधना अनुष्ठित होती थी उस प्राचीन मठ में।

बाद में विस्तार से मालूम हुआ सब। लामा सिंगपोंच्छ ने ही बतलाया विस्तार से मुझे। सीच्यांग भोट राज्य की इकलौती राजकुमारी थी। भोटिया भाषा में ''च्यांग'' का अर्थ होता है गुलाब का फूल। राजकुमारी सीच्यांग वास्तव में गुलाब की तरह कोमल और सुन्दर थी। वह राजकुमार मस्तांग स्टेट से प्रेम करती थी। राजकुमार भी सीच्यांग को दिल से चाहते थे। शीघ्र ही दोनों का विवाह भी होने वाला था। मगर सौन्दर्य की देवी सीच्यांग की यौवन से भरपूर देहवल्लरी पर अचानक कापालिकों के गुरू वज्रेश्वरानन्द कापालिक की गृद्धदृष्टि लग गयी। वह पंचमकार की तामसिक क्रियाओं का कोई भयंकर अनुष्ठान पूरा करना चाहता था। जिसमें किसी अक्षत नवयौवना सुन्दरी की आवश्यकता थी। इसके लिए सीच्यांग से बढ़कर भला कौन सुपात्री मिलती?

कापालिक वज्रानन्द का काफी प्रभाव था भोट के राज परिवार में।

राजकुमारी सीच्यांग को मठ में यह कहकर लाया गया था कि वह विधिवत तांत्रिक दीक्षा ले ले वर्ना एक वर्ष के भीतर वह विधवा हो जायेगी। राजकुमारी सीच्यांग भला कब चाहती कि उसका प्रियतम उससे बिछुड़ जाय और विवाह होने के एक साल के भीतर ही।

उस समय उसने सपने में भी सोचा नहीं होगा कि...

मगर जो होना था वह होकर ही रहा। राजकुमारी के अक्षत यौवन का छक कर रस पान करने के बाद तांत्रिक सिद्धि प्राप्त करने के लिए दस फणवाली सर्पमुखी नागचण्डी देवी के सामने उसकी निर्ममता पूर्वक बलि दे दी गयी।

लामा सिंगपोच्छे ने बतलाया कि राजकुमारी सी च्यांग की बलि का दृश्य उन्होंने भी कई बार देखा था मेरी तरह। उन्होंने यह भी बतलाया कि उसकी आत्मा आज भी मठ में भटक रही है। उस अतृप्त आत्मा को कब मुक्ति मिलेगी यह कहा नहीं जा सकता।

मठ में रहते हुए दो सप्ताह के ऊपर हो गये थे मुझे। अब वहा से जाने का समय हो गया था मेरा।

उस दिन न जाने क्यों मैं थोड़ा उद्विग्न था, लामा सिंगपोंच्छे भी उदास-उदास से थे। मेरा साथ छूट रहा था शायद इसीलिए। मैं अपनी कोठरी में चुपचाप बैठा राजकुमारी सीच्यांग के विषय में सोच रहा था। मेरे मन में उनके प्रति कौन सी भावना जाग्रत हो गयी? स्वयं मेरी ही समझ में नहीं आ रहा था। ठण्ड अत्यधिक थी उस समय। एकाएक झिर-झिर कर बर्फ गिरने लगी और उसी के साथ अंधेरा छा गया चारो तरफ। सोचा, लामा सिंग पोंच्छे अपनी कोठरी में अकेले बैठे होगे कुछ समय उन्हीं के साथ व्यतीत करूँ। अब तो उनसे हमेशा- हमेशा के लिए साथ छूटने ही वाला है। मगर तभी राशि-राशि बिखरे उस अन्धकार में एक विचित्र सी गन्ध भर गयी। कैसी थी वह गन्ध? यह बतला पाना कठिन है। उस अनर्वचनीय गन्ध ने मेरे मन प्राण को जैसे सम्मोहित सा करने लगा था अब। तुफानी हवा के झोके के साथ बर्फ के छोटे-छोटे कण कोठरी में आकर बिखर गये। और उसी के साथ एक छायाकृति प्रकट हो गयी मेरे सामने, भय विस्मय के मिले-जुले भाव से भर गया मेरा मन। धीरे-धीरे स्पष्ट होने लगी वह छायाकृति। उस अन्धकार में भी बिल्कुल स्पष्ट दिखलायी दे रही थी मुझे वह छायाकृति। वह एक नवयुवती थी। मझोला कद, सुगठित सुन्दर देहदृष्टि, गौर वर्ण, लेकिन चेहरा रक्त हीन, भावहीन, विषण्ण और राख जैसा था। अजीब सा सम्मोहन थी आँखों में। क्या था उस दृष्टि में कह नहीं सकता।

मगर कौन थी वह युवती? इस निर्जन सुनसान प्रेतपुरी जैसे मठ में कैसे और कहाँ से आना हुआ था उसका? मेरी समझ में नहीं आ रहा था। डरा सहमा सा कांपते प्राणों से अपलक देखे जा रहा था मैं उसे। किसी अनजाने लोक का प्राणी लग रही थी वह मुझे। प्रचण्ड वेग से बर्फिली हवा का झोंका भीतर आया और बिखर गये पूरी कोठरी में हिमकण।

कुछ क्षण मेरी ओर स्थिर दृष्टि से देखने के बाद वह युवती धीमे स्वर में बोली-पहचाना नहीं मुझे आपने? मैं वही हूँ जिसकी बलि का दृश्य देखा था आपने पिछली रात।

यह सुनकर छाती के भीतर कुछ खाली सा प्रतीत हुआ। भय मिश्रित कातर स्वर में हकलाते हुए मैंने पूछा क्या आप राजकुमारी सीच्यांग है?

हाँ !

हाँ! फिर थोड़ा रूक कर वह उदास स्वर में आगे बोली-भोट राज्य की राजकुमारी सीच्यांग हूँ मैं। सैकड़ो वर्षो से भटक रही हूँ मैं इस निर्जन सुनसान

हिम प्रदेश में। न कोई संगी है और न तो कोई साथी। बलि का लोम हर्षक दृश्य देखकर आपके मन में मेरे प्रति जो भावना उत्पन्न हुई थी - उसी के वशीभूत होकर आपके पास आना पड़ा मुझे। अशरीर हूँ मैं। एक अशरीर आत्मा के लिए भौतिक आकार लेना अत्यन्त कष्ट साध्य होता है अगर यह दारूण कष्ट न उठाती तो अपने मन की पीड़ा और व्यथा कैसे सुना सकती थी मैं। आप मुझसे डरिये मत। आप में और मुझमें कोई खास अन्तर नहीं है जीवन की दृष्टि से। आप अपने भौतिक शरीर में है, और मै हूँ अशरीरी, बस इतना ही अन्तर है।

थोड़ा रूककर राजकुमारी सीच्यांग की अशरीरी आत्मा कहने लगी-बलि देकर मेरी आत्मा को अपनी तांत्रिक क्रिया के बल पर कापालिक वज्रेश्वरानन्द ने अपने अधिकार में कर लिया था। वह यही चाहता था भी और इसीलिए बलि भी दी थी उसने मेरी। मेरी आत्मा की सहायता से उसने अपने जीवन काल में अनेक शोभनीय, अशोभनीय कार्य सम्पन्न किये थे। एक दिन अत्यधिक मदिरापान करने के फलस्वरूप उसकी हृदयगति बन्द हो गयी और वह मर गया। लेकिन फिर भी उसके चंगुल से मुक्ति नहीं मिली मुझे। है भगवान कैसे मिलेगा त्राण।

इतना लम्बा काल खण्ड व्यतीत हो गया पर अभी तक मेरा पीछा नहीं छोड़ा उस कृतघ्ने। हे प्रभु! क्या करूँ? कहाँ जाऊँ? कहाँ मिलेगी शान्ति मुझे? इतना बोलकर सिसकने लगी वह।

राजकुमारी सीच्यांग का विलाप सुनकर मन न जाने कैसा हो गया मेरा। विगलित हो उठी मेरी आत्मा। उस समय कुछ क्षण के लिए मैं यह भूल गया कि कोई अशरीरी आत्मा खड़ी है मेरे सामने और मुझसे एक जीवित प्राणी की तरह बातें कर रही हैं। थोड़ा रूक कर राजकुमारी सीच्यांग के विवर्ण चेहरे की ओर ताक कर विगलित कण्ठ से बोला - आप मुझसे क्या चाहती हैं? क्या कर सकता हूँ मैं, आपके लिए?

मेरी बात सुनकर राजकुमारी सीच्यांग के विवर्ण चेहरे पर एक अजीब सी वेदना उभर आयी और उनकी सूनी-सूनी आँखों में एक वारगी छा गयी दुख की छाया।

कुछ क्षण मौन रहने के बाद एक प्रकार से अनुनय भरे स्वर में वह बोली - ''मुक्ति''। मुक्ति चाहती हूँ मैं। बिना उस नराधम कापालिक के चंगुल से मुक्त हुए मेरा पुनर्जन्म असम्भव है और आप इस काम में मेरी सहायता कर सकते है? सच पूछिये इसीलिए आयी हूँ मैं आपके पास। आपकी कैसी सहायता करनी होगी मुझे? निस्संकोच बतलाइये आप मुझे। जितना और जो कुछ भी हो सकेगा करूँगा वह मै आपके लिए।

"सच।"

हाँ, सच। इसमें जरा सा भी सन्देह नहीं।

मेरी बात सुनकर राजकुमारी सीच्यांग ने एक बार गहरी दृष्टि से मेरी ओर देखा और फिर बोली वह मुझे इस स्थान और इस वातावरण से बाहर निकाल ले चलिए आप।

लेकिन यह कैसे सम्भव है?

उस कापालिक की तांत्रिक शक्ति की अपनी सीमा है और उस सीमा से बाहर निकलते ही मैं मुक्त हो जाऊँगी उसके चंगुल से। बस दया कर एक बार आप "हाँ" कर दीजिये।

मेरा कोई नुकसान तो नहीं होगा और किसी प्रकार का अनिष्ट तो नहीं होगा?

नहीं आपका न कोई नुकसान होगा और न तो होगा किसी भी प्रकार का अनिष्ट ही, बल्कि आपको लाभ ही होगा मुझसे।

कैसा लाभ!

यह तो समय ही बतलायेगा आपको।

कुछ देर तक न जाने क्या सोचता रहा और फिर न जाने किस अज्ञात प्रेरणा के वशीभूत हो कर सिर हिलाकर "हाँ" कर दिया मैंने। उस समय भला क्या जानता था कि यह "स्वीकृति" मेरे लिए भारी विपत्ति का कारण बन जायेगी भविष्य में।

जोजांग के लिए प्रस्थान

राजकुमारी सीच्यांग की अशरीरी आत्मा से मेरा सम्पर्क हुआ है और मेरी बातें भी हुई हैं-इसकी चर्चा मैंने लामा सिंगपोंच्छे से नहीं की और तीसरे दिन जोजांग के लिए चल पड़ा मैं अकेले। वह यात्रा अत्यन्त कष्ट दायिनी थी। पूरे नौ दिनों के बाद मैं पहुँचा जोजांग। यहा यह बतला दूँ कि इस लम्बी हिमयात्रा में बराबर हर समय राजकुमारी सीच्यांग की उपस्थिति अपने निकट अनुभव करता रहा मैं। ऐसा लगता था मानो मेरे साथ-साथ चल रही हो वह। खैर

भारत तिब्बत यात्रा की सीमा पर स्थित जोजांग एक छोटा सा कस्बा है। नमक के व्यापार के लिए वह प्रसिद्ध है। कस्बे से लगभग दो फर्लांग की दूरी पर पहाड़ों की तलहटी में एक छोटा सा प्राकृतिक कुण्ड है। उसी कुण्ड से काली नदी की पतली सी धारा फूट कर मैदानी इलाकों में प्रचण्ड वेग से बहती हुई न जाने कहा विलीन हो गयी है। जोजांग का प्राकृतिक दृश्य अत्यन्त मनोरम है। एक ओर सुदूर तक फैला हुआ विस्तृत मैदान है और दूसरी ओर है हजारों फिट

ऊँची पर्वतीय चोटियाँ। जिनसे टकरा कर दक्षिण से आने वाला मानसून नष्ट हो जाता है। यही कारण है कि जोजांग में पूरे चार महीने लगातार वारिश होती रहती है। थमने का नाम ही नहीं लेती।

जब मैं जोजांग पहुँचा उस समय दिन ढल चुका था और सांझ की स्याह कालिमा धीरे-धीरे फैलने लगी एक अबूझ सी खिन्नता भरी उदासी छायी हुई थी, वातावरण में। चारो ओर साँय-साँय हो रहा था।

तंत्र साधिका गौरी माँ का दर्शन करना था मुझे और इसी उद्देश्य से आया था मैं जोजांग। 'लामा वज्र सम्पत' ने उनकी आध्यात्मिक साधना के विषय में जो कुछ बतलाया था उसी से प्रभावित होकर उनसे मिलने का लोभ संवरण न कर सका था मैं।

गौरी माँ का निवास स्थान खोजने में अधिक कठिनाई नहीं हुई मुझे। काली नदी के उद्‌गम स्थल काली कुण्ड के ऊपर भद्र काली का अति प्राचीन मंदिर है। मंदिर तो छोटा सा है लेकिन उसमें स्थापित देवी की पाषाण प्रतिमा अत्यन्त भव्य और जागृत है। भगवती के रक्ताभ नेत्र बिल्कुल सजीव प्रतीत होते है। शवारूढ़ा महाभीमा भद्रकाली का अट्टहास करता हुआ रूप अति भयंकर लगा मुझे।

मंदिर के चारो ओर दूर-दूर तक फैले हुए जंगली पेड़ पौधों के घने झुरमुट थे और उन झुरमुटो के बाद थी काली नदी के तट पर गौरी माँ की कुटिया। कच्ची दीवारों की की कुल तीन छोटी छोटी कोठरियाँ और एक सेहन। जिसके सामने था पीपल जैसा कोई वृक्ष और उस वृक्ष के नीचे था एक बड़ा सा कच्चा चबूतरा। वैदिक कालीन किसी तपस्वी के तपोवन जैसा लग रहा था वह स्थान। एक विचित्र प्रकार की आत्म सम्मोहित करने वाली शान्ति व्याप्त थी वातावरण में।

योग साधिका गौरी माँ

जब मैं वहाँ पहुँचा उस समय वृक्ष के नीचे चबूतरे पर ध्यानस्थ बैठी थी गौरी माँ, सुगठित देह दृष्टि, और गौर वर्ण, जटाजूट से बाल, शरीर पर कषाय वस्त्र, गले में रूद्राक्ष की माला, उन्नत ललाट पर लाल चन्दन का प्रलेप और साधना के प्रखर तेज से दप्-दप् करता मुँख मण्डल, आयु यही साठ पैसठ के लगभग।

सामने जाकर चुपचाप खड़ा हो गया मैं। थोड़ी देर बाद गौरी माँ ने नेत्र खोले और जिज्ञासा के भाव से मेरी ओर देखा।

सिर झुका कर अत्यन्त विनम्र भाव से पहले अपना परिचय दिया फिर तिब्बत यात्रा का उद्‌देश्य बतलाया और अन्त में अपने आने का प्रयोजन बतलाया मैंने।

मेरी बातों को ध्यान से सुनी गौरी माँ ने और फिर सहज गम्भीर स्वर में प्रश्न किया - तुम्हारी झोली तो बहुत भर चुकी है। मुझसे क्या चाहते हो तुम?

ज्ञान जितना प्राप्त हो उतना ही कम है। अब तक मुझे जो कुछ प्राप्त हुआ है और जितना जो अनुभव हुआ है वह अपर्याप्त है मेरे लिए। मैं जीवन और जगत का वास्तविक रहस्य जानने-समझने का प्रयास कर रहा हूँ। इस दिशा में मुझे जो थोड़ी बहुत सफलता प्राप्त हुई है उसने मेरी आत्मा को विचलित कर दिया है और झकझोर दिया है एक वारगी मेरे अन्तराल को। किसी आन्तरिक अशान्ति से भर उठा है मेरा मन, थोड़ा उद्विग्न होकर कहा मैंने!

जीवन और जगत का रहस्य? मेरी ओर स्थिर दृष्टि से देखती हुई गौरी माँ बोली-आध्यात्मिक चिन्तन-मनन द्वारा क्या जीवन, जगत और आत्मा, परमात्मा के संबंधों के रहस्यों का उद्घाटन पूर्णरूप से अभी तक सम्भव हो सका है?

क्या अभी तक अगम्य अबोध और अगोचर आत्मा तक, वेदान्त चिन्तन, ध्यान-धारणा और समाधि द्वारा पहुँचने का प्रयास पूर्ण रूप से सफल हुआ है किसी का?... प्राय: सब निरर्थक? एक पक्षीय ज्ञान है यह सब। सैद्धान्तिक ! जीवन व्यवहार का नाम है। जो ज्ञान व्यवहार के धरातल पर उपयोगी सिद्ध नहीं होता वह व्यर्थ है। सभी सन्यास की बात करते है। कर्म छोड़ने और संसार छोड़ने की चर्चा करते है। पर जानते हो कर्म छोड़ने से जीवन नहीं चल सकता। जब ईश्वर ने जगन्नियन्ता ने जगत में जीवन देकर भेजा है तो उसका लक्ष्य हमसे जीवन जगत छुड़ाना नहीं है।

थोड़ा रूककर आकाश की ओर शून्य में निहारती हुई गौरी माँ आगे बोली - मैं तो बस कर्म पर विश्वास करती हूँ। परमेश्वर ने हमे दो ''कर'' दिया है तो हमसे वह कुछ करने की भी अपेक्षा रखता है।

कर्म तो बंधनकारी होते है। महापुरूषों का कहना है आवागमन से मुक्ति चाहते हो तो कर्म का त्याग करना पड़ेगा।

अध्यात्म पथ पर अग्रसर होने के पूर्व इसी पर विचार किया था मैंने। जो निष्कर्ष निकला वह यह था कि कर्म करो पर फल की इच्छा मत रखो मन में। इसी को कर्मयोग की संज्ञा दी गयी है।

जब कर्म ही निषिद्ध है तो ''कर्मयोग'' क्या? मेरा प्रश्न था।

कुछ भी करना बंधन को आमन्त्रित करना है। अत: कर्म से सन्यास ले लेना ही कर्म पर विजय प्राप्त करने का एकमात्र सरलतम उपाय हैं।

फल की इच्छा अथवा कामना ही बंधन में डालती है। कर्म नहीं।

कैसे?

जब तुम फल के पीछे भागोगे तो कर्म के साथ बंध जाओगे। निस्संगता नहीं रहेगी। निस्संगता का नहीं होना ही बंधन है। आखिर कर्म बाँधता कैसे है? फल का लोभ दे कर ही तो।

यानी तुम फल रहित कर्म करो। निष्फल। यही न?

तो ऐसे कर्म को करने या न करने से लाभ? मैं बोला।

मैं यह कहाँ कहती हूँ कि कर्म से फल मिले ही नहीं। मिलना हो तो मिल जाएगा। मैं उसे ग्रहण करने से भला कब रोकती हूँ पर मैं उसको लेकर चिन्तित नहीं होऊँगी और न हाथ पर हाथ रख कर बैठूंगी ही। निस्संग भाव से प्रयास करूँगी मैं। सफलता का भी स्वागत करूँगी, असफलता का भी। फिर बंधना होगा ही नहीं। ब्यर्थ ही बदनाम है कर्म। उसके बिना एक क्षण भी रहा नहीं जा सकता। जीवन भी नहीं चल सकता। एक बार असफलता मिली तो फिर प्रयास करूँगी पर कर्म छोड़ूँगी नहीं और न फल के लिए पागल ही बनूंगी। यही है मेरा कर्मयोग। मेरे चिन्तन-मनन का सार तत्व। मेरी साधना और ध्यान, धारणा, समाधि का फल।

इतना कहकर गौरी माँ अपने स्थान से उठी और कुटिया की ओर चल पड़ी। मै। भी चल पड़ा उनके पीछे पीछे।

साझं की स्याह कालिमा रात्रि के अन्धकार में परिवर्तित हो चुकी थी अब तक। गौरी माँ ने अपनी कोठरी में पहुँच कर दीपक जलाया और उसकी धीमी लौ की ओर अपलक निहारती हुई बोली फल की आशा त्याग कर पूरे प्राण-प्रण से कर्म में जुट जाओगे तो एक बार मृत्यु भी द्वार से निराश वापस लौट जायेगी।

प्रपंच में मत पड़ो। कर्म नहीं करूँगा, यह मिथ्या अहंकार है। प्रकृति निष्क्रिय नहीं है। सदा ही सक्रिय है वह। एक दिन तुम को कर्म में झोंक कर ही रहेगी। सूर्य, चन्द्र, सारे नक्षत्र यह पृथ्वी तक तो शान्त और निष्क्रिय नहीं है। कोई क्षण भर भी रूक सकता है भला? सब गतिशील है। हवा क्षण भर को भी रूक जाय तो तुम गत प्राणं हो जाओगे या नहीं? प्रकृति पुत्र हो तुम। प्रकृति से ही शिक्षा लो। निष्क्रियता नहीं, क्रियाशीलता ही जीवन का रहस्य है।

जो हो चुका उसे भूल जाना ही श्रेयस्कर है। नियति का विधान मान कर उसे शिरोधार्य करने में ही बुद्धिमता है तभी तुम जीवन के रहस्य को एक विशेष सीमा तक समझ सकते हो। सिर घुमाकर मैंने देखा-दीपक के मन्द आलोक में गौरी माँ का चेहरा और अधिक दीप्त हो उठा था उस समय।

गौरी माँ का जन्म अल्मोड़ा के कृषि परिवार में हुआ था। बाल्यावस्था में ही माता पिता की मृत्यु हो गयी थी। एक चचेरी मौसी थी। नाम था रेणुका देवी। वह विधवा थीं। पति की मृत्यु हो जाने के बाद वह एक प्रकार से साधु सन्यासी जैसा जीवन व्यतीत करने लगी थीं। उनका अपना कोई न था अनाथ गौरी माँ को अपने यहाँ आश्रय दिया उन्होंने। उन पर अपनी मौसी के बैराग्यमय आध्यात्मिक जीवन का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था।

रेणुका देवी के गुरू थे सन्दीपानन्द। सन्दीपानन्द योगी थे और माणा में उनका छोटा सा आश्रम था। बदरीनाथ धाम से तीन मील की दूरी पर उत्तर दिशा में भारत तिब्बत सीमा का अन्तिम गाँव ''माणा'' है। चीन की सीमा वहाँ से कोई चार पाच मील के फासले पर हैं। माणा में अलकनंदा और सरस्वती नदी का संगम होता है। उसी संगम के तट पर था सन्दीपानन्द का आश्रम।

सदैव की तरह एक बार जब सन्दीपानन्द अपनी परम शिष्या रेणुका देवी से मिलने के लिए आये। उस समय गौरी माँ सोलह वर्ष की थी। अल्मोड़ा का सारा प्राकृतिक सौन्दर्य जैसे भर गया था उनके रूप में, और जब सन्दीपानन्द की योग दृष्टि गौरी माँ पर पड़ी तो एक बारगी स्तब्ध रह गये वह, कुछ देर तक नेत्र बन्द कर न जाने क्या सोचते-विचारते रहे वह, और फिर रेणुका देवी से गम्भीर स्वर में उन्होंने कहा यह बालिका अत्यन्त प्रतिभाशालिनी है। इसमें कई जन्मो के साधना-संस्कार भरे है। सांसारिक जीवन व्यतीत करने के लिये इसकी आत्मा ने जन्म नही लिया है। इसे मुझे दे दो। इसके प्रसुन्त साधना संस्कार को जागृत करूँगा।

यह सुनकर रेणुका देवी कुछ बोली नहीं। वह तो गौरी माँ का विवाह करने के लिए सोच रही थी। एक लड़का भी पसन्द कर लिया था उन्होंने। लेकिन अब क्या होगा? गुरू के आदेश का उल्लंघन करने का साहस उनमे नहीं था। सिर हिलाकर अपनी मौन स्वीकृति दे दी उन्होंने।

बस यही से शुरू हुआ गौरी माँ का आध्यात्मिक जीवन। सन्दीपानन्द ने उन्हें आश्रम में ले आये और सर्वप्रथम अष्टांगयोग में पारंगत कराया उनको। और जब गौरी माँ की समाधि सहज ढंग से लगने लगी तो एक दिन अवसर देख कर उन्हें शक्तिपात दीक्षा दी सन्दीपानन्द ने। योग तांत्रिक साधना भूमि की जितनी भी गुह्य दीक्षायें है, उनमें शक्तिपात दीक्षा का अपना विशिष्ट महत्व हैं। इस परम दीक्षा के प्रभाव से तत्काल प्रसुप्त साधना संस्कार जागृत हो जाता है और साधक का अगला साधना मार्ग स्वयं प्रशस्त हो जाता है।

गौरी माँ के साथ भी ऐसा ही हुआ। दीक्षा ग्रहण करते ही उनके पिछले जन्मों के समस्त साधना-संस्कार एक बारगी जागृत हो गयी और उनका मुख मण्डल प्रदीप्त हो उठा आध्यात्मिक तेज से। अब प्राय: निर्विकल्प अवस्था में रहने लगी वह। कुछ समय पश्चात सन्दीपानन्द नें अपना पार्थिव शरीर त्याग दिया। उस समय उनकी अवस्था एक सौ तीस वर्ष की थी। लेकिन अपनी योग काया जिसे वैन्दव शरीर कहते है-के माध्यम से अपनी शिष्या से बराबर सम्पर्क बनाए रखते थे वह। और एक दिन उनका संकेत पाकर गौरी माँ ने आश्रम छोड़ दिया और जोजांग चली आयी। और एक कुटिया बनाकर रहने लगी।

बड़ा ही रहस्यमय व्यक्तित्व था गौरी माँ का। किसी से मिलती-जुलती नहीं थी। और न तो कोई उनसे मिलने ही आता था। प्राय: अपनी कोठरी में बन्द रहती थीं। सांझ के समय थोड़ी देर के लिए बाहर निकल कर चबूतरे पर बैठती थीं वह।

मैं कुछ समय गौरी माँ के सान्निध्य में रहकर अपनी आध्यात्मिक जिज्ञासाओं का समाधान चाहता था उनसे। और इसी लक्ष्य से आया भी था मैं जोजांग। लेकिन हर समय समाधि के अथाह सागर में आकष्ठ डूबी रहने वाली आत्मलीन उस रहस्यमयी साधिका का सान्निध्य सम्भव नहीं दिखायी दे रहा था मुझे।

काली मन्दिर के एक अति वृद्ध पुजारी थे। कर्मकाण्डी ब्राह्मण थे। उत्तर काशी के रहने वाले थे। लगभग पचास साल से माँ काली की पूजा अर्चना कर रहे थे वह। नाम था कैवल्य ब्रह्मचारी। अत्यन्त मृदुभाषी सौम्य स्वभाव के सज्जन पुरुष थे कैवल्य ब्रह्मचारो। मन्दिर के बगल में एक छोटी सी पथरीली कोठरी थी, उसमें पिछले पचास साल से रह रहे थे एकाकी वह। उनकी आवश्यकता की पूर्ति और पूजा अर्चना की व्यवस्था कस्बे के कुछ हिन्दू परिवार के लोग कर दिया करते थे। कहने की आवश्यकता नही कैवल्य ब्रह्मचारी से ही मिला था मुझे गौरी माँ का संक्षिप्त परिचय। गौरी माँ जब जोजांग आयी, तबसे उनको जानते थे वह। उनकी दृष्टि में एक परमसिद्ध महिला थी गौरी माँ। उनकी योग-तांत्रिक सिद्धियों का अलौकिक चमत्कार कई बार देखा था उन्होंने।

वहाँ भी काशी निवासी होना लाभदायक सिद्ध हुआ मेरे लिए। कैवल्य ब्रह्मचारी को जब ज्ञात हुआ कि मैं काशी का रहने वाला ब्राह्मण बालक हूँ तो मेरे ठहरने की व्यवस्था मन्दिर में कर दी उन्होंने।

पहले तो गौरी माँ की उपेक्षा का पात्र बना रहा मैं लगातार कई दिनों तक। जब वह बाहर निकलती थी और निकलकर चबूतरे पर बैठती थी, उस समय उनसे मिलने जाता और वापस लौट आता मुंह लटकाये। मेरी ओर आँख उठाकर देखती तक न थी वह, बात करना तो दूर रहा। उनकी इस उपेक्षा और इस अवहेलना का कारण मेरी समझ में नहीं आ रहा था। पहले दिन तो बड़े स्नेह से मिली थी गौरी माँ। अपने आध्यात्मिक विचारो को भी व्यक्ति किया था उन्होंने। लेकिन फिर क्या हो गया कौन सा कुसंस्कार मेरा देख लिया उन्होंने? क्या योग्य पात्र नही था मैं उनकी दृष्टि में ? उद्विग्न हो उठी मेरी आत्मा और अशान्त हो उठा मेरा मन। अपने आप में न जाने कैसी अस्थिरता का अनुभव करने लगा मैं।

एक दिन मुझे उदास और चिन्तित देखकर कैवल्य ब्रह्मचारी बोले-इस प्रकार परेशान होने की आवश्यकता नही। योगी, साधको का ऐसा ही स्वभाव होता है।

उनकी मति-गति को समझना सबके बस की बात नहीं। दो चार दिन और प्रतीक्षा कर लें। जोजांग मेरी हिमयात्रा का अन्तिम पड़ाव था। बारिश शुरू होने ही वाली थी। उसके पहले ही वहाँ से रवाना हो जाना चाहता था मैं, लेकिन कैवल्य ब्रह्मचारी की बात सुनकर रूकना पड़ा मुझे। कहने की आवश्यकता नहीं वह रूकना अति मूल्यवान और अति महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ मेरे लिए। यदि न रूकता तो कैसे वह चमत्कारिक अनुभव होता मुझे, और कैसे उद्घाटित होता वह रहस्य, जिसे जानने के लिए योग साधना की एक लम्बी यात्रा पूरी करनी पड़ती है।

जीवन ही कर्म है। "मृत्यु" कर्म का अभाव है। जन्म कर्म का प्रारम्भ है। मृत्यु का अर्थ है कर्म का अन्त। जहाँ-जहाँ जीवन है वहाँ-वहाँ कर्म है। जीवन में कर्म शून्य होना असम्भव है। वास्तव में जीवन "कर्म" का पर्यायवाची है। इसलिए जब तक जीवन है तब तक कर्म होता ही रहेगा। इस संबंध में मनुष्य को किसी भी प्रकार की स्वतंत्रता उपलब्ध नहीं। महान विचारक और मनीषी सार्ग का कहना है कि मनुष्य स्वतंत्र होने के लिए अभिषप्त है लेकिन सार्ग को सम्भवतः यह ज्ञात नहीं कि मनुष्य कुछ बातों में परतंत्र होने के लिए परवश है-जैसे कर्म। परवश है कर्म के लिए। जब तक जीवन हैं तब तक कर्म से मुक्ति सम्भव नहीं। उठना-बैठना, चलना-फिरना यहां तक कि श्वास लेना भी कर्म है। इसलिए जो लोग सोचते है कि जीवन रहते हुए कर्म का त्याग कर दे, यह सम्भव नहीं। केवल इतना ही हो सकता है कि एक कर्म को छोड़कर कोई दूसरा कर्म प्रारम्भ कर दें। गृहस्थ एक प्रकार का कर्म करता हैं तो सन्यासी करता हैं दूसरे प्रकार का कर्म। लेकिन कर्म "कर्म" ही है। सन्यासी भी कर्म का त्याग कर सकने में असमर्थ हैं। उसका कोई दोष नहीं। जीवन का स्वभाव ही ऐसा है। इसलिए जो लोग कर्म त्याग की बात करते है। वे एक प्रकार के पाखण्डी हैं। कर्म का त्याग असम्भव हैं, लेकिन हमारे देश के साधु, सन्यासी और सन्त महात्मा हजारो वर्ष से कर्म त्याग की असफल चेष्टा कर रहे हैं। जिसके फलस्वरूप कर्म का त्याग तो हुआ नहीं बल्कि उसके स्थान पर अकर्मण्यता, निष्कृयता, आलस्य और प्रमाद अवश्य बढ़ गया समाज में। निष्कृयता का सीधा अर्थ हैं - व्यर्थ के कर्मो का जाल। जिनका परिणाम कुछ भी नहीं होता। लेकिन कर्म अपने स्थान पर बराबर होता जो कर्म को छोड़कर भागता हैं उसकी कर्म शक्ति और कर्म ऊर्जा व्यर्थ के कर्मो में सक्रिय होकर नष्ट हो जाती हैं।

कर्म त्याग की दिशा में लोग दो प्रकार से प्रयासरत हैं। दोनों प्रकार के प्रयास सच पूछा जाय तो व्यर्थ ही हैं। मात्र केवल भ्रान्ति हैं। पहला प्रयास सन्यासी का हैं - सब कुछ छोड़ दें, कुछ भी न करें। लेकिन कुछ न करने का अर्थ तो केवल

आत्मघात ही हो सकता हैं दूसरा नहीं। जो आत्महत्या करता है यानी आत्मघात करता है उसका वह अन्तिम कर्म होता हैं। उसका अन्तिम कर्म सिद्ध होता है आत्मघात।

दूसरा प्रयास अब वैज्ञानिको की ओर से अब किया जा रहा है। वैज्ञानिकों का कहना है कि सभी काम मशीन यानी यंत्र करने लग जाय तो मनुष्य कर्म से मुक्त होकर पूर्ण रूप से सुख-शान्ति और आनन्द को उपलब्ध हो सकता हैं। लेकिन वैज्ञानिकों द्वारा कर्म मुक्ति का यह प्रयास कितना खतरनाक सिद्ध हो सकता है और कितना भयंकर उत्पात कर सकता है यह बतलाया नहीं जा सकता। सोचने वाली बात है कि मनुष्य के हाथ में जितना कम काम होगा उतना ही समाज में अशान्ति उत्पन्न होगी। प्रारंभ से लेकर आज तक संसार और समाज में जितनी भी अशान्तियाँ हुई हैं और जितनी भी अशान्तियाँ फैली है - उनके एक मात्र कारण कर्मच्युत और निष्क्रिय लोग ही रहे है। यह पढ़कर आपको निश्चत ही आश्चर्य होगा, लेकिन बात अपनी जगह बिल्कुल सत्य है इसमे सन्देह नहीं। कर्म की अपनी विशेष ऊर्जा किसी न किसी रूप में और किसी न किसी मार्ग से प्रकट होना चाहती है। भले ही वह रूप और वह मार्ग कोई भी हो। आपको यह जानकर आश्चर्य होगा कि लम्बे अवकाश के दिनों में सर्वाधिक दुर्घटनाए, हत्याए, चोरियाँ होती है और होते है बलात्कार। क्या कारण है इसका? कारण बस यही है कि अवकाश के समय में कर्म की ऊर्जा क्या करे, इसलिए बडे-बड़े विचारक इस बात को लेकर चिन्तित है कि आज नही तो कल यंत्र के हाथ से सारा काम चला जायेगा तो मनुष्य को कौन सा काम दिया जायेगा और यदि मनुष्य को कोई काम न मिला तो वह ''कुछ'' तो करेगा ही और वह ''कुछ'' खतरनाक सिद्ध हो सकता है, भयानक हो सकता है और हो सकता है अति अशान्ति का कारण भी।''

जैसा कि कहा गया है कर्म से मुक्ति असम्भव है। क्योंकि जीवन और कर्म एक दूसरे के पर्याय है। केवल एक बात हो सकती है। इसका अर्थ यह नहीं है कि हम जैसे जी रहे है वैसे ही जीते रहे और वैसे ही करते चले जाय। अगर ऐसा कोई समझता है तो उसे कृष्ण का कर्मयोग समझ में नहीं आयेगा। कृष्ण का कहना है कि कर्म को बदलने की चिन्ता उतनी मत करिये चिन्ता करिये कर्ता को बदलने की।

मुख्य प्रश्न यह नहीं है कि आप क्या कर रहे हैं और क्या नही कर रहे है मुख्य प्रश्न तो यह है कि आप क्या है और क्या नही है। प्रश्न यह है कि भीतर आप क्या है और भीतर गलत है तो आप जो भी करेगे उसका फल अथवा

परिणाम गलत ही होगा। और यदि प्राय: भीतर सहीं है तो आप जो भी करेगे उसका परिणाम अथवा फल सही ही होगा। प्रश्न कर्म का नही कर्ता का है।

जिस बात का डर था, वही हुआ। तीन दिन बाद अचानक वर्षा शुरू हो गयी। दिन भर आकाश स्वच्छ और निर्मल था, लेकिन सांझ होते ही काले भूरे बादलों से पटकर काला हो गया आकाश। गहन निश्वास जैसी हवा हाहाकार करती झाड़ियों और झुरमुटों को कँपाने लगी। गहन अन्धकार में झींगुरो की झीं-झीं का करूण क्रन्दन गूँजने लगा अनवरत। बारिश शुरू हो गयी। पहले टप-टप कर बूदें टपकी फिर झर-झर कर बरसने लगा आकाश। उद्दाक हवा का तूफानी विलाप भी गूँज उठा बारिश की लय के साथ। रात ढल रही थी धीरे-धीरे। मैं अकेला था। कैवल्य ब्रह्मचारी उस दिन अपने किसी भक्त के यहाँ गये हुए थे। इतनी घोर वर्षा में उनके लौटने की सम्भावना बहुत कम थी। नींद नहीं आ रही थी मुझे। एक विचित्र सी बेचैनी का अनुभव कर रहा थ मैं। अचानक अंधेरे में डूबी हुई कोठरी में चन्दन की सुगन्ध भर गयी। और उसी के साथ कोठरी में किसी की उपस्थिति का अनुभव हुआ मुझे। टूटे हुए धनुष की तरह तड़ाक से कम्बल पर सीधा होकर बैठ गया मैं।

श्यामल आकाश का वक्ष जलाती बिजली चमकी। जलते पारे जैसी तीखी रेखा ओर-छोर हीन आसमान के एक कोने से दूसरे कोने तक कौंध गयी। हजारो मैग्नीसियम के तारो जैसे प्रखर आलोक से उद्भाषित हो उठा आकाश। और उसी क्षणिक आलोक में अपने सामने निर्भाव मुद्रा में खड़ी देखा गौरी माँ को मैंने। भय, विस्मय, संशय और साथ ही आश्चर्य के मिले जुले भाव से भर गया मेरा मन। लपक कर लालटेन जलाई। उसका पीला मद्धिम प्रकाश कोठरी में फैल गया। गौरी माँ स्थिर भाव से अभी भी खड़ी थीं अपने स्थान पर कल्पना से स्निग्ध और स्वप्नालु दृष्टि से वह अपलक मेरी ओर देख रही थी उस समय। उज्जवल बुद्धिदीप्त और खोज करती हुई उनकी झील जैसी आँखो में क्या था, समझ में नहीं आया। शायद उन आँखो के प्रभाव के वशीभूत होकर धीरे-धीरे मोहाविष्ट होने लगा मैं। वह एक आश्चर्यजनक अनुभूति थी मेरे लिए। उस अवस्था में अपने आपको अलग-अलग तीन शरीरों में अनुभव कर रहा था मैं। मेरे कहने का तात्पर्य यह कि मेरा अस्तित्व तीन शरीरो में विभक्त था। वे तीनो शरीर एक ही जैसे थे लेकिन तीनो के रंग भिन्न-भिन्न थे। पहले का रंग गोरा था दूसरे का धवल शुभ्र था और तीसरे का था हल्का गुलाबी। समझते देर न लगी मुझे। वास्तव में वे तीनो मेरे स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर थे। तीनो शरीर पूर्ण चैतन्य और क्रियाशील थे। मैं उन तीनों को एक साथ कहाँ से, कैसे और किस माध्यम से देख रहा था बतला नहीं सकता मैं।

यह मेरे लिए आश्चर्य की बात थी।

एकाएक अपने तुमुल रथ से धरती को कंपाती हुई बिजली कौंधी। उस वज्र स्वर में जैसे आसमान फट पड़ा। और उसी के साथ छन्न से टूट गया सम्मोहन का माया जाल।

रात का शायद अन्तिम प्रहर था। आँखे फैलाकर मैने देखा- सामने पहले की ही तरह खड़ी मेरी ओर अपलक निहार रही थी गौरी माँ। कुछ क्षण बाद उनका कोमल स्वर सुनाई दिया मुझे। वह कह रही थी-मनुष्य केवल भौतिक शरीर से ही कर्म नहीं करता। उसके तीनों शरीर एक ही कर्म को एक समय में एक साथ करते है। कर्म का संबंध मनुष्य के तीनों शरीर से समझना चाहिए। लेकिन वास्तविक कर्म उसी दिन से शुरू होता है जिस दिन वह दूसरे के लिए शुरू होता है। अपने लिए ही जीना पर्याप्त नहीं है। वास्तविक जीवन तो उसी दिन शुरू होता है जिस दिन वह दूसरों के लिए शुरू होता है।

ध्यान रहे, जो केवल अपने लिए जीता है, उसका जीवन भार स्वरूप हैं। अपने जीवन का भार होता है वह। लेकिन जिस दिन वह अपने लिए सब कुछ प्राप्त कर लिया होता है और सब कुछ जान समझ लिया होता है अपने संबंध में, उसी दिन उसका जीवन निर्भार हो जाता है। निर्भार जीवन की अवस्था में ही सच्चे अर्थो में परमेश्वर की कृपा, दया, करूणा, अनुकम्पा आदि उपलब्ध है उसे। सच पूछा जाय तो हम संसार से बंधे हुए हैं। हम जीवन के भार से दबे हुए हैं। अपने लिए जीने से अधिक बड़ा कष्ट दूसरा नहीं है। जो दूसरे के लिए जीते है वे ही सच्चे अर्थो में वास्तविक आनन्द को उपलब्ध होते है।

तुमने मेरे योग बल से अपने तोनो शरीर को एक साथ देखा। मगर किस माध्यम से देखा, निश्चय ही यह तुम्हारे लिए आश्चर्य का विषय है। नाम जीवन भर काम देता है। मरने के बाद भी काम देता है। लेकिन तुम्हारा नाम दूसरो के लिए काम देता है। तुम्हारे लिए काम नही देता। तो तुमको स्वयं को बुलाने के लिए भी तो कोई इशारा या कोई नाम चाहिए। जानते हो वह इशारा अथवा वह नाम क्या है? वह है - मैं!

दो प्रकार के नाम

प्रत्येक व्यक्ति के दो नाम होते हैं। एक नाम अपने लिए और दूसरा नाम दूसरों के लिए। अपने लिए व्यक्ति जिस नाम का प्रयोग करता है वह है - मैं। जो नाम माता पिता रखते है वह नाम दूसरों के लिए होता हैं।

यदि मैं अपने नाम से अपने आपको बुलाऊ तो तुमको समझने में कठिनाई होगी कि मैं किसके विषय में कह रहा हूँ। अपने विषय में या दूसरे के विषय

में। इसलिए ''मैं'' सबके लिए काम कर जाता है। प्रत्येक व्यक्ति अपने लिए ''मै'' कहता है। यह नाम स्वयं के लिए है और दूसरे के लिए उपयोग के लिए एक नाम है। इसलिए हो भी सकता है कि तुम अपना नाम कभी किसी कारण वश भूल जाओ, लेकिन ''मै'' को कभी भी भूल नहीं सकोगे। क्योंकि तुम्हारा नाम दूसरे लोग उपयोग करते है। वह उनको याद रह जाता है। तुम तो सिर्फ मैं का ही उपयोग करते हो। इसलिए कि तुम स्वयं ''मै'' हो। और के अतिरिक्त और कुछ नहीं। तुमने अपने तीनो शरीर को इसी ''मैं'' की आँखो से देखा है। इतना कहकर गौरी माँ मुंड़ी और कोठरी के बाहर निकल गयीं। उन्हे जाते हुए देखता रहा मैं। इतनी घोर वर्षा में वह आयी थी और चली भी गयी लेकिन जरा सा भी भींगी नहीं थी। एक बूँद भी पानी पड़ा नहीं था उनपर आश्चर्य की बात थी।

अब वर्षा काल तक रूकना पड़ गया मुझे जोजांग में। वर्षा बाद ही सीमा पार करना सम्भव था मेरे लिए। प्रसन्न था मैं। पूरे चार महीने का समय मिलेगा। जोजांग में रहने के लिए। और इस अवधि में गौरी माँ के सानिध्य में मुझे जो आध्यात्मिक उपलब्धि होगी - वह निसन्देह अपने आप में अति मूल्यवान होगी। मेरी प्रसन्नता का कारण यही था। दूसरे दिन कैवल्य ब्रह्मचारी वापस लौट आये लेकिन रात की घटना नही बतलायी मैंने और न तो यही बतलाया कि वर्षा में चलकर उनकी कोठरी में आयी थीं गौरी माँ। मगर जब मेरे वर्षा काल प्रर्यन्त रूकने की बात मालूम हुई तो अति प्रसन्न हुए महाशय।

अति वर्षा के कारण काली नदी में भयंकर बाढ़ आ गयी थी। चारो ओर जलप्लावन का उभर आया था दृश्य। एक सप्ताह तक कोठरी में ही पड़ा रहा मैं। फिर एक दिन साहस जुटाकर गौरी माँ की कुटिया पर पहुँचा मैं। बाहर पानी बरसने के कारण अपनी कोठरी में ही थी गौरी माँ। मुझे देखकर मुस्करायी धीरे से। बच्चो जैसी थी वह मुस्कराहट। उपेक्षा और अवहेलना का भाव नहीं था वहाँ। उस दिन से प्राय: रोज ही जाने लगा मैं गौरी माँ के यहाँ। घंटो आध्यात्म के विभिन्न विषयों पर चर्चा होती। बीच-बीच में गौरी माँ की अनुभव कथा भी सुनने को मिलती। जो अपने आप में चमत्कार पूर्ण और अति विचित्र होती। निश्चय ही उस परम साधिका के भीतर ज्ञान विपुल भण्डार भरा हुआ था - इसमें सन्देह नहीं। और उस विपुल भण्डार से मुझे जितना जो कुछ प्राप्त हो सका उसके कुछ महत्वपूर्ण अंशो को अपनी भाषा, अपने भाव और अपने शब्दो से लिपिबद्ध कर प्रस्तुत कर रहा हूँ यहाँ मैं।

तीन शरीर और चार अवस्थाएँ

गौरी माँ ने कहा - तीन शरीर और चार अवस्थाएँ भारतीय वाङ्मय की मूल भित्ति हैं। भारत के मनीषियों ने और तत्व वेत्ताओं ने इन पर अनेक प्रकार से और अनेक दृष्टिकोण से खोज और चिन्तन मनन किया है।

वे तीन शरीर और चार अवस्थाएँ क्या है-मैंने पूछा? स्थूल, सूक्ष्म और कारण ये तीन शरीर है और चार अवस्थाएँ है - जागृत, स्वप्न और सुषुप्ति। गौरी माँ ने कहा - इनके अतिरिक्त उन्होंने एक और अवस्था विशेष की चर्चा की हैं और वह अवस्था है तुरीय।

मनुष्य की जो बाह्य स्थिति हैं - वह इन तीनों अवस्थाओं से ही मिलकर बनी हैं। मानव जीवन का निर्माण भी इन्हीं तीनों अवस्थाओं से मिलकर हुआ हैं। यही नहीं इन्हीं तीनो अवस्थाओं से संसार की भी रचना हुई हैं। लेकिन यह समझ लेना आवश्यक है कि मानव जीवन का सार तत्व हैं वह मानव जीवन के पीछे ही छिपा हुआ है। तीनो अवस्थाएँ हमारे मन की ही दशा नही हैं, हमारे जीवन के भी आधार स्तम्भ हैं। हम इन तीनों अवस्थाओं पर खड़े है और हमारे सम्पूर्ण अस्तित्व का निर्माण भी इन्हीं तीनों अवस्थाओं के द्वारा हुआ है और हम चौथे हैं। तीनों अवस्थाओं से हमारे जीवन का निर्माण तो अवश्य हुआ हैं लेकिन उस जीवन रूपी भवन में निवास करने वाला जो है वह 'चौथा' हैं और उस 'चौथे' को भारतीय मनीषियों ने और तत्व वेत्ताओं ने 'तुरीय' कहा हैं। तुरीय का अर्थ है तीनों अवस्थाओं से परे चौथी अवस्था।

गौरी माँ ने कहा - जागृत, स्वप्न और सुषुप्ति - इन तीनों अवस्थाओं से हम नित्य गुजरते हैं। नित्य क्रम से उनमें जीते हैं और उस जीने का नित्य अनुभव भी करते हैं। प्रातः हम जागने पर जागृत अवस्था में प्रवेश करते है और उस अवस्था का अनुभव भी करते हैं। रात्रि में जब हम सोते हैं तो प्रथम हम स्वप्नावस्था में प्रवेश करते हैं और वह अवस्था समाप्त हो जाती हैं तो हम सुषुप्ति में प्रवेश करते हैं। प्रतिदिन चौबीस घंटे के अन्तर्गत हम इन्हीं तीनों अवस्थाओं का चक्कर काटते रहते हैं बार-बार। तीनों अवस्थाओं की सीमा से न निकल पाते हैं और कभी यह न सोच पाते है कि इन अवस्थाओं के अतिरिक्त भी कोई और अवस्था है या नहीं?

गौरी माँ ने कहा - यदि सूक्ष्म भाव से विचार करे तो हम प्रतिदिन क्या प्रतिपल इन तीनों अवस्थाओं में डूबे रहते हैं। लगता हैं हम ऊपर से तो जगे हुए हैं लेकिन हमारे भीतर स्वप्न चल रहा होता हैं। इसी अवस्था को दिवास्वप्न कहा गया हैं। कभी-कभी तो हमे ऐसा प्रतीत होता है कि इस जगत में हम हैं ही नहीं। हमारा अस्तित्व ही नहीं रहा। होश ही खो बैठते है हम क्षण भर के लिए। तात्पर्य

यह कि विस्तृत रूप से हम तीनों अवस्थाओं से तो गुजरते ही हैं। इसके अतिरिक्त पल दो पल के लिए भी उन अवस्थाओं में हम जी लेते हैं।

गौरी माँ ने कहा - यह बात एक ही जीवन की नहीं हैं। जब भी हम जीवन को उपलब्ध होते हैं - इन तीनों अवस्थाओं का चक्कर काटने लग जाते हैं। जागना, स्वप्न देखना और सोना - ये तीनों अवस्थाएँ जीवन पर्यन्त बराबर घटित होती रहती हैं। सच तो यह है कि हम और हमारा जीवन इन तीनों अवस्थाओं से अलग नहीं है। हम भी बंधे है उनसे और हमारा जीवन भी बंधा है उनसे। तीसरी अवस्था सुषुप्ति हैं। इस अवस्था में जागृत और स्वप्न का अभाव हो जाता है। मृत्यु सुषुप्ति अवस्था में ही घटित होती हैं। मृत्यु शैय्या पर पड़ा हुआ मरणासन्न व्यक्ति सबसे पहले स्वप्नावस्था में प्रवेश करता है वह स्वप्नावस्था अति महत्वपूर्ण होता है इसलिए कि उस स्वप्नावस्था में मरणासन्न व्यक्ति अपने सम्पूर्ण जीवन की छोटी बड़ी सभी घटनाओं को क्रम से चलचित्र की भाँति देखता हैं। जब सारी घटनाएँ एक-एक कर क्रम से उसके मानस पटल पर से गुजर जाती हैं - तब वह सुषुप्ति में प्रवेश करता है। वह प्रगाढ़ सुषुप्ति होती है। और उसी प्रगाढ़ सुषुप्ति में मृत्यु का क्षण घट जाता है। शरीर से आत्मा अलग हो जाती हैं। इसीलिए निद्रा को एक प्रकार की मृत्यु बतलाया गया है, क्योंकि निद्रा में मृत्यु की हल्की सी झलक मिलती हैं। बाह्य दृष्टि से एक सोया हुआ व्यक्ति और एक मृत व्यक्ति समान हैं।

जैसा कि बतला चुकी हूँ गौरी माँ बोली-सुषुप्ति में अन्य दोनों अवस्थाएँ समाप्त हो जाती हैं यदि दोनों का अभाव हो जाता है। उपनिषद में जागृत-स्वप्न और सुषुप्ति को आत्मा की अवस्थाएँ बतलायी गयी है। प्रथम दो अवस्थाओं में 'मैं' का बोध रहता हैं, किन्तु सुषुप्ति में 'मैं' के बोध का अभाव हो जाता है। 'सुषुप्ति' वही अवस्था है जब मृत्यु घटित होती हैं अथवा घटित हो सकती हैं। मृत्यु कभी भी सुषुप्ति के अभाव में घटित नहीं हो सकती, यह निश्चित हैं। इसका कारण यह है कि सुषुप्ति में हमारा सारा बोध और सारा आन्तरिक व बाह्य ज्ञान लुप्त हो जाता है और यही कारण है कि मरने वाले व्यक्ति को मृत्यु के कष्ट और उसकी असीम पीड़ा का अनुभव नहीं होता।

गौरी माँ ने कहा - आपको तो ज्ञात होगा कि डॉक्टर किसी व्यक्ति के किसी अंग का खतरनाक शल्य क्रिया करता है तो उसके पूर्व वह उस व्यकित को बेहोश होने की कोई दवा देता हैं। जब वह व्यक्ति दवा के प्रभाव से बेहोश हो जाता है यानी गहन सुषुप्ति की अवस्था को उपलब्ध हो जाता हैं तब डॉक्टर शल्य क्रिया करता हैं इसलिए कि शल्य क्रिया से उत्पन्न कष्ट का अनुभव उस व्यक्ति को न हो। सुषुप्ति के अभाव में शल्य क्रिया असम्भव हैं। कहने की आवश्यकता

नहीं इसी प्रकार 'मृत्यु' के समय प्रकृति भी शल्य क्रिया करती हैं। उससे बड़ी कोई शल्य क्रिया नहीं है। मृत्यु के समय जितना भयंकर कष्ट होता हैं उससे बड़ा कोई कष्ट भी नहीं हैं। मृत्यु के समय शरीर से प्राणों के आत्मा का अलग होना एक अत्यन्त कष्टदायिनी और अत्यन्त पीड़ा दायिनी घटना है। और यदि वह घटना बेहोशी अथवा सुषुप्ति की अवस्था में न घटित हो तो मुमुर्षु व्यक्ति की क्या स्थिति होगी - इसकी कल्पना भी नही की जा सकती। मस्तिष्क की एक अपनी सीमा हैं। अपनी उस सीमा के ऊपर मस्तिष्क की कोशिकाएँ सुख या दुख सहन नही सक सकती।

गौरी माँ ने कहा - आपको ज्ञात होना चाहिए कि यही कारण है कि गहन सुषुप्ति में मृत्यु घटित होती है, इसलिए कि मरने वाले व्यक्ति को कल्पनातीत कष्ट और पीड़ा का अनुभव न हो। जैसे मृत्यु की घटना सुषुप्ति में घटती हैं - उसी प्रकार जन्म की भी घटना सुषुप्ति में घटती है, क्योंकि जन्म के समय में भी उतनी ही कल्पनातीत पीड़ा, वेदना होती हैं और होता है कष्ट - जितना कि मृत्यु के समय। जन्म और मृत्यु दोनों अवस्थाओं की पीड़ा वेदना और कष्ट बराबर हैं, इसमें सन्देह नहीं। और यहीं एक मात्र कारण है कि बेहोशी की स्थिति में दोनों घटनाओं के घटने के फलस्वरूप उन दोनों की स्मृति नहीं रहती। पिछले जन्म की स्मृति न रहने का भी यही कारण हैं। इसलिए कि बीच में इतनी लम्बी और इतनी गहन सुषुप्ति होती है कि दोनों ओर के छोर से संबंध टूट जाते हैं। गहन सुषुप्ति में मृत्यु होती हैं और गहन सुषुप्ति में ही पुनर्जन्म होता है। इसी के फलस्वरूप मनुष्य को अपनी मृत्यु और अपने पुनर्जन्म का स्मरण नहीं रहता।

आपको ज्ञात होना चाहिए कि माँ के गर्भ में शिशु प्रगाढ़ सुषुप्ति की अवस्था में रहता हैं। कोई एक शिशु गर्भ में स्वप्न देखता हैं और जो स्वप्न देखता हैं - वह माँ के स्वप्नों को भी प्रभावित करता हैं। एक बात बड़े आश्चर्य की है और वह यह कि गर्भ में स्वप्न देखने वाला शिशु जो स्वप्न देखता हैं वह उसके पिछले जन्म की प्रमुख घटनाओं से संबंधित होता हैं और वह जो कुछ भी देखता हैं - उसे उसकी माँ भी अपने स्वप्न में देखती है। यहाँ एक बात बतला देना आवश्यक है कि जो शिशु गर्भ में स्वप्न देखता हैं उसकी मृत्यु निश्चय ही स्वप्नावस्था में हुई होती है। तात्पर्य यह कि स्वपनावस्था में मरने वाला व्यक्ति गर्भ में भी बराबर स्वप्न देखता रहता है और वह भी अपने पिछले जन्म से संबंधित जीवन का। एक बात और आपको यहाँ बता हूँ कि सुषुप्ति में न मर कर उसके पूर्व स्वप्नावस्था में ही मरने वाले व्यक्ति को जब तक योग्य और अनुकूल गर्भ प्राप्त नहीं होता तब तक वह प्रेत योनि में भटकता रहता हैं। उसको अपने पिछले जीवन की पूरी

की पूरी स्मृति बनी रहती हैं। जीवन की सारी की सारी घटनाएँ उसे याद रहती है। उसका सबसे भारी कष्ट यही होता है कि चाहकर भी अपने उस जीवन को जी नहीं पाता। क्योंकि भौतिक जीवन जीने के लिए उसके पास भौतिक शरीर नहीं रहता।

तिब्बत का 'वारदो' प्रयोग

यदि स्वप्नावस्था में मरने वाले व्यक्ति को योग्य और अनुकूल गर्भ उपलब्ध हो गया यथा समय तो उसे अपने पिछले जन्म और जीवन की स्मृति कुछ वर्ष तक बनी रहेगी। तिब्बत में मरता हुआ व्यक्ति सुषुप्ति में न चला जाय - इसकी चेष्टा की जाती हैं बराबर। उस चेष्टा को तिब्बती भाषा में वारदो कहते हैं। यदि मुमुर्ष व्यक्ति सुषुप्ति में चला गया तो फिर उसकी इस जन्म की सारी स्मृति समाप्त हो जायेगी। उसको अपने इस जन्म की स्मृति बनी रहें इसके लिए वारदो का प्रयोग किया जाता हैं। न केवल जगाये रखने की बल्कि उस व्यक्ति के भीतर स्वप्न को उत्पन्न करने का भी वारदो के साथ प्रयत्न किया जाता है। ताकि स्वप्न बराबर चलता रहे चलता रहे और उसी स्वप्नावस्था में उसकी मृत्यु घटित हो जाय। यदि स्वप्नावस्था में ही मृत्यु हो जाती है तो व्यक्ति अपने अगले जन्म में अपने पिछले जन्म की सारी स्मृतियों को लेकर आविर्भूत होता है (इस विषय पर विस्तृत अध्ययन के लिए पढ़े - मरणोत्तर जीवन का रहस्य ले० अरुण कुमार शर्मा)

गौरी माँ ने कहा - तिब्बती वारदो के समान हमारे हिन्दू धर्म में भी एक चेष्टा है और वह चेष्टा है - मुमुर्ष व्यक्ति के सिरहाने बैठकर पवित्र भाव से धार्मिक ग्रन्थों का पाठ और भगवदकीर्तन। पाठ अथवा कीर्तन मध्यम स्वर में करना चाहिए। वातावरण को शान्त और सुगन्धित रखना अति आवश्यक हैं। यदि मरणासन्न व्यक्ति की चेतना में एक बार भी पाठ अथवा कीर्तन की ध्वनि को पकड़ लिया और उससे सामञ्जस्य स्थापित कर लिया - जबकि इसकी सम्भावना बहुत ही कम होती है - तो वह मरणासन्न व्यक्ति फिर सुषुप्ति अवस्था को उपलब्ध नहीं होगा और यदि उसी अवस्था में उसकी मृत्यु हो गयी तो अगले जन्म में उसको अपने पूर्व जन्म की स्मृति बनी रहेगी। अपनी मृत्यु का कारण भी उसे ज्ञात रहेगा। इतना ही नहीं मृत्यु और पुनर्जन्म के बीच वह किस अवस्था में का और उस अवस्था में उसे क्या-क्या अनुभव हुए यह भी उसे ज्ञात रहेगा। आप ऐसा समझिए कि आप पूरी रात स्वप्न ही स्वप्न देखते हैं तो सम्भवतः आपको विश्वास नही होगा। बहुत से ऐसे भी लोग मिलेंगे जो यह कहते हैं कि वे तो स्वप्न देखते ही नहीं। इसी प्रकार कुछ लोग ऐसे भी हैं तो यह कहते हैं कि वे कभी कदा स्वप्न देखते

हैं। सच पूछिए तो ये दोनों प्रकार के लोगो की स्वप्न स्मृति कमजोर होती है। उन्हे स्वप्न स्मरण ही नही रहते जबकि वे लोग पूरी रात स्वप्न ही स्वप्न देखते हैं। आपको ज्ञात होना चाहिए अपने निद्राकाल में व्यक्ति लगभग औसतन बारह सपने देखता है। इससे भी अधिक देखने वाले लोग हैं। बारह सपने तीन चौथाई भाग को घेरते हैं। एक चौथाई किसी को सुषुप्ति उपलब्ध होती है। सोचने को बात है कि इतनी सी ही सुषुप्ति जीवन जीने के लिए हमारे भीतर स्फूर्ति भर देती है। यदि इससे अधिक सुषुप्ति उपलब्ध हो तो हमारा जीवन कितना आनन्दमय कितना स्फूर्तिमय होना। हमारा मस्तिष्क कितना प्रखर ओर बुद्धि कितनी प्रखर होती। शरीर भी कितना स्वस्थ रहता।

आपको ज्ञात होना चाहिए कि तीन चौथाई में स्वप्न होते हैं लेकिन हमे याद नही रहते वे स्वप्न। इसका कारण यह है कि एक स्वप्न गया उसके पश्चात सुषुप्ति का एक क्षण भी आ गया तो उस स्वप्न की स्मृति समाप्त हो जाती हैं। उससे संबंध भंग हो जाता हैं। इसी कारण गुजरा हुआ सपना हमको याद नहीं रहता। हमे जो सपने याद रहते है वह लगभग भोर के सपने होते हैं। जिस सपने के बाद सुषुप्ति नहीं आती और सीधे हम जाग जाते हैं। वही सपना हमें याद रहता हैं यदि किसी सपने और जागरण के बीच में सुषुप्ति का थोड़ा सा विच्छेद हो जाता है, उसकी स्मृति बनती तो अवश्य है लेकिन हमे साधारणत: याद नही रहनी। ऐसी बात नहीं है कि उसकी स्मृति बनती ही नहीं है। स्मृति तो बनती ही हैं लेकिन वह अचेतन मन में चली जाती है। इसी प्रकार सुषुप्ति में भी स्मृति बनती है लेकिन वह भी अचेतन में चली जाती है। इसीलिए उन दोनों प्रकार की स्मृतियों का बोध नही रहता हमको। परामनोविज्ञान के ज्ञाता मनोसम्मोहन विद्या के द्वारा अचेतन मन में दबी उन स्मृतियों को चेतन मन में लाने का प्रयास करते है जो सफल भी होते हैं। इसी प्रकार पूर्व जन्मों की भी महत्वपूर्ण स्मृतियाँ अचेतन में दबी रहती हैं जिनको बाहर लाया जा सकता हैं सम्मोहन द्वारा। लेकिन साधारणत: हमको भोर के सपने याद रहते हैं और उन सपनों के सकेतानुसार घटनाएँ भी घटती हैं - इस तथ्य को भी हम मानते हैं।

गौरी माँ ने कहा - तिब्बत ने सपने पर जितना महत्वपूर्ण कार्य किया उतना सम्भवत: किसी देश ने नहीं किया। तिब्बत ने इस गोंपनीय रहस्य से परिचित हो गया था कि यदि किसी व्यक्ति को स्वप्नावस्था में मरने का आयोजन किया जाय तो निश्चय ही वह मरने के पश्चात अपने इस जन्म की सारी स्मृतियों को लेकर पुनर्जन्म में प्रवेश करेगा। यह निश्चित है कि जो व्यक्ति अपने पूर्व जन्म की सम्पूर्ण स्मृतियों को लेकर जन्म लेगा, उसका सम्पूर्ण जीवन रूपान्तरित होगा। और होगा

परिवर्तित। इसमे सन्देह नहीं। उसने अपने पिछले जन्म में जो भूले की हैं जो पागलपन किया है, जो अच्छा-बुरा किया है, जो अच्छा-बुरा व्यवहार किया है, जो लड़ाई झगड़ा व मारपीट की हैं जो झूठ बोला है तो छल कपट आदि किया है और जो मान-अपमान किया वह सब नहीं करेगा वह, क्योंकि जानेगा कि उसका क्या परिणाम होगा? वह जो कुछ भी अपने नये जीवन में करेगा वह उन सबसे अलग होगा। वह ऐसा कार्य करेगा जो उसके नये जीवन में पूर्णरूपेण मौलिक और नवीन होगा।

यह सत्य है कि मनुष्य बार-बार जन्म लेता हैं और बार-बार वही काम करता है जो पिछले जन्म में कर चुका होता है। वही पढ़ना-लिखना, वही नौकरी करना, वही व्यापार करनाा, वही शादी-विवाह करना, बाल-बच्चे पैदा करना और फिर हाय-हाय करते हुए और पश्चाताप की आग में जलते हुए अन्त में मर जाता है। कोई नया काम नहीं करता वह। यदि पूर्व जन्मो की स्मृतियाँ है तो इस पुनरूक्ति दोष से मुक्त हो जायेगा वह। क्योंकि पुनः वही मूर्खताएँ और मूढ़ताएँ करने में उसे स्वयं इस बात का बोध होने लगेगा कि यह तो वह कर चुका हैं और उसका परिणाम भी भोग चुका हैं पिछले जन्म में। जिसका कोई सुखद आनन्द दायक और शान्तिप्रद लाभ उपलब्ध नहीं हुआ जीवन में। फिर इस जन्म में भी वही वासनाएं वही कामनाएं और वहीं समस्त इच्छाएं - जिनकी पूर्ति में फिर वही प्रयास और फिर वही दौड़-धूप। फिर वही अन्त में पश्चाताप। पिछला जीवन इन्ही सबमें रिक्त हो गया और इन्ही सबमें व्यतीत हो गया और अन्त में उपलब्ध हुई केवल मृत्यु। न कोई कामना पूरी हुई न कोई वासना पूरी हुई और न तो पूरी हुई कोई अभिलाषा। आशा ही आशा में समाप्त हो गया जीवन। गौरी माँ थोड़ा रुककर आगे बोली - यह स्मृति में रह जाय तो अगला जन्म निश्चय ही पूर्णरूप से दूसरे प्रकार का होगा, इसमें सन्देह नहीं। क्योंकि उसका गुण धर्म परिवर्तित हो जायेगा। उसमें आन्तरिक और बाह्य आमूल चूल परिवर्तन हो जायेगा। क्योंकि वह व्यक्ति ठीक उन्ही कामनाओं वासनाओं और इच्छा अभिलाषाओं की पूर्ति के लिए कदापि प्रयास नहीं करेगा। क्योंकि हर क्षण और हर पल उसके सामने दिखलायी पड़ेगी साक्षात मृत्यु। यदि किसी माया-मोह के वशीभूत होकर वही सब करेगा जो कुछ कर चुका है तो उसका अर्थ होगा कि वह फिर अपना हाथ रिक्त करने जा रहा है फिर मृत्यु का ग्रास बनने जा रहा हैं। लेकिन नही वह किसी भी प्रकार के सांसारिक मोह-माया के वशीभूत नही होगा। इस बार जीवन में वह कुछ और ही करेगा जो उसने पिछले जन्मों में नहीं किया है। जीवन की धारा को आमूल मूल परिवर्तित करने के लिए चेष्टा करेगा और वह चेष्टा सघन हो सके - इसके लिए वारदो प्रयोग है। भगवद स्मरण, धर्म ग्रन्थों का पाठ और भजन-कीर्तन आदि की व्यवस्था है।

स्वामी शंकर भारती जी महाराज

इस प्रसंग में स्वामी शंकर भारती का उल्लेख करना आवश्यक प्रतीत होता है मुझे। काशी के त्रिपुरा भैरवी घाट के ऊपर स्वामी शंकर भारती महाराज का निवास था। सन् 1970 ई0 मेरा परिचय स्वामी जी से हुआ था। प्राय: नित्य उनका दर्शन करने जाता था मैं। उनकी अवस्था उस समय 40, 45 वर्ष के लगभग थी। तपस्वी सन्यासी थे। वेदान्त पर पूर्ण अधिकार था उनका। नित्य वेदान्त पर मेरी उनसे चर्चा होती थीं। एक बार प्रसंग वश मैने पूछा - स्वामी जी आपने सन्यास क्यों ग्रहण किया? आप तो ! सुना है कि भरे पूरे और स्मृद्ध परिवार के सदस्य रहे हैं फिर किस कारण वश ...।

मेरा वाक्य पूरा न होने दिया स्वामी जी ने बीच में ही मुस्कराकर बोले - आपने ठीक सुना हैं। पिछले जन्मों में काशी का ही निवासी था। यह मेरा चौथा जन्म हैं काशी में।

यह सुनकर घोर आश्चर्य हुआ मुझे। पूछा- क्या आपको अपने पिछले जन्मो की स्मृतियाँ हैं

स्वामी जी थोड़ा गभीर होकर कहने लगे - हाँ, है पिछले सभी जन्मों की स्मृतियाँ मेरी मस्तिष्क कोशिकाओं में सुरक्षित हैं। तीन सौ वर्ष पूर्व काशी में सर्वप्रथम मेरा जन्म पंच कोशी के अन्तर्गत आने वाले रामेश्वर के समीप एक समृद्ध ब्राह्मण परिवार में हुआ था। मेरे पिता धार्मिक प्रवृत्ति के और सरल उदार ह्दय के व्यक्ति थे। साधु सन्यासियों के परम भक्त भी थे वह। प्राय: नित्य 4, 5 साधु सन्यासी उनके यहाँ भोजन किया करते थे। एक बार शिव रात्रि के अवसर पर एक महात्मा घर पर आये। नाम था हरिहर स्वामी। काशी में रहकर पाठशाला चलाते थे। स्वामी जी स्वयं भिक्षा मांगते थे और विद्यार्थियों से भिक्षा ग्रहण करवाते थे। पाठशाला में ही सभी का भोजन बनता था। उसी में सभी का निवास भी था।

हरिहर स्वामी मेरी ओर देखकर पिता जी से बोले यह बालक उच्च संस्कार का हैं। इसे आप काशी भेज दें। मैं इसे शास्त्र ज्ञान कराऊँगा। आगे चलकर बहुत बड़ा विद्वान होगा यह इसमे सन्देह नहीं। तुरन्त तैयार हो गये पिताजी हरिहर स्वामी की बात सुन कर। उस समय मेरी अवस्था 16 वर्ष की थी। यज्ञोपवीत हो चुका था। काशी में रहकर मेरी भी इच्छा थी पढ़ने की। प्रशन्न था मैं। दूसरे ही दिन बैलगाड़ी पर बैठाकार मेरे साथ हरिहर स्वामी को विदा किया पिता जी ने।

कहने की आवश्यकता नहीं काशी का वातावरण मुझे बड़ा अच्छा लगा। धीरे-धीरे 15 वर्ष का समय व्यतीत हो गया। इस दीर्घ अवधि में अनेक परिवर्तन हुए। दो विषय में आचार्य कर लिया था मैंने, वेदान्त और साहित्य में। माता-पिता

और मेरे गुरु हरिहर स्वामी की भी मृत्यु हो चुकी थी। वैसे मेरा विवाह हो चुका था। पत्नी और दो बच्चे थे। परिवार में सम्पन्नता तो थी ही पहले की तरह। लेकिन मेरा मन काशी में ही रम गया था इस लिए घर परिवार और जमीन जायदाद का पूरा भार अपने छोटे भाई को सौप कर एक प्रकार से स्थायी निवासी हो गया था मैं काशी का, उस समय अवस्था 40 वर्ष के लगभग थी मेरी। नित्य कीभांति गंगातट पर बैठा चिन्तन-मनन कर रहा था। तभी न जाने किधर से आकर एक वृद्ध सज्जन मेरे बगल में बैठ गये। उनके चेहरे पर तेज था और गम्भीरता भी थी। परिचय होना स्वाभाविक था। वृद्ध सज्जन का नाम था गोपालचन्द्र भादुड़ी। भेदनी पुर के निवासी थे। काशी वास कर रहे थे। साथ में कोई नहीं था, अकेले थे। बड़ा लड़का प्रफुल्ल चन्द्र भादुड़ी साल में दो बार आकर अपने पिता को खर्चा-वर्चा दे जाया करता था। वैसे उनकी कोई विशेष भौतिक आवश्यकता नहीं थी।

शान्ति प्रिय और निरपेक्ष वादी थे महाशय। जब मुझे यह पता चला कि गोपालचन्द्र भादुड़ी क्रिया योग के साधक हैं तो घोर आश्चर्य हुआ मुझे। इस संबंध में प्रश्न करने पर भादुड़ी महाशय हँसकर बोले - यह शरीर और यह संसार शीघ्र ही छूटने वाला हैं मुझसे। सोचा किसको अपना शिष्य बनाऊ? क्योंकि इस मार्ग में योग्य व्यक्ति को शिष्य बनाना आवश्यक हैं। मैं इस चिन्तन में था ही कि तभी मेरी दृष्टि आप पर पड़ी। आपको योग्य समझा मैंने।

यह सुनकर थोड़ा आश्चर्य हुआ मुझे। अवाक रह गया, कुछ बोला न गया मुझसे। काली बाड़ी के एक कमरे में रहते थे भादुड़ी महाशय। दूसरे दिन श्रावण पूर्णिमा को उसी कमरे में क्रिया योग की दीक्षा दी मुझे उन्होंने और साधना के संबंध में निर्देश दिया और अन्त में कहा - यदि आपने साधना मार्ग में सफल हो गये तो आपको इस जन्म की और अगले जन्मों की पूरी की पूरी स्मृति बनी रहेगी और जिसके परिणाम स्वरूप अन्त में सन्यास लेकर भव मुक्त हो जायेंगे आप। थोड़ा रूककर स्वामी जी आकाश की ओर देखते हुए आगे बोले - गुरुदेव की वाणी अक्षरशः सत्य सिद्ध हुई। मैंनै सर्वस्व त्यागकर साधना में जुट गया। सफलता प्राप्त हुई मुझे। 72 वर्ष की आयु में शरीर त्याग किया मैंने। मृत्यु से लोग डरते है, भयभीत होते हैं, और घबड़ाते हैं लेकिन लोग यह नहीं समझते है कि मृत्यु नाम की कोई वस्तु नहीं है। यदि है तो वह है परम शान्ति। परम शान्ति का पर्याय समझे आप मृत्यु को। अपनी साधना को सफल इसलिए मैंने समझा कि शरीर त्याग के समय मेरी चेतना बराबर रही। शरीर से मैं अलग हो रहा हूँ इसका अनुभव मुझे हुआ। जिसका परिणाम यह हुआ कि मरकर पुनः जन्म लेने

का भी अनुभव हुआ मुझे मै माँ के गर्भ से बाहर निकल रहा हूँ मेरा शरीर एक प्रगाढ़ अन्धकार से सूर्य के प्रकाश में आ रहा है। इसकी प्रत्यक्ष अनुभूति हुई। इतना ही नही पिछले जन्म की पूरी स्मृति सुरक्षित थी मेरे मस्तिष्क में। वर्तमान जन्म में भी ऐसा ही रहा। पिछले जन्म की स्मृति बनी रही। जिसका परिणाम यह हुआ कि भौतिक वातावरण, भौतिक पदार्थो, भौतिक वस्तुओं के साथ-साथ भौतिक जीवन के प्रति घोर विरक्ति बढ़ती गयी। घोर विकर्षण होता गया। इस जन्म में आकर पूर्ण रूप से निरपेक्ष हो गया मैं संसार समाज और भौतिक विषयों के प्रति। कही कुछ नहीं रह गया मेरे जीवन में। घोर शून्यता भर गयी मेरे अन्तराल में। और जब रहा नही गया तो सन्यास ले लिया मैंने। निश्चय मुक्ति मिल जायेगी भवचक्र से। तीन सौ वर्ष के दीर्घकाल में जन्म मृत्यु और जीवन का जैसा जो अनुभव मेरे पास हैं वैसा विरले ही किसी के पास होगा।

स्वामी जी की बाते बड़े ही मनोयोग से सुना मैंने और सुनकर प्रश्न किया - क्या क्रिया योग के विषय में थोड़ा बहुत कुछ बतलायेंगे मुझे?

सर्वोत्तम योग 'क्रिया योग'

स्वामीजी थोड़ा मुस्कराये फिर बोले - 'क्रियायोग' वास्तव में एक सरल मन:कायिक प्रणाली है। जिसके द्वारा मनुष्य का नाड़ियों प्रवाहित होने वाला रक्त कार्बन रहित होकर आक्सीजन से परिपूरित हो जाता हैं। अधिक मात्रा में रक्त में आक्सीजन हो जाने के फलस्वरूप आक्सीजन को अणु जीवन प्रवाह में रूपान्तरिक होकर मस्तिष्क और मेरुदण्ड में स्थित चक्र केन्द्रों को नवीन शक्ति प्रदान करते हैं जिसके फलस्वरूप चक्रों की सक्रियता बराबर बनी रहती हैं, उनमें न्यूनता नहीं आती। प्रत्येक चक्र में एक विशेष प्रकार की चुम्बकीय विद्युत शक्ति होती है। नवीन शक्ति प्राप्त होने पर वह विद्युत चुम्बकीय शक्ति की मात्रा बढ़ जाती हैं और उसमें न्यूनता कभी नहीं आती। दूसरी ओर मनः कायिम प्रणाली अशुद्ध नीले रक्त के संचय को रोक कर तन्तुओं के क्षय को भी रोकती हैं। जिसके 'क्रिया योगी' अपने कोशाणुओं को जीवन शक्ति में रूपान्तरिक करने में सफल हो जाता हैं। इस सफलता को उपलब्ध होने पर क्रियायोगी अपने पार्थिव शरीर को इच्छानुसार कही भी प्रकट अथवा अदृश्य कर सकता है।

आपको ज्ञात होना चाहिए कि क्रियायोग अत्यन्त प्राचीन और सुपरिचित विज्ञान हैं। मेरे गुरुदेव को क्रियायोग की दीक्षा पूर्ण गुप्त रूप से हेड़ियाखान बाबा ने दिया था। मेरे गुरुदेव क्रियायोग में निष्णात योगी थे। 19वी शताब्दि में काशी के श्यामाचरण लाहिड़ी महाशय को क्रिया योग की दीक्षा बाबाजी ने दी थी। ये सब

तो इधर की बात हैं। मेरे विचार से क्रियायोग की दीक्षा सर्वप्रथम भगवान श्री कृष्ण ने अर्जुन को दी थीं हजारों वर्ष पूर्व। बाद में क्रियायोग का ज्ञान हुआ पतञ्जलि को हुआ और तत्पश्चात क्रमशः ईसा मसीह सेन्ट जान, सेन्ट पाल आदि को हुआ।

गीता में क्रिया योग

भगवान श्री ने गीता में दो बार क्रिया योग की चर्चा की हैं। 4, अ0 29 श्लो0 के अनुसार मुख से बाहर जो वायु निकलती है वह प्राण हैं और जो मुख के भीतर जाती है वह अपान हैं। अपान में प्राण का और प्राण में अपान का हवन करने पर दोनों की गति में रूकावट आ जाती हैं जिसके फलस्वरूप 'हृदय' प्राण से मुक्त हो जाता हैं। और प्राण शक्ति पर नियन्त्रण प्राप्त हो जाता हैं। इसका तात्पर्य यह है कि योगी फेफड़ों और हृदय की प्राकृतिक क्रिया को शान्त कर प्राण की अतिरिक्त आपूर्ति द्वारा शरीर के क्षय को रोक लेता है। इसी प्रकार 'अपान' पर नियन्त्रण कर शरीर में होने अपक्षय और प्रवृत्ति को भी योगी प्रभावहीन कर प्राण शक्ति को नियन्त्रित करने की कला को जान लेता हैं। जिसके फलस्वरूप उसका शरीर क्षय ग्रस्त नही होता। सदैव युवा बना रहता है। काल का प्रभाव इसके मन व शरीर पर नहीं पड़ता। किसी भी प्रकार की रोग-व्याधि से ग्रस्त नहीं होता। 'प्राण' पर नियन्त्रण हो जाने से उसकी आयु लम्बी होती हैं दीर्घजीवि होता है वह। गीता अ0 5, श्लो0 27-28 के अनुसार क्रियायोग में ध्यान प्रधान है। ध्यान द्वारा परम लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए योगी अपनी दृष्टि को भृकुटी के मध्य में स्थित कर नाक और फेफड़ों के प्राण और अपान वायु को समान करते हुए समस्त इन्द्रियों पर, मन पर और बुद्धि पर अधिकार प्राप्त करता है। इच्छा, क्रोध, पर अधिकार प्राप्त करता हैं। इच्छा, क्रोध, भय आदि से रहित हो जाता है, चित्त।

महामुनि पजञ्जलि दो बार क्रिया योग का उल्लेख किया हैं। उनकी अपनी दृष्टि में शरीर साधना, मनोनिग्रह और ॐ का ध्यान यह क्रिया योग हैं। ध्यान की अवस्था में योगी को जो अपने भीतर जो ध्वनि सुनाई पड़ती हैं वह विश्वध्वनि है। वह ध्वनि सम्पूर्ण विश्व ब्रह्माण्ड में समान रूप से गुंजित होता रहता है। उस विश्व ध्वनि का मूल ॐ है। ॐ नांद ब्रह्म हैं, शब्द ब्रह्म हैं, ईश्वर का वाचक है। ईश्वर के अस्तित्व और उसकी सत्ता का वाचक हैं। साक्षी हैं। ॐ की ध्वनि स्वयं अपने आप योगी के भीतर ध्यानावस्था में गूंजने लगती है तो उसे इस बात आध्यात्मिक विश्वास हो जाता है कि ऊर्ध्व लोक से उसका सम्पर्क स्थापित हो रहा है।

प्रणववाचक ॐ

योग सूत्र 1, 27 के अनुसार ईश्वर का दूसरा नाम ॐ है – 'तस्यवाचक: प्रणव:'। यहाँ यह बतला देना आवश्यक है कि वेद का ॐ तिब्बतियों का हूँ है, मुसलामों का आमीन है, मिस्रियों, यूनानियों, रोमनों, यहूदियों तथा ईसाइयों का आमेन है। ॐ का अर्थ है 'ध्रुव' निश्चित, और विश्वस्त। ॐ का यौगिक उच्चारण अत्यन्त कठिन हैं। वह अभ्यासजन्य क्रिया हैं। ॐ का उच्चारण ब्राह्म मुहुर्त में उत्तर दिशा की ओर मुख कर पद्मासन की मुद्रा में करना चाहिए। प्रथम दोनों होंठो को चोंच की तरह गोल बनाकर आगे निकाल ले फिर भीतर जीभ को दोनों तालुओं के बीच में रखकर मन्द ध्वनि में ॐ का उच्चारण करें। उस समय दोनों नेत्र की पलके केवल आपस में मिली रहे, नेत्र बन्द न हो इसका ध्यान रखें। एक उच्चाकरण के बाद दूसरे उच्चारण के बीच एक या दो बार श्वास ले लेना चाहिए। उच्चारण के समय 'श्वास' ले ले। श्वास लेकर तब उच्चाकरण करे और उच्चाकरण के बाद पुन: श्वास लेकर प्रश्वास छोडें और छोड़कर फिर श्वास ले कर उच्चाकरण करे। श्वास भीतर जाता हैं तो उसे 'अपान' कहते हैं, वही श्वास जब बाहर निकलता हैं तो उसे 'प्राण' कहते हैं। प्राण सदैव बाहर निकलता है। ॐ का उच्चारण अपान में करना चाहिए क्योंकि उच्चारण में निकला स्वर स्वयं प्राण बन जायेगा।

उच्चारण कितनी बार करना चाहिए?

कम से कम 20 बार धीरे-धीरे यह समझने का प्रयत्न करना चाहिए कि ॐ की ध्वनि बाहर नही भीतर गूंज रही हैं यानी हृदय में गूंज रही हैं। और उच्चारण के समय उसी स्थान पर मन को स्थिर करने का प्रयत्न करना चाहिए।

उच्चाकरण में पूर्ण अभ्यास हो जाने पर प्राण संयम की ओर बढ़ना चाहिए।

पतञ्जलि ने दूसरी बार प्राण संयम की चर्चा करते हुए कहा हैं – उस प्राणायाम के द्वारा मुक्ति प्राप्त की जा सकती हैं जो श्वास-प्रश्वास के गति विच्छेद से निष्पन्न होता है (योग सूत्रस 2: 49)। प्राणायाम क्रियायोग का मूलाधार है। प्राणायाम का अभ्यास एकान्त में स्वच्छ वायु मण्डल में और ब्राह्म मुहुर्त में करना चाहिए। सर्वप्रथम पद्मासन की मुद्रा में बिल्कुल सीधा तन कर बैठना चाहिए। छाती बाहर की ओर निकली रहे। नेत्र नासिका पर स्थिर हो। ऐसी अवस्था में श्वास को पूरी तरह भीतर ले जाय। श्वास यदि पूरी तरह लिया जाय तो वह नाभि तक जाता हैं। तात्पर्य यह कि श्वास भीतर नाभि तक जाना चाहिए। पुन: एक क्षण रूककर उसी गति से प्रश्वास को बाहर निकाले। बाहर भी नाभि तक वह निकले, पेट को ढीला रखना आवश्यक हैं। कमर में कुछ भी बंधा न रहें। श्वास-प्रश्वास के बीच 1

या 2 क्षण का अन्तराल आवश्यक हैं। इस प्रकार 24 बार श्वास और 24 बार प्रश्वास लेना चाहिए। यह श्वास-प्रश्वास साधना पूरे एक मास तक करें। आपको ज्ञात होना चाहिए कि एक स्वस्थ व्यक्ति की प्राणवहा नाड़ी में इतनी प्राण शक्ति होती हैं जिसका अनुमान लगाना सरल नहीं। उस प्राण शक्ति के भण्डार का केवल एक भाग जीवनी शक्ति के रूप में शरीर में क्रियाशील रहता है। शेष तीन भाग की प्राण शक्ति षट्चक्रों के चारो ओर चक्कर लगाती रहती हैं जिसका न कोई प्रयोजन हैं और न तो है कोई परिणाम। लेकिन क्रियायोग में प्राण शक्ति के उस भण्डार का भारी मूल्य और महत्व हैं। यदि सच पूछा जाय तो क्रियायोग वस्तुतः शेष तीन भाग के प्राण की साधना है। जिस प्राण का उपयोग मानव शरीर करने में असमर्थ है, उसी प्राण को साधकर उसकी सहायता से एक सफल क्रिया योगी दीर्घ जीवि कर्मठ पूर्ण स्वस्थ और सदैव युवा बना रहता है। उसके शरीर मन और प्राणो पर काल का प्रभाव शनैः शनैः पड़ता है। उसकी चेतना इतनी विकसित हो जाती है कि वह परम तत्व की उपलब्धि के समीप पहुँच जाता है।

स्वामी जी बोले। क्रियायोगाभ्यासी का मन, प्राण और आत्मा ये तीनो एक दूसरे से जुड़े रहते हैं। समस्त इन्द्रियों पर उसका अधिकार रहता। वह इन्द्रिय विजयी होता है। पिछले जन्मो की स्मृतियाँ बराबर सजीव रहती हैं उसके मानस पटल पर। इसी कारण परिवार, समाज, संसार और यहाँ तक की जीवन के प्रति भी निरपेक्ष रहता हैं वह। मोह-माया के वशीभूत तो वह रहता ही नही कभी।

जब क्रिया योगी शरीर के लिए अनुपयोगी प्राण शक्ति को षटचक्रो के माध्यम से अपने अधिकार में कर लेता है तो उसकी जीवनी शक्ति में अठगुनी वृद्धि हो जाती हैं और दूसरी ओर उसीके श्वसन गति भी कम हो जाती हैं। वह एक मिनट में केवल चार बार श्वास लेता हैं सहज भाव से। इसी कारण वह दीर्घ जीवि होता हैं और साथ ही आयु का प्रभाव भी उस पर नहीं पड़ता। इस प्रसंग में आपको यह बतला देना चाहता हूँ कि श्वास-प्रश्वास की गति की जो चेतना हैं उसकी भिन्न-भिन्न स्थिति के बीच गणतीय संबंध होता हैं। उदाहरण के रूप में जैसे कोई व्यक्ति बौद्धिक तर्क में लीन हो या कुछ कोमल या कठिन शारीरिक असाधरण कार्य करने की चेष्टारत हो तो वह बहुत धीरे-धीरे श्वास लेगा। मन की एकाग्रता मन्द श्वसन क्रिया पर निर्भर है। तेज और विषम श्वास काम क्रोध, भय आदि जैसे हानिकारक भावावेगों सहचर हैं। चंचल और अस्थिर व्यक्ति और मानसिक रूप से रुग्ण व्यक्ति बन्दर की तरह एक मिनट में 32 से 38 बार श्वास लेता है। मनुष्य की श्वास प्रश्वास की औसतन गति प्रति मिनट 18 बार हैं। इसके विपरीत दीर्घ जीवन के लिए प्रसिद्ध हाथी, सर्प, कछुआ तथा अन्य जीवों की श्वास

गति मनुष्य से बहुत कम होती है। आपको ज्ञात होना चाहिए कि कछुआ की आयु 300 वर्ष है। क्रिया योग में सिद्ध योगी की तरह कछुआ भी नाभि से चार बार श्वास लेता है।

स्वामी जी बोले - क्रिया योग के विषय में कुछ महत्व पूर्ण विषयों की संक्षिप्त चर्चा करुगा। निद्रा की स्थिति में एक साधारण व्यक्ति की जो स्थिति होती है उसी से मिलती जुलती स्थिति एक क्रिया योगी की सदैव बनी रहती हैं।

आपको निद्रा में जो नवीन स्फूर्ति प्राप्त होती है और नया उल्लास प्राप्त होता हैं। उसका एक मात्र कारण यह है कि निद्रा की अवस्था में आपका अपने शरीर और अपने श्वास प्रश्वास के प्रति संबंध नहीं रह जाता। आप उन दोनों के प्रति अचेतन हो जाते हैं। न शरीर का बोध रहता है और न तो रहता है संसार के प्रति ही बोध। शरीर शिथिल हो जाता हैं उसके किसी भी अंग पर आपका अधिकार नहीं रहता। श्वसन क्रिया भी उस अवस्था में सम रहती है। वास्तव में आप गहरी नींद की अवस्था में एक परम योगी के समान हो जाते है।। प्रत्येक रात आप अचेतन रूप में अपने आपको देहात्म बोध से मुक्त कर लेते है। अपने शरीर का बोध नहीं रहता आपको उस अवस्था में। आपकी प्राण शक्ति भी उस अवस्था में अपने मूल केन्द्र यानी सहस्त्रार चक्र में स्थित हो जाती हैं।

इसी प्रकार आपके मेरुदण्ड में स्थित सभी चक्र सक्रिय होकर अपने आप अपने अपने लोकों से सम्पर्क स्थापित कर लेते हैं। इस प्रकार आप अनजाने में ही एक परम क्रिया योगी की अवस्था को उपलब्ध हो जाते हैं और प्रति पूरित हो जाते हैं सर्व प्राणधारिणी विश्व शक्ति से।

वारदो का प्रयोग और हिप्नोमीडिया

तिब्बत में वारदो प्रयोग का एक मात्र उद्देश्य हैं सचेतन मृत्यु और भाव शुद्धि। इसके प्रयोग से मृत्यु के समय जो स्वप्नावस्था उत्पन्न होती है उस अवस्था को बने रहने देना ताकि उसी अवस्था में व्यक्ति की मृत्यु हो। उस अवस्था में उसके कान में कहा जाता है - समझ लो तुम अपने भौतिक शरीर से अलग हो रहे हो। तुम अभी अर्ध निद्रित अवस्था में हो। अपने आप तुम यह अनुभव करो कि तुमसे शरीर अलग हो गया हैं। मृत्यु घटित हो चुकी हैं। अब तुम मृत्योपरान्त यात्रा पर निकल रहे हों। तुम्हारा मार्ग अति सुन्दर हैं। मार्ग के दोनों ओर ऊचे-ऊचे छायादार वृक्षों की पंक्तियाँ हैं। रंग बिरंगे फूलो की क्यारियाँ हैं नीले आकाश में कलरव करते हुए पक्षी उड़ रहे हैं। निश्चय ही उस नये और सुन्दर प्राकृतिक वातावरण में परम आनन्द और परम शान्ति का अनुभव हो रहा होगा।

आप सोचेंगे कि मरणकाल में ये सारी काल्पनिक बातें कहने से भला क्या लाभ? इस प्रश्न के उत्तर वारदों के ज्ञाता का कहना है कि मरणासन्न व्यक्ति के कान में हम जो शब्द डालते हैं उसके आधार पर वह अपने स्वप्न में वैसी ही सृष्टि करने लगता हैं और मरने के बाद उसी में आनन्द मग्न रहता हैं।

जिस समय इस विषय की चर्चा हो रही थी उसी समय एक युवा सन्यासी वहाँ पधारे उनका नाम था रत्नेश्वर चैतन्य। किशोरी माँ का दर्शन करने आये थे वह। उनकी आयु 30, 35 वर्ष के लगभग थी। मुख पर साधना का तेज था। लगा जैसे ज्ञान का अथाह भण्डार भरा हो उनकी आत्मा में। प्राञ्जल भाषा में उनकी वाणी फूटती तो ऐसा लगता था - मानो साक्षात बृहस्पति ही बोल रहे हो। लेह में उनका निवास स्थान था। वैसे बराबर भ्रमण ही किया करते थे वह। रत्नेश्वर चैतन्य ब्राह्मण थे और पहले सनातन धर्मावलम्बी थे। विज्ञान में स्नातकोत्तर परीक्षा उत्तीर्ण कर देश भ्रमण के लिए निकले थे। उसी काल में एक बौद्ध धर्म के अनुयायी साधक से उनकी भेंट हो गयी। उनका नाम था कन्द्रूप कश्यप। उनकी वाणी में ओज था। बौद्ध धर्म और दर्शन से संबंधित कन्द्रूप कश्यप का प्रवचन सुनकर प्रभावित हुए बिना न रह सके रत्नेश्वर चैतन्य। तत्काल बौद्ध धर्म स्वीकार कर उन्होंने सन्यास ले लिया, जिसकी दीक्षा दी कन्द्रूप कश्यप ने। वे अपने साथ अपने निवास स्थान लेह ले आये रत्नेश्वर चैतन्य को। अपने गुरु के साथ केवल दो वर्ष रहे वह। उसके बाद गुरु ने शरीर छोड़ दिया, लेकिन शरीर छोड़ने के पूर्व केवल मात्र दो वर्ष के अन्दर कई दुर्लभ यौगिक सिद्धियों का अधिकारी बना गये रत्नेश्वर चैतन्य को उनके गुरु।

रत्नेश्वर चैतन्य के व्यक्तित्व से काफी प्रभावित हुआ मैं इसमें सन्देह नहीं। उन्होंने कहा - पहले वारदो प्रयोग को अधिक महत्व नहीं दिया जाता था। लेकिन अब ऐसा नहीं समझा जा सकता हैं, क्योंकि रूस में बड़े व्यापक रूप में 'हिप्नोमीडिया' का प्रयोग चल रहा है। जो एक प्रकार से वारदों की ही तरह है। निश्चित रूप से 'हिप्नोमीडिया' का प्रयोग एक विशेष सीमा तक सफल हो रहा है। रूस के वैज्ञानिकों की यह धारणा है कि बच्चे स्कूल में पढ़ने नहीं जायेंगे। रात, नींद की अवस्था में ही उन्हे शिक्षा दी जायेगी। बच्चा जब गहरी नींद में सोता रहेगा उस समय उसके कान में एक विशेष ध्वनि पर और एक विशेष 'लेग्थवेव' पर यदि शिक्षा संबंधी बाते कही जायेगी तो उसके अवचेतन में वह प्रवेश कर जायेगी। जिसका परिणाम यह होगा कि कम से कम समय में बच्चा अपनी सामाजिक शिक्षा में पारंगत हो जायेगा। और हो जायेगा कुशल। जिस शिक्षा को प्राप्त करने में वर्षों का समय लग जाता हैं, उस शिक्षा को हिप्नोमीडिया द्वारा

अत्यधिक कम समय में ही उपलब्ध कराया जा सकेगा। समय का व्यय कम होगा और नींद में भी किसी प्रकार की बाधा उत्पन्न न होगी। केवल जागने पर बच्चे को इस बात की परीक्षा देनी होगी कि रात भर क्या-क्या हुआ?

रत्नेश्वर चैतन्य विज्ञान के स्नातक थे। हिप्नोमीडिया पर उन्होंने अच्छा अध्ययन किया था इसमे सन्देह नहीं। उन्होंने आगे कहा - हिप्नोमीडिया द्वारा कम से कम समय में इतनी शिक्षा दी जाती है इतना सब कुछ सिखाना पड़ता है और इतना सब कुछ बतलाया जाता है कि आप उसकी कल्पना भी नहीं कर सकते।

वैज्ञानिकों का कहना है कि मनुष्य के प्रारम्भिक जीवन का अति महत्वपूर्ण और अति मूल्यवान समय तथा स्वर्ण अवसर स्कूल में आठ घंटे बैठकर ही नष्ट होता रहता हैं, अधिक लोगों के जीवन में दुख का कारण यही है क्योंकि जब सर्वाधिक आनन्दित प्रफुल्लित और प्रसन्न होने के साधन रहते हैं मनुष्य के पास। जब उसका जीवन स्फूर्तिमय और तरोताजा रहता हैं और रहती हैं जीवन में उन्मुकतता, तब वह भूगोल इतिहास गणित आदि जटिल एवं दुरूह विषयों में अपना सारा समय नष्ट कर देता है। क्या प्राप्त होता है उसे? जीवन तो उपलब्ध होता नहीं उपलब्ध होती हैं केवल मात्र जीविका। कहने का सारांश यह कि इतना लम्बा जीवन नष्ट कर देता है मनुष्य केवल आजीविका के लिए।

हिप्नोमीडिया का क्या अर्थ है मैने पूछा?

निद्रा शिक्षण! रत्नेश्वर चैतन्य बोले - लेकिन इसके द्वारा भी कान में कह कर मृत्यु के समय स्वप्न उत्पन्न किया जा सकता है।

यदि किसी व्यक्ति की मृत्यु स्वप्न की अवस्था में हो तो उसे दूसरा जन्म पिछले जन्म की स्मृति के साथ उपलब्ध होगा। ऐसा बच्चा माँ के गर्भ में भी स्वप्नावस्था में ही रहेगा और जन्म भी लेगा तो स्वप्नावस्था में ही। इस प्रकार के बच्चे में और सुषुप्ति में जन्म लेने वाले बच्चे में मूल अन्तर होगा। मौलिक भेद होगा। जन्म में और जीवन में दोनों में अन्तर होगा।

जो बच्चा गर्भ में स्वप्नावस्था में रहेगा, उसके कारण उसकी माँ अनेक प्रकार के स्वप्न देखेगी। जो अपने आपमे विचित्र और अविश्वसनीय होंगे। बुद्ध और महावीर विशेष कर जैनो के चौबीस तीर्थकरों के संबंध में कथा है कि जब भी वे माँ के गर्भ में आये तो माँ ने विशेष स्वप्न देखे। चौबीस तीर्थकरों की माँ ने - सैकड़ों साल के अन्तर में भी एक ही प्रकार के स्वप्न देखे, इसलिए जैन धर्म ने उसका सम्पूर्ण विज्ञान ही निर्मितकर दिया। जैन धर्म ने यह निश्चित कर लिया कि इस प्रकार का स्वप्न किसी माँ को - हो तो समझ लेना चाहिए कि तीर्थकर जन्म लेने वाला है उसके गर्भ से।

जैनों के समान बौद्धों के भी अपने सपने हैं। जो निश्चित हैं। जब बुद्ध की चेतना की आत्मा माँ के गर्भ में प्रवेश करेगी तो माँ को वही स्वप्न दिखलायी देगा - जो निश्चित किया गया है। यहाँ एक बात यह भी समझ लेना चाहिए कि बुद्ध की चेतना की आत्मा वही होगी जो स्वप्नावस्था में मृत्यु को उपलब्ध हुआ हो। स्वप्नावस्था में ही माँ के गर्भ में भी रहा हो और स्वप्नावस्था में ही जन्म भी लेने वाला हो। ऐसी आत्मा जो जन्म लेगी, मुक्ति उसके हाथ में होगी। अपनी मुक्ति साथ लेकर जन्म लेगी वह। जन्म लेकर उसे किसी भी प्रकार की साधना उपासना या तपस्या नहीं करनी होगी मुक्ति के लिए। वह आत्मा एक परम तपस्वी एक परम योगी और एक परम साधक के रूप में जीवन व्यतीत कर अन्त में मृत्यु को स्वीकार कर चाहे तो भव सागर से सदैव के लिए मुक्त हो सकता है। जीवन मरण के चक्र से बाहर भी निकल सकता हैं यदि न चाहे तो अपने इच्छानुसार और भी जन्म ले सकता हैं और जन्म लेकर लोक कल्याण कर सकता हैं धर्म का प्रचार कर सकता है तथा सत्य का मार्ग प्रशस्त कर सकता हैं लेकिन जहाँ तक 'मुक्ति' का प्रश्न है, वह उसे तब तत्काल प्राप्त हो सकती है इसमें सन्देह नहीं। जब चाहे तब प्राप्त कर सकता है मुक्ति को। मुक्ति उसकी अपनी इच्छा पर निर्भर होगी। राम कृष्ण, वामा खेपा, विवेकानन्द, योगानन्द आदि सन्त महात्मा इसी प्रकार के महापुरुष थे। जिसके साधना सौरभ से आज भी भारत की आध्यात्मिक भूमि प्लवित है।

अवतारी पुरुष कौन?

आत्मा की जितनी भी अवस्थाएँ है - उनमें जागृत अवस्था सर्वश्रेष्ठ हैं यह परम अवस्था है और है परम ज्ञान की अवस्था। इस अवस्था में तीनों काल से आत्मा अपना ज्ञानात्मक भावात्मक और कर्मात्मक संबंध बराबर बनाए रखती है। जागृत अवस्था एक ऐसी अवस्था है, जिससे अन्य किसी भी अवस्था में आत्मा प्रवेश कर सकती है। स्वप्नावस्था में जा सकती है। सुषुप्तिवस्था में जा सकती है, तुरीय या तुरीयतीत अवस्था में भी जा सकती है। जागृत अवस्था की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इस अवस्था में आत्मा का संबंध आन्तर जगत और बहिर्जगत दोनों से जुड़ा हुआ रहता है। जब की अन्य अवस्थाओं में ऐसा सम्भव नहीं है। जागृत अवस्था को छोड़कर आत्मा अन्य जिस अवस्था में रहती है उसी अवस्था का वह होकर रह जाती हैं। अन्य किसी अवस्था का बोध उसे नहीं रहता। उस समय।

जैसे सुषुप्ति और स्वप्न की अवस्था में जन्म और मरण का उपाय है उसी प्रकार जागृत अवस्था में भी जन्म और मरण का उपाय हैं। रत्नेश्वर चैतन्य बोले

- एक बात अवश्य यहा जान लेना चाहिए वह यह कि पूर्ण चैतन्य और पूर्ण जागृत अवस्था में शरीर का त्याग करने वाला व्यक्ति साधारण नही होता, कई जन्मों का तपस्वी साधक और योगी होता है वह। मृत्यु के समय जागृत तो रहता ही है, गर्भ और जन्म के समय भी जागृत रहता है वह। जिसके फलस्वरूप पिछले जन्म की ओर गर्भ की स्मृति उसे रहती है। गर्भ मे वह कैसे था? उस अवस्था में उसे क्या-क्या अनुभव हुआ? ये सारी बातें उसे ज्ञात रहती हैं वह जीवन में भी जागृत रहता हैं यानी उसकी एक-एक क्रिया होश में होती है। वह जो भी कार्य करता हैं उसे होश पूर्वक करता है। इसी प्रसंग में आपको यह भी बतला दूँ कि 'ईश्वर' ने कभी न अवतार लिया है और न तो लेता ही हैं। उसका अंश अवतार लेता हैं जिसे 'ईश्वरांश' कहते हैं। 'ईश्वर' एक पूर्ण परम तत्व हैं वह परम तत्व सोलह अंशो में विभक्त है। उसी सोलह अंशो को तंत्र में षोडशी विद्या कहते हैं और कहते हैं षोडश कला। प्रत्येक ईश्वरांश एक विद्या है और है एक कला। ज्योतिष तंत्र के अनुसार प्रतिपदा से अमावास्या तक की प्रत्येक तिथि एक-एक विद्या और एक-एक कला हैं और हैं एक-एक ईश्वारांश, अमावस्या षोडशी कला हैं यानी सोलहवी कला हैं। इसी प्रकार पूर्णिमा पूर्ण कला है। कलाओं में काम कला सर्वश्रेष्ठ कला हैं। इसे पूर्ण कला भी कहते हैं। पूर्णकला, कामकला, पूर्णिमा का ही पर्याय हैं। चन्द्रमा की प्रत्येक कला में ईश्वरांश विद्यमान हैं। पूर्णिमा में सोलह कलाओं का समावेश है इसीलिए पूर्णिमा का अपना अलग महत्व है। भगवान श्रीकृष्ण की महारास लीला पूर्णिमा की धवल रात्रि में सम्पन्न हुई थी। महारास में श्री कृष्ण चन्द्रमा के षोडशी कला के प्रतीक थे वही राधा षोडशी विद्या की थी प्रतीक। श्री कृष्ण में पूर्ण ईश्वरत्व होते हुए भी अन्तिम एक अंश अव्यक्त था जो विष्णु रूप में शेष शैय्या पर विराजमान था। उस अंश से श्री कृष्ण ने अपने अवतार काल में सम्भवत: तीन या चार बार सहयोग लिया था। जिसमे उनका एक अर्जुन के समक्ष विराट रूप दर्शन प्रमुख हैं।

ईश्वरांश की अभिव्यक्ति

वैसे यदि विचार पूर्वक देखा जाय तो अपने सोलह अंशो सोलह कलाओं और सोलह विद्याओं के रूप में ईश्वर चराचर जगत में सर्वत्र व्याप्त हैं। जड़ पदार्थो में ईश्वर का एक अंश वृक्षों में दो अंश पशु पक्षियों में तीन अंश रहता हैं। मनुष्य में मन की प्रधानता होने के कारण उसमें तीन से सात अंश रहता हैं। लेकिन सभी मनुष्यों में नहीं। तपस्वी साधक उपासक, सत्यवादी, न्याय प्रिय कोमल स्वच्छ हृदय वाले करुणामय दयामय और क्षमाशील जैसे मनुष्य में ईश्वर का सात अंश होता

है। तमोगुणि असत्यवादी कपटी शरीर को ही केवल महत्व देने वाले मनुष्य में दो अंश होता है। सौन्दर्य प्रेमी विद्या व्यसनी शास्त्रज्ञ, त्यागी और समान व्यवहार रखने वाले विचारवान मनुष्य में पांच अंश होता है। लेखक, कवि, विद्वान, कलाकार संगीतज्ञ और मधुरवाणी बोलने वाले मनुष्य में है। अंश और साधारण अथवा निम्न वर्ग के मनुष्य में तीन और चार अंश रहता है। ऐसे मनुष्यों को अपने उन्ही अंशो की सहायता से जीवन में उन्नति करने का अवसर प्राप्त होता हैं। यदि उस अवसर को नहीं समझता है उसका मूल्यांकन नहीं करता हैं और उससे लाभ नहीं उठाता है तो वह उपलब्ध ईश्वरांश से वंचित हो जाता हैं उसकी आत्मोन्नति का मार्ग हमेशा के लिए बन्द हो जाता है। उसकी जीवनी शक्ति संचालित रहे, इसके लिए मात्र एक अंश रह जाता है उसमें शेष।

रत्नेश्वर चैतन्य थोड़ा रूककर आगे बोले - भगवद् उपासना, जप साधना, मंत्र साधना, योग साधना आदि जितनी भी उच्च, स्तरीय आध्यात्मिक साधनाए हैं - वे सक ईश्वरांश की वृद्धि के लिए हैं। उच्चकोटि के योगी साधक और महात्मसओं में दस से बारह ईश्वरांश होता हैं। इस कोटि के दिव्य महापुरुष तीनों अवस्थाओ में पूर्ण जागृत और पूर्ण चैतन्य रहते हैं। ऐसे परममानव के अधिकार में जन्म और मृत्यु दोनों रहता है। जब वे जन्म लेना चाहेंगे - लेंगे। अन्यथा नहीं लेंगे। इसी प्रकार वे जब शरीर त्याग करना चाहेंगे - त्याग कर देंगे। अन्यथा नहीं करेंगे। कहने की आवश्यकता नहीं ऐसे ही परममानव अथवा महापुरुष को हमारा हिन्दू धर्म सिद्ध पुरुष कहता है। सिद्ध पुरुष के ऊपर अवतारी पुरुष है। उनमें एक अंश अधिक होता है यानी तेरह ईश्वरांश होता हैं। सिद्ध पुरुष और अवतारी पुरुष में थोड़ा अन्तर है। सिद्ध पुरुष किसी भी समय परम सत्ता में विलीन हो सकते है। किसी भी क्षण मोक्ष अथवा परम मुक्ति को उपलब्ध हो सकते हैं और किसी भी क्षण परमकैवल्य व परम धाम कर सकते हैं उपलब्ध। उनके लिए किसी प्रकार की बाधा नहीं।

जैसाकि मैंने कहा सिद्ध पुरुष और अवतारी मात्र थोड़ा अन्तर हैं और वह अन्तर यह कि जो सिद्ध पुरुष परम धाम को उपलब्ध हो गये हैं लेकिन उनकी आत्मा, परमात्मा में लीन नहीं हुई है, दोनों एकाकार नहीं हुए हैं, ऐसे सिद्ध पुरुष को ईश्वर अथवा परमात्मा संसार के निमित्त अपने किसी विशेष उद्देश्य की पूर्ति के लिए जगत में जब अपनी प्रेरणा से भेजता है तो उसी को अवतारी पुरुष कहते है। अवतारी पुरुष में मानव शरीर धारण करने की कोई अभिलाषा नहीं होती। उनके जन्म लेने का कोई कारण भी नहीं होता। न कोई इच्छा न कोई कामना होती है और न तो होता है कोई उद्देश्य ही। वे ईश्वर की प्रेरणा से और उसके

लक्ष्य की सिद्धि के लिए उसकी ओर से संसार में अवतरित होते हैं। और लक्ष्य की पूर्ति होते ही शरीर और संसार का त्याग कर विदा हो जाते है। वास्तव में अवतारी पुरुष ईश्वन पुत्र होता है। ईश्वर की प्रेरणा के वशीभूत होकर मानव शरीर ग्रहण करता है वह। यह कहना साधुतर होगा कि परम ब्रह्म परमेश्वर अथवा ईश्वर अवतारी पुरुषों के माध्यम से मानव कल्याण के निमित्त अपने उद्‌देश्य को साकार करता है। इसीलिए अवतारी पुरुषों को भगवान भी कहते हैं क्योंकि ईश्वर उसके माध्यम से भव यानी संसार का भाव करता हैं, कल्याण करता है, और दुर्जनों का करता है नाश। भगवान राम, भगवान श्री कृष्ण और भगवान बुद्ध ऐसे ही अवतारी सिद्ध महापुरुष थे इसमे सन्देह नहीं।

जागृत, स्वप्न और सुषुप्ति में मनुष्य का जन्म

दो घंटे के सत्संग में जो आध्यात्मिक उपलब्धि मुझे हुई थी रत्नेश्वर चैतन्य से उसी के चिन्तन-मनन में डूबा बैठा था मैं काली नदी के किनारे मौन साधे। सायंकाल हो चुका था। काली मन्दिर में काली की पूजा आरती कर रहे थे पुजारी जी। शंख घंटे की आवाज मन्दिर के वातावरण में गूंज रही थी। अचानक हवा की दिशा में परिवर्तन हो गया और उसी के साथ आकाश में काले भूरे बादल घिरने लगे। पानी बरसेगा - ऐसा लगा मुझे। और तभी गौरी माँ की आवाज सुनाई दी - मुझे बुला रही थी वह। उठकर उनकी कुटिया में चला गया मैं। भीतर हल्का पीला प्रकाश फैल रहा था लालटेन का। मैंने देखा - रत्नेश्वर चैतन्य समाधि में बैठे हुए थे। उनके शरीर के चारो ओर हल्के सुनहले रंग का वलय था। कुटिया का वातावरण अत्यना रहस्यमय लगा मुझे। गौरी माँ बोली - पूरी रात इसी प्रकार समाधि की स्थिति में रहेंगे रत्नेश्वर चैतन्य। कल इनकी एक शिष्या मानसरोवर से यहाँ आयेगी इनका दर्शन करने, नाम हैं राजेश्वरी। पिछले तीस वर्षो से मानसरोवर की एक गुफा में साधनारत हैं राजेश्वरी जी। अवस्था तो बहुत हैं उनकी। लेकिन अभी तक काल का प्रभाव उन पर नहीं पड़ा है।

कहने की आवश्यकता नहीं दूसरे दिन प्रातः काल आ गयी साधिका राजेश्वरी। अत्यन्त आकर्षक व्यक्तित्व था उनका। बड़ी-बड़ी स्वप्निल आँखे, लम्बे घने केश बिखरे थे पीठ पर, गौरी माँ शरीर और उस गौरांग शरीर पर कषाय वस्त्र। चार पाँच दिन गौरी माँ के यहाँ रूकना था साधिका राजेश्वरी को और फिर रत्नेश्वर चैतन्य के साथ उन्हें जाना था नेपाल। एक लम्बा समय व्यतीत हो गया था वाराणसी छोड़े मुझे भी।

चारो ओर बर्फ ही बर्फ चारो ओर होने वाली अनवरत हिमपात सुनसान उदास घाटियों और अपने आपमें डूबे हुए तिब्बत वासियों को देखते-देखते मन जैसे उब गया था अब। इसलिए सोचा, अवसर अनुकूल है रत्नेश्वर चैतन्य माँ राजेश्वरी के साथ नेपाल चला जाय। फिर वहाँ किशोरी माँ से मिलना भी है। उनका दर्शन कर नेपाल से वाराणसी की यात्रा पर निकलने की सुविधा होगी। जब मैंने अपने विचार को व्यक्त किया तो गौरी माँ ने आज्ञा दे दी मुझे जाने के लिए। जब माँ राजेश्वरी ने सुना कि किशोरी माँ मुझसे परिचित है और नेपाल में मुझे बुलाई भी हैं तो अति प्रसन्न हुई वह। किशोरी माँ से स्वयं वह परिचित थी और स्वयं वह भी उनसे मिलने वाली थी। इसी को कहते है संयोग और नियति का विधान। थोड़ा संकोच भरे स्वर में मैंने रत्नेश्वर चैतन्य से कहा - मेरा विषय अधूरी रह गया है और समय भी कम है, क्या आप उसे पूर्ण कर देंगे। हाँ? हाँ? क्यों नहीं - रत्नेश्वर चैतन्य बोले।

जागृत जन्म का आध्यात्मिक रहस्य

जब कोई जागृत व्यक्ति जन्म लेता है तो उसके लिए माता-पिता का सम्भोग घटित नहीं होता। उसके जन्म के लिए सम्भोग की आवश्यकता नहीं। काम वासना से उसका कोई संबंध नहीं। क्योंकि काम वासना उसके जन्म का कारण नहीं बनती। ऐसा व्यक्ति पवित्र कुंवारी कन्या के माध्यम से मानव शरीर धारण करता हैं। हिन्दू धर्म का यह अत्यन्त गम्भीर आध्यात्मिक रहस्य हैं। कभी किसी समय इसके विज्ञान से भारत के लोग भलीभांति परिचित थे। लेकिन जो धर्म इस विज्ञान से अपरिचित था उसे सामाजिक दृष्टि से अत्यधिक कठिनाईयों का सामना करना पड़ा था। उदाहरण के रूप में आप क्रिश्चियन धर्म को ही ले लीजिये। जीसस पूर्ण रूप से जागृत व्यक्ति थे, कुवारी कन्या से जन्म हुआ था ईसा का और ईसाइयत इसके रहस्य से अपरिचत था। उसने सपने भी कल्पना नहीं की थी कि बिना सम्भोग के और बिना काम वासना के कैसे ऐसी घटना घट सकती है? कैसे एक कुंवारी कन्या से सन्तान उत्पन्न हो सकती है?

महाभारत की कुन्ती भीं कुवारी माँ थी। कर्ण का जन्म कुवारी माँ कुन्ती से हुआ था, बिना काम वासना के।

सुप्तावस्था में मृत व्यक्ति कुंवारी कन्या के गर्भ से जन्म नहीं ले सकता। वह स्वभावत पूर्ण रूप से पाशविक वृत्ति से काम वासना से और सम्भोग से जन्म लेगा। परस्त्री से हटात, बलात और बिना मानसिक तारतम्य के हुए सम्भोग से ऐसे व्यक्ति का प्राय: अधिक जन्म होता है। इसी को काम सृष्टि कहते हैं। सोयी

हुई अवस्था में मरकर जन्म लेने वाले व्यक्ति के जन्म में और पशु पक्षियों के जन्म में कोई अन्तर नहीं होता। ऐसा जन्म भी कामज सृष्टि कहलाता हैं। जैसे एक पशु जन्म लेता है वैसे ही एक सोया हुआ व्यक्ति भी जन्म लेता हैं।

सम्भोग के तीन तल

सम्भोग के तीन तल हैं - शारीरिक तल, मानसिक तल और आत्मिक तल। स्थूल शरीर और वासना शरीर ये दोनों संयुक्त हैं आपस में। यह पहला शारीरिक तल हैं। इस तल पर होने वाले सम्भोग से सोया हुआ व्यक्ति जन्म लेता है। इस सम्भोग के मूल में घृणा, क्रोध, हिंसा, बलात्कार, अनिच्छा, पाशविकता, दुराचारिता, चरित्रहीनता आदि है तो जन्म लेने वाले व्यक्ति में ये सारे दुर्गुण जन्मजात होंगे। यदि केवल कामवासना हैं और है शारीरिक आवश्यकता तो जन्म लेने वाला व्यक्ति जीवन भर मध्यम श्रेणी का ही बना रहेगा। उसके लिये शरीर और भोजन के साथ साथ काम वासना मुख्य होगी। शरीर को महत्व देगा। भोजन में अधिक रूचि लेगा। काम वासना से पीड़ित रहेगा।

सूक्ष्म शरीर और मनोमय शरीर का आपस में सामञ्जस्य है। दोनों में तादात्म्य है। यह दूसरा मानसिक तल है। पहले तल में प्रत्यक्ष में सम्भोग तो करता हैं स्थूल शरीर, लेकिन उसकी सुखानुभूति होती है वासना शरीर में! इसी प्रकार इस दूसरे तल पर माध्यम तो बनता है स्थूल शरीर लेकिन सम्भोग करता है सूक्ष्म शरीर लेकिन उसकी सुखानुभूति होती हैं मनोमय शरीर में। इस तल पर होने वाले सम्भोग से स्वप्न वाला व्यक्ति जन्म लेता है। इस सम्भोग की अपनी विशेषता हैं और यह कि इस सम्भोग के मूल में प्रेम स्नेह त्याग अपनत्व सौन्दर्य, आनन्द आदि का भाव रहता है सम्भोग के दूसरे तल से जन्म लेने वाला व्यक्ति में प्रेम स्नेह, त्याग और अपनत्व का भाव सर्वाधिक होता है। वह कवि, लेखक, विद्वान और किसी न किसी रूप में ख्याति प्राप्त व्यक्ति होता है। उसका व्यक्तित्व सुन्दर और आकर्षक होता है। कपट, दुराचार, घृणा, ईर्ष्या आदि तो उसमे रहता ही नहीं। प्रकृति के निकट रहने वाला और सौन्दर्य प्रेमी होता है। कोई-कोई उच्च कोटि के कलाकार और अभिनेता भी होते हैं। कभी कदा संयोगवश इस तल के सम्भोग से ईश्वर के परम भक्त और योग-तंत्र के साधक भी जन्म ले लिया करते है।

तीसरा तल हैं आत्मिक तल। इस तल के सम्भोग का संबंध केवल आत्मा से हैं। यह अत्यन्त सूक्ष्म से सूक्ष्मतम सम्भोग का तल हैं, जिसमें केवल एक योग मार्गीय तंत्र साधक ही प्रवेश कर सकता है। अथवा उच्चकोटि का संस्कारी और धार्मिक व्यक्ति। जिसके पिछले कई जन्मों के शुभ संस्कार उदय हुए हो जो पिछले

कई जन्मों का पुण्यात्मा और धर्मात्मा हो वही व्यक्ति सम्भोग के तीसरे तल को उपलब्ध हो सकता है। और यह तीसरा तल आत्मा का तल है। इस तल पर शुद्धतम सात्विक भाव विचार और उच्चतम मन:स्थिति का महत्व हैं।

सम्भोग का आत्मिक तल और तंत्र योग

तांत्रिक पंचमकार में जो मैथुन है उसका संबंध आत्मिक तल के सम्भोग से समझना चाहिए तंत्र योग के अनुसार आत्मिक तल के सम्भोग का उद्देश्य अद्वैत सिद्धि हैं। अद्वैत लाभ को उपलब्ध होने तक साधक को इस तल की कई महत्वपूर्ण श्रेणियाँ पार करनी पड़ती है। यह अपने आपमे अत्यन्त रहस्यमय गूढ़ विषय हैं। मैं यहाँ संक्षिप्त में ही चर्चा करूँगा। इस सम्भोग को तंत्र की भाषा में आत्म मिलन सामञ्जस्य महामिलन और अद्वैत लाभ कहते हैं। प्रथम श्रेणी में शारीरिक सम्भोग होता हैं - जिसकी आनन्दानुभूति और सुखानुभूति आन्तर मन को होती हैं। और इस सम्भोग के गर्भ से जो जन्म लेता हैं वह जागृत व्यक्ति होता हैं। जिसको मैंने अवतारी पुरुष कहा है - उनका आविर्भाव किसी भी प्रकार के शारीरिक सम्भोग से नहीं बल्कि आत्म मिलन अथवा आत्म सामञ्जस्य से होता हैं, जिसको महामिलन भी कहते है। यही मिलन कालान्तर में अद्वैत सिद्धि में परिवर्तित हो जाता हैं। जिसकी उपलब्धि तंत्र योग का एक मात्र उद्देश्य है।

स्त्री, पुरुष के विभिन्न चार शरीर और योग तांत्रिक साधना

वैसे तो मैं अपनी पुस्तक कुण्डलिनी शक्ति में स्त्री पुरुषों के विभिन्न सात शरीरों की विस्तृत चर्चा की हैं यहाँ पर रत्नेश्वर चैतन्य ने अपनी दृष्टि से तांत्रिक आधार पर चार शरीरों की जो चर्चा की हैं उसकी अपनी विशेषता है। इसी कारण उसे यहाँ उपदिष्ट कर रहा हूँ, इसलिए कि योग तांत्रिक दृष्टि से यह चर्चा अपने आपमे अति महत्वपूर्ण हैं।'

रत्नेश्वर चैतन्य बोले - वैसे तो आत्मा के सात शरीर हैं जिनमें पाँचवा शरीर स्वयं उसी का शरीर है जिसे आत्म शरीर कहते हैं। इसके पहले के चार शरीरों तक स्त्री-पुरुष में शारीरिक अन्तर है। उसके बाद अन्तर समाप्त हो जाता हैं। आत्म शरीर, पुरुष शरीर भी हो सकता हैं स्त्री शरीर भी उसमें लिंगभेंद नहीं हैं। लिंग भेंद वहाँ समाप्त हो जाता है।

स्थूल शरीर, भाव शरीर, वासना शरीर, प्रेत शरीर इसी भाव शरीर का पर्याय नाम है। सूक्ष्म शरीर और मनोमय शरीर। ये चारो शरीर क्रमश: एक दूसरे से जुड़े

हुए हैं। प्रत्येक अवस्था में किसी एक शरीर का अस्तित्व किसी न किसी रूप में अवश्य बना रहता है। जैसे स्थूल शरीर नष्ट हो गया तो भाव शरीर का अस्तित्व सामने आ जायेगा और वह स्थूल शरीर का स्थान ग्रहण कर लेगा। इसी प्रकार वह भी नष्ट हो गया तो उसका स्थान सूक्ष्म शरीर ग्रहण कर लेगा। इसी प्रकार आगे भी समझना चाहिए। पांचवा आत्म शरीर की अपनी एक विशेषता है और वह यह कि अपना निजका शरीर होने के कारण आत्मा एक प्रकार से स्वतंत्र हो जाती हैं। उसके पीछे रहते हैं - स्थूल शरीर, भाव शरीर, सूक्ष्म शरीर और मनोमय शरीर और सामने रहते हैं ब्रह्माण्डीय शरीर और निर्वाण शरीर। यदि वह चाहे तो मनोमय शरीर और सूक्ष्म शरीर की रचनाकर उनके साथ सीधे स्थूल शरीर ग्रहण कर सकती है। आत्म लोक से सीधे भूलोक में आकर स्थूल शरीर में जन्म लेने वाली आत्मा अपने दैवी गुणो और आध्यात्मिक विचारों से जगत का बहुत कल्याण करती है। इसी प्रकार यदि वह चाहे तो ब्रह्माण्डीय शरीर तदुपरान्त निर्वाण शरीर ग्रहण कर परम अवस्था को प्राप्त कर सकती हैं जीवन-मरण से सदैव के लिए मुक्त हो सकती है। उसकी इच्छा पर निर्भर है।

चार शरीर मुख्य हैं इसलिए कि मनुष्य की जीवन यात्रा में ये चारों शरीर एक प्रकार के वाहक हैं। कभी वह स्थूल शरीर से तो कभी भाव शरीर से तो कभी सूक्ष्म शरीर तो कभी मनोमय शरीर से यात्रा करता है। इन चारों शरीरों के माध्यम से उसकी यात्रा कब और कहाँ से शुरू हुई हैं और कब और कहाँ जाकर समाप्त होगी - यह बतलाया नही जा सकता।

यहाँ एक महत्वपूर्ण बात यह कि चारो शरीर पुरुष के न होते है और न तो होते है स्त्री के ही। पहला शरीर पुरुष का है तो दूसरा शरीर है स्त्री का। इसी प्रकार तीसरा शरीर है पुरुष का तो चौथा शरीर है स्त्री का। इसके ठीक विपरीत पहला शरीर स्त्री का है तो दूसरा शरीर पुरुष का हैं। ऐसे ही तीसरा स्त्री का है तो चौथा शरीर है पुरुष का। यहाँ यह भी समझ लेना चाहिए कि स्त्री शरीर में रिणात्मक विद्युत चुम्बकीय तत्व विद्यमान रहता है जबकि पुरुष शरीर में रहता है धनात्मक विद्युत चुम्बकीय तत्व। पहला तत्व सौम्य और शान्त तत्व है जबकि दूसरा तत्व है प्रबल और आक्रामक। पहला ऋणात्मक विद्युत ध्रुव है और दूसरा है धनात्मक विद्युत ध्रुव। एक दूसरे के अभाव में सक्रिय हो ही नही सकते। दोनों के बीच प्रबल आकर्षण होता है। इसी विद्युत चुम्बकीय आकर्षण के कारण पहले और दूसरे शरीर के तत्व तथा तीसरे और चौथे शरीर के तत्व आपसे दूध पानी की तरह मिले जुले रहते है।

स्त्री पुरुष के स्थूल शरीर के सम्भोगावस्था से उत्पन्न सोया व्याक्ति अपने पिछले जन्म के अच्छे-बुरे कर्मो के अनुसार अपनी जीवन यात्रा पूरी करता है।

उसकी आत्मा साधारण और निम्न कोटि की होती हैं। ऐसा व्यक्ति जब तक विचारो में जीता हैं तब तक वह मनुष्य है और जब विचारों से गिर जाता हैं तो वह पशु समान है। मनुष्य और पशु में यही अन्तर हैं। यदि विचारों से न गिर कर विचारों से ऊपर उठ जाता है तो तब वह देवस्तर का दिव्य पुरुष हो जाता हैं। विचारों में रहना मनुष्य विचारों से गिरना पशु और विचारों से ऊपर उठना दिव्य अथवा देव, ये तीन स्तर है मनुष्य के।

विज्ञान के अनुसर दोनों में से कोई भी ध्रुव अकेला नहीं रह सकता। दोनों के बीच आकर्षण-विकर्षण बराबर होता रहता है। स्त्री का पहला स्थूल शरीर ऋणात्मक हैं इसलिए कभी भी वासनात्मक आक्रमण नहीं कर सकती। वह आक्रमण को सहनकर सकती हैं आक्रमण कर नहीं सकती। पुरुष का स्थूल शरीर धनात्मक हैं इसलिए वह आक्रामक हैं। अपनी आक्रामक प्रवृत्ति के अनुसार स्त्री को न चाहते हुए भी वह वासनात्मक आक्रमण उस पर कर सकता हैं।

ऋणात्मक का अर्थ शून्य मत समझिए। वैज्ञानिकों की भाषा में इसका अर्थ है संग्राहक। स्त्री का भौतिक शरीर एक ऐसा शरीर है जिसमें एक विशेष प्रकार की नैसर्गिक शक्ति संरक्षित रहती है। वह बहुत बड़ी शक्ति हैं लेकिन सक्रिय नहीं है वह। और यही कारण है कि स्त्रियाँ किसी भी प्रकार का मौलिक निर्माण या सृजन नहीं कर सकती। कोई मौलिक अन्वेषण भी नहीं कर सकती, क्योंकि इन सबके लिए आक्रामक होना आवश्यक हैं। वे केवल सन्तान उत्पन्न कर सकती जो प्रकृति प्रदत्त गुण है। मातृत्व का उच्च पद प्राप्त कर सकती है। इसी कारण, मातृ अंक को परम पद से भी श्रेष्ठ माना गया है।

पुरुष का पहला शरीर स्थूल शरीर स्वस्थ और मजबूत होता हैं। साधारणत: शक्तिशाली भी होता है लेकिन उसका दूसरा शरीर स्त्रैण होने के कारण कमजोर होता हैं। उसमें शक्ति की मात्रा कम होती है। इसलिए उस शरीर की शक्ति अल्प मात्रा में और कुछ ही समय के लिए प्रकट होती हैं। और यही कारण है कि सम्भोग में वासना में और प्रेम में ही नहीं बल्कि दुख, कष्ट, वेदना, पीड़ा, व्यथा, क्लेश, यातना और सहनशीलता में भी अधिक समय तक उसका साथ वह नही दे सकता। इसलिए कि सब कुछ सहने की क्षमता पुरुष से अधिक स्त्री में हैं। पुरुष दीर्घकाल तक कोई भी बिमारी झेल नहीं सकता। कोई भी कष्ट दीर्घकाल तक सहन नहीं कर सकता। लेकिन स्त्री झेल सकती है और सहन भी कर सकती हैं।

पुरुष के पास शारीरिक शक्ति अवश्य हैं इसमें सन्देह नहीं लेकिन उसका दूसरा शरीर उतना ही कजोर हैं। झेलने और सहने की शक्ति अधिक होने के कारण

स्त्रियाँ पुरुषों की अपेक्षा कम अस्वस्थ होती हैं। उनकी आयु भी अधिक होती हैं। इसीलिए हिन्दू धर्म ने विवाह के समय स्त्री पुरुष के बीच कम से कम पाँच वर्ष का अन्तर रखने का नियम बनाया। इस नियम का वैज्ञानिक आधार यह है कि पुरुष की आयु स्त्री की आयु से 5 से 7 साल कम हैं। इस अन्तर से स्त्री पुरुष के बीच सामञ्जस्य स्थापित हो जाता हैं किसी न किसी प्रकार। जैसा कि मैंने आपको बतलाया है कि पुरुष का तीसरा शरीर सूक्ष्म शरीर पौरोषय होता हैं और चौथा शरीर मनोमय शरीर होता है स्त्रैण। इसी प्रकार स्त्री का सूक्ष्म शरीर स्त्रैण होता हैं और मनोमय शरीर होता है पौरुषेय।

स्त्री के सूक्ष्म शरीर और मनोमय शरीर आपस में जुड़कर एक विशेष प्रकार का विद्युम चुम्बकीय वृत्त का निर्माण करते है। इसी प्रकार पुरुष के सूक्ष्म शरीर और मनोमय शरीर आपस में जुड़कर एक विशेष प्रकार का विद्युत चुम्बकीय वृत्त का निर्माण करते हैं। वृत्त से एक विद्युत ऊर्जा उत्पन्न होती है जो पुरुषों के तेज, अथवा ओज के रूप में प्रकट होता है और स्त्रियों में लावण्य के रूप में होता है प्रकट। आभा कान्ति, प्रभा आदि उसी के पर्याय हैं।

मानवेतर आत्माओं का मानव शरीर में जन्म

रत्नेश्वर चैतन्य बोले - यदि विचार पूर्वक देखा जाय योग-तंत्र की शुरू से लेकर अन्त तक की समस्त साधनाओं की मूल भित्ति एक मात्र काम है। 'काम' शिव हैं और उसकी सहचरी कामेश्वरी 'शक्ति' है। शिव-शक्ति का संयोग अथवा 'सामरस्य' एक अपूर्व यहा मिलन है। महा मिलन 'तंत्र' का अद्वैत भाव है। इसी भाव की उपलब्धि योग तांत्रिक साधना का एक मात्र लक्ष्य है। और इस लक्ष्य की प्राप्ति होती है आन्तर सम्भोग से। योग तंत्र साधक शिव स्वरूप हैं और उसकी सहचारी - जिसे तंत्र की भाषा में भैरवी कहते हैं - शक्ति स्वरूपा हैं। वैसे तो यह तंत्र की अत्यन्त गोपनीय और साथ ही गुह्य साधना है। लेकिन संक्षिप्त में आपको मैं बतला देता हूँ इसे।

गुरू प्रदत्त योग तंत्र की विशेष क्रियाओं द्वारा यह साधना अनुष्ठित होती है। साधक-साधिका के भौतिक शरीर और वासना शरीर का इस मार्ग में कोई महत्व नहीं है और न तो है आवश्यकता, लेकिन साधना मार्ग में प्रविष्ट होने के लिए आधार की दृष्टि से भौतिक शरीर का आश्रय लेना अनिवार्य हो जाता है। क्योंकि बिना स्थूल का आश्रय लिए सूक्ष्म में प्रवेश करना असम्भव है।

योग-तांत्रिक क्रिया द्वारा सर्वप्रथम शारीरिक मिलन के माध्यम से अपने भौतिक शरीर में विद्यमान पंचतत्वों को साधक, साधिका के शरीर में विद्यमान पंच तत्वों

से संयुक्त करता है। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश ये पाँच भूत पंचतत्व हैं। प्रथम दोनों के पृथ्वी तत्व संयुक्त होते हैं। उसके बाद क्रम से दोनों के जल तत्व अग्नि तत्व और वायु तत्व संयुक्त होते है। और एक दूसरे में विलीन हो जाते हैं। पृथ्वी, जल में जल अग्नि में अग्नि वायु में लीन हो जाता हैं और अन्त में आकाश तत्व शेष बचता है। इस तत्व में अन्तिम तत्व वायु विलीन हो कर अपना अस्तित्व खो देता है। केवल शेष रह जाता है आकाश तत्व जिसमें साधक-साधिका दोनों के आकाश तत्व मिश्रित रहते हैं। उसमें पहले दोनों के प्राण संयुक्त होकर स्थित होते हैं और उसके पश्चात दोनों के मन संयुक्त होकर प्राण द्वारा आकाश तत्व से सामञ्जस्य स्थापित करते हैं। जिसके फलस्वरूप साधक और साधिका दोनों की बाह्य चेतना लुप्त हो जाती है। अस्तित्व भी विस्मृत हो जाता है। दोनों एकाकार होकर अपने आपमें परम शून्य का अनुभव करते हैं। वह अनुभव अवर्णनीय है। योग-तंत्र की भाषा में यह एक विशेष प्रकार की साम्यावस्था हैं जिसे अस्थायी अद्वैत भाव भी कह सकते हैं। योग-तंत्र की यह एक प्रथम महत्वपूर्ण उपलब्धि है। इस उपलब्धि के बाद आन्तर सम्भोग के आश्रय से योग तंत्र की सूक्ष्म से सूक्ष्मतम साधना का मार्ग प्रशस्त होता हैं। जिसके प्रथम चरण में साधक का दूसरा स्त्रैण शरीर और साधिका का पौराषेय शरीर संयुक्त होता हैं और उससे जो विद्युत चुम्बकीय शक्ति उत्पन्न होती हैं - उससे आकर्षित होकर यक्ष गन्धर्व और किन्नर लोक की मानवेतर आत्माएँ मानव शरीर में आविर्भूत होती है और संसार में गायन वादन और नृत्य आदि कलाओं के क्षेत्र में नया आयाम स्थापित करती हैं।

इसी प्रकार दूसरे चरण में साधक का पौरूषेय शरीर और साधिका का स्त्रेण शरीर संयुक्त होता है। जिसके फलस्वरूप एक विशेष प्रकार की प्रचण्ड विद्युत चुम्बकीय शक्ति उत्पन्न होती है जिससे उच्च कोटि की देवात्माएँ दिव्यात्माएँ और ऋषि मण्डल की आध्यात्मिक आत्माएँ मानव देह धारण कर लोकोपकार और लोक कल्याण करती है। अन्तिम तीसरा चरण है। इस चरण में महाकाश में साधक-साधिका की आत्माओं का मिलन होता है। महाकाश के बाद परमाकाश इस आकाश में दोनों की आत्माओं को अपने अपने निज स्वरूप का बोध अथवा ज्ञान होता है। परमाकाश के बाद है चिदाकाश। इस आकाश में दोनों की आत्माएँ एक दूसरे में सदैव के लिए विलीन हो जीती हैं। योग-तंत्र की भाषा में इसी अवस्था को कहते हैं सामञ्जस्य महामिलन, शिव शक्ति योग और कहते हैं पूर्ण अद्वैत लाभ।

मैंने तंत्र साधना प्रसंग में तीन शरीर की ही चर्चा की है, भाव शरीर की नहीं, इसलिए कि योग-तांत्रिक साधना में वासना शरीर का कोई महत्व नहीं हैं।

चार शरीर तक स्त्री-पुरुष का विभाजन हैं। आत्म शरीर यौन भेद से परे है। इसलिए आत्मबोध और आत्मज्ञान होते ही स्त्री-पुरुष का भाव समाप्त हो जाता हैं।

तीन शरीर और तीन अवस्थाएँ

रत्नेश्वर चैतन्य बोले - मैंने प्रारम्भ में तीन अवस्थाओ की चर्चा आपसे की थी - जागृत स्वप्न और सुषुप्ति। इन तीनो अवस्थाओं का संबंध मृत्यु से भी समझना चाहिए। और जन्म से भी। जागृत अवस्था का संबंध स्थूल शरीर से स्वप्नावस्था का संबंध सूक्ष्म शरीर से और सुषुप्ति अवस्था का संबंध कारण शरीर से है। जागृत अवस्था में आपका अस्तित्व स्थूल शरीर में रहता है। निद्रा काल में जब आप सपनों के संसार में विचरण करते हैं उस समय आपका अस्तित्व सूक्ष्म शरीर में रहता हैं। इसी प्रकार जब आप प्रगाढ़ सुषुप्ति की अवस्था में रहते है उस समय आपका अस्तित्व कारण शरीर में रहता हैं। मनोमय शरीर और आत्म शरीर का कुछ अंश मिलकर कारण शरीर बनता है। आत्म शरीर का उतना ही अंश मनोमय शरीर में मिला हुआ होता है जितना वह मन से संबंधित है।

प्रगाढ़ सुषुप्ति की अवस्था में आन्तर चेतना और बर्हिचेतना दोनों लुप्त हो जाती हैं। 'मैं' का अथवा अपने अस्तित्व का बोध भी समाप्त हो जाता है। यदि किसी का अस्तित्व रहता है तो केवल आत्मा का और वह भी साक्षी रूप में।

योग के अनुसार सुषुप्ति के तीन चरण हैं। पहले चरण में आपका अपने स्थूल शरीर से संबंध भंग होता है। दूसरे चरण में आपका अपने सूक्ष्म शरीर से संबंध टूटता है। इसी प्रकार तीसरे चरण में अपने कारण शरीर में आपका अस्तित्व रहता है। यह गहन मूर्च्छा की स्थिति समझी जाती हैं जिसे मेडीकल साइन्स 'कोमा' कहता हैं। संयोग वश ही कोई 'कोमा' से अपने सूक्ष्म शरीर और तत्पश्चात् अपने स्थूल शरीर में वापस लौटता है। गहन मूर्च्छा की स्थिति कब तक बनी रहेगी? यह बतलाया नही जा सकता निश्चित रूप से। इस स्थिति में बाह्य ज्ञान और आन्तर ज्ञान दोनों लुप्त हो जाते हैं। शून्य के अतिरिक्त कुछ नहीं रह जाता शेष। यही वह अवस्था हैं जब 'आत्मा' अपने तीनों शरीरों का त्याग कर अनन्त यात्रा पर निकल पड़ती हैं, लेकिन यह नहीं भूलना चाहिए कि 'आत्मा' बिना शरीर के एक पल नहीं रह सकती? वह तत्काल अपनी वासना के आधार पर स्वयं एक ऐसे शरीर की रचना कर लेती हैं, जिसे 'भाव शरीर' वासना शरीर अथवा आकाशीय शरीर कहते हैं। और कहते हैं प्रेत शरीर। लेकिन यह शरीर अल्पकालीन हैं। सूक्ष्म शरीर के उपलब्ध होते ही आत्मा वासना शरीर का त्याग कर सूक्ष्म शरीर ग्रहण कर लेती है। इसी को कहते है 'प्रेत मुक्ति'। जब तक सूक्ष्म शरीर प्राप्त नहीं

हो जाता तब तक प्रेत शरीर में आत्मा इधर उधर भटकती रहती है। उसे शान्ति नहीं मिलती। वह अपनी कामनाओं इच्छाओं और वासनाओं की पूर्ति के लिए सदैव व्याकुल रहती है।

मृत्यु और पुनर्जन्म के बीच की जो स्थिति हैं उसका ज्ञान मनुष्य को क्यों नहीं रहता - मेरे इस प्रश्न के उत्तर में रत्नेश्वर चैतन्य बोले - उस स्थिति की स्मृति इसलिए नहीं रहती कि बहिर्ज्ञान और आन्तर ज्ञान का जो अभाव रहता है उस समय। यदि जन्म लेने पर स्मृति कोई रहती है तो पिछले जन्म की और वह भी जन्म के दो-तीन वर्ष तक अधिक से अधिक। प्रेत मुक्ति कैसे होती है - मेरे इस प्रश्न के उत्तर मेंरत्नेश्वर चैतन्य ने कहा - वैसे प्रेत योनि से स्वयं मुक्ति तभी होती हैं जब वासना क्षीण हो जाती है। क्षीण होने में कितना समय लगेगा यह निश्चित रूप से नहीं बतलाया जा सकता। लेकिन जब तक वासना का क्षय नहीं होगा तब तक प्रेत मुक्ति सम्भव नहीं। आत्मा बराबर भटकती ही रहेगी प्रेत शरीर में रहकर। इसका कोई लौकिक उपाय भी तो होगा-मैंने प्रश्न किया?

हाँ! क्यों नहीं, रत्नेश्वर चैतन्य बोले-हिन्दू धर्म में श्राद्धादि कर्म, ब्राह्मण भोजन, मृतक की प्रिय वस्तुओं का दान, तार्थ तर्पण भगवद् कथा आदि प्रेत मुक्ति के लिए ही तो है, लेकिन विधिवत् तथा शास्त्रानुकूल ये सब किया जाय तभी सम्भव है, अन्यथा नहीं। (इस संबंध में विशेष अध्ययन के लिए पढ़े - मरणोत्तर जीवन का रहस्य)

जैसा कि बतला चुका हूँ जागृत और सुषुप्ति के बीच स्वप्नावस्था है। जागृत से सुषुप्ति में जाने के लिए आपको स्वप्न से गुजरना पड़ता हैं। यदि आप किसी प्रकार किसी कारणवश मूर्च्छित हो गये और कारण शरीर में जाने के बजाय अपने सूक्ष्म शरीर में प्रवेश कर गये तो आपके अपने स्वप्न में बाह्य जगत और बाह्य क्रियाकलापों की बराबर झलक मिलती रहेगी। आपके चारो ओर क्या हो रहा है, और कौन क्या कर रहा है? वह सब कुछ आप निर्विकार भाव से देखते रहेगें। मृत्यु में भी यही स्थिति समझें। मृत्यु के समय सुषुप्ति के अन्तिम चरण में न जाकर आप स्वप्न में ही ठहर गये तो आप अपने मृत शरीर को निष्प्राण पड़े हुए देखकर आश्चर्य करेंगे। अपने स्वजनो और परिजनों को विलाप करते हुए देखकर आप यह सोचेंगे कि ये सब क्या हो रहा है? क्यों लोग रो रहे हैं? आप अपने परिवार के किसी सदस्य से सम्पर्क स्थापित कर बाते करना चाहेंगे तो ऐसा सम्भव न होगा। क्योंकि आपकी आवाज की ध्वनि के कम्पन एक सेकेण्ड में 32 कम्पन से कम होते है। आपको ज्ञात होना चाहिए कि एक सेकेण्ड में वायु मण्डल में जब 32 से 32768 तक कम्पन उत्पन्न होते हैं तब तक कान का पर्दा उन्हें ग्रहण

कर सकता हैं और आप शब्दसुनने में समर्थ होते है। इसलिए 32 कम्पन से कम होने के कारण मृतात्माओं की आवाज को सुनने में लोग असमर्थ होते हैं। समझ गये न आप। मरने के बाद आप कितना भी बोले चिल्लाये उसे सुनने वाला कोई न होगा। इसी प्रकार आप अपने लोगो के स्थूल शरीर का स्पर्श भी न कर सकेंगे क्योंकि आपका पार्थिव शरीर आपसे अलग हो गया हैं। अब उससे आपका कोई नाता रिश्ता नहीं। उस समय आप अपने वासना शरीर में होते हैं जो आपके मुख्य वासनाओं के सूक्ष्म अणुओं से निर्मित हुआ रहता हैं या फिर रहते है आप अपने सूक्ष्म शरीर में। जिसका निर्माण आपके अच्छे बुरे विचारों, भावों और अच्छे बुरे कर्मो के सूक्ष्मतम परमाणुओं से हुआ रहता हैं। इसलिए आप किसी के शरीर का स्पर्श करने में अपने आपको असमर्थ पायेंगे। हाँ। एक बात अवश्य हैं आप उस अवस्था में अपनी वासनाओं अथवा अपने विचारों का प्रभाव अवश्य अपने परिवार के लोगों पर डाल सकते हैं। उनके वासना शरीर अथवा उनके सूक्ष्म शरीर से सम्पर्क स्थापित कर अपनी वासना और कामनाओं की पूर्ति भी कर सकते हैं। इतना ही नहीं अपने विचारों और अपने भावों को उनके भीतर व्यक्त कर तदनुरूप उसको साकार भी कर सकते हैं।

आप शरीर छोड़ने के बाद भले ही आपको कोई न देखे लेकिन आप अपने परिवार के लोगों के पार्थिव शरीर को तो नहीं देख सकेंगे लेकिन वासना शरीर और सूक्ष्म शरीर को अवश्य देख पायेंगे। उनके भीतर कौन सी वासना और कामना उठ रही हैं और कौन से विचार उठ रहे हैं तथा किन-किन भावों का उदय हो रहा है? इन सबको आप बड़ी सहजता और सरलता से समझ सकेंगे। भले ही अपने पार्थिव शरीर को चिता में जलते हुए दुख होगा आपको लेकिन एक बात अवश्य है और वह यह कि शव भस्म हो जाने के पश्चात आपको जिस परम शान्ति का अनुभव होगा अपने आपमे उसका वर्णन करना असम्भव है। और उस अवर्णनीय परम शान्ति के सागर में आप ऐसा आकण्ठ डूब जायेंगे कि अब तक जो संसार समाज परिवार आदि के प्रति आकर्षण और मोह माया थी वह समाप्त हो जायेगी और उसी परम शान्ति की अवस्था में आपका अस्तित्व आन्तर जगत-जिसको सूक्ष्म जगत भी कहते हैं - मे अन्तरण कर जायेगा शनैः शनैः।

मादक द्रव्य और तांत्रिक साधना

वैसे तो कोई भी और किसी भी प्रकार का मादक द्रव्य अपने आपमें स्वयं एक दुर्गुण है। लेकिन दुर्गुणों के साथ उसमे नैसर्गिक और प्राकृतिक गुण भी है। सबसे बड़ा गुण तो यह है कि मादक द्रव्य के आन्तरिक प्रमाण से स्थूल शरीर

और सूक्ष्म शरीर दोनों नशे की स्थिति तक एक दूसरे से अलग हो जाते हैं और स्वस्थावस्था उत्पन्न हो जाती हैं। एल.एस.डी. मरिजुआना, मैक्सलीन, भांग गाजा, अफीम, चरस, शराब आदि सबके सब आपको अपने प्रभाव से स्थूल शरीर से अलग कर सूक्ष्म शरीर में पहुँचा देते हैं। नशे की स्थिति में आप अपने स्थूल शरीर में नहीं रहते। स्वप्न जगत में लगते हैं विचरण करने। यदि मादक पदार्थ का सेवन अधिक हो गया और उसका प्रभाव भी अत्यधिक हो गया तो उस स्थिति में आप कारण शरीर को उपलब्ध होकर उस अवस्था में पहुँच जाते हैं - जिसका संबंध अचेतन मन से हैं। उस समय जो कुछ बोलते है जो कुछ कहते हैं और जो कुछ व्यवहार करते हैं - वे सबके सब अचेतन मन के तल में दबे हुए आपके भाव और विचार होते है लेकिन चैतन्य होने पर आपको उनका ज्ञान नहीं रहता कि आप नशे की स्थिति में क्या-क्या बोल गये? क्या क्या कह गये? और कैसा कैसा व्यवहार कर गये? लेकिन उनमें सत्य का अंश अधिक था इसमे सन्देह नहीं। अचेतन मन का स्थान कारण शरीर है। इसलिए अचेतन मन के तल पर जो वास्तविक है जो सत्य है और जो ज्ञान युक्त है, वही रहता है। यहाँ यह कहना अप्रासंगिक न होगा कि सभी दृष्टिकोण से परम सत्य अथवा परम ज्ञान का साक्षात्कार अचेतन मन के तलपर ही सम्भव हैं।

विज्ञान की सीमा और मन के दो रूप

अचेतन मन का प्रसंग आ गया तो मैं आपको यह बतला दूँ कि वैज्ञानिक दृष्टि से अचेतन मन पर काफी विस्तार से खोज हुई है और अब भी हो रही हैं। वास्तव में अचेतन मन की ओर वैज्ञानिकों का ध्यान उस समय गया जब उनको अपने विज्ञान की सीमा का पता चला। यह सुनकर थोड़ा कौतूहल हुआ मुझे। रत्नेश्वर चैतन्य की ओर देखते हुए मैंने कहा - क्या इस विषय पर थोड़ा विस्तार से प्रकाश डालेंगे। मेरा प्रश्न सुनकर रत्नेश्वर चैतन्य बोले - विज्ञान का यह विषय अति गहन है और इधर हम लोगों के पास समयाभाव भी है इसलिए मैं इतना ही बतला सकूँगा, जितना कि मूल विषय से संबंध है।

थोड़ा रूककर रत्नेश्वर चैतन्य बोले आधुनिक विज्ञान के आचार्य जीवन और जगत में अर्थ खोजना चाहते हैं। जब वे इस दिशा में आगे बढ़े तो उन्होंने अपने आपको एक ऐसे क्षेत्र में पाया, जहाँ उनके परिचित वैज्ञानिक साधनों और प्रयोगो की सीमा समाप्त प्रतीत होने लगी। और उन्हें अपनी सीमाओं का आभास भी होने लगा।

भौतिक सत्ता को सर्वोपरि मानने वाले वैज्ञानिको को जब पदार्थ की मूल इकाई - इलेक्ट्रान की गति विधियों में कोई कार्य-कारण संबंध स्थापित करने में सफलता नहीं मिली तो उन्हें यह मानने के लिए विवश होना पड़ा कि भौतिक सत्ता से परे निश्चय ही कोई अभौतिक सत्ता है। जिसमे एक नीरव चैतन्य विद्यमान है। जहाँ प्रवेश करने पर उन उच्चतम वैज्ञानिक सत्यों का सक्षात्कार सम्भव हैं जो भौतिक चेतना के स्तर पर कदापि सम्भव नहीं है। और वह नीरव, शान्त, अभौतिक सत्ता कहीं बाह्य जगत में नही स्वयं मानव मन में ही है।

कहने की आवश्यकता नहीं यही क्षेत्र है - परामनोविज्ञान का। जिसमे वैज्ञानिक गण धीरे धीरे प्रवेश कर चुके हैं। भारतीय तत्व वेत्ताओं के लिए यह क्षेत्र अज्ञात नहीं है। हजारो वर्ष पूर्व वे इस रहस्यमय क्षेत्र में प्रवेश कर अनेक प्रकार के सत्यों का साक्षात्कार कर चुके थे। भारतीय अध्यात्म शास्त्र उसी के परिणाम है।

आपको ज्ञात होना चाहिए कि 'मन' के दो स्वरूप हैं - चेतन मन और अचेतन मन। परामनोविज्ञान के अनुसार अचेतन मन, चेतन मन का दो तिहाई भाग है। यह हुई परामनोविज्ञान की बात। भारतीय मनीषा का कहना है कि अचेतन मन की क्रीडा भूमि 'कारण शरीर' है। इसी प्रकार चेतन मन का कार्य क्षेत्र सूक्ष्म शरीर है। चेतन मन का उतना ही अंश स्थूल शरीर में प्रकट होता हैं जितना आवश्यक हैं। जिस प्रकार सूक्ष्म शरीर और कारण शरीर आपस में जुड़ेहुए हैं उसी प्रकार चेतन मन और अचेतन मन भी। अचेतन मन का भी उतना ही अंश सूक्ष्म शरीर में चेतन मन द्वारा प्रकट होता है - जितना आवश्यक है। यह निश्चित है कि अचेतन मन में अविश्वसनीय और अलौकिक शक्तियाँ विद्यमान हैं। जो अपने आपमे अति रहस्यमय और गूढ़ है। और जब वे शक्तियाँ सूक्ष्म शरीर की सीमा को लांघकर स्थूल शरीर में क्रियाशील मन में प्रकट होती है तो उनके कौतुक साधारणजन को हत बुद्धि कर जाते हैं। साधारण लोग तो उन कौतुको को देवी चमत्कार मानकर शान्त हो जाते है। वे यह नहीं जानते कि वे चमत्कार और वे कौतुक अचेतन मन की साधारण क्रियाएँ हैं जिनको समझने के लिए केवल एक ही मार्ग है और वह है अध्यात्म।

यह कहना अनावश्यक न होगा कि जितनी भी योग और तंत्र की आध्यात्मिक सिद्धियाँ हैं, चमत्कार है और है अलौकिक आश्चर्यजनक कार्य वे सबके सब कारण शरीर में विद्यमान अचेतन मन की शक्तियाँ हैं - जो विश्व ब्रह्माण्ड में क्रियाशील समष्टि शक्तियों से जुड़ी हुई होती है।

आध्यात्म मार्ग के अनुसार साधक सर्वप्रथम स्थूल शरीर में क्रियाशील चेतन मन के बहिर्मुखी अवस्था को ध्यान योग द्वारा निष्क्रिय कर उसकी अन्तर्मुखी अवस्था का आश्रय लेता हैं और उसी आश्रय से वह प्रवेश करता है सूक्ष्म शरीर में। सूक्ष्म शरीर में स्थित चेतन मन के शेष अंश पर ध्यान योग द्वारा अधिकार प्राप्त कर लेने के पश्चात उससे संबंध रखने वाले अचेतन मन के उस अंश पर अधिकार प्राप्त करता है जितना कि वह चेतन मन में व्यक्त है। कालान्तर में उसी अंश की सहायता से वह कारण शरीर में प्रवेश कर शेष अचेतन मन पर अधिकार प्राप्त कर लेता है। यहाँ यह जान लेना आवश्यक है कि 'ध्यान' की यात्रा केवल सूक्ष्म शरीर तक है उसके पश्चात यात्रा शुरू होती है विभिन्न प्रकार की समाधियों की। इस विषय पर आगे कुछ बोलने के पूर्व आपको यह बतला देना चाहता हूँ कि योग-तांत्रिक सिद्धियों और चमत्कारों की तर्क युक्त व्याख्या यही मानकर की जा सकती है कि मन की शक्ति पदार्थ की शक्ति से कही अधिक है और है निस्सीम। प्रत्येक व्यक्ति के भीतर चेतन और अचेतन दोनों मन हैं और विपुल रहस्यमयी शक्तियों का भण्डार हैं। परन्तु उन शक्तियों की अनुभूतियों के मार्ग में सबसे बड़ा बाधक हैं स्वयं उसका चेतन मन, और यही कारण है कि हमे अलौकिक और रहस्यपूर्ण उन शक्तिषों की अनुभूति तभी होती है जब हमारा चेतन मन निष्क्रिय रहता हैं जैसे स्वप्नावस्था, मूर्च्छावस्था या नशे की स्थिति में।

इन तीनों में स्वप्नावस्था व मूर्च्छावस्था तो अधिकार में नहीं हैं। स्वप्नावस्था, नींद आने पर ही उपस्थित होगी। मूर्च्छावस्था भी संयोग से ही उत्पन्न हो सकती हैं। लेकिन तीसरी वस्तु 'नशा' तो कभी भी उपलब्ध की जा सकती है उसकी स्थिति कभी भी मादक द्रव्य का सेवन कर उत्पन्न की जा सकती है।

आपको ज्ञात होना चाहिए कि योग तांत्रिक साधना का संबंध किसी भी रूप में भौतिक शरीर से नहीं है। भले ही शुरू होती हो वह भौतिक शरीर से लेकिन उसका मुख्य आधार सूक्ष्म शरीर तत्पश्चात कारण शरीर होता है। योग तांत्रिक साधना के अतिरिक्त अन्य किसी भी प्रकार की साधना उपासना आदि भौतिक शरीर के तल पर ही बंधी रह गयी और रह गयी बहिर्मुखी तो समझिए उसका परिणाम नगण्य है। कोई फल नही उनका। सभी प्रकार की साधना उपासना के दो रूप है - बहिर्मुखी रूप और अन्तर्मुखी रूप। भौतिक शरीर के तल की और भौतिकता की ही सीमा में बंधी साधना उपासन बहिर्मुखी हैं। बहिर्मुखी अवस्था में न इष्ट से संबंध हो पाता हैं और न तो किसी देवी देवता की दया कृपा, आशीर्वाद और अनुग्रह ही प्राप्त हो पाता है।

भौतिक शरीर के तल से उठकर सूक्ष्म शरीर के तल पर की गयी योग तांत्रिक साधना और अन्य साधना उपासनाएँ आदि अन्तर्मुखी हैं। रत्नेश्वर चैतन्य थोड़ा

रूककर आगे कहने लगे - अध्यात्म मार्ग की दृष्टि से मैंने आपको साधना के विषय में स्थूल शरीर सूक्ष्म शरीर के अतिरिक्त चेतन अचेतन मन की जो चर्चा की थी, उसी विषय पर थोड़ा विस्तृत प्रकाश डालूँगा मैं।

मादक द्रव्य का सेवन प्राय: सभी साधना सम्प्रदाय में होता है किसी न किसी रूप में। मुख्य तीन साधना सम्प्रदाय है - शाक्त सम्प्रदाय, शैव सम्प्रदाय, और वैष्णव सम्प्रदाय। वैष्णव तंत्र को ब्राह्मण तंत्र सम्प्रदाय भी कहते हैं। इनमे सबसे प्राचीन सम्प्रदाय शाक्त सम्प्रदाय है, क्योंकि यह मूलत: शक्ति पर आधारित है और जिस शक्ति पर आधारित है उसका आविर्भाव ऋग्वेद से हुआ है और ऋग्वेद सभी अन्य वेदो से प्राचीन है। शाक्त सम्प्रदाय शाक्त तंत्रों का प्रतिनिधित्व करता है - जो पूर्ण रूपेण योग और उसकी विभिन्न गोपनीय यानी गुह्य क्रियाओं पर आधारित हैं। शाक्त सम्प्रदाय का मादक द्रव्य मदिरा है। अन्य मदिरा जितने प्रकार के मादक द्रव्य हैं उनमें मदिरा को गुण एवं प्रभाव की दृष्टि से महत्वपूर्ण बतलाया गया है। शाक्त तंत्र से संबंधित कुछ ऐसे भी ग्रन्थ है। जिनमें 'मदिरा' के विषय में विस्तार से बतलाया गया है इतना ही नहीं, साधना भूमि में मदिरा का प्रयोग उपयोग कब करना चाहिए किस समय करना चाहिए और किसलिए करना चाहिए? इन पर भी विस्तार से प्रकाश डाला गया है।

ऋग्वेद के मर्म से जिस शक्ति का आविर्भाव हुआ है - वह आदि शक्ति है महा शक्ति है और है परा शक्ति। शाक्त तंत्र की साधना भूमि में उसी शक्ति को महाकाली के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है। महाकाली वास्तव में महाकाल की गति शक्ति है। उसी शक्ति के कारण काल प्रवाहमान अथवा गतिवान हैं। इसीलिए गति शक्ति होने के कारण महाकाली का बायाँ पैर महाकाल 'शिव' के ऊपर आगे बढ़ा हुआ गतिमान हैं।

शाक्त मार्गीय योग तांत्रिक साधना, बहिरंग से अन्तरंग की ओर की यात्रा है। उसका कहना है कि जिन वस्तुओं और पदार्थो के कारण मनुष्य संसार और समाज की दृष्टि में नीचे गिरता है और हेय समझा जाता है उन्ही वस्तुओं और पदार्थो का आश्रय लेकर ऊपर भी उठा जा सकता है संसार समाज में। उसी प्रकार जैसे आप भूमि पर गिरते हैं तो आपको उठने के लिए भूमि का ही आश्रय लेना पड़ता है। इसी दृष्टि से शाक्त तंत्र साधना भूमि में - पंच मकार का प्रयोग है जिनमे मदिरा मुख्य मकार है। वैसे तो पंचमकार का आध्यात्मिक स्वरूप भी है। लेकिन साधना यात्रा का प्रारम्भ तो उसके भौतिक स्वरूप से ही होता है।

शाक्त तंत्र के अनुसार मदिरा पांच देवताओं द्वारा शापित हैं। जिसके कारण मदिरा में पांच दुर्गुण भी हैं - कलह, दरिद्रता, रोग, जुआ, और काम वासना।

मदिरा सेवन से ये पाचों दुर्गुण मनुष्य में शनैः शनै अपने आप उत्पन्न हो जाते हैं, जिनसे मुक्त होना सम्भव नहीं। लेकिन वही मदिरा योग-तांत्रिक क्रियाओं द्वारा संशोधित होकर प्रयोग में लायी जाती है तो उसके सारे दुर्गुण समाप्त हो जाते हैं और उसके प्रभाव से स्थूल शरीर से सूक्ष्म शरीर अलग हो जाता है।। लेकिन स्वप्नावस्था उत्पन्न न होगी जबकि साधारणलोगों के सेवन से स्वप्नावस्था उत्पन्न हो जाती है। यही अन्तर है।

एक साधक मदिरापान कर स्थूल शरीर से अलग होकर सूक्ष्म शरीर में प्रविष्ट हो जाता है जबकि एक साधारण व्यक्ति उसी मदरिा का सेवन कर स्वप्नावस्था में पहुँच जाता है और निराधार कल्पनाओं के सागर में डूब जाता हैं जिनका कोई परिणाम नहीं।

यहाँ आपको यह बतला दूँ कि चेतन मन की दो अवस्थाएँ है - बहिर्मुखी अवस्था और अन्तर्मुखी अवस्था। शाप विमोचित मदिरा स्थूल शरीर से सूक्ष्म शरीर को अलग तो कर ही देती है इसके अतिरिकत भौतिक शरीर में क्रियाशील बहिर्मुखी मन को सूक्ष्म शरीर में क्रियाशील अन्तर्मुखी मन को भी एक कर देती है। स्थूल शरीर में चेतन मन का अभाव हो जाता है। और एक मात्र यही कारण है कि तांत्रिक साधना मार्ग का साधक - स्थूल शरीर में 'मन' के अस्तित्व के अभाव के कारण अपने प्रति अपने परिवार के प्रति और समाज संसार के प्रति अनाशक्त और विरक्त हो जाता है। किसी भी प्रकार का आकर्षण नहीं रह पाता किसी भी वस्तु या पदार्थ के प्रति उसके भीतर। पूर्ण निरपेक्ष हो जाती हैं उसकी आत्मा। तंत्र-साधना की यह एक महत्वपूर्ण अवस्था है जो साधक इस अवस्था को उपलब्ध होता है उसके लिए पार्थिव शरीर मृतवत् हो जाता हैं। अपने उस मृतवत् शरीर का भार ही वहन करता हैं वह। उसकी विवशता है भार वहन करना इसलिए कि जब तक वह पांच भौतिक शरीर हैं तभी तक उसका भी अस्तित्व संसार में हैं। और अस्तित्व इसलिए बनाए रखना आवश्यक है कि आत्मा की जागृत अवस्था अन्य सभी अवस्थाओं से श्रेष्ठ हैं। जब तक स्थूल शरीर है तभी तक जागृत अवस्था भी हैं।

हाँ तो जैसा कि मैंने आपसे कहा - तंत्र साधना की एक महत्वपूर्ण अवस्था हैं यह। इस अवस्था में एक प्रकार से भौतिक शरीर का मूल्य अपने स्थान पर तो बना ही रहता हैं लेकिन साधक जीवित रहता है अपने सूक्ष्म शरीर में। सूक्ष्म शरीर से अपनी जीवन यात्रा भी करता है वह, और अपनी साधना यात्रा भी। आपको ज्ञात होना चाहिए कि ध्यान दो प्रकार का है - बहिर्ध्यान और आन्तर्ध्यान सूक्ष्म शरीर में साधक की साधना शुरू होती हैं आन्तर्ध्यान से। साधक आन्तर्ध्यान की

गुह्य क्रियाओं द्वारा अपने चेनत मन को अपने इष्ट में एकाग्र करता हैं। जिसकी उपलब्धि हैं क्रमशः इष्ट साक्षात्कार और इष्ट तादात्म्य। यह तंत्र साधना की दूसरी महत्वपूर्ण अवस्था है जिसको तांत्रिक भाषा में दिव्यावस्था कहते हैं। इस अवस्था में साधक के सम्मुख भगवती परा शक्ति अपने निज स्वरूप में प्रकट होकर दर्शन देती हैं तत्पश्चात उसे आत्मसात कर लेती हैं आत्मसात का क्षण अत्यन्त मधुर और संवेदनीय होता हैं। साधक लीन हो जाता है माँ महामाया के अस्तित्व में पूर्ण आत्म विभोर होकर। भौतिक दृष्टि में उसकी स्थिति पागलों जैसी हो जाती है। उसे समझना अत्यन्त कठिन होता हैं। उसके व्यवहार को भी समझना कठिन होता हैं। और होता है उसकी समाधि भाषा को समझना भी रामकृष्ण परमहंस जैसे साधकों की ऐसी ही अवस्था होती हैं। वे सदैव उसी आत्मसात की स्थिति में निमग्न रहते हैं। और उसी में रहते हैं आनन्द मग्न।

इष्ट साक्षत्कार अथवा इष्ट दर्शन के पाश्चात सद्‌गुरु का कर्तव्य और अधिकार समाप्त हो जाता हैं। उसके पश्चात सद्‌गुरु का स्थान ग्रहण कर लेता है इष्ट। इष्ट के रूप में महामाया साधक की रक्षा भी करती हैं और उसके साधनामार्ग में उसका करती है पथ प्रदर्शन भी। तांत्रिक साधना की यह परम अवस्था हैं। इसी अवस्था में चेतन मन और सूक्ष्म शरीर की सीमा लांघकर साधक कारण शरीर को उपलब्ध कर लेता हैं और संबंध स्थापित कर लेता हैं अचेतन मन से। आपको यह जानकर आश्चर्य होगा कि सत्य और ज्ञान का भण्डार तो है ही अचेतन मन इसके अतिरिक्त विश्व ब्रह्माण्ड में व्याप्त समष्टि मन का अंश होने के कारण उसका संबंध भाव राज्य देवी, राज्य आदि पारलौकिक जगत से भी है। कारण शरीर में अचेतन मन के द्वारा साधक को जिन सत्यों का साक्षात्कार होता है। और जिन ज्ञान-विज्ञान की उपलब्धि होती है - उन्हें कदापि भौतिक स्तर पर किसी भौतिक माध्यम द्वारा प्राप्त करना असम्भव ही है। जब साधक अचेतन मन और कारण शरीर की सीमा के बाहर निकल कर सूक्ष्म शरीर के माध्यम से अपने भौतिक शरीर में वापस लौटता है तो उसकी आत्मा रिक्त नही रहती वह भरी हुई होती हैं अनिर्वचनीय अनुभूतियों से, विशेष आध्यात्मिक ज्ञान-विज्ञान से और उन परम सत्यों से जिनका पार्थिव जगत में दर्शन दुर्लभ नहीं असम्भव है।

कारण शरीर और उसके कार्य

आपके अब तक के प्रवचन से ज्ञात हुआ कि कारण शरीर ही मुख्य है। अन्य दो शरीर तो समयानुसर नष्ट हो जाते हैं लेकिन कारण शरीर नष्ट नहीं होता। आपके कथनानुसार कारण शरीर अचेतन मन की क्रीड़ा भूमि भी हैं। इसलिए मैं कारण शरीर के संबंध में कुछ विशेष रूप से जानना चाहता हूँ।

मेरे इस जिज्ञासा के समाधान में रत्नेश्वर चैतन्य बोले - अध्यात्म विज्ञान के अनुसार चेतना का जो क्रियाशील भाग हैं वह है मन। मन शब्द का प्रयोग चेतना के कार्य से संबंधित अस्पष्ट और जटिल कार्य समूह के लिए किया जाता हैं। इसके नीचे के छोर पर भावानुभूतियाँ और भावनाएँ है और उसके ऊपरी छोर पर अमूर्त विचार और अन्त: प्रज्ञा विद्यमान है। अन्त:प्रज्ञा क्या है? मैंने पूछा।''

जैसे मन के दो रूप हैं चेतन और अचेतन। उसी प्रकार आत्मा के भी दो रूप हैं। जो रूप चेतन मन से जुड़ा रहता है वह उसका पहला रूप हैं। इसी प्रकार जो रूप अचेतन मन से जुड़ा रहता है - वह उसका दूसरा रूप हैं और उसी दूसरे रूप को अन्त:प्रज्ञा कहते हैं। वास्तव में अन्त:प्रज्ञा एक ऐसी क्षमता है जिसका ज्ञान केवल तत्व वेत्ताओं को ही होता हैं। बुद्धिजीवि उसे शंकास्पद ही समझते हैं। वास्तव में यह उनकी अज्ञानता हैं। सच पूछा जाय तो अन्त: प्रज्ञा के गर्भ में सम्पूर्ण विश्व ब्रह्माण्ड भरा हआ है। अनन्त ज्ञान-विज्ञान असीम भण्डार है वह। आत्मा की अनन्त यात्रा का प्रारम्भ से लेकर अब तक का सम्पूर्ण इतिहास और सम्पूर्ण विवरण का एक प्रकार से विशाल ग्रन्थ है अन्त: प्रज्ञा। इसके प्रसंग में आपको मस्तिष्क के विषय में थोड़ा बतलाऊँगा मै। सभी मानसिक क्रियाओं का जन्म मस्तिष्क में होता है। वास्तव में मस्तिष्क एक 'यंत्र' के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। वह एक ओर इन्द्रियों में होने वाले कम्पनों को एकत्र करता है और दूसरी ओर उच्च अभौतिक लोक-लोकान्तरों, की विभिन्न प्रकार की शक्तियों को भौतिक चेतना में लाने तथा उन्हें भौतिक रूप देने का काम करता है।

मस्तिष्क के माध्यम से जो बातें व्यक्त होती हैं - उनका मनुष्य के कोषों में पहले ही हो चुका होता है। सच पूछा जाय तो मानव शरीर की संरचना अत्यन्त जटिल हैं। उसकी संरचना को एक परम योगी के सिवाय और कोई नहीं समझ सकता।

कोषों का एक वर्ग मस्तिष्क के सभी आन्तरिक लोकों से जोड़ता है। प्रत्येक कोष में एक विशेष प्रकार का कम्पन होता हैं और वह कम्पन मस्तिष्क बराबर ग्रहण करता रहता है। जिसके फलस्वरूप हमारी स्थूल चेतना में जटिल से जटिल और सरल से सरल विभिन्न प्रकार की क्रियायें उत्पन्न होती रहती हैं। हमारे भीतर जो संवेदनाए और भावनाएं उत्पन्न होती हैं वे भुवर्लोक से आने वाले कम्पनों की प्रतिक्रियाओं के परिणाम हैं। हमारे मस्तिष्क में मानसिक लोक के कम्पनों की जो प्रति ध्वनि होती हैं वही हमारे विचारों का कारण हैं। उसी प्रतिध्वनि से हमारे मस्तिष्क में विचार उत्पन्न होते हैं। विश्व ब्रह्माण्ड में अनेको सूक्ष्म से सूक्ष्मतम लोक हैं, कहने की आवश्यकता नहीं उन्हीं के कम्पनों की सूक्ष्मतम प्रतिध्वनि हमारी अन्त: प्रज्ञा हैं।

अभी आपको मैंने जो कुछ संक्षिप्त में बतलाया है - वह गुह्य विद्या के अन्तर्गत हैं। गुह्य विद्या को समझना और उसका अनुभव करना अत्यन्त दुरुह कार्य हैं। जो व्यक्ति स्वेच्छा से शरीर को छोड़कर पूर्ण सचेतन रूप में अभौतिक सत्ता में प्रवेश कर सकता हैं - वही व्यक्ति गुह्य विद्या - जो सनातन ज्ञान का आधार है - को समझ सकता हैं, उसकी सूक्ष्मतम क्रियाओं को देख सकता है और हृदयगम भी कर सकता हैं। ऐसे ही व्यक्ति को हम सिद्ध पुरुष कहते हैं। मैंने विचार की चर्चा की है। विचार दो प्रकार का है अमूर्त विचार और मूर्त विचार। अब धारणाओं के सिद्धान्तो पर आधारित विचार को अमूर्त विचार कहते है। नाम और रूप से संबंधित जो विचार हैं - वह मूर्त विचार कहलाता हैं। दोनों विचार मस्तिष्क के माध्यम से स्थूल चेतना में प्रकट होते हैं। लेकिन दोनो विचार एक दूसरे से भिन्न हैं।

हमारे शरीर में स्थित मनोमय कोष का संबंध मनोलोक से हैं। दोनों प्रकार के विचारों का जन्म मनोलोक के दो भागो से होता हैं। वास्तव में मनोलोक सात खण्डो में विभक्त हैं। सातो खण्ड उपर्युक्त दो भागों में विभक्त हैं। मनोलोक के पहले भाग में चार खण्ड हैं। ये चारों खण्ड मूर्त विचारों को जन्म देते हैं। दूसरे भाग में तीन खण्ड हैं। जो अमूर्त विचारों के माध्यम हैं। पहला भाग मनोलोक के ऊपरी भाग में तथा दूसरो भाग निचले भाग में स्थित हैं। दोनों भागों को गुह्य विद्या की भाषा में उच्च मनोमय कोष और निम्न मनोमय कोष कहते हैं - जो हमारे शरीर में स्थित हैं। अमूर्त विचारों का केन्द्र उच्च मनोमय कोष और मूर्त विचारों का केन्द्र निम्न मनोमय कोष है। सभी प्रकार कि मानसिक क्रियाओ की अभिव्यक्ति इन दोनों कोषों के माध्यम से होती हैं। इन दोनों कोषों का संबंध हमारी आन्तरिक संरचना से भी हैं। निम्न मनोमय कोष परिवर्तनशील देहात्मा का सूक्ष्मतम कोष हैं। जो प्रत्येक जन्म में बदल जाता हैं। इसी कारण हमे अपने पूर्व जन्म की स्मृति नहीं रहती। लाखों में किसी की नही बदलती और जिसकी नही बदलती उसे अपने पिछले जन्म की घटनाएं याद रहती है। उच्च मनोमय कोष को योग की भाषा में विज्ञान मय कोष कहते हैं। जिसे गुह्य विद्या कहती है 'कारण शरीर'। यह अविनाशी जीवात्मा का निम्नतम कोष समझा जाता हैं। यह प्रत्येक जन्म में नया नहीं बनता हैं। अनन्त काल तक हर जन्म में विकास प्रक्रिया से गुजरता है वह। काल के प्रवाह में पड़ा हुआ अविनाशी जीवात्मा का यह निम्नतम कोष कारण शरीर किस जन्म में पूर्ण रूपेण विकास को उपलब्ध होगा यह नहीं बतलाया जा सकता।

कारण शरीर का निर्माण

जैसा कि मैं आपको बतला चुका हूँ - कारण शरीर की रचना मनोलोक के तीन उपखण्डो के पदार्थो से हुई हैं। वे तीन पदार्थ हैं - आत्मा, बुद्धि और मनस:। इन तीनो पदार्थो के माध्यम से काम करने वाला कारण शरीर जीवात्मा का बाह्यतम कोष यानी विज्ञानमय कोष हैं।

प्रथम बार कारण शरीर का आर्विभाव कैसे होता है? मेरे इस प्रश्न के उत्तर में रत्नेश्वर चैतन्य बोले - जिसे हम जीवात्मा कहते हैं - उनका दो वर्ग है। पहले वर्ग की जीवात्मा को समूह वर्ग की जीवात्मा कहते है। और दूसरे वर्ग की जीवात्मा को कहते है। - स्वतंत्र जीवात्मा। पशु पक्षी आदि समूह वर्ग की जीवात्मा है। इसी कारण पशु पक्षियों में न आत्मा होती है न बुद्धि होती है और न तो होता है मन:। हजारों पशु पक्षी 'समूह जीवात्मा' द्वारा जन्म-मृत्यु को उपलब्ध होते हैं। उसी समूह से उन्हें प्राण की गतिशीलता प्राप्त होती हैं। उसी समूह से उन्हें कार्यक्षमता शारीरिक शक्ति तथा पशुत्व के गुण दुर्गुण आदि भी प्राप्त होते है। उनकी अपनी कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं रहती। समूह जीवात्मा प्रकृति के आधीन है। इसलिए मनुष्य को छोड़कर अन्य सभी जीव प्रकृति के आधीन हैं। कोई भी मानवेतर जीव शरीर छोड़ने के बाद अपने समूह जीवात्मा में मिल जाता है। समयानुसार पुन: उसी समूह से निकलकर अपने वर्ग के पशु योनि में प्रवेश कर पुन: जन्म ग्रहण कर लेता है।

विश्व ब्रह्माण्ड में तीन प्रकार की नैसर्गिक ऊर्जाएं विद्यमान हैं - इन्हीं तीनों ब्रह्माण्डीय ऊर्जाओं को वैदिक भाषा में ब्रह्मा, विष्णु और शिव कहते हैं पशु से मनुष्य होने की प्रक्रिया में सर्वप्रथम शिव ऊर्जा, समूह जीवात्मा में प्रवेश करती हैं। और मानवेतर जीव, उस ऊर्जा के प्रभाव से समूह जीवात्मा से पृथक होकर स्वतंत्र हो जाती है और उसके स्वतंत्र होते ही आत्मा, बुद्धि और मनस: के मिश्रण से वह अपने लिए कारण शरीर का निर्माण कर लेती हैं। 'मन' का अस्तित्व कारण शरीर में होने के फलस्वरूप वह स्वतंत्र जीवात्मा, मनुष्यात्मा कहलाने लगती है। 'मन' का अस्तित्व केवल मनुष्य में है इसलिए वह मनुष्य है। यही वह स्थान है जहाँ से मनुष्यात्मा की जीवन यात्रा शुरू होती है। एक के बाद एक जन्मों में वह विभिन्न प्रकार का अनुभव प्राप्त करती हैं। विकास क्रम में उसकी आत्मिक, बौद्धिक और मानसिक शक्तियाँ हर जन्म में विकसित होती जाती है। विकास का वह क्रम निर्बाध गति से बराबर चलता रहता है और उस विकास के आधार पर ब्रह्माण्ड में विद्यमान अमूर्त वस्तुओं को कारण शरीर मूर्त रूप प्रदान करता रहता हैं। समयानुसार वे मूर्त वस्तुएँ अचेतन मन से चेतन मन में आती है और फिर वे

कल्पना के आश्रय से विचारों में प्रकट होती हैं और अन्त में प्रकट होती हैं साकार रूप में।

कारण शरीर का आवरण सूक्ष्म शरीर

सच पूछा जाय तो कारण शरीर एक आकारहीन और रूपहीन तेजोमय प्रकाश हैं। जिसमे तीन मुख्य रंग आपस में मिले जुले हैं। वे तीन रंग है - पीत रंग, हरित रंग, और गुलाबी रंग - ये तीनों रंग आत्मा, बुद्धि और मन के प्रतीक हैं।

तेजोमय प्रकाश के रूप में प्रकट होते ही उन तीनों रंगों से स्फुलिंग निकलते हैं और स्फुलिंग सूक्ष्मतम परमाणुओं के कण होते हैं। उन कणों में एक विशेष प्रकार की ब्रह्माण्डीय विद्युत चुम्बकीय शक्ति होती है। जिसके फलस्वरूप उन कणों का एक समूह बन जाता हैं। कणों का वह समूह कारण शरीर का एक विशेष आवरण बन जाता है। उसका अपना रूप होता है और होता है आकार भी अपना। उसी को सूक्ष्म शरीर कहते हैं। वास्तव में सूक्ष्म शरीर किसी लैम्प के कांच की चिमनी के समान हैं जिसके भीतर सुरक्षित जलती रहती हैं प्रकाश शिखा। जो उस कांच की चिमनी से छन कर बाहर बिखरती रहती है। उसी प्रकार सूक्ष्म शरीर कांच की चिमनी के समान है जिसमे से छन कर कारण शरीर का तेजोमय प्रकाश बाहर विकीर्ण होता रहता है। सूक्ष्म शरीर के उपलब्ध होते ही कारण शरीर सक्रिय हो उठता है और आत्मा, बुद्धि और मन अपने अपने गुण और स्वभाव को प्रकट करने लगते हैं। जिसके फलस्वरूप सूक्ष्म शरीर भी क्रियाशील और गतिमान हो उठता हैं। जैसा कि मैंने कहा - बिना सूक्ष्म शरीर के कारण शरीर अकेला जन्म नहीं ले सकता पार्थिव शरीर में। सूक्ष्म शरीर की सहायता से कारण शरीर में विद्यमान जीवात्मा पहली बार स्थूल शरीर में जन्म लेती हैं। और पहली बार मिलती हैं उसे मनुष्य की संज्ञा। लेकिन उसका प्रथम मानव जन्म अत्यन्त निम्न कोटि के कुल में और अत्यन्त घृणित रूप में होता है। जिसे हम जंगली और असभ्य भी कह सकते हैं। वह पहली बार पशु से मनुष्य हुआ रहता है इसलिए उसमे पशु भाव पशुत्व और पशु के गुण तथा पशु जैसा व्यवहार अधिक रहता है। मानव के स्वभाव और गुण अल्प मात्रा में रहते हैं।

मानव शरीर में आविर्भूत होते ही जीवात्मा पुनर्जन्म और कर्म के नियमों के अनुसार मानवीय विकास की प्रक्रिया में होकर गुजरता हैं। इस मानवीय विकास के फलस्वरूप जीवात्मा में बीच रूप में विद्यमान आत्मिक गुण, बौद्धिक गुण और मानसिक गुण जो अभी तक अव्यक्त रहते हैं - वे धीरे-धीरे व्यक्त होने लगते हैं। और उसी क्रम में असभ्यावस्था से निकल कर सबसे पहले मनुष्य बनता हैं।

मनुष्य के रूप में सैकड़ों बार जन्म लेने के बाद वह बनता है सभ्य पुरुष। सभ्य पुरुष के रूप में हजारों बार जन्म लेने के बाद बनता हैं महापुरुष। महापुरुष के रूप में भी हजारो जन्मों की लम्बी यात्रा करने के पश्चात बनता हैं वह दिव्य पुरुष। इसी प्रकार दिव्य पुरुष के रूप में हजारो बार जन्म और मृत्यु के चक्र में फंसने के बाद वह बनता है सिद्ध पुरुष जीवात्मा के विकास की ये क्रमिक पांच अवस्थाएं हैं। जिनके साथ कारण शरीर का भी बराबर विकास होता रहता हैं। और होता रहता है उसमें निहित मानवीय गुणों की उन्नति भी।

कारण शरीर जैसे-जैसे विकास करता जाता हैं वैसे ही वैसे उसका आकार बढ़ता जाता हैं। उसका प्रारम्भिक रूप अंगूठे के आकार का होता है। आकार के साथ ही उसकी चमक बढ़ती जाती हैं। उसका रंग भी बराबर परिवर्तित होता रहता हैं। अपने अन्तिम आकार की अवस्था में उसका रंग सुनहला हो जाता हैं जो दिव्य पुरुषों अथवा सिद्ध पुरुषों के शरीर के चारो ओर प्रभा मण्डल के रूप में दिखलायी देता है। ऐसे सिद्ध योगी गणों को अपने कारण शरीर पर अधिकार होता है और वे इच्छानुसार अपने कारण शरीर के माध्यम से लोक-लोकान्तरों में विचरण करते हैं।

कारण शरीर एक संग्रहालय

कारण शरीर वास्तव में जीवात्मा का संग्रहालय हैं। कारण शरीर का पहला काम हैं अमूर्त को मूर्त रूप प्रदान करना - जिसके संबंध में हम पीछे चर्चा कर चुके हैं। उसका दूसरा काम है - मानवीय विकास क्रम के अन्तर्गत उन फलो और उन अनुभवों को संग्रहित करना हैं - जो अन्तहीन क्रमिक विकास प्रक्रिया में जीवात्मा अपने विभिन्न जीवनों में उपलब्ध करता है। जीवात्मा अपने कर्मानुसार विभिन्न लोकान्तरो में भी जाता हैं और वहाँ का जीवन जीता है और उस जीवन के अनुभवों को भी कारण शरीर अपने में संग्रहीत कर लेता हैं। भौतिक जगत में भी जब-जब जीवात्मा भौतिक शरीर धारण करता है तो उससे संबंधित जीवन के अनुभवो को और फलों को भी कारण शरीर अपने आपमें आत्मसात कर लेता हैं। प्रत्येक नया जीवन, जीवात्मा अपने पिछले जन्मों के संचित अनुभवों को लेकर प्रारम्भ करता हैं। सच पूछा जाय तो कारण शरीर का विकास बिल्कुल वृक्ष के विकास के विकास के समान है। प्रति वर्ष पतझड़ के समय वृक्ष अपना सार तत्व शाखाओं को सौंपकर अपने पत्तों को गिरा देता हैं और फिर बसन्त आने पर वातावरण से ताजा पोषण ग्रहण करने के लिए नए पत्ते धारण कर लेता है। इस प्रकार वह बराबर बढ़ता रहता है। यही कारण है कि नये स्थूल शरीर वासनामय शरीर और

निम्न मनोमय शरीर जो चेतनमन के निम्नस्तर के अंश से निर्मित होता है - लेकर नया जीवन प्रारम्भ करने पर हमे पिछले जन्मों में प्राप्त अनुभवों की कोई स्मृति नहीं रहती। परन्तु उन जन्मों से संबंधित जीवनों क्षमताओं और शक्तियों के रूप में विकसित तथा कारण शरीर समाविष्ट समस्त अनुभवों का पूरा लाभ हमे अवश्य उपलब्ध होता हैं। रही उनकी स्मृति की बात वह इसलिए नहीं रहती कि नया मनोमय कोष उन अनुभवों के बीच से गुजरा ही नहीं होता। क्योंकि वह चेतनमन के एक निम्नस्तर के अंश से निर्मित हुआ होता है। और यही कारण है कि उस मनोमय कोष में उन अनुभवों का कोई लेखा-जोखा भी नहीं होता। लेकिन जहाँ तक प्रश्न जीवात्मा का हैं, उसके पास वे समस्त अनुभवों विद्यमान रहते हैं और इसके अतिरिक्त पिछले समस्त जन्मों और उन जन्मों के समस्त जीवनों की पूरी की पूरी स्मृति भी उसमें रहती है विद्यमान। उन अनुभवों को और उन स्मृतियों को वे ही लोग स्थूल मस्तिष्क में ला सकते हैं जिन्होंने अपनी चेतना को उन्नत कर जीवात्मा के स्तर तक ले जाने के लिए अपने प्रयत्न में सफलता प्राप्त की हैं। जैसे ही चेतना, जीवात्मा के स्तर पहुँचती हैं उसी क्षण मानस पटल पर वे सारे अनुभव और वे सारी स्मृतियाँ एक-एक कर उभरने लगती हैं।

'प्रयत्न' से आपका क्या तात्पर्य है - मैंने प्रश्न किया?

साधना, योग साधना - रत्नेश्वर चैतन्य बोले चेतना की उन्नति समाधि में होती हैं। और उसका स्तर भी ऊपर उठता है और में समाधि की स्थिति में ही जीवात्मा से संयुक्त हो जाती हैं वह। संयुक्त होते ही जीवात्मा में विद्यमान सारे अनुभवों को और सारी स्मृतियों को अपने आपमें समेट कर उन्हें भौतिक स्तर ले आती है, जिनको भौतिक मस्तिष्क ग्रहण कर लेता हैं। बाद में समाधि को ही अवस्था में अपने मानस पटल पर योगीगण उन अनुभवों को और उन स्मृतियों को चित्रवत् देखते हैं। जिनके आधार पर योगीगण अपनी अगली साधना-यात्रा की तैयारी करते हैं। अपनी पिछली साधना त्रुटियों का मार्जन भी करते हैं। इतना ही नहीं अपने अगले जन्म और उस अगले जन्म में उन्हें क्या-क्या करना है? इसका भी निर्धारण करते हैं।

मनुष्य का एक मात्र उद्देश्य पूर्णत्व प्राप्ति

यहाँ एक बात ध्यान देने योग्य हैं और वह यह कि 'मनुष्य' का एक मात्र उद्देश्य हैं पूर्णत्व की प्राप्ति। पूर्णत्व से हमारा तात्पर्य है जीवात्मा का अपने विकास की चरम सीमा पर पहुँचना? सिद्ध पुरुष की अवस्था उपलब्ध हो जाने के पश्चात विकास की अन्तिम यानी चरम सीमा पर पहुँच जाती हैं जीवात्मा। इसी को मुक्ति

अथवा मोक्ष कहते हैं। अतः हमे पूर्णत्व प्राप्ति के लिए सभी आवश्वयक गुण विकसित करने ही होंगे। परन्तु विकास प्रक्रिया का उद्देश्य अन्ततः एक जैसे के अनुसार सभी को विकसित करना नही है। हम सभी को सर्वांगीण विकास करना हैं। परन्तु प्रत्येक की अपनी एक विशिष्ठता होगी। काल के अखण्ड प्रवाह में हम सब पड़े हुए हैं। हम सब की ही तरह लगभग साठ अरब जीवात्माएँ काल के अखण्ड प्रवाह में बहते हुए पूर्णत्व की ओर अग्रसर हैं। फिर भी कोई दो व्यक्ति तन से मन से विचार से और भाव से एक जैसे नही होंगे। सच बात तो यह है कि मानव जाति के लिए विकास प्रक्रिया किसी फैक्टरी के समान नहीं है जो एक जैसी लाखों वस्तुएँ बनाती है। और उन वस्तुओं में अन्तर कर पाना कठिन होता हैं। मनुष्य की व्यक्तिगत विशेषता और विशिष्ठता को सुरक्षित रखते हुए भी प्रकृति इतनी अधिक जीवात्माओं में किस प्रकार पूर्णत्व लाती हैं? यह जीवन के उन रहस्यों में से एक हैं, जिसको हम 'माया' के क्षेत्र की सीमा में रह कर समझ ही नहीं सकते। समझने के लिए हमे माया के क्षेत्र की सीमा से बाहर निकलना होगा और निकल कर 'महामाया' के क्षेत्र में प्रवेश करना होगा। 'माया' से निकलकर महामाया में प्रविष्ठ होना एक बहुत बड़ी संक्रान्ति है योग की। और यह संक्रान्ति काल अनेकों जन्म की योग साधना के पश्चात ही किसी विरले साधक के जीवन में उपस्थित होता हैं।

कारण शरीर किसे कहते हैं?

कारण शरीर किसे कहते है? मेरे इस प्रश्न के उत्तर में रत्नेश्वर चैतन्य बोले प्रत्येक जीवात्मा की अपनी स्वतंत्र विशिष्ठता होती है। अपनी उसी विशिष्ठता के आधार पर कारण शरीर विभिन्न जन्मों में विभिन्न देहात्माओं द्वारा प्राप्त अनुभवों के सार तत्व तथा उसके माध्यम से विकसित क्षमताओं का संग्रह करता हैं। इसके अतिरिक्त पिछले जन्मों में देहात्माओं द्वारा विभिन्न अच्छे बुरे कर्मो का संग्रह भी करता है वह। वे सभी अच्छे-बुरे कर्मो का संग्रह कारण शरीर में बीज रूप में विद्यमान रहते हैं और धीरे-धीरे समयानुसार फलीभूत होते हैं। और भविष्य में होने वाले जन्मों और उनसे संबंधित जीवनों की परिस्थितियाँ निर्धारित करत`हैं। यही कारण हैं कि इस शरीर को 'कारण शरीर' कहते हैं। कर्म के संग्रह में से प्रत्येक जीवन में कुछ कर्मो का निर्णय हो जाता हैं, यानी उनका फल अथवा परिणाम उपलब्ध हो जाता हैं और वे कर्म नष्ट हो जाते हैं और उनके स्थान पर नये कर्म एकत्र हो जाते हैं। इस प्रकार शरीरधारी आत्माओं के क्रमिक जीवनों एक प्रकार चालू खाता सदैव खुला रहता हैं। यह कर्म का चालू खाता जीवन मुक्ति के समय मनुष्य के कर्म पूर्णतः समाप्त हो जाने पर ही बन्द होता हैं।

प्रकरण को समाप्त करते हुए रत्नेश्वर चैतन्य अन्त में बोले - यदि आप दिव्य जीवन प्राप्त करना चाहते हैं तो अपने आपमें दृढ़ता लाईये। पवित्रता का समावेश करिए, और निःस्वार्थ बनिए। बस।

'ब्रह्म ज्ञान' की यह गुह्य विद्या है। यह अत्यन्त गम्भीर और रहस्यमयी है। मनुष्य की विचार शक्ति चकरा जाती है जब वह गुह्य विद्या की रहस्यमयी और तिमिराच्छन्न घाटियों में प्रवेश करने का प्रयास करती हैं। हम तो बस इतना हो कह सकते हैं कि विस्मय और श्रद्धा से आश्चर्य करते रहे कि जीवन की इतनी उच्च अवस्थाए भी हो सकती है। हमारे लिए इतना ही जान लेना पर्याप्त है कि ऐसी स्थितियाँ और ऐसे महान लोग भी हैं जो कल्पनातीत ऊचाईयों से अपने आशीर्वाद की वर्षा हम जैसों पर बराबर करते ही रहते है जो अभी भी भ्रान्तियों कष्टों और मृत्यु की घाटियों में अपना जीवन जी रहे हैं।

इतना कह कर रत्नेश्वर चैतन्य अपने स्थान से उठे और यह कहते हुए कुटिया के भीतर चले गये भाई कल लम्बी यात्रा पर निकलना है। अब फिर योगायोग से कभी भेंट होगी तो इन विषयों पर चर्चा की जायेगी। आप इसे यही समापन समझें।

यह सुनकर मन ही मन सोचने लगा मैं। भविष्य में ऐसा योगा योग और ऐसा पुनीत सान्निध्य उपस्थित होना असम्भव ही दीखता है मुझे। अभी तो मेरी कई जिज्ञासाएँ अपने समाधान की प्रतीक्षा कर रही हैं। कौन करेगा उनका समाधान? कौन गुह्य ज्ञान के मूल तत्वों को समझाएगा इस प्रकार? मैं भी अपने स्थान से उठा और काली नदी की ओर चल पड़ा धीरे-धीरे।

सांझ की स्याह कालिमा। अब फैलने लगी थी उस पर्वतीय वातावरण में। घोर निस्तब्धता बिखरी हुई थी काली नदीं के चारो ओर। काफी देर तक मौन साधे खड़ा रहा और अपलक निहारता रहा काली नदी की प्रखर धारा की ओर मैं। मन बड़ा ही शान्त था मेरा उस समय। पिछले तीन चार दिनों के अन्दर रत्नेश्वर चैतन्य से जो मुझे आध्यात्मिक उपलब्धियाँ हुई थी वह सर्वाधिक मूल्यवान सम्पत्ति थी मेरे लिए इसमें सन्देह नहीं। जोजांग में मेरी वह अन्तिम रात थी। कल किसी भी समय रत्नेश्वर चैतन्य और राजेश्वरी माँ के साथ नेपाल की यात्रा पर निकल जाना होगा। सोचा जो जिज्ञासाएं हैं, उनमे से दो एक का समाधान अवश्य ही कर देंगे रत्नेश्वर चैतन्य मार्ग में। टालेंगे नहीं मुझे।

सहसा निस्तब्ध वातावरण में शंख घंटे की ध्वनि गूंजने लगी। काली मन्दिर में माँ महामाया की आरती पूजा का समय हो गया था शायद। सीढ़िया चढ़कर मन्दिर के भीतर चला गया मैं। देखा पूर्ण मान होकर और अपने आपमे लीन -

महामाया की आरती कर रहे थे ब्रह्मचारी जी। मन्दिर का वातावरण शान्त और सुगन्धमय था। माँ के सामने गजाधार पर चौमुखा दीप जल रहा था, जिसके मन्दर आलोक मे युक्त केशी पराशक्ति की मुंखाकृति अत्यन्त करुणामयी लगी मुझे। शवारुढ़ा माँ के रक्ताभ होंठो पर मन्द-मन्द मुस्कराहट थी, लगा जैसे उनका मुंख खुल जायेगा और बोल पड़ेगी मधुर और कोमल वाणी में बोल। क्या चाहिए तुम्हे बोल न। संकोच मत कर माँ के सामने संकोच और लज्जा कैसी रे इसी प्रकार लगा जैसे माँ महामाया के बड़े-बड़े सपल नेत्रों में करुणा, दया, कृपा स्नेह और प्रेम के अथाह सागर लहरा रहे हो। न जाने कब तक अपलक निहारता रहा मैं करुणामयी स्नेहमयी और दयामयी के उन सजल नेत्रों की ओर। अन्त में रहा न गया मुझसे अवरुद्ध कण्ठ से और विह्वल स्वर में बोल ही पड़ा मैं - ''माँ'' मैं कौन हूँ? कहाँ से आया हूँ? और फिर कहां चला जाऊँगा? यह सब मैं नहीं जानता। इस अल्पावस्था में इतनी जीवन मरण दायिनी हिम यात्रा मैंने किस प्रेरणा के वशीभूत होकर की। यह भी नहीं जानता मैं। किस श्रद्धा और किस विश्वास का आश्रय ले कर किस सत्य की खोज में भटक रही हैं मेरी आत्मा? इससे भी अपरिचित हूँ मैं, माँ। तुम्ही बतलाओ। कौन सी वस्तु हैं ऐसी मुझमे जिसके कारण उच्चकोटि के सन्त महात्मा और सिद्ध योगीगण स्वयं आ जाते हैं मेरे सम्पर्क में? इससे भी अनभिज्ञ हूँ मैं। तुम तो सब जानती होगी, तुम्ही बतलाओं माँ। कब और कहाँ समाप्त होगी मेरी यह यात्रा? फिर आगे बोला न गया मुझसे। वाणी मूंक हो गयी। और दूसरे क्षण झर-झर कर गिरने लगे नेत्रों से आँसू गालो पर।

और तभी आरती समाप्त कर ब्रह्मचारी जी ने मेरी ओर देखा और फिर मुस्कराते हुए सहज स्वर में बोले - अरे! कब आये आप मन्दिर में। गालो पर ढुलक आये आसुओं को उंगलियों से पोछते हुए धीरे से बोला मैं - थोड़ी ही देर हुआ आये। अन्तिम रूप से अपने हृदय में माँ महामाया की मनोहारिणी और भुवन मोहनी छवि बसाने आया हूँ मैं। फिर कहाँ मिलने वाला हैं इस रूप का दर्शन भविष्य में ..।

ऐसा क्यों कह रहे हैं आप? ब्रह्मचारी जी थोड़ा उद्घिग्न हो उठे।

कल नेपाल की यात्रा पर निकल रहा हूँ ब्रह्मचारी जी वहाँ से अपने देश अपने नगर और अपने घर वापस लौट जाऊँगा मैं।

अच्छा। यह कर एक बारगी असह्य और उद्घिग्न हो उठे ब्रह्मचारी जी। फिर थोड़ा रूककर बोले - तुम्हारा उद्‌देश्य साकार हो। यही मेरी कामना हैं। इसे आर्शीवाद भी मेरा समझ सकते हो। विस्मृत मत करना मुझे? सिर झुकाकर उनके चरणों का स्पर्श करते हुए मैंने कहा - यह कैसे हो सकता है। आपकी स्मृति बराबर बनी रहेगी मेरे मानस पटल पर।

कौन थी वह किशोरी कन्या

उस रात सोया न गया मुझसे। तिब्बत से संबंधित बहुत सारी स्मृतियाँ एक एक कर उभर रही थी मानस पटल पर। न जाने कब तक उन स्मृतियों से उलझा रहा मैं। और उसी अवस्था में न जाने कब झपकी लग गयी हल्की सी। और उसी तन्द्रिल अवस्था में मैंने अपने सामने एक किशोरी कन्या को देखा। मेरी ओर अपलक निहारती हुई मन्द-मन्द मुस्करा रही थी वह। उसकी बड़ी-बड़ी कजरारी आँखों में एक विलक्षण तेज था। और चेहरे पर थी एक विशेष प्रकार की दैवी आभा। उसके घने काले बाल खुलकर पीठपर बिखरे हुए थे। कानो में कुण्डल था और गले में मोतियों की माला। कलाइयों में शंख के बताय थे। चौड़े पाढ़ की लाल रंग की रेशमी साड़ी पहले थी वह। बड़ी अद्‌भुत विलक्षण और साथ ही मन को सम्मोहित कर देने वाली लगी मुझे वह देव तुल्य कन्या। सचमुच बड़ा ही विचित्र आकर्षण था उसके अंग प्रत्यंग में।

न जाने कब तक अपलक निहारता मैं उस लावण्यमयी कन्या के अपरूप स्वर्गीय सौन्दर्य को फिर उसी तन्द्रिल अवस्था में न जाने कैसे धीरे से पूछ बैठा – 'कौन हो तुम? इस एकान्त वातावरण में क्यों आई हो तुम? मेरे स्वर में भय भी था और आश्चर्य भी।

मेरा प्रश्न सुनकर मुस्कराते हुए गहरी दृष्टि से एक बार मेरी ओर देखा और फिर मन्द स्वर में बोली अरे। पहचाना नही तूने मुझे? इतनी जल्दी भूल गये। अभी सांझ के समय वही तो गये थे मेरे पास। पूजा आरती हो रही थीं न। इसलिए तुम्हारी ओर ध्यान ही नहीं गया मेरा ... बोल न। अब भी नहीं पहचाना तूने मुझे?

उस रहस्यमयी कन्या के यह सब सुनकर सकपका गया मैं। अवाक मुँह बाये देखने लगा उसकी ओर। कोठरी में अंधेरा होने के बावजूद भी बिल्कुल साफ देख रहा था उसकी उज्जवल मनोहारिणी छवि को मैं। क्या देख रहे हो इस तरह मेरी ओर – हँसते हुए बोली वह?

सचमुच बड़ी ही कोमल और मधुर हंसी थी वह। हृदय का स्पर्श जैसे कर गयी उसकी हंसी।

फिर भी कुछ समझ में नहीं आया। उसी प्रकार ताकता रहा मूर्खो की तरह। मुझे चुप देखकर वह कन्या स्वयं बोली मधुर वाणी में – झर-झर कर आँसू बहाते हुए अवरूद्ध कण्ठ से क्या-क्या बोल गये थे 'माँ' के सामने? क्या वह सब भी भूल गये? श्रद्धा, विश्वास की बात भी याद नहीं। थोड़ा थम कर बोली वह।

यह सुनते ही हिलक-हिलक कर रोने लगा मैं। और उसी अवस्था में बोला-सब कुछ याद आ गया माँ मुझे। सब कुछ।

कन्या पूर्ववत् मुस्कराते हुए कहने लगी - मन्दिर में मूर्ति के सामने तुमने जितना प्रश्न किया है उन सब उत्तर समयानुसार तुमको प्राप्त होता रहेगा, व्याकुल होने की आवश्यकता नहीं। रही श्रद्धा और विश्वास की बात, तो वह तो तुममें है ही तभी तो सत्य की खोज में निकले हो और उसे प्राप्त करने के आकुल हो।

थोड़ा रूक कर मधुर कण्ठ से वह रहस्यमयी कन्या आगे कहने लगी - तुमसे कुछ कहने आई हूँ ध्यान से सुन और तर्क प्रश्न आदि मत करना मुझसे। सुनो तुम पूर्ण मानव बनने का प्रयास करो। केवल साधु सन्यासी, और पण्डित हो कर न जीवन का आनन्द प्राप्त कर सकोगे और न तो सत्य रूपी परमात्मा की ही झलक अपने अन्तराल में प्राप्त कर सकोगे। अतुल धन प्राप्त करके भी सुखी नहीं हो सकोगे। समझे न! धन प्राप्त करो, मना नही करती मैं लेकिन धन को भी साधन बनाओ पूर्वत्व की दिशा में। तुमको मैं भौतिकवादी और अध्यात्मवादी नहीं देखना चाहती। मैं तो तुमको देखना चाहती हूँ समग्रतावादी। जब तुम यह कहोगे आत्मा भी मैं हूँ। शरीर भी मैं हूँ। शरीर मेरा घर हैं और उस घर में मेरी आत्मा का निवास हैं। तुम्हारा व्यक्तित्व तुम्हारा अपना हैं। उस पर केवल तुम्हारा ही अधिकार हैं। तुम जैसे व्यक्ति ने पहले न जन्म लिया, और भविष्य में भी तुम जैसा व्यक्ति जन्म लेगा। भगवान राम-भगवान श्री कृष्ण भगवान बुद्ध, और भगवान महावीर जैसे महापुरुषों ने क्या कभी दूसरी बार जन्म लिया? गये तो गये। बस उनकी स्मृतियाँ हैं। और संस्मरण हैं।

तुम न कभी आदर्श बनो। किसी का आदर्श लेकर भी मत चलो जीवन में। क्योंकि आदर्श धोखा देता हैं। आदर्शों तक पहुँचते-पहुँचते निराश हो जाओगे तुम। निराशा ही हाथ लगेगी अन्त में। प्रत्येक मनुष्य अपने आपमे अद्‌भुत और रहस्मय हैं। तुम भी अपने आपमे अद्‌भुत और रहस्यमय हो। तुममे अपनी विशिष्ट गरिमा हैं। अपना सौन्दर्य हैं। प्रत्येक मानव को अपने स्वभाव के अनुसार जीना चाहिए। तुम भी अपने स्वभाव के अनुसार जीने का प्रयास करो। तुम्हारी जो प्रकृति है - उसे स्वीकार करो। तुम्हारे अपने गुण है अपनी शक्ति है और है अपनी ऊर्जा। तुम अपने गुण अपनी शक्ति अपनी ऊर्जा को पहचानो। और पहचानो अपने सामर्थ्य को भी। मनुष्य जो चाहे वह बन सकता हैं लेकिन कमल गुलाब नहीं बन सकता। आम, अमरुद नहीं बन सकता। जो सब कुछ बन सकता हैं - वह वास्तव में प्रकृति की अद्‌भुत मौलिक कृति है। तुम, प्रकृति की मौलिक कृति हो। इतना बोलकर वह कन्या कुछ क्षण के लिए मौन हो गयी। फिर आगे गोली - तुम्हारा रोना स्वाभाविक हैं, लेकिन तुम रोओगे अपने लिए नहीं, दूसरों के लिए। अब अपना

आँसू पोछो, नहीं, नहीं, मैं पोछूगी तुम्हारा आँसू यह कहकर उस लावण्यमयी कन्या ने थोड़ा आगे बढ़कर अपने आंचल से मेरे गालों पर ढुलक आसुओं को पोछने लगी धीरे-धीरे। कितना कोमल स्पर्श था? कितना प्रेम था और था कितना स्नेह उस स्पर्श में बतला नहीं सकता मैं। अच्छा! अब चलूँ! कन्या मन्दर स्वर में बोली। नहीं, नहीं, तुम कहाँ जाओगी माँ? मुझे छोड़कर भला कैसे जा सकती हो तुम? तुम्हारे बिना कैसे जीवित रहूँगा मैं? कैसे अपनी जीवन यात्रा पूरी करूँगा अकेला मैं? बोलो माँ, ... लेकिन। वह कन्या कुछ नहीं बोली, बस, जाते समय सिर घुमाकर मुस्कराते हुए एक बार मेरी ओर देखा उसने और फिर लुप्त हो गयी गहन अन्धकार में।

कहने की आवश्यकता नहीं। वह कन्या साक्षात् माँ महामाया थी। उनके जाने के बाद काफी देर तक सिर धुन-धुन कर रोता रहा। विलखता रहा इसलिए कि उनका चरण स्पर्श न कर सका था मैं। आप भी जब उस घटना की स्मृति कभी कदा मानस पटल पर उभरती है तो उसी प्रकार रोने विलखने लगता हूँ मैं, लेकिन लोग कुछ और ही सोचते समझते हैं मेरी कारुणिक दशा को देख कर उस समय।

६
अध्याय

जोजांग से नेपाल की ओर

प्रात: काल हो चुका था। रत्नेश्वर चैतन्य और राजेश्वरी माँ तैयारी में जुट गयी थीं। लम्बी यात्रा थी। पूरे पाँच दिन लगने वाले थे नेपाल पहुँचने में। रत्नेश्वर चैतन्य मुझसे बोले-चलना हैं न?

यह सुनकर एक बारगी हंस पड़ा मैं। सहज स्वर में बोला - अब तिब्बत में रह कर क्या करना हैं मुझे? जो प्राप्त होना था, वह हो गया। जो कुछ शेष बचा था, उसकी पूर्ति आपने कर दी। चलिए, तैयार हूँ मैं।

एक बार मेरी ओर सहज भाव से देखा रत्नेश्वर चैतन्य ने और फिर बाहर निकल गये कोठरी के। क्यों मेरी ओर इस प्रकार देखा था उन्होंने मेरी समझ में नहीं आया।

तीन याक की व्यवस्था हो गयी थी। राजेश्वरी माँ और चैतन्य रत्न ने अपना अपना सामान याक पर रखा। मेरे पास समान के नाम क्या था? एक बड़ा सा झोला और एक मोटा सा कंबल जो याक के बालो का था। झोले में था एक पीतल का लोटा एक लम्बा लबादा, जिसे दिया दिव्यमाया ने मुझे और इन दो वस्तुओ के अतिरिक्त था बाजरे का सतुआ और गुड़।

अपनी छोटी सी कुटिया में बैठी थी गौरी माँ। उनके सामने जाकर खड़ा हो गया मैं। गौरी माँ ने सिर उठाकर मेरी ओर स्थिर दृष्टि से देखा और मुस्करायी।

एकाएक गला भर आया मेरा। भरे गले से अवरुद्ध कण्ठ से बस इतना ही बोला गया मुझसे - जा रहा हूँ माँ; आशीर्वाद दो मुझे ..., गौरी माँ कुछ नहीं बोली। निर्विकार भाव से जड़वत् बस देखती ही रही मेरी ओर। दूसरे क्षण उनके नेत्र सजल हो उठे। अश्रु कण ढुलक आये गालो पर। लगा जैसे माँ की ममता माँ

के स्नेह और माँ के प्रेम से भर गया हो उनका योग-हृदय। किसी प्रकार हृदय में उमड़ते भावों को दबाकर सहज स्वर में बोली-गौरी माँ जा रहे हो बेटा। जाओ माँ महामाया कल्याण करे सदैव तुम्हारा। उस महाशक्ति की छाया है तुम पर। यह जान गयी हूँ मैं। कल रात जो कुछ मैंने देखा और सुना, उससे यह समझते देर न लगी मुझे कि उस महान शक्ति की कितनी करुणा हैं और है कितनी अनुकम्पा तुम पर। फिर थोड़ा रुक कर अपने आँसुओ को पोछती हुई बोली - अब भविष्य में कभी हम लोग मिलने वाले नहीं लेकिन भूलना मत मुझे ..., सिर झुकाकर दोनो हाथो से गौरी माँ के दोनों चरणों को अपने दोनों हाथों से गह कर पकड़ लिया मैंने और अपना मस्तक उन चरणों पर पटकते हुए विगलित स्वर में बस इतना ही कहा - आपका ममत्व, आपका स्नेह और आपका अपनत्व भरा व्यवहार कैसे भुला सकूँगा? और कैसे भूला सकूँगा उस अगाध ज्ञान राशि को जो अल्प समय में ही आपसे उपलब्ध हुई मुझे। आपका सौम्य शान्त और निर्विकार छवि सदैव मेरे हृदय पटल पर अंकित रहेगी। आप ही बतलाइये, वह छवि कभी धूमिल हो सकेगी भला। कहने की आवश्यकता नही आज ... भी जब कभी गौरी माँ की स्मृति जागृत होती है तो ऐसा लगता है कि सामने खड़ी मन्द-मन्द मुस्करा रही है वह। पिछले वर्ष अत्यधिक रूप से अस्वस्थ हो गया था मैं। जीवन की आशा नही थी। मन ही मन सोच रहा था अब शरीर छूट जायेगा, काश जीवन में थोड़ा और समय मिल जाता तो अधूरी पुस्तकें पूरी कर लेता मैं और तभी ऐसा लगा मानो गौरी माँ मेरे निकट खड़ी मुस्करा रही हैं और मुस्कराते हुए अपना दाहिना हाथ उठा कर अभय दान दे रही हैं। अपलक निहार रहा था असहाय सा उनकी ओर मैं उस समय। दूसरे दिन से मेरा स्वास्थ्य अनुकूल होने लगा तीव्र गति से। इस समय गौरी माँ अपने पार्थिव शरीर में हैं या नहीं, यह तो बतलाया नहीं जा सकता, लेकिन उस योगात्मा की अनुकम्पा मुझ पर अभी तक बनी हुई हैं, जिसका अनुभव कभी-कभी होता है मुझे इसमें सन्देह नहीं।

आस्था, विश्वास और श्रद्धा

मार्ग में काफी देर तक मौन साधे सभी लोग चलते रहे। सभी अपने आपमे लीन थे जैसे। एकाएक अपना मौन भंग किया रत्नेश्वर चैतन्य ने। गम्भीर किन्तु सहज स्वर में बोले - मेरी ओर सिर घुमाकर लगता है आप पर देवी की सहज कृपा है?

वह कैसे? मैंने पूछा।

कल रात मैं आपकी कोठरी में जो कन्या उपस्थित हुई थी रात्रि में, वह कौन थी? आपने जाना? रत्नेश्वर चैतन्य के इस प्रश्न का उत्तर न दे सका, इसलिए

कि माँ महामाया की उपस्थिति से परिचित था मैं और यह जानता था कि उनका मुझ पर अहैतुकी कृपा है। बतलाने से क्या लाभ?

मुझे मौन देखकर रत्नेश्वर चैतन्य स्वयं बोले मैंने तो वार्तालाप सुना ही मेरे अलावा गौरी माँ ने भी सुनी भगवती की मधुर वाणी। आस्था विश्वास और श्रद्धा, बहुत बड़ी चीज है। लगता है - ये तीनों आपमे पूर्व संस्कारगत है। यह सुनकर हंस पड़ा मैं। बोला 'मुझे तो कुछ ऐसा लगता नहीं। मेरे में क्या हैं और क्या नहीं है यह तो अन्तर्यामी ही जाने, मैं क्या जानूँ?

राजेश्वरी माँ बोली - तुम सम्भवत: आस्था, विश्वास और श्रद्धा के विषय से अपरिचित हो।

ऐसा ही समझिए मैंने कहा।

जिसे तुम आस्था समझते हो वह विश्वास का पर्याय नही है। विश्वास का आधार बौद्धिकता है और आस्था का आधार अन्त: प्रज्ञा या सूझ है - राजेश्वरी माँ बोली - बुद्धि, भाव और संकल्प का समाकलिक रूप हैं आस्था। विश्वास केवल बौद्धिक होता है और निरर्थक सिद्ध होने पर विश्वास को सरलता से त्यागा जा सकता है। आस्था में सम्पूर्ण व्यक्तित्व अन्तर्गत होता है। जिसका त्याग सहज नहीं है। आदर्श मानव जीवन का सर्वस्व है और इस आदर्श में अविचल विश्वास ही आस्था है। मूल्य के प्रति प्रतिबद्धता ही आस्था है। विश्वास संशय की अग्नि में जल जाता है किन्तु आस्था पर संशय का तनिक भी प्रभाव नहीं पड़ता है क्योंकि आस्था दृढ़ संकल्प पर आश्रित होती हैं। सन्देह, आस्था का विनासक न होकर सहायक हैं।

संशय से आत्म नीरिक्षण की प्रेरणा मिलती है। आस्था, ज्ञान की सीमा में आबद्ध नहीं है। ज्ञान की सीमा के अतिक्रमण की प्रेरणा आस्था से ही मिलती है। आस्था वह जीवन्त विश्वास हैं, जो निराशा में आशा का संचार करती है। सन्त और समाज सुधारक असफलता में भी अपने आदर्श लक्ष्य में आस्था बराबर बनाए रखते हैं। आस्था से जीवन में सतत् प्रेरणा मिलती रहती है। इसमे केवल लक्ष्य के प्रति प्रतिबद्धता दिखलायी देती हैं। और आदर्श के प्रति सर्वार्पण भाव झलकता है। आदर्श को त्यागने के बजाय आदर्श के लिए सर्वस्व त्याग देना आस्था की सहज प्रकृति है। भक्त के लिए आस्था का वही महत्व है - जो महत्व वैज्ञानिकों के लिए तर्क बुद्धि का है। बिना आस्था के धर्मपरायण होना सम्भव नही। किसी आदर्श या मूल्य के धर्म ग्रन्थ में आस्था रखता है मनुष्य। और उससे अपने जीवन का केन्द्र बिन्दु बना लेता है। खण्डित होती है तर्क बुद्धि, टूटता है वैज्ञानिक सिद्धान्त तिरस्कृत होता है विश्वास। परन्तु अप्रमाणित होने के बावजूद भी आस्था दृढ़ और अटूट होती है। विश्वास की गति तथ्य परक सन्दर्भो तक ही है। परमार्थ तक

उसकी कोई गति नहीं है। तथ्यात्मक कथनों के सन्दर्भ में ही 'विश्वास' शब्द का प्रयोग उपयुक्त हैं यथा, मेरा विश्वास है कि राम चरित मानस की रचना तुलसीदास ने की हैं' यह विश्वास असंगत है कि सूर्य, पृथ्वी के चारों ओर घूमता है, मुझे विश्वास है कि आज मेरा मित्र मेरे यहाँ आयेगा' आदि। यहाँ 'आस्था' शब्द का प्रयोग अनुपयुक्त है। जहाँ तर्क बुद्धि जाती है वहाँ आस्था को लाना अनुचित है। 'वृत्त' गोल है। पदार्थ में विस्तार है आदि कथनो के साथ आस्था शब्द का प्रयोग हास्यास्पद है। जहाँ विश्वास पंगु हो जाता है वहाँ आस्था गतिमान होती हैं। विश्वास बौद्धिक चेतना का स्तर हैं और आस्था संबोधिक चेतना का स्तर। बुद्धि के आगे सम्बोधिक' हैं। इस दृष्टि से विश्वास के आगे आस्था है। जब बौद्धिक कोलाहल शान्त होता हैं, तब सम्बोधिक चेतना का पट खुलता हैं। जहाँ पहुँचकर सन्त, महात्मा, सिद्ध, साधक, योगी और भक्त परमात्मा से साक्षात्कार करते हैं। इसी अपरोक्षानुभूति के गर्भ से आस्था का जन्म होता हैं। ईश्वर परमात्मा, परलोक, परमार्थ, पुनर्जन्म, मोक्ष, कर्म फल संबंध और प्रगति की निरन्तरता में आस्था व्यक्त करना धार्मिक व्यक्ति की जीवन शैली का सशक्त प्रमाण हैं। दैवी शक्ति का साक्षात्कार आस्था द्वारा ही सम्भव हैं। नैतिक, धार्मिक, आध्यात्मिक और सौन्दर्य परक सत्यों का ज्ञान तर्क बुद्धि द्वारा न होकर केवल आस्था द्वारा ये सम्भव हैं। आस्था का संबंध हृदय से हैं। हृदयहीन व्यक्ति परमार्थ के प्रति आस्थावान नही हो सकता। महापुरुषों का त्यागमय जीवन से आस्था बलवती होती है। विज्ञान का विरोधी अन्धविश्वास से हैं। न कि आस्था या श्रद्धा से। सुष्ठुतर्क सम्बलित श्रद्धा ही सत्य का साक्षात्कार कराती है। जब यह आस्था दृढ़ हो जाती है कि ईश्वर ब्रह्माण्ड का सर्वोच्च शासक हैं और वृत कर्मो के अनुसार सुख या दुख का प्रदाता है तब मनुष्य सहज ही सत्कर्मो की ओर प्रवृत्त हो जाता हैं। पौराणिक गाथाओं के विषय तर्क संगत न होते हुए भी जीवन में प्रेरणा का संचार करती हैं। फलत: उनमे आस्था सहज भाव से उत्पन्न हो जाती हैं। आस्था का प्रयोग निष्ठा या श्रद्धा के अर्थ में किया जाता है। श्रद्धा के प्रकाश में ही परमसत्ता का साक्षात्कार सम्भव है। कहा भी गया है - 'श्रद्धावाल्लभते ज्ञानम्'। जो कुछ हम जानते हैं उसमे विश्वास अवश्य होता हैं, परन्तु प्रत्येक विश्वास को हम ज्ञान या आस्था नही कह सकते हैं। विज्ञान के क्षेत्र में विश्वास टूटता हैं किन्तु धर्म के क्षेत्र में वहीं विश्वास बलवती होकर आस्था का रूप ले लेता है। भक्त, भूखा प्यासा रह सकता है किन्तु वह अपने इष्ट को कभी भी खोना नहीं चाहता है। भयंकर विपत्ति में भी ईश्वर में उसकी निश्चल निष्ठा बनी रहती हैं। उसको संसार की कोई भी वस्तु आराम नहीं दे सकती।

आस्था मनुष्य को निर्बौद्धिक मनोदशा हैं। और वैज्ञानिक ज्ञान की समान्य विधियां के पकड़ के बाहर है। धार्मिक व्यक्ति ईश्वर की सत्ता और आत्मा की

अमरता में दृढ़ आस्था रखता है, भले ही उसका तार्किक आधार न हो। बौद्धिक ज्ञान में प्रतिबद्धता नही होती। उसके खण्डन की सम्भावना बराबर बनी रहती हैं। परन्तु आध्यात्मिक आदर्श में निष्ठा रखने वाला व्यक्ति कभी भी तटस्थ नहीं रह सकता है। आस्था को त्यागने में मानसिक वेदना झेलनी पड़ती है। क्योंकि आस्था में सम्पूर्ण व्यक्तित्व उलझा रहता है। नास्तिक के लिए धार्मिक आस्था प्रभावहीन है। क्योंकि वह ईश्वरीय सत्ता का ज्ञान खोजता हैं। भक्ति नहीं।

इतना कहकर मौन हो गयी राजेश्वरी माँ। उनको मैं अब तक एक योगनिष्ठ महिला ही समझ रहा था। गहन और गम्भीर विद्वता का भी समावेश हैं उनकी साधना में, इसका ज्ञान प्रथम बार हुआ मुझे।

आपने जो कुछ बतलाया वह मेरे लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण तो है ही इसके अतिरिक्त आध्यात्मिक दृष्टि से मूल्यवान भी हैं। मेरे परिवार में कोई कन्या जन्म लेगी तो उसका नाम मैं आस्था ही रखूंगा, इसलिए कि जब भी उसका नाम लेकर पुकारूंगा, उस समय ताजी हो जायेगी आपकी स्मृति मेरे मानस पटल पर और साथ ही स्मरण हो उठेगा आपके साथ का सत्संग भी।

मेरी बात सुनकर हंस पड़ी राजेश्वरी माँ। कुछ बोली नहीं। हाँ। रत्नेश्वर चैतन्य जो अब तक मौन साधे रहे वह बोले - आपमे न विश्वास है और न तो है श्रद्धा। आपमे सच पूछा जाय तो 'आस्था' है। आस्था के ही बल पर आपने सत्य की खोज में निकले हैं, उसकी प्रतीति चाहते हैं और चाहते हैं उसे हृदयगम करना। आपकी आस्था ने ही मन्दिर की पाषाण प्रतिमा को सजीव और साकार कर रात्रि में आपके सम्मुख लाकर खड़ी कर दी थी इसमे सन्देह नहीं। यह सुनकर एकाएक मेरी आँखो में आँसू उमड़कर गालो पर झरने लगे और मन ही मन सोचने लगा - वह किशोरी कन्या सचमुच साक्षात माँ थी महामाया मकाकाली थी? हे भगवान! क्या करुं मैं? यह परम सत्य का अमृत तो पीया ही नही जा रहा हैं मुझसे।

उधर रत्न चैतन्य मेरी मनोदशा से अनभिज्ञ अपने आप बोलते जा रहे थे - पश्चिम के महान दार्शनिक पास्कल का मानना है कि ईश्वरास्था से लाभ ही लाभ है। यदि ईश्वर नही है तो वह हानि नही पहुँचा सकता। यदि ईश्वर है तो अनास्था से अन्तहीन दुख की सम्भावना बढ़ जाती है। अत: मनुष्य को ईश्वर पर आस्था रखनी चाहिए। पश्चिम के प्रसिद्ध दार्शनिक जेम्स ने भी ईश्वरास्था को हर दृष्टि से उपयोगी बतलाया हैं क्योंकि जीवन पर उसका स्पष्ट प्रभाव देखा जाता है। रसेल का विचार है कि जिसके लिए कोई साक्ष्य नही है - वह आस्था है। जहाँ साक्ष्य हैं वहाँ आस्था निरर्थक है। और विश्वास से काम चल जाता है। 'थाम्सन' के विचार में 'आस्था' में संकल्प और कर्म का तत्व होता है - जो उसे विश्वास से अलग करता हैं। 'आस्था जीवन नियमन या जीवन जीने की विशिष्ट पद्धति

हैं। जीवन में ज्ञान का सुचरित होना ही आस्था है। यानी आस्था से ही जीवन रसमय बनता है और जीवन जीने में आनन्द आने लगता है। पुनर्जन्म में आस्था रखने से जीवन उत्साह सदाशा और सक्रियता से भर जाता है तथा अवसाद की भयानक अवस्था से मनुष्य उबर जाता है।

दिन ढल चुका था। पश्चिम की उत्तुंग पर्वत श्रेणियों के पीछे सूरज छिप गया था। उसकी लालिमा अभी भी आकाश में बिखरी हुई थी एक सिरे से दूसरे सिरे तक। चारो ओर बांस का जंगल था और उसी जंगल के बीच में भोटियों का एक छोटा सा गांव था। गांव का मुखिया धार्मिक प्रवृत्ति का सज्जन पुरुष था। हम लोगों का बड़ी श्रद्धा भक्ति से स्वागत किया और भोजन और सोने की व्यवस्था की उसने। हम लोग काफी थके हुए थे। राजेश्वरी माँ और रत्नेश्वर चैतन्य तो तुरन्त गहरी नींद में सो गये लेकिन मुझे नींद नही आयी। बाहर निकल आया मैं। एकादशी का चांद हिमाच्छादित पर्वतों के उत्तुंग शिखरों के ऊपर आ गया था आकाश में। घोर निस्तब्धता बिखरी हुई थी उस पर्वतीय वन प्रदेश में। चारो ओर सांय-सांय हो रहा था। बांस के झुरमुटो से टकराकर हवाएं एक विचित्र-सी कम्पन मयी ध्वनि उत्पन्न कर रही थी। लगता था जैसे कोई निकट ही रो रहा हो सिसक-सिसक कर। बाहर बैठा न जाने कब तक सोचाता-विचारता रहा मैं। इधर लगातार कई दिनों से घर की याद बहुत आ रही थी मुझे। वापस लौटने की इच्छा प्रबल हो उठी थी मन में। जल्दी से जल्दी वाराणसी पहुँच जाना चाहता था मैं। इसका कारण पारिवारिक मोह माया और आकर्षण नहीं था, यदि कोई आकर्षण था भी तो अपने पितामह पं. बेचन जी शर्मा के प्रति था। कभी कदा एकान्त के क्षणों में उनकी स्मृति सजीव हो उठती थी और भव्य यौगिक रूप साकार हो उठता था मेरे मानस पटल पर एक बारगी। वास्तव में वे स्वयं एक उच्च कोटि के सिद्ध साधक और अपने आपमे एक महान योगी पुरुष थे। साधना मार्ग पर चलने की प्रेरणा उन्ही से प्राप्त हुई थी मुझे और इतना ही नहीं प्रच्छन्न और अप्रच्छन्न भाव से संचरण विचरण करने वाले एवं रहस्यमय ढंग से निवास करने वाले सन्त महात्माओं सिद्ध साधकों और योगियों की प्रवृत्ति उन्होंने ही जागृत की थी मेरे मन में। इसमे सन्देह नहीं।

उस एकान्त वातावरण से सहसा उनका भव्य यौगिक स्वरूप साकार हो उठा था मेरे मानस चक्षु के समक्ष। आकुल हो उठा था मेरा चित्त उस समय।

मनुष्य की पूर्णता

प्रात:काल हो चुका था। नित्य क्रिया और भोजन इत्यादि से निवृत्त होकर हम लोग चल पड़े आगे की यात्रा पर। थोड़ा आगे बढ़ने पर तिब्बत का पूर्वी

पठार शुरु हो गया। और उसी के साथ शुरु हो गयी चढ़ाई भी। राजेश्वरी माँ और रत्नेश्वर चैतन्य आपस में बाते करते हुए चल रहे थे। मैं मौन साधे आत्मलीन सा उनके पीछे-पीछे चल रहा था। अन्त में रत्नेश्वर चैतन्य से रहा न गया बोले - क्या सोच रहे थे काशी वासी। थोड़ा आगे बढ़ कर मैने कहा - क्या सोचूंगा आपके ही दिए गये प्रवचन पर चिन्तन-मनन कर रहा हूँ इस समय।

प्रवचन का कौन सा विषय है - पूछे वह। पशु से मनुष्य किन क्षणों में बना? यह निश्चित रूप से नहीं बतलाया जा सकता। हाँ। इतना अवश्य कहा जा सकता है निश्चित रूप से कि आज का एक साधारण पशु, कल का मनुष्य हैं। पशु से मनुष्य बनने पर जीवात्मा को अपने विकास क्रम में एक ऐसी यात्रा पर चलने के लिए अपने आपको तैयार करना पड़ता है जो जीवन की अन्तहीन यात्रा है। वह यात्रा कब और कहाँ समाप्त होगी? और उसकी अन्तिम उपलब्धि क्या होगी? यह निश्चि रूप से नहीं कहा जा सकता। लेकिन एक महत्वपूर्ण बात यह अवश्य है कि पुरुष के भीतर आत्मा है, जो परमात्मा का अंश हैं और जो शिव ऊर्जा के रूप में उपलब्ध होता हैं। मनुष्य, शरीर, इन्द्रियाँ मन, बुद्धि और आत्मा से मिलकर बना हैं। शरीर से सूक्ष्म इन्द्रियाँ हैं, उनसे भी सूक्ष्म मन हैं, उससे भी सूक्ष्म बुद्धि है और जो बुद्धि से भी सूक्ष्मतम हैं वह है आत्मा। परमात्मा का अंश आत्मा न कभी जन्मता हैं न कभी मरता हैं और न तो उसका किसी प्रकार से नाश ही होता है। वह शाश्वत है, नित्य और अजन्मा है। जन्म लेता है शरीर और मरता भी हैं शरीर। शरीर के जन्म के पहले आत्मा किस अवस्था में रहती है और शरीर की मृत्यु के पश्चात किस अवस्था में रहती है? वह अव्यक्त हैं, केवल उसकी वर्तमान अवस्था ही 'व्यक्त' है और वह भी कुछ ही समय के लिए और उस अल्प समय से लाभ उठा लेना मनुष्य की बुद्धिमानी हैं।

आपने बिल्कुल ठीक कहा - रत्नेश्वर चैतन्य बोले - आपको ज्ञात होना चाहिए कि सभी प्राणियों में केवल मनुष्य ही विचारशील प्राणी है। केवल मनुष्य ही आदर्श नियमों का निर्माण करता है और केवल मानव ही वर्तमान के आधार पर भूत और भविष्य को एक श्रृंखला में जोड़ने का प्रयास करता हैं। आदर्श नियमों द्वारा सामूहिक जीवन का नियमन मानव की ही विशेषता है और इसी विशेषता का परिणाम है कि प्रत्येक काल और स्थान में मानव ने जीवन दर्शन का प्रतिपादन किया है। जहाँ तक प्रश्न हिन्दू मानव का हैं, उसने जिस जीवन दर्शन को प्रतिपादित किया और विकसित किया वहीं, अपने संबंधित सामाजिक पक्ष के साथ 'हिन्दुत्व' के रूप में आविर्भूत हुआ। वेदो के प्रणेताओं उपनिषदों के मनीषियों, धर्म शास्त्रों के रचयिताओं, स्मृतिकारों ने जिस वैयक्तिक और सामाजिक जीवन दर्शन को प्रतिपादित किया है उसी का नाम हिन्दुत्व है। वास्तव में हिन्दुत्व व्यक्तिगत और

सामाजिक जीवन के प्रति एक दृष्टिकोण विशेष है। हिन्दू जीवन यापन में मानवी तथा मानवीय जीवन की आवश्यकताओं अभिरुचियों, उद्देश्यों, तथा आकांक्षाओं के समन्वय का प्रयास यिका गया हैं। आपको ज्ञात होना चाहिए इस समन्वय के दो आधार है - पहला 'इह लौकिक जीवन की आवश्यकताए और दूसरा - इस जीवन और इस जगत से परे जीवन की आवश्यकताएं तथा उद्देश्य। हिन्दू के लिए यह संसार एक विशाल रंग मंच के अतिरिक्त और कुछ नहीं है और मानव जीवन एक साधन मात्र हैं - वह साधन जिससे जीवात्मा जीवन से हमेशा के लिए स्वतंत्र होकर जन्म और मृत्यु के बंधन से मुक्त हो जाता है और प्राप्त कर लेता है परम गति को जिसे मोक्ष कहते है।। शरीर की आवश्यकता की पूर्ति जैविक गुण भी हैं और आवश्यकता भी। मानवीयता नितान्त शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति से आगे उठा हुआ एक कदम है। क्योंकि शरीर नश्वर है अमर है तो केवल आत्मा। आत्मा को निरन्तर साधना के माध्यम से प्रबुद्ध करते हुए जीवन स्वातन्त्रय की प्राप्ति और जन्म-मरण से सदैव के लिए मुक्ति का प्रयास ही मानवीयता हैं। इस दृष्टिकोण की वांछनीयता इस तथ्य में निहित हैं कि मानव-जीवन केवल शरीर आवश्यकताओं की तक ही सीमित नही है। मानवीयता निहित है - शास्त्र प्रणीत धर्म के अनुसार जीवन व्यतीत करने में। मानवीयता की मांग है - जीवन से मुक्ति जन्म से मुक्ति और बार-बार होने वाली मृत्यु से मुक्ति। और इसकी प्राप्ति होती है धर्म से। और जीवन धर्म से बंधा हुआ हैं। मोक्ष जीवन और जगत से विमुख होने पर प्राप्त नहीं होता। वह प्राप्त होता है जीवन को उसकी स्वाभाविक अभिरुचियों के साथ अपनाने में। और यही एक मात्र कारण है कि जीवन धर्म के साथ-साथ अर्थ और काम से भी बंध हुआ है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का समन्वय और साधन कर्म से होता है। कर्म के माध्यम से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की साधना का ही नाम पुरुषार्थ है। पुरुषार्थ आवश्यक क्योंकि मानव जीवन का उद्देश्य केवल पुरुष बने रहना ही नही है। मानव जीवन का उद्देश्य है मानवी स्तर से मानवीयता की ओर अग्रसर होना जिसका तात्पर्य हैं पुरुष से पुरुषोत्तम और नर से नरोत्तम होना। इसी को दूसरे शब्दों में कहते हैं 'मानव जीवन' की पूर्णता यानी पूर्णत्व सिद्धि अथवा लाभ।

मानव जीवन में कर्म प्रधान

पठार की चढ़ाई लगभग समाप्त हो चुकी थी और उसी के साथ ही समाप्त हो चुका था तिब्बत का पेड़ पौधों से विहीन और पशु पक्षियों के अभाव से ग्रस्त सुष्क और विरान सुनसान इलाका। अब पहाड़ी ढलान था और उसके बाद थी प्रकृति की हरीतिमा से भरी सुदूर तक फैली हुई घाटी। सूरज पश्चिम की ओर

झुकने लगा था। पर्वतीय क्षेत्रों में सांझ की स्याह चादर शीघ्र फैलने लगती है चारो ओर। और देखते ही देखते अंधेरा हो जाता है चारो तरफ। पूरब के आकाश पर काले भूरे बादल घिरने लगे थे। हवा भी हो गयी थी तेज। लगता था कभी भी पानी बरसने लगेगा और कभी भी हवा के लय पर शुरु हो जायेगा उसका ताण्डव नृत्य।

सुनसान और विरान इलाका। एक ओर बांस और देवदार के घने जंगल और दूसरी ओर काफी दूर तक फैली हुई उदास घाटी। नजर घुमाकर चारो ओर देखा - कहीं कोई गांव दिखलायी नहीं दिया। अब क्या होगा? कहाँ ठहरा जायेगा रात्रि में। कहीं कोई आश्रय नहीं। और तभी कुछ सोचते हुए रत्नेश्वर चैतन्य बोले - कुछ ही दूर पर एक प्राचीन बौद्ध गुंफा है। सम्भवत: वहाँ आश्रय प्राप्त हो जाय। हमलोग चल पड़े। थोड़ी ही दूर जाने के बाद एक छोटा सा गाँव मिला, जिसका नाम था, चक सुम। भोटियो और तिब्बतियों के मिले जुले पन्द्रह बीस घर थे गांव में। गांव को तीन ओर से घेरती हुई एक पहाड़ी नदी बड़ी ही तीव्र गति से प्रवाहित हो रही थी। नदी की धारा के समीप ही छोटे-छोटे गर्म पानी के दो झरने थे। और उन झरनों से आगे एकान्त स्थान पर अपने इतिहास को दुहरता हुआ और काल के थपेड़ों से करता हुआ अपनी रक्षा, खड़ा था निर्विकार वह प्राचीन बौद्ध गुंफा। गुंफा के सर्वेसर्वा थे लामा रिनचेन् पचास पंचपन वर्ष की आयु, सौम्य शान्त व्यक्तित्व और गम्भीर मुद्रा। हमलोगों सम्मान पूर्वक गुफा में ले गये लामा रिनचेन्। गुंफा के बीच भगवान तथागत की पाषाण प्रतिमा ऊँची वेदी पर स्थापित थी जिसके सामने जल रहा था मोम का दीपक मन्द-मन्द। भीतर चार-पांच छोटी-छोटी कोठरियाँ था। दो कोठरियों का प्रयोग लामा रिनचेन् अपने लिए करते थे, शेष खाली थीं। हमलोगों का परिचय प्राप्त कर अति प्रसन्न हुए थे लामा रिनचेन्। उन्होने तत्काल भोजन और विश्राम की व्यवस्था की हम लोगो के लिए। बिजली की चमक और बादल की गरज के साथ वर्षा होने लगी थी अब। लामा रिनचेन् ने बतलाया कि यह वर्षा दो तीन दिन तक इसी प्रकार होती रहेगी। रुकेगी नहीं।

क्यों? मैंने व्यग्र भाव से पूछा - इधर के इलाको में ऐसी ही वर्षा होती हैं। थमने का नाम ही नहीं लेती जब शुरु हो जाती हैं। थोड़ा रुक कर लामा सिचेन बोले - आप लोग चिन्ता न करे। नेपाल की सीमा पर पहुँचने एक सरल मार्ग है। यहाँ से थोड़ी ही दूर पर चीना गाँव हैं उसके बाद एक गाँव और है जिसका नाम है याम गाँव। वह सीमा गाँव हैं। वहाँ से थोड़ा ही आगे बढ़ने पर तिब्बत की सीमा समाप्त हो जाती है और शुरु हो जाती हैं नेपाल की सीमा। भूटान की भी सीमा वहीं समाप्त होती है।

भविष्यवाणी सच निकली लामा रिनचेन् की। पूरे तीन दिन लगातार वर्षा होती रही, बिजली चमकती रही और मेघ अट्टहास करते रहे। पहाड़ी नदी में बाढ़ आ गयी थी। सुदूर तक फैली हुई घाटी में पानी ही पानी भर गया था। आधा से अधिक बांस और देवदार के घने जंगल भी समाधीस्थ हो गये थे पानी में। मुझे इस बात की प्रसन्नता थी कि अब शीघ्र ही नेपाल पहुँचने वाला था मैं और सिचेन जैसे एक प्रकाण्ड अनुभवी विद्वान का अल्प समय के लिए ही सान्निध्य प्राप्त हो गया था मुझे।

लामा रिनचेन और उनका चमत्कारी दर्पण

लामा रिनचेन बीस वर्षो से उस बौद्ध गुंफा में रह थे। उसके पूर्व वे लेह में थे। लेह में ही उनको गुरु द्वारा योग तांत्रिक दीक्षा प्राप्त हुई थी। वहाँ कुछ समय तक साधना की उन्होने और उसके बाद यहाँ चले आये। उनका कहना था कि अब इस रमणीक आध्यात्मिक स्थान को छोड़कर कहीं और जाने की इच्छा नहीं होती।

कभी-कभी तो मन घबराता तो अवश्य होगा एक ही स्थान पर रहते? मेरे इस प्रश्न के उत्तर में लामा रिनचेन हंस पड़े एक बारगी। बड़ी ही रहस्यमयी हंसी थी वह। अपने दोनों हाथों को मलते हुए बोले - जब कभी ऐसी स्थिति उत्पन्न होती हैं तो गुरुदेव का दिया हुआ एक दर्पण है मेरे पास। उसी दर्पण में झांककर इच्छित स्थान का अवलोकन कर लेता हूँ। उसी अवलोकन से उद्भ्रान्त चिन्त शान्त हो जाता हैं और भ्रमण की भी इच्छा पूर्ण हो जाती हैं।

यह सुनकर घोर आश्चर्य हुआ मुझे। उत्सुक होकर पूछा - 'क्या उस रहस्यमय दर्पण को देख सकता हूँ मैं?

क्यों नहीं। यह कहकर लामा रिनचेन् ने अपनी फटी पुरानी और मटमैली झोली में से एक तांबे का छोटा सा डिब्बा निकाला और उसे धीरे से खोला और खोलकर एक कांच का दर्पण निकाला। मैंने देखा वह कांच का दर्पण लगभग तीन इंच चौड़ा और पांच इंच लम्बा था और सोने के फ्रेम में जड़ा हुआ था। वैसे देखने में इस छोटे से दर्पण में कोई खास विशेषता नजर नहीं आयी मुझे।

लामा रिनचेन ने दर्पण को मेरे सामने करते हुए सहज स्वर में कहा आप जिस स्थान को देखना चाहते है उस स्थान की मानसिक कल्पना कर इस दर्पण में झांके।

मैंने वैसा ही किया। अपने घर परिवार और अपने दादा जी की चिन्ता थी मुझे उस समया उन्ही सब की मानसिक कल्पना की मैंने और झांकने लगा दर्पण

में। कुछ क्षणों के बाद धीरे-धीरे वाराणसी शहर का दृश्य उभरा। अत्यधिक स्वच्छ दृश्य था वह। ऐसा लगा मानो सिनेमा के पर्दे पर वाराणसी को देख रहा हूँ मैं। पहले गंगाजी की धवल धारा वक्राकार घूमती हुई दिखलायी दी मुझे फिर सिलसिले बार घाटों के दृश्य एक-एक कर उभरने लगे दर्पण में। इसके बाद काशी विश्वनाथ मन्दिर और उसका स्वर्ण कलश गलियाँ सड़क, बाजार आदि सामने आये क्रम से और अन्त में आया हरिश्चन्द्र घाट। घाट पर चिताएं जल रही थी। बगल के हनुमान घाट पर लोग स्नान कर रहे थे और कर रहे थे पूजा अर्चा। अपलक सब कुछ देख रहा था मैं आश्चर्य चकित हो कर। अन्त में आया मेरा मकान। मकान के सामने गली में गाय बंधी हुई थी। मेरे दादा जी मकान के चबूतरे पर आसन बिछाये सिर नीचा किए दुर्गा सप्तशती का पाठ कर रहे थे नित्य की भांति। दादा जी को देखकर बरबस आँखो से आँसू निकल पड़े। मन ही मन प्रणाम किया मैंने उनको। न जाने क्यों उद्वोलित सा हो उठा मेरा मन उस समय। कुछ देर आंखे बन्द किये बैठा रहा मैं पाषाणवत् मैं। और जब आंखे खुली तो दर्पण खाली था। सारे दृश्य लुप्त हो गये थे।

लामा रिनचेन ने बतलाया कि मैं पृथ्वी के किसी भी भाग को बड़ी सरलता से देख सकता हूँ इस दर्पण में। कभी-कभी इच्छा होने पर लोक-लोकान्तरों के भी दृश्य उभर आते हैं दर्पण में मेरे सामने। कई बार शरीर त्याग कर आत्मा को परलोक गमन करते हुए भी देखा है मैंने।

अच्छा। आश्चर्य और कौतूहल के भाव से बोला मैं। क्या मैं भी देख सकता हूँ? क्या मुझे भी दिखला सकते हैं किसी के मरणोपरान्त के दृश्य? मेरी बात सुनकर लामा रिनचेन बोले - इसमे कठिनाई क्या है? आप इस दर्पण में भूत-भविष्य और वर्तमान में हो चुकी होने वाली और हो रही घटनाओं को भी देख सकते हैं।

यह सुनकर और अधिक आश्चर्य और कौतूहल हुआ मुझे। आजके वैज्ञानिक युग में भला कौन विश्वास करेगा इन बातो पर। लेकिन जो सत्य है वह सत्य ही है। उसे झुठलाया नहीं जा सकता और न तो अस्वीकार ही किया जा सकता है।

पहले मैंने उस रहस्यमय दर्पण में उन लोक-लोकान्तरों को देखा, जिनका संबंध मनुष्य के मरणोत्तर जीवन से है और उसके पश्चात देखा पार्थिव शरीर का त्याग कर सूक्ष्म शरीरधारी आत्मा को परलोक गमन करते हुए। (इस विषय में विस्तार से पढ़े अभैतिक सत्ता में प्रवेश) कहने की आवश्यकता नहीं यह सब कुछ देखकर हतप्रभ-सा हो गया मैं एक बारगी। बैठे ही बैठे करतलवत् सम्पूर्ण धरती ही नहीं लोक-परलोक का भी दर्शन। एक पूर्ण अविश्वसनीय परम सत्य। वास्तव में मनुष्य कितना अल्प ज्ञानी हैं? कितना तुच्छ हैं और है कितना अल्प। आजका

उन्नतिशील विज्ञान कितना क्या जानता हैं? इस प्रकार के अपरोक्ष ज्ञान के सामने उसकी उपलब्धि नगण्य हैं। मनुष्य के चर्मचक्षु के परे ज्ञान का कितना विशाल भण्डार भरा हुआ हैं और कितना हैं सत्य यह भला कौन जानता है सिवाय तत्ववेत्ता मनीषियों के।

रिनचेन निश्चय ही परम विद्वान और सिद्ध पुरुष थे इसमें सन्देह नहीं। मनुष्य के पूर्णत्व की सिद्धि कर्म से निहित हैं, लेकिन किस प्रकार के कर्म में निहित हैं? इस प्रश्न के समाधान में लामा रिनचेन ने अपने जो विचार प्रस्तुत किए। वह निश्चय ही पाण्डित्य पूर्ण और सार गर्वित था इसमें सन्देह नहीं। उनका कहना था कि भौतिक जीवन में आत्मा से परमात्मा अलग रहता हैं। भौतिक शरीर धारण करने पर प्रकृति के आधीन हो जाता हैं। जिसके परिणाम स्वरूप आत्मा में प्रकृति के तीनो गुण सत्व, रज और तम प्रविष्ट हो जाते हैं। आत्मा त्रिगुणमयी हो जाती हैं। प्रकृतिमयी होते ही आत्मा में अपने आप क्रियाशीलता उत्पन्न हो जाती है। इसी कारण 'श्रम' देहीवान मनुष्य का गुण हो जाता हैं। इसी गुण के कारण आत्मा को जीवात्मा कहते हैं। कहने का तात्पर्य यह कि श्रम युक्त शरीर में निवास करने वाली आत्मा को जीवात्मा कहते हैं। जीवात्मा का कार्य क्षेत्र अथवा लीला क्षेत्र प्रकृतिमय यह भौतिक संसार हैं। त्रिगुणात्मिका प्रकृति की सीमा बस यह भौतिक जगत ही हैं। भौतिक जगत की सीमा के बाहर प्रकृति का अभाव है। जीवात्मा, आत्मा की संक्रमण कालीन भौतिक अभिव्यक्ति है। जीवात्मा और आत्मा में यही भेद अथवा अन्तर हैं। इस संक्रमण काल में शरीर धारण करने के फलस्वरूप जीवात्मा कार्य के बंधन में बंधता है। क्योंकि शरीर में जीवात्मा के अस्तित्व का आधार एक मात्र कर्म ही हैं। बिना कर्म के शरीर में जीवात्मा का अस्तित्व ही असम्भव हैं शरीर के बंधन में बंधा हुआ मनुष्य यानी जीवात्मा में कर्म वैसे ही लिप्त हैं जैसे सूर्य में प्रकाश। 'कर्म' का अर्थ क्या है? मेरे इस प्रश्न के उत्तर में लामा रिनचेन बोले 'कर्म' शब्द संस्कृत भाषा के 'कर्मन्' शब्द से व्युत्पन्न हैं। कर्मन् शब्द का प्रयोग कई अर्थों में हुआ हैं - जैसे क्रिया, कार्य, कृति, आदि। वास्तव में कर्म मनुष्य का एक आधारभूत गुण हैं। कर्म लोक परलोक के जीवन का नियामक हैं। कर्म ही ऊर्ध्व गति और अधोगति का कारण हैं। सुकर्म और कुकर्म के परिणामों से उत्पन्न भोग का ही नाम जीवन है। आत्मा अमर अवश्य है लेकिन जीवात्मा के द्वारा होने वाले कर्मो के प्रभावो से वह परे नही है।

जहाँ मनुष्य कर्म के आधीन हैं वहीं कर्म भी मनुष्य के आधीन हैं। क्योंकि मानव जीवन व्यक्ति को वांछित कर्म चुनने और करने का अवसर प्रदान करता हैं।

कर्म स्वाभाविक है। कर्म बंधन नहीं हैं। कर्म फल के प्रति आसक्ति मोह और आकर्षण ही बंधन है। कर्म पर मनुष्य का स्वाभाविक अधिकार है जो जन्मजात हैं लेकिन कर्म फल मनुष्य के अधिकार में नहीं हैं। उसके अधिकार के बाहर है। वास्तव में कर्म फल के प्रति आशक्ति मोह और आकर्षण ही मनुष्य को जन्म और मृत्यु के चक्र में फंसाता हैं। वही आवागमन के बंधन में भी बाधता हैं

जीवन में कर्म आवश्यक हैं। कर्म का ही दूसरा नाम जीवन है। बिना कर्म के जीवन का अस्तित्व ही नहीं। मृत्यु का अर्थ हैं कर्म की समाप्ति। जीवन में कर्म आवश्यक हैं न कि कर्म फल की कामना। जीवन का एक मात्र उद्देश्य कर्म फल की कामना नही - मोक्ष है। मोक्ष, बंधन नहीं स्वतंत्रता है। एक ऐसी स्वतन्त्रता जहाँ न सांसारिक बंधन है प्राकृतिक बंधन। मोक्ष, परम गति हैं परम निर्वाण हैं। परम शून्य हैं। जहाँ सब कुछ समाप्त हो जाता हैं और आत्मा, जीव भाव का त्याग कर परम पुरुष परमात्मा में विलीन हो जाती हैं।

मनुष्य के लिए कर्म का त्याग असम्भव हैं। पूर्ण कर्म सन्यास असम्भव हैं। शरीर धारी जीवात्मा में कर्म अन्तर्निहित हैं। उसके लिए कर्म फल त्याग ही सम्भव हैं। कर्म फल का जो त्याग करता हैं वास्तव में वही असली त्यागी हैं। जिसे हम 'सन्यास' कहते हैं वह वास्तव में कर्म फल सन्यास हैं। और कर्म फल सन्यास की साधना योग द्वारा ही सम्भव हैं। जिसने मन में उठने वाले संकल्पों का त्याग नहीं किया हैं। और जिसने कर्म फल का भी त्याग नहीं किया है - वह कभी भी योगी नहीं हो सकता। योग की साधना के लिए कर्म की साधना आवश्यक हैं। इस संसार में शान्ति उसी को प्राप्त होती है जो कर्म योग द्वारा योग को साधता हैं। कर्म योग का अर्थ है - कर्म फल का त्याग करते हुए कर्म की साधना करना। गीता में सन्यास और त्याग में अन्तर बतलाया गया है। कामना से उत्पन्न हुए कर्मो के त्याग को सन्यास कहते हैं। और समस्त कर्मो के फल के त्याग को 'त्याग' कहते हैं।

जिसमे समत्व भाव है - वह योगी है। समता, समभाव और समत्व का ही नाम योग है। और यह समत्व फल की कामना से रहित कर्म की साधना से प्राप्त होता हैं।

वास्तव में समत्व एक मनोवृत्ति विशेष हैं। जिसमे कर्म फलों के प्रति आशाक्ति नहीं है। सफलता, असफलता हर्ष, विषाद, जीवन, मृत्यु समान हैं। जिसमें न राग है न द्वेष है और जिसमे किसी भी प्रकार के विषय के प्रति आशक्ति नहीं है। 'समत्व' बुद्धि की एक अवस्था विशेष भी हैं। वह अवस्था विशेष जहाँ बुद्धि मन और इन्द्रियाँ विषयों से हटकर समत्व में स्थिर हो जाती हैं। समत्व के भाव का उदय, सहज समाधि का जन्म हैं। समत्व भाव को उपलब्ध योगी सहज समाधि

में हर समय लीन रहता है। संसार और शरीर से विरक्त अपने आपमे सदैव लीन यहीं सहज समाधि है।

स्थित प्रज्ञता स्थिर बुद्धि और समत्व एक ही भाव दशा के भिन्न-भिन्न नाम हैं। इस भाव दशा को प्राप्त करने के लिए संयम आवश्यक हैं।

समत्व क्या है? इस प्रश्न के उत्तर में लामा रिनचेन ने कहा - समत्व ने निष्क्रियता हैं और न तो शून्यता हैं। समत्व न वैराग्य हैं न सन्यास हैं और न तो है कोरी निवृत्ति। समत्व कोरा योग भी नहीं है और न तो है कोरी विरक्ति। समत्व उदासीनता भी नहीं हैं। सच पूछा जाय तो 'समत्व' निष्काम तथा सक्रिय जीवन का आध्यात्मिक-बौद्धिक आधार हैं। क्योंकि समत्व वह निष्काम मनोवृत्ति हैं जो स्थिर बुद्धि से उत्पन्न होती हैं। निष्काम का संबंध कर्म से नही, मन और बुद्धि से है। मन और बुद्धि के संयम से निष्कामनता उत्पन्न होती है। योग केवल ध्यान अभ्यास और समाधि ही नहीं है। निष्काम भाव से किया गया कर्म ही योग हैं। अज्ञानी लोग आसक्त होकर कर्म करते हैं जबकि ज्ञानी जन आसक्ति रहित होकर कर्म करते हैं। निष्काम कर्म योग वास्तव में समत्व पर ही आधारित है। और 'समत्व' ज्ञान पर। समत्वमय निष्काम कर्म ज्ञान यज्ञ हैं जो सभी प्रकार के यज्ञों से श्रेष्ठ हैं आपको ज्ञात होना चाहिए कि अभ्यास मार्ग से ज्ञान मार्ग श्रेयस्कर हैं। ज्ञान मार्ग से ध्यान मार्ग और ध्यान मार्ग से कर्म फल त्याग श्रेयस्कर है, इसलिए कि कर्म फल त्याग से तत्काल शान्ति प्राप्त हो जाती हैं।

दो प्रकार के कर्म

कर्म के विषय से संक्षिप्त में लामा रिनचेन ने जो कुछ कहा था, वह निश्चय कर्म योग का सार भूत तत्व था इसमें सन्देह नहीं। उन्होंने कर्म के प्रसंग में आगे बतलाया कर्म की उत्पत्ति वेद से हुई है। वेद का अर्थ है ज्ञान। कर्म दो प्रकार के हैं - पहला अज्ञान से उत्पन्न हुआ कर्म और दूसरा ज्ञान से उत्पन्न हुआ कर्म। अज्ञान से उत्पन्न हुआ वह कर्म हैं, जिसमे कर्ता और 'अहंकार' दोनों रहते है। जिसमें 'हम' कहते हैं - 'मै कर रहा हूँ' वह अज्ञान से उत्पन्न हुआ कर्म हैं। ऐसे कार्य में अहंकार और अज्ञान दोनों संयुक्त रूप से विद्यमान रहते हैं। जहाँ अज्ञान हैं वहाँ अहंकार भी हैं। और जहाँ अहंकार हैं वहाँ अज्ञान हैं। दोनों एक दूसरे से कभी भी भिन्न नहीं हो सकते।

इसी प्रकार ज्ञान और निरहंकार दोनों संयुक्त हैं। दोनों अभिन्न है। दोनों एक दूसरे के पर्याय हैं। जो कर्म फलाकांक्षा रहित है कर्ता भाव और अहं भाव रहित है - वह ज्ञान कर्म हैं। वह ज्ञान जो वेद से आविर्भूत हुआ हैं। वैसे वेद स्वयं ज्ञान हैं। जहाँ ज्ञान होगा वहाँ अहंकार नही होगा और यहाँ अहंकार होगा वहाँ

ज्ञान न होगा। फलाशारहित कर्ता भाव रहित और अहं भाव रहित 'कर्म' को यज्ञ कहते हैं। वेद से ज्ञान और ज्ञान से कर्म यदि वह कर्म सभी उपर्युक्त भावो से रहित है तो वह 'यज्ञ' हो जाता हैं।

लोगो की धारणा है कि वेदो की स्वयं परमात्मा ने रचना की हैं। यह धारणा सांकेतिक है। कोई ग्रन्थ परमात्मा रच ही नहीं सकता, प्रश्न ही नहीं उठता रचने का। यज्ञ रूपी कर्म ज्ञान से उत्पन्न हुआ कर्म हैं। और ज्ञान परमात्मा से उत्पन्न होता है। उस ज्ञान को कर्म मे आयत्त करने वाला वास्तविक कर्मयोगी होता हैं। ऐसे ज्ञान युक्त कर्मयोगी की चेतना में परमात्मा प्रवेश करता हैं जब, तो उस अवस्था में भीतर से प्रेरित होकर वही चेतना पुस्तक अथवा ग्रन्थ की रचना करती है। जिसे हम अपौरुषेय कहते हैं। अपौरुषेय इसलिए कहते हैं कि लेखक स्वयं नहीं जानता है कि उसने कोई पुस्तक अथवा ग्रन्थ लिखा है।। उसको स्वयं इस बात का ज्ञान नही रहता है कि उसके द्वारा लिखी गयी पुस्तक का विषय क्या है? कैसे लिपिबद्ध किया उसने उस विषय को पुस्तक के रूप में ? बस वह इतना ही जानता हैं कि वह माध्यम हैं, लेखक तो एक मात्र परमात्मा ही हैं। यह एक परम आध्यात्मिक सत्य है कि जब भी किसी व्यक्ति के अन्तःकरण में ज्ञान का प्रवेश होता है तो समझ लेना चाहिए कि परमात्मा ने ही प्रवेश किया हैं। ज्ञान, परमात्मा का स्वभाव है। इसी प्रकार अज्ञान अहंकार का स्वभाव हैं। जहाँ भी अहंकार है वहाँ समझ लेना चाहिए कि अज्ञान भरा हुआ है आकण्ठ।

यदि हम आकण्ठ अहंकार से भरे हुए हैं तो जीवन में जो भी कर्म हम करेंगे वे सब अज्ञान से भरे हुए होंगे। अब प्रश्न यह हैं अज्ञान से भरे हुए कर्म की पहचान क्या हैं। पहचान यह है कि जिस कर्म से बंधन, दुःख, सन्ताप, पीड़ा और क्लेश उत्पन्न हो वह कर्म अज्ञान से निकला हुआ कर्म हैं। जिस कर्म से किसी भी प्रकार का बंधना हो। सन्ताप न हो। चिन्ता उत्पन्न न हो। निश्चिन्तता का अनुभव हो। जिस कर्म से आन्तरिक आनन्द की अनुभूति हो। आत्मा को शान्ति प्राप्त हो और मुक्ति का अनुभव हो, ऐसे कर्म को ज्ञान से निकला हुआ कर्म समझना चाहिए। ऐसे कर्म करने वाले कर्म योगी के अन्तःकरण में परमात्मा निवास करता हैं। उस कर्म योगी के द्वारा किये गये छोटे बड़े सभी प्रकार के कर्म उसी परमात्मा के द्वारा होते हैं। उसके हाथ परमात्मा के हाथ हो जाते हैं।

जीवन को 'अभिनय' के रूप में स्वीकार करे

शुरु से अब तक मौन साधे रही राजेश्वरी माँ। थोड़ा गम्भीर होकर बोली – क्या इस प्रसंग पर थोड़ा अपने विचारों को व्यक्त कर सकती हूँ?

लामा रिनचेन ने कहा - क्यों नहीं। मैं तो चाहता हूँ कि आप भी कुछ बोले इस विषय पर।

राजेश्वरी माँ ने कहना शुरु किया - कुछ समय पूर्व आसक्त और 'अनाशक्त' के संबंध में चर्चा हुई हैं। आसक्ति कर्म से हमे बांधती है और अनाशक्ति हमे मुक्त करती कर्म के बंधन से। कर्म से आशक्ति रखने वाला अज्ञानी है और न रखने वाला ज्ञानी हैं। दोनों कर्म करते हैं। एक को कर्म बंधन का कारण बन जाता है और दूसरे को बन जाता हैं कारण मुक्ति का। इस संबंध में गीता में भगवान श्री कृष्ण ने कहा है - कर्म में आशक्त अज्ञानी व्यक्ति जैसा कर्म करता हैं, ठीक उसी प्रकार अनासक्त ज्ञानी व्यक्ति भी कर्म करें। (गीता अ० 32 श्लो० 25) कर्म में जो आशक्त हैं वह तो कर्म करता ही है लेकिन करता है आसक्ति के कारण। अनासक्त होकर कर्म करने की बात को समझना अति कठिन हैं। कर्म के प्रति आसक्ति न हो तो लोग श्रम क्यों करेंगे? कर्म फल की आशा हैं, वही आशा श्रम करवाती हैं। उसी से प्रेरित होकर लोग धन के लिए, मकान के लिए पागलों की तरह श्रम करते हैं। इससे उनके अहंकार की तृप्ति होती हैं। क्योंकि आसक्ति है भीतर। यदि लोग अनासक्त हो जाय तो फिर कैसे दौड़ेंगे, भागेंगे और श्रम करेंगे? आज के युग में अहंकार रहित और अनासक्त भाव से कर्म करने वाला व्यक्ति दीपक लेकर खोजने पर भी नही मिलेगा संसार में।

गीता में दो बातें कही गयी है - पहली यह कि ठीक उसी प्रकार कर्म करना चाहिए जैसा कि आसक्त व्यक्ति कर्म करता है। कर्म में अन्तर नहीं करना चाहिए अन्तर आसक्ति में करना चाहिए।

इसका क्या लाभ होगा? इससे लाभ यह होगा कि आपका जीवन एक 'अभिनय' हो जायेगा। और आप हो जायेंगे एक अभिनेता। एक कुशल अभिनेता भी तो कर्म का अभिनय करता है। क्या वह उस कर्म में आसक्त रहता है लिप्त रहता हैं? नहीं वह यही समझता है कि यह कर्म जो मैं कर रहा हूँ वह अभिनय मात्र है इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं। राम भी अपने जीवन में कर्म के प्रति अनासक्त थे और कृष्ण भी। दोनों अपने-अपने समय के महान अभिनेता थे लेकिन एक के अभिनय को हम 'चरित्र' कहते हैं और दूसरे के अभिनय को कहते है लीला।

राजेश्वरी माँ बोली - भगवान श्रीराम और भगवान श्रीकृष्ण जैसे अवतारी पुरुषों के जीवन से हमे कर्म के विषय में शिक्षा लेनी चाहिए। राम जीवन के प्रति गम्भीर थे। प्रत्येक कार्य को भली-भाँति समझ कर करते थे। जबकि श्री कृष्ण जीवन को एक अभिनय के अतिरिक्त और कुछ नही समझते थे। चरित्र

को बड़ा गम्भीर और तटस्थ रहना पड़ता है। चरित्र में जो कुछ भी किया जाता है उससे संयुक्त होना पड़ता है जबकि लीला में जो कुछ भी किया जाता है उससे होना पड़ता है वियुक्त। भारतीय मनीषा का कहना है कि अज्ञानी लोग आसक्त होकर मोह ग्रस्त होकर जैसे कर्म में डूबे हुए दिखलायी देते हैं। वैसे ही ज्ञानी लोग भी कर्म में डूबे हुए दिखलायी देते हैं। लेकिन अज्ञानी और ज्ञानी के कर्म में आन्तरिक भेंद होता हैं। ज्ञानी डूबने में अन्तर नहीं करता हैं। वह वैसे ही डूबता है जैसे अज्ञानी डूबता है। वह अन्तर करता हैं भीतर और अन्तर करता है कर्ता भाव में। वह अपने भीतरं के सत्य को रूपान्तरिक किया हुआ होता हैं। बाहर से अज्ञानी और ज्ञानी के कर्म एक जैसे ही प्रतीत होते हैं। इसलिए यह भ्रम होना स्वाभाविक है कि कौन ज्ञानी है और कौन है अज्ञानी। और यही कारण है कि इस संसार में प्रारम्भ से ही ज्ञानी जनों की स्थिति बड़ी ही नाजुक रही है। वैसे ही जैसे पागल खाने में उस व्यक्ति की होती है जो पागल नहीं हैं। पागल खाने में पागलो की स्थिति इतनी नाजुक नही होती जितनी नाजुक होती है जो व्यक्ति पागल नही होता। लेकिन पागलों के बीच रहता है। ज्ञानी की स्थिति इसी प्रकार अज्ञानियों के बीच सदैव से नाजुक रही है और आज भी हैं। वे अज्ञानियों के बीच कैसे रहते हैं? और कैसे अपनी स्थिति को बराबर संभाले रहते है यह वही जानते समझते होंगे।

एक तंत्र साधक मदिरा पान करता हैं। मांस खाता है। जिसे देखकर साधारण व्यक्ति यही सोचता समझता है कि वह साधक कैसा? वह तो उसी की तरह मदिरा पान कर रहा हैं और खा रहा हैं मांस। वह यह नहीं जानता कि उसमें और उस तंत्र साधक में अन्तर हैं। तंत्र साधक अहंकार रहित अनासक्त भाव से तथा अकर्ता भाव से वह कर्म कर रहा हैं। यदि वह यह सब जान भी जाय तो उससे कोई अन्तर पड़ने वाला नहीं। क्योंकि 'जानने' से उसके भीतर का सत्य रुपान्तरिक होने वाला नहीं।

यदि ज्ञानी पुरुष अपने ज्ञान के अनुसार आचरण करता है तो अज्ञानियों के लिए भटकने का कारण बन जायेगा। यदि ज्ञानी पुरुष अपने शुद्ध आचरण को अपना कर जीता है तो अनेक अज्ञानियों के लिए गहन नर्क में गिरने का कारण बन जायेगा। उसका आचरण अज्ञानियों के जीवन को अन्धकार से भर देगा। ऐसे अन्धकार से भर देगा, जिसमें वे मृत्यु पर्यन्त भटकते रहेंगे। यदि ज्ञानी पुरुष अपने जीवन में शुद्ध आचरण का प्रत्यक्ष में प्रयोग करता है और शुद्ध ज्ञान की चर्चा करता हैं तो उससे अज्ञानियों का जीवन अस्त व्यस्त हो जायेगा। इसलिए कि उसके भीतर सत्य का रुपान्तरण तो हुआ नहीं रहता हैं और वे ज्ञानी पुरुष का अनुकरण करने लग जाते हैं।

ज्ञानी कैसा आचरण करें। कैसा व्यवहार करे। कैसा बोले? कैसे क्या कहे? वास्तव में यह अत्यन्त संवेदनीय समस्या है। ज्ञानी इस सब का स्मरण नहीं रखता हैं तो कभी भी उसे भारी हानि पहुँच सकती हैं। इसलिए ज्ञानी पुरुषों को संसार में अत्यधिक सावधानी और सतर्कता से रहना चाहिए।

निष्कर्म क्या है?

निष्कर्म क्या है? मेरे इस प्रश्न के उत्तर में राजेश्वरी माँ बोली - कर्म के न करने से किसी को निष्कर्म की उपलब्धि नही होती। सर्वस्व त्याग कर पलायन कर जाने से परमात्मा का साक्षात्कार नही होता। मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि मात्र कर्म का न होना निष्कर्म नहीं हैं। निष्कर्म बहुत बड़ी घटना हैं। बहुत बड़ी उपलब्धि हैं। बहुत से लोग निष्क्रियता को ही निष्कर्म समझते है। यदि निष्क्रियता ही निष्कर्म होती तो आलसी और अकर्मण्य भी निष्कर्म को उपलब्ध हो जाते। वास्तव में कर्ता भाव रहित जो कर्म हैं वह निष्कर्म हैं। निष्कर्म कर्म का अभाव नहीं हैं। निष्कर्म वह है जिसके भीतर 'मैं' का अभाव हैं। निष्कर्म - कर्म का अभाव नहीं है; कर्ता का अभाव हैं।

निष्काम कर्म से हमको तीन महत्वपूर्ण लाभ है - राजेश्वरी माँ बोली - पहला लाभ है आवागमन से मुक्ति। दूसरा लाभ है - द्वन्द रहित जीवन और तीसरा लाभ है - पिछले जीवनों में किए गये समस्त कर्मो का क्षय। जिसका परिणाम है मुक्ति लाभ।

मेरी दृष्टि में निष्काम कर्म का अर्थ है - इस प्रकार कर्म करना कि भविष्य में करने के लिए कोई कर्म शेष न रह जाय। और हमे निम्न लोकों की भ्रान्तियों और सीमाओं में न बांधे। जैसे शास्त्र कहता है कि अमुक कर्म से अमुक लोक की प्राप्ति होती है। यह हमको ज्ञात होना चाहिए कि मनुष्य की वासनाओं और कामनाओं की पूर्ति केवल तीन निम्नस्तर के लोकों में ही हो सकती हैं और वे तीन निम्नस्तर लोक हैं - भू लोक, वासना लोक और सूक्ष्म लोक। इन्ही के तीनो लोक में देहात्मा कार्य करता हैं अपनी कामना और अपनी वासना के अनुरुप। इन तीन लोकों के ऊपर कर्म शरीर नहीं हैं, इसलिए किसी भी प्रकार के कर्म करने का प्रश्न ही नहीं उठता। अत: निष्काम कर्म वह कर्म है जो ऐसी वासनाओं और कामनाओं से संबंधित नहीं हैं। स्पष्ट है कि जब हम कोई कर्म निम्न व्यक्तिगत कामना से प्रेरित होकर करते हैं तो उस कर्म में बुराई केवल उसके उद्देश्य के कारण हैं। उस उद्देश्य से उत्पन्न प्रभाव ही तो भविष्य में हमारे बंधन के कारण बनते हैं। केवल यही बात नहीं है कि उस कर्म के पीछे कोई उद्देश्य है अपितु वह उद्देश्य भी ऐसा है कि उससे उत्पन्न कर्मो का भोग निम्न लोकों में ही सम्भव

हैं। और वहीं बन्धन का कारण बन जाता हैं। निस्सन्देह बिना किसी उद्‌देश्य के कर्म करना सम्भव ही नहीं है। परन्तु यह सम्भव है कि जिस निम्न उद्‌देश्य से अवांछनीय परिणाम प्राप्त होते हैं उसके स्थान पर उच्चतर उद्‌देश्य से कार्य करें। जिससे वैसे परिणाम प्राप्त न हो। यह करना सम्भव है और निष्काम कर्म की विधि सीखने में यही किया भी जाता हैं। अत: निष्काम कर्म उद्‌देश्य विहीन कर्म नहीं है न तो वह कामना रहित कर्म है। जैसा कि लोग भ्रमवश सोचते है वह तो ऐसा कार्य है। जिसमें देहात्मा की वे निम्नतर कामनाएं है ही नहीं जिनकी सन्तुष्टि केवल निम्न लोकों में ही हो सकती है। प्रत्येक कर्म के पीछे एक उद्‌देश्य और कामना या भावना आवश्यक रूप से होनी ही चाहिए परन्तु वह भावना, आध्यात्मिक होनी चाहिए। अत: उस भावना को उपलब्ध होने के लिए निम्नलिखित छः सूत्रों का त्याग करना चाहिए।

1. महत्वाकांक्षा का त्याग कर दे, 2. जीवन तृष्णा का त्याग कर दे, 3. सुख प्राप्ति की कामना का त्याग कर दे, 4. पृथक्ता की समस्त भावना को समाप्त कर दे, 4. संवेदन की इच्छा को समाप्त कर दे, 6. उन्नति की आकांक्षा को समाप्त कर दें।

निम्नलिखित छै सूत्रों का स्वीकार करना चाहिए -

1. जो आपके भीतर है उसी की इच्छा करे। 2. जो केवल तुमसे परे हैं उसी की इच्छा करें। 3. जो अप्राप्य है केवल उसी की इच्छा करे। 4. शक्ति की उत्कट इच्छा करे। 5. शान्ति की तीव्र इच्छा करें। 6. सर्वोपरि आत्मिक सम्पत्तियों की इच्छा करें।

योग की पूर्णावस्था

इच्छाओं के दो समूह है। इच्छा का प्रथम जो समूह हैं वह देहात्मा की निम्न 'स्व' की कामनाएं या इच्छाएं हैं। इच्छाओं का दूसरा समूह देहात्मा की उच्च 'स्व' की कामनाएं या इच्छाएं हैं। अध्यात्म मार्ग के यात्री के लिए केवल निम्न कामनाओं और इच्छाओं को ही अपने भीतर से निकाल देना आवश्यक हैं। वह शक्ति और सम्पन्नता तक की कामना या इच्छा कर सकता हैं परन्तु वह उच्च 'स्व' से संबंधित होनी चाहिए।

मेरी एक जिज्ञासा हैं - मैंने कहा।

क्या?

मैं यह प्रश्न कर सकता हूँ कि सामान्यत: हमारे कार्यो के पीछे जो निम्न स्तर की व्यक्तिगत कामनाएं होती है उनके स्थान पर कौन सा उद्‌देश्य या भावना

आनी चाहिए। जिससे भविष्य में अवांछनीय कर्म उत्पन्न करने की उनकी शक्ति ही समाप्त हो जाय। राजेश्वरी माँ बोली - भक्ति मार्ग पर चलने वालों के लिए सभी कर्म ईश्वर को समर्पित कर देना चाहिए। दूसरे शब्दों में समस्त कर्म ईश्वर की सेवा के लिया उसे समर्पित करने के उद्देश्य से ही करना चाहिए। इस उद्देश्य या भावना के इस परिवर्तन से कार्य के निम्न व्यक्तिगत कार्य उत्पन्न करने की क्षमता समाप्त हो जाती हैं। इसका एक शक्तिशाली प्रभाव यह भी होता है कि भक्त को भगवान से मिलन के लक्ष्य की ओर बढ़ने में बड़ी सहायता प्राप्त होती है उससे। अपने सारे कर्मो को भगवान के चरणों में समर्पित करने के प्रभाव पर जरा आप विचार तो करिए। यदि आप उसे एक पुष्प भी अर्पित करते हैं या उसकी वन्दना करते है तो सचमुच आपका हृदय एक अव्यक्त भावना से भर जाता है और आपके भाव के अनुसार थोड़ी या अधिक भक्ति आपके हृदय में उमड़ने लगती हैं। परन्तु दिन भर अपने समस्त कर्मो के समर्पण से आराधना की एक अखण्ड स्थिति उत्पन्न हो सकती हैं। इसके प्रत्युत्तर में भगवान की दया, कृपा, करुणा आदि प्राप्त होगी ही और वह आपकी भक्ति में अत्यन्त तीव्रता से बृद्धि भी कर देगी।

बहुत से लोग यह सोचते समझते है कि व्यक्तिगत भावना के निकल जाने से निष्काम कर्म केवल सूखा और नीरस कर्तव्य पालन मात्र रह जायेगा। और इसलिए वे उससे कतराते हैं। वे यह नहीं समझते कि एक सच्चे भक्त के लिए यह अपने भगवान के चरणों में अपने जीवन का आनन्द पूर्वक समर्पण है। यदि हमारे हृदय में अपने इष्ट के प्रति सच्चा प्रेम हैं तो यही प्रेम का नित्य पर्व हैं। वह हमारे जीवन को समस्त उदासीनता, निराशा और खिन्नता समाप्त कर देता है और इसी से तो अधिकांश लोग पीड़ित है। यदि हम यह अनुभव करे कि हम यह कर्म उस परमेश्वर ईश्वर अथवा उस भगवान के लिए कर रहे हैं तो हम नीरस से नीरस और अत्यन्त अरुचिकर कार्य भी बड़े उत्साह और उल्लास से और साथ ही हृदय से कर सकेंगे।

यदि आपकी यह प्रक्रिया सतत जारी रही तो आप अन्त में निष्काम कर्म करने में पूर्ण रूप से प्रवीण हो जायेंगे। तो फिर आप देखेंगे कि आपके अन्दर एक अत्यन्त सूक्ष्म परिवर्तन हो रहा है। आपको लगेगा कि आप उसके जीवन और प्रेम के अधिक से अधिक यंत्र बनते जा रहे हैं। आप पायेंगे कि आपके माध्यम से आपके प्रयत्न के बिना ही उसकी शक्ति उसका प्रेम उसकी सहायता उन तक पहुँच रही है जिनके बीच और जिनके लिए आप कार्य करते हैं। आप तो एक नलिका मात्र बन जाते हैं परन्तु उस नलिका से उसी का जीवन और प्रेम प्रवाहित

होता रहता हैं। और तब और भी उच्चतर अवस्था में आपको अनुभव होगा। आपको लगेगा कि यही आपके हृदय में विद्यमान हैं और है विराजमान। और आपके समस्त कार्यो का निर्देशन कर रहा हैं। वैसे तो वह सदैव से ही करता आ रहा है परन्तु अपने 'अहं' और कर्तापन के झूठे अभिमान के कारण आपने उसका अनुभव ही नहीं किया और उसके मार्ग में ही सभी प्रकार की बाधाएं उपस्थित की और उसकी शक्ति और प्रेम के प्रवाह को अवरूद्ध कर दिया। स्वयं आप ही उस प्रवाह में बाधक बन गये। परन्तु अब आप जान गये हैं। आपने अब उस निर्देशन और आन्तरिक प्रवाह के प्रति पूर्ण समर्पण कर दिया हैं। वह आपके आन्तर में शासन करता हैं और आप उसके यंत्र बनने में आनन्दित होते हैं और यही कर्म योग की पूर्णावस्था हैं।

महान साधिका ज्योत्स्ना माँ

पिछले तीन दिनों से हो रही अनवरत वर्षा, धीरे-धीरे थम रही थी अब। बाहर झांककर देखा चारो ओर पानी ही पानी। पूरी विरान और उदास घाटी डूब चुकी थी जैसे पानी में। अद्‌भुत था वह जल प्लावन का दृश्य। नीले और काले रंग के बड़े आकार के पक्षी चक्कर लगा रहे थे पानी के ऊपर, और नीले आकाश में अभी भी काले भूरे बादलों के छोटे बड़े टुकड़े पुरुवा हवा के लय पर इधर उधर भटक रहे थे। रिनचेन ने बतलाया कि अब पानी नही गिरेगा और गिरेगा भी तो एक सप्ताह बाद। दोपहर तक यह घाटी भी खाली हो जायेगी। भरा हुआ पानी नदीं के रास्ते भूटान की ओर निकल जायेगा। ऐसा ही हुआ। चार पाँच घंटे के बाद पहले की ही तरह सारी उदासी पसर गयी पूरी घाटी में। वहाँ से चीना गाँव चौदह पन्द्रह मील दूर था। सायंकाल होने तक हम लोग पहुँच सकते थे चीना गाँव। अब तक थोड़ा बहुत प्रभाव मुझ पर भी पड़ गया था तिब्बत का। पूरे तीन महीने हो गये थे मुझे स्नान किये हुए। इसलिए गरम पानी के झरने की ओर निकल गया अकेले ही। गुम्फा से थोड़ी ही दूरी पर था झरना। लगभग 30, 40 फिट ऊपर से और तीन स्थानों से टकराता हुआ पानी गिर रहा था नीचे, जिसकी आवाज गम्भीर तो थी ही साथ-साथ भयानक भी थी। आश्चर्य की बात तो यह थी ऊपर से आने वाला पानी बर्फ की तरह ठण्डा था, लेकिन नीचे झील के रूप में परिवर्तित होते ही गरम हो जाता था। सब प्रकृति की माया थी। कुछ तिब्बती नव युवतियाँ अर्धनग्न अवस्था में झील में स्नान कर रही थी। और आपस में एक दूसरे पर पानी डाल कर हंस रही थीं और कर रही थी अश्लील शब्दों का प्रयोग। उनके स्नान और व्यवहार में किसी प्रकार की बाधा नहीं पड़ी मेरी उपस्थिति से, इसलिए

कि तिब्बत में लज्जा, संकोच और मर्यादा का बहुत अभाव है। वर्तमान में क्या स्थिति है? यह बतलाया नहीं जा सकता? सभी युवतियाँ एक साथ खिलखिलाकर हँसने लगी मुझे देखकर और पानी फेंकने लगी मुझ पर। मैं वहाँ से हट कर थोड़ा आगे बढ़ गया और स्नान करने लगा। गरम पानी में स्नान करने का उस समय अद्‌भुत आनन्द का अनुभव हुआ मुझे। अब तक की जो शारीरिक थकावट थी वह तो दूर हुई ही, इसके अतिरिक्त मानसिक तनाव से भी मुक्ति मिली। नयी स्फूर्ति भर गयी शरीर के रोम-रोम में और नयी शक्ति से भर उठा पूरा शरीर। आनन्द से पुलकित हो उठा मन, प्राण भी।

उस दिन श्रावण पूर्णिमा थी। प्रत्येक वर्ष की तरह गुम्फा में भगवान तथागत की विशेष पूजा अर्चा की व्यवस्था की गयी थी। परम्परा के अनुसार लाल-पीले कपड़े की झण्डियों से सजाया गया था पूरे गुम्फा को। भगवान तथागत के सम्मुख पचासों मोम के दीपक स्वर्ण पात्र में जला दिये गये थे। जिनके पीले प्रकाश से उद्‌भासित हो उठी थी भगवान तथागत की पाषाण प्रतिमा। बिल्कुल सजीव सी प्रतीत हो रही थी पाषाण प्रतिमा। पीतल के बहुत बड़े पात्र से सुगन्धित धूम निकल कर धीरे-धीरे फैलता जा रहा था गुम्फा के वातावरण में और जिसके प्रभाव से सम्मोहित हो रहा था जैसे मन, प्राण। गहन निस्तब्धता पसर गयी थी जैसे गुम्फा में उस समय।

लामा रिनचेन गम्भीर किन्तु मृदु स्वर में कहा - शर्मा जी। आप मेरे प्रथम भारतीय अतिथि हैं। आज आप लोग यहाँ और रूक जाय और भगवान तथागत के वार्षिकोत्सव में सम्मिलित होकर मुझे कृतार्थ करें, भारी प्रशन्नता होगी मुझे इससे। कल प्रातः चले जाइयेगा। यदि बीच में पड़ने वाले चीना गाँव में ठहरेंगे नही तो सायं काल तक सीमावर्ती गांव 'जम गाँव' बिना किसी कष्ट के आराम से पहुँच जायेंगे।

लामा रिनचेन का अनुरोध टाला न गया मुझसे। उस रात रुकना पड़ा मुझे और मेरे साथ रत्नदीप और राजेश्वरी माँ को भी।

सांझ ढलने के पूर्व ही लगभग 25-30 लोग एकत्र हो गये गुम्फा में वार्षिकोत्सव में सम्मिलित होने के लिए। जिनमे कुछ स्थानीय बौद्ध लामा थे और शेष नेपाल और सिक्किम से आये हुए बौद्ध साधक थे। उस मण्डली में एक युवा सन्यासिनी भी थीं, जो पोखरा (नेपाल) से आयी हुई थीं। आयु रही होगी बस तीस-पैतीस साल के लगभग, लेकिन लगती नही थी इतनी आयु की वह। कच्चे दूध में थोड़ा सा गुलाबी रंग मिलाने पर जैसा रंग बनता हैं कच्चे दूध का वैसा ही शरीर का रंग, मझोला कद, यौवन से भरपूर देह यष्टि, बड़ी-बड़ी झील जैसी

गहरी और स्वप्निल आँखें, पतले गुलाबी होठ और चेहरे पर साधना की दिव्य आभा नाम था ज्योत्सनामयी। सिल्क की गैरिक रंग की लुंगी और चादर थी ज्योत्स्नामयी के शरीर पर जिससे और भव्य लग रहा था उनका व्यक्तित्व सिर घुमाकर देखा तो देखता ही रह गया मैं उस साधिका को, विचित्र-सा सम्मोहन था उस समय उनकी आँखो में। न जाने कब तक अपलक निहारता रहा मैं उस सौन्दर्यमयी बौद्ध भिक्षुणी को अपलक। लगा जैसे किसी क्रोधी कृषि के शाप के कारण कोई आप्सरा, स्वर्ग का अगाध सौन्दर्य और रूप राशि लेकर उस हिम मय सुनसान और वीरान पर्वतीय वातावरण में अवतरित हुई हो भटकने के लिए। जब लामा रिनचेन ने यह बतलाया कि प्रत्येक बुद्ध पूर्णिमा और प्रत्येक श्रावण पूर्णिमा को ज्योत्सनामयी का आगमन होता यहाँ इस गुम्फा के वार्षिकोत्सर्व में भाग लेने के लिये आकाश मार्ग से? आप पोखरा के बहुत आगे एक गिरि गुहा में लगभग एक सौ पचास वर्षो से रह कर योग साधना मार्ग पर चल रही हैं और कई दुर्लभ सिद्धियाँ प्राप्त हैं आपको। वैसे आकाश गमन विद्या में निष्णात हैं आप।

यह सब सुनकर अवाक् और स्तब्ध रह गया मैं एक बारगी। बस मुँह बाये ताकता रहा अपलक उस महान योगसिद्ध आत्मा की ओर। मणि पद्मेय हुँ की मंत्र ध्वनि से गुम्फा का पवित्र वातावरण गूंज उठा एकाएक और उसी के साथ भंग हो गयी मेरी स्वप्निल तन्द्रा भी। पूरे दो घंटे तक चलता रहा अनुष्ठान। और उसी अनुष्ठान के बीच न जाने कब और कैसे जाकर खड़ा हो गया मैं भगवान बुद्ध के पाषाण प्रतिमा के सम्मुख पाषाणवत्। अपने आप आँखों से आँसू झरने लगे गालो पर। और उसी के साथ अस्फुट स्वर में कहने लगा मैं - हे शाक्य मुनि। सत्य और अहिंसा का जो सन्देश आपने मानव जाति को दिया है। उसे कितने लोग पालन करते हैं? कितने लोग साकार करते है अपने जीवन में आपके उपदेशों को? कोई नहीं, कोई नहीं। मानव जाति प्रारम्भ से आशावादी रही है यही उसके समस्त दुखो का कारण भी है। मैं भी एक परम दुखी व्यक्ति हूँ। लेकिन मेरा जो दुख है भौतिक नहीं है, जागतिक नहीं है और न तो है शारीरिक, मानसिक ही। मेरा दुख आध्यात्मिक है और उस दुख के कारण है मेरे तीन प्रश्न - मैं कौन हूँ? कहाँ से आया हूँ? और कहाँ चला जाऊँगा? इन तीन के अतिरिक्त एक विकट प्रश्न और है और वह यह कि मेरे जन्म लेने का प्रयोजन क्या हैं? हे तथागत इन्ही सब प्रश्नों का उत्तर प्राप्त करने के लिए पन्द्रह वर्ष की अवस्था से भटक रहा हूँ मैं। काल अपनी गति से आगे बढ़ता गया। क्षण-क्षण समय में परिवर्तन होता गया, लेकिन मेरे इन प्रश्नो का उत्तर अभी तक प्राप्त नहीं हुआ प्रभो। व्याकुल है मेरी आत्मा इन प्रश्नो में निहित सत्य से परिचित होने के लिये। अपने शरण में ले ले भगवान। कब तक भटकता रहूँगा इस तरह मैं। मुझे तन मन की शान्ति

नहीं, आत्मा की शान्ति चाहिए शाक्य मुनि आत्मा की शान्ति ... मुझे ऐसा लगा मानो तथागत के कोमल रक्ताभ होठ हिल रहे हो, और कहना चाहते हो - हे मानव जिन प्रश्नों का उत्तर तुम चाहते हो वे स्वयं तुम्हारे ही भीतर विद्यमान है। जिस समय तुम सत्य को उपलब्ध हो जाओगे उसी क्षण उस सत्य के प्रकाश में तुम्हे तुम्हारे उत्तर सजीव हो उठेगे। प्रत्येक मानव का जन्म निष्प्रयोजन नहीं होता। कोई न कोई कारण और कोई न कोई प्रयोजन अवश्य होता है। धैर्य रखो अपने जन्म के कारण और प्रयोजन का भी समाधान हो जायेगा शीघ्र ही। संसार दुख मय हैं दुख के अतिरिक्त संसार में और कुछ नहीं है। जिसे तुम सुख समझते हो वह दुख का ही एक रूप हैं सुख की खोज के बजाय अपने को खोजो। अपने आपको खोजना ही सत्य को खोजना है ...।

सहसा अपने निकट किसी की उपस्थिति का आभास हुआ मुझे। एकाग्रता भंग हो गयी। सिर घुमाकर देखा तो एक बारगी आश्चर्यचकित रह गया मैं। मेरे बगल में भगवान तथागत के सामने हाथ जोड़ें खड़ी थी ज्योत्सनामयी माँ। उनका भी सिर घूम गया अपने आप मेरी ओर लगा जैसे उस रहस्यमयी झील जैसी गहरी आँखे कुछ कहना चाहती हो अपनी मूंक भाषा में। होठ भी जैसे थरथरा रहे के उनके। लेकिन कुछ बोला न गया उनसे उस पल। पलट कर चली गयी वह। मैं कुछ क्षण खड़ा रहा वहाँ और फिर धीरे-धीरे चल कर गुम्फा के बाहर निकल आया मैं। न जाने कैसा हो गया था मेरा मन उस समय। पूरी सुनसान घाटी में पूर्णमासी की धवल चांदनी बिखरी हुई थी चारो तरफ। हिमाच्छादित पर्वत शिखर चांदनी में चांदी की तरह। वातावरण में घोर निस्तब्धता बिखरी हुई थी। और घोर तिस्तब्धता में झरने में गिरने वाले पानी की धारा की गम्भीर गर्जना, भय का संचार कर रही थी जैसे। रात्रि का पहला प्रहर समाप्त हो रहा था धीरे-धीरे। मैं अपने आपमे लीन चलता जा रहा था घाटी में। काफी दूर निकल आया था मैं सम्भवत:। अभी वापस लौटने का विचार कर ही रहा था कि सामने से आती हुई दिखलायी दी ज्योत्स्नामयी माँ। उस धवल चाँदनी ऐसा लगा मानो कोई देव कन्या उस सुनसान और विरान घाटी में आकाश से उतर कर मन बहलाने के लिए आ गयी हो। मेरे समीप आकर मन्द स्वर में ज्योत्स्नामयी माँ बोली - यहाँ क्या कर रहे हैं आप?

मुझसे रहा न गया बोला - आप रात्रि के समय इस उदास विरान घाटी में क्यों आई हैं? प्रश्न का उत्तर देने के बजाय स्वयं प्रश्न कर बैठा था मैं सोचा निश्चित ही बुरा लगा होगा उस परम साधिका को इसमें सन्देह नहीं। लेकिन न परिणाम विपरीत हुआ। मेरा प्रश्न सुन कर खिलखिला कर हंस पड़ी ज्योत्स्नामयी एक बारगी। बड़ी ही कोमल स्निग्ध और मधुर हंसी थी वह। उसकी गूंज अन्तरात्मा में प्रविष्ट होती हुई लगी मुझे। जो संसार और शरीर में रहते हुए भी नहीं है - वही समझता

है ऐसे एकान्त और निर्जन स्थान का महत्व, हंसी थमने के बाद बोली ज्योत्स्नामयी।

बड़ी गूढ़ और महत्वपूर्ण बात थी। मैं मौन साध गया। कोई शब्द नहीं था कुछ कहने के लिए मेरे पास। उसी अवस्था में गुम्फा की ओर बढ़ने लगे हम दोनों।

मनुष्य में 'स्वभाव' का अभाव

आपका कहाँ से आना हुआ है - ज्योत्स्नामयी मौन भंग करती हुई बोली?

काशी यानी बनारस से - उत्तर दिय मैंने।

कब से भटक रहे हो इस तरह - सिर घुमाकर मेरी ओर स्थिर दृष्टि से देखती हुई दूसरा प्रश्न किया ज्योत्स्नामयी ने।

पन्द्रह साल की आयु से?

अब तक क्या-क्या उपलब्ध हुआ?

आप उच्चकोटि की योगात्मा हैं, और सिद्ध भी हैं, स्वयं समझ सकती है मेरी उपलब्धियों को। आकाश की ओर शून्य में देखते हुए मैंने उत्तर दिया धीरे से।

जो कुछ जानना समझना था मुझे, उसे उसी समय जान समझ गयी थी मैं जब तुम तथागत के सम्मुख खड़े होकर मन ही मन व्यक्त कर रहे थे अपनी पीड़ा और अपनी व्यथा। लेकिन व्यावहारिक दृष्टि से आवश्यक था प्रश्न करना। इतनी अल्प अवस्था में आध्यात्मिक सत्य से परिचित होने की आकांक्षा किसी विरले के ही हृदय में उत्पन्न होती हैं। सच तो यह है कि बिना जन्म जन्मान्तर के संस्कार से यह सम्भव नहीं। जब कई जन्मों का संस्कार एकत्र होता हैं तभी मनुष्य के हृदय में आध्यात्मिक सत्य की उपलब्धि की आंकाक्षा जागृत होती है। थोड़ा रूक कर उस परम योगात्मा ने गम्भीर स्वर में आगे कहा - तुम्हारी यह आकांक्षा इसी जन्म में पूर्ण होने वाली नहीं हैं। इसके लिए एक और जन्म लेना होगा काशी में और जिस क्षण तुम्हारी आध्यात्मिक सत्य की खोज पूर्ण होगी और पूर्ण होगी तुम्हारी आकांक्षा, बस समझ लो तुम्हारा अस्तित्व उसी क्षण परम शून्य में परिवर्तित हो जायेगा। ब्रह्माण्ड में कही भी नहीं रहेगा तुम्हारी आत्मा का अस्तित्व। लेकिन एक बात अवश्य हैं और वह यह कि उस स्थिति को उपलब्ध होने के पूर्व समय-समय पर आध्यात्मिक उपलब्धियाँ बराबर होती रहेंगी, जिनके फलस्वरूप तुम्हारे ज्ञान और अनुभवों का भण्डार भरता जायेगा अवश्य इसमें सन्देह नहीं। यह सब सुन कुछ बोला न गया मुझसे। मौन साध गया मैं। न किसी प्रकार की जिज्ञासा

उत्पन्न हुई और न तो किसी भी प्रकार प्रश्न ही उभरा मन में। बस अन्तरात्मा ने इतना अवश्य कहा एक दिव्य योगात्मा की वाणी कभी भी असत्य नहीं होती। फिर सब कुछ शान्त सदैव के लिए परम शान्ति की उपलब्धि।

अपने आपमे लीन था मैं और तभी कमल गंध जैसी सुगन्ध से नासा पुट भर गया मेरा। उस योगात्मा के शरीर से निकला था वह अनर्वचनी गंध। समझते देर न लगी मुझे। सुना था सिद्ध योगियों के शरीर से सदैव कमल गन्ध प्रस्फुटित होता रहता है।

हिमाच्छादित उत्तुंग शिखरों के पीछे से चांद झाकने लगा था अब। सम्भवत: रात्रि का दूसरा प्रहर था उस समय।

आध्यात्मिक संस्कार कई जन्मों का एकत्र हैं तुम्हारी आत्मा में, उसी से आकृष्ट हुई हूँ मैं तुम्हारी ओर। किशोरी माँ से मैं भी परिचित हूँ। उनका दर्शन प्राप्त करने के उद्देश्य से पोखरा जाने के लिए व्याकुल हैं तुम्हारी आत्मा। क्या तुम मेरे स्थान पर भी आओगे। किशोरी माँ के निवास से लगभग दो मील आगे एक पहाड़ी उपत्यका में मेरा साधना स्थल हैं। वहाँ तक पहुँचने में चढ़ाई की कठिनाई थोड़ी अवश्य झेलनी पड़ेगी तुमको।

यह सुनकर मैंने सहज स्वर में कहा - आपके निमन्त्रण को कैसे अस्वीकार कर सकता हूँ भला मैं। मेरी आत्मा में इतनी शक्ति नहीं है कि एक महान दिव्य आत्मा के अनुरोध को टाल सकूँ मैं। यह तो मेरा परम सौभाग्य हैं कि आपका दर्शन आपने स्थान पर उपलब्ध होगा मुझे। आध्यात्मिक स्वभाव है मेरी आत्मा का। उस अवसर पर अवश्य कुछ न कुछ आपसे आध्यात्मिक सम्पत्ति प्राप्त होगी आपसे।

स्वभाव! क्या कहा तुमने 'स्वभाव' - जैसे चौक कर बोली - ज्योत्स्नामयी! तुमको यह सुनकर आश्चर्य होगा कि मनुष्य के पास स्वभाव जैसी कोई वस्तु नहीं है। जिसे हम मनुष्य का स्वभाव कहते हैं वह स्वभाव नही, वह मनुष्य के पिछले कई जन्मों के परिणाम हैं। मनुष्य में सब कुछ हैं लेकिन स्वभाव नहीं है। वास्तव में यही मनुष्य की स्वतन्त्रता है। इसी स्वतंत्रता के कारण मनुष्य को हम पण्डित भी बना सकते है और मूर्ख भी। चोर भी बना सकते है और साधु भी। बुद्धिमान भी बना सकते हैं और मूढ़ भी। सत्यवादी और इमानदार भी बना सकते हैं और झूठा और बेईमान भी बना सकते है। कहने का तात्पर्य यह कि मनुष्य को हम अपनी इच्छानुसार जो चाहे वह बना सकते हैं क्योंकि संसार में वह अपूर्ण जन्म लेता हैं। इस संसार में भगवान के अवतारों को छोड़कर आज तक किसी भी मनुष्य ने पूर्ण होकर जन्म नहीं लिया है, अपूर्ण ही जन्म लिया हैं और एक मात्र यही

कारण है कि अधूरा जन्म लेने के फलस्वरूप मनुष्य जीवन भी अधूरा ही रहता है और अन्त में अधूरा ही मर भी जाता हैं। कहने की आवश्यकता नहीं इसके ठीक विपरीत पशु पक्षियों में अपना-अपना स्वभाव होता हैं, इसलिए कि वे 'पूर्ण' होकर यानी पूर्ण रूप से निर्मित होकर जन्म लेते हैं और इस प्रकार जन्म लेना ही उनका 'स्वभाव' हैं। मनुष्य अर्धनिर्मित जन्म लेता हैं इसलिए स्वतंत्र है वह। उसका अधूरा होना ही उसकी स्वतंत्रता हैं। जो पशु पक्षियों को उपलब्ध नहीं है। यदि वे स्वतंत्र होते अर्धनिर्मित होकर जन्म लेते तो उनके स्वभाव को परिवर्तित करना सम्भव हो जाता। गदहे का स्वभाव शेर का और शेर का स्वभाव गदहे का बन जाता। कोयल की आवाज मोर की और मोर की आवाज कोयल की हो जाती। सारांश यह कि हम किसी भी पशु पक्षियों के स्वभाव को अपने इच्छानुसार परिवर्तित कर सकने में समर्थ हो सकते थे। लेकिन उनकी पूर्णता के कारण यह सम्भव नही।

हम पशु पक्षियों को अधूरा नही कह सकते लेकिन मनुष्य को अधूरा अथवा अर्धनिर्मित अवश्य कह सकते हैं। और यही एक मात्र कारण है कि पशु पक्षियों की जितनी भी जातिया हैं उन जातियों का अपना-अपना एक जैसा स्वभाव हैं। शेर जाति के पशु का एक सा स्वभाव है। हाथी जाति का स्वभाव एक सा है। कोयल जाति के पक्षी का एक सा स्वभाव और एक सा स्वर है। मोर जाति के पक्षी का एक सा स्वभाव और एक सा स्वर है। इसी प्रकार सभी पशु पक्षियों का समझना चाहिए।

इसी प्रकार अपनी अर्धनिर्मितता के कारण इस जगत में एक प्रकार के नही हजारों लाखों प्रकार के मनुष्य हैं। प्रत्येक मनुष्य एक दूसरे से सभी दृष्टि से भिन्न हैं भाव में, विचार में, बुद्धि में, ज्ञान में, विज्ञान में, रहन-सहन में, खान-पान में और हृदय से भी, यदि हृदय से भिन्न न होता हैं तो समस्त मानव जाति में प्रेम की करुणा की दया की स्नेह की और अपनत्व की धारा समान रूप से प्रवाहित हो सकती थी, लेकिन ऐसा है नहीं, सम्भव ही नहीं हैं। सम्भव है तो पशु पक्षियों में। उनकी जातियों में आपसी प्रेम है स्नेह है त्याग है और है अपनत्व। प्रकृति की यह अद्‌भुत लीला हैं।

मनुष्य एक यंत्र के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं। वह जीवन भर यंत्रवत कार्य करता हैं लेकिन एक समय और एक क्षण ऐसा भी आता हैं उसके जीवन में जब वह यंत्रे नहीं रहता और यंत्रवत कार्य भी नहीं करता। उस समय और उस क्षण निस्स्वभाव को उपलब्ध हो जाता हैं वह।

निस्स्वभाव से आपका क्या तात्पर्य है मैने पूछा? जीवन की अति रहस्यमय और विचित्र स्थिति हैं निस्स्वभाव। योगीगण उस परम स्थिति को उपलब्ध होने

के लिए आकुल रहते हैं। उस स्थिति में शरीर तो यंत्रवत कार्य करता हैं लेकिन उन कार्यो का जो साक्षी हैं यानी आत्मा वह नहीं रहती हैं उस समय और उस स्थिति में। मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि उस क्षण शरीर से चेतना अलग हो जाती हैं। मानव जीवन में प्राय: नित्य ही निस्स्वभाव का क्षण उपस्थित होता है लेकिन उससे अपरिचित होने के कारण उसका लाभ नही उठा पाता है वह। कभी कभी हम कहते हैं कि अमुक कार्य कैसे हो गया हम से? कार्य तो हमने किया था लेकिन कार्य के क्षण हमारे चेतना वहां नहीं शरीर के बाहर थी कहीं। इसी लिए हमे अपने कार्य का ज्ञान नहीं हुआ था। योगीगण निस्स्वभाव के समय को पकड़ लेते हैं जिसके फलस्वरूप वे प्रत्यक्ष में कार्य करते हुए तो दिखलायी देते हैं लेकिन उनकी चेतना उनके शरीर में उस समय रहती नहीं। अन्यत्र कहीं रहती है। और उस अवस्था में योगीगण शरीर के बाहर का अनुभव प्राप्त करने में संलग्न रहते है। निस्स्वभाव की यह सबसे बड़ी उपलब्धि है योग की दृष्टि में। जीवन काल में शरीर से चेतना निस्स्वभाव की अवस्था में ही अलग हो सकती हैं। वैसे तो मृत्यु के बाद तो अलग हो ही जाती है शरीर से। और शरीर के बाहर निकलने के बाद चेतना को जो-जो अनुभव होते हैं उनको व्यक्त करने के लिए उसके पास कोई साधन नहीं होता। शरीर के रूप में साधन तो था अवश्य लेकिन वह अब तक नष्ट हो चुका होता है। लेकिन जैसा कि मैंने तुमको बतलाया है अभी कि साधारण जीवन में प्राय: निस्स्वभाव की स्थिति उत्पन्न होती रहती हैं। कभी-कभी गहरी बिमारी की अवस्था में कभी गहरी चोट लगने पर कभी गहरे आघात से और कभी भयंकर दुर्घटना होने पर कुछ क्षण के लिए अथवा कुछ समय के लिए निस्स्वभाव की स्थिति में हमारी चेतना हमारे शरीर से पृथक हो जाती हैं और देहातीत अवस्था का अनुभव करती है।

तुम तो सूक्ष्म शरीर से तो परिचित ही हो। यह भी तुम जानते हो कि जिस प्रकार स्थूल शरीर का निर्माण अणुओं के समूह से होता है वैसे ही सूक्ष्म शरीर का भी निर्माण सूक्ष्मतम परमाणुओं के समूह से होता हैं। दोनों शरीर में कहीं कोई वैषम्य नही है। जैसे स्थूल शरीर काम करता हैं वैसे ही सूक्ष्म शरीर भी काम करता है। दोनो शरीर में अन्तर बस इतना ही है कि सूक्ष्मतम परमाणुओं के कणो से निर्मित होने के कारण उसकी गति एक मिनट में तीन से चार हजार मील होती हैं। इससे भी अधिक हो सकती हैं। उसकी गति निर्बाध होती हैं। कोई भी भौतिक पदार्थ उसकी गति में विघ्न उपस्थित नहीं कर सकता। जब किसी भी अवस्था में हमारी चेतना हमारे स्थूल शरीर से बाहर निकलती हैं तो हमारे सूक्ष्म शरीर को लेकर निकलती हैं। क्योंकि वह बिना शरीर के रह ही नहीं सकती। चेतना का अस्तित्व शरीर में ही प्रकट होता है। भले ही वह भौतिक शरीर हो या अन्य कोई

शरीर। शरीर के बाहर निकलने पर जो अशरीरी अनुभव होता हैं, उसे आत्मा का अनुभव समझना चाहिए।

जितना भी अशरीरी अनुभव होता है - वह सब सूक्ष्म शरीर के माध्यम से होता हैं। निद्रा के समय में भी कभी--कभी निस्स्वभाव की स्थिति उत्पन्न हो जाती हैं और हम उस समय स्वप्नावस्था में अपने सूक्ष्म शरीर द्वारा किसी अन्य जगत की यात्रा पर निकल पड़ते हैं। लेकिन उस समय हमारी चेतना को जो अशरीरी अनुभव होता हैं - उसे हमारा मस्तिष्क बहुत ही अल्प मात्रा में ग्रहण कर पाता हैं।

चक्र और कुण्डलिनी

हमारे दोनो शरीर आपस में कागज की तरह चिपके हुए नहीं हैं। भीतर दोनों शरीर केवल पांच-छः और सात स्थानों पर आपसे में मिले हुए हैं वैज्ञानिक भाषा में उनको कान्टेक्ट फील्ड कहते हैं। और योग की भाषा में कहते है चक्र। जिन बिन्दुओं पर सूक्ष्म शरीर स्थूल शरीर से जुड़ता है - उनका नाम 'चक्र' हैं। उस बिन्दु यानी चक्र के चारो ओर बर्तुलाकार रूप में एक नैसर्गिक विद्युत शक्ति हर समय बराबर चक्कर काटती रहती हैं योग उसी नैसर्गिक विद्युत शक्ति को कुण्डलिनी शक्ति कहता है। दोनो शरीरों को भिन्न-भिन्न बिन्दुओं पर जोड़ने वाली जो विद्युत चुम्बकीय शक्ति हैं - वह यदि आपस में मिल जाय तो वह कुण्डलिनी शक्ति का अनुभव होगा। कुण्डलिनी शक्ति के अनुभव का कुछ अर्थ बस इतना ही है कि अलग-अलग जिन-जिन बिन्दुओं पर दोनों शरीर आपस में मिल रहे हैं और वहाँ जो शक्ति एकत्र हो गयी हैं अथवा हो रही है - वे आपस में मिल जाये। लेकिन यह सरल और सहज नहीं हैं। सभी बिन्दुओं और शक्तियों को आपस में मिलाने की अपनी यौगिक कला हैं, जिसे योग की भाषा में कुण्डलिनी साधना कहते हैं। जब किसी कारणवश स्थूल शरीर से सूक्ष्म शरीर बाहर निकल जाता है, तो उस अवस्था में स्थूल शरीर से उसका संबंध कैसे जुड़ा हुआ रहता है - मैंने प्रश्न किया?

तुमको ज्ञात होना चाहिए कि मिलन के जो बिन्दु हैं उनमें एक सबसे महत्वपूर्ण बिन्दु हैं - जो नाभि से जुड़ा हुआ हैं। बाहर निकलने पर सभी अन्य बिन्दुओं से तो सूक्ष्म शरीर का संबंध भंग हो जाता है लेकिन उस बिन्दु से नहीं। सूक्ष्म शरीर एक विशेष सूक्ष्मतम तन्तु द्वारा उस बिन्दु से बराबर अपना सम्पर्क बनाएं रखता है ताकि वह वापस लौट सके स्थूल शरीर में। और स्थूल शरीर में प्रवेश करते ही उसका संबंध अन्य बिन्दुओं से अपने आप जुड़ जाता है। जिसे मैने सूक्ष्मतम

तन्तु कहा है उसे योगीगण रजत रज्जु कहते हैं इसलिए कि उसका रंग सफेद धागे की तरह होता हैं और वह बाल के पांचवे हिस्से के बराबर पतला होता हैं, इसलिए आंखो से दिखलायी नहीं देता। लेकिन विशेष यंत्रो द्वारा वैज्ञानिकों ने उसे देखा हैं और उसे नाम दिया है 'सिल्वर कॉट'।

और मृत्यु के समय

सूक्ष्म शरीर जहाँ और जितना दूर जाता हैं - वहाँ तक वह तन्तु बढ़ता जाता हैं। जिस स्थिति में जिस अवस्था में और जिस स्थान पर सूक्ष्म शरीर रहता हैं वहाँ उस सूत्र के माध्यम से वह स्थूल शरीर से जुड़ा हुआ रहता है। लेकिन मृत्यु के समय यह स्थिति नहीं रहती हैं। मृत्यु के समय नाभि के निकटस्थ बिन्दु से भी सूक्ष्म शरीर अपना संबंध तोड़ लेता हैं, जिसके फलस्वरूप वह पुनः स्थूल शरीर में वापस लौटने में असमर्थ हो जाता हैं।

सूक्ष्म शरीर स्वयं संबंध तोड़ता है कि किसी कारणवश स्वयं अपने आप टूट जाता है? मेरे इस प्रश्न के उत्तर ज्योत्स्नामयी बोली कब चाहता है सूक्ष्म शरीर अपने साथी स्थूल शरीर का साथ छोड़ना? उसमे तो स्थूल शरीर की तरह परिवर्तन तो होता नहीं। परिवर्तन होता है स्थूल शरीर में लेकिन उसका प्रभाव अवश्य पड़ता है सूक्ष्म शरीर पर। मृत्यु दो प्रकार की होती है - सहज मृत्यु और असहज मृत्यु। सहज मृतयु को प्राकृतिक मृत्यु कहते हैं। इस मृत्यु के पूर्व सूक्ष्म शरीर क्रम से एक-एक सम्पर्क बिन्दु से अपना संबंध तोड़ता हैं और अन्त में तोड़ता हैं मुख्य बिन्दु से। पहले बिन्दु से संबंध टूटने पर नेत्र की ज्योति मन्द से मन्द होने लगती है। दूसरे बिन्दु से संबंध टूटने पर स्मृति दोष उत्पन्न होने लगता हैं। स्मृति कमजोर होती चली जाती है। तीसरे बिन्दु से संबंध टूटने पर स्वाद समाप्त हो जाता हैं। भोज्य पदार्थो के प्रति रुचि कम जागृत होती है। चौथे बिन्दु से सम्पर्क भंग होने पर निद्रा का समय कम होने लगता है। कभी-कभी पूरी रात नींद ही नही आती। भौतिक पदार्थो अथवा वस्तुओं के प्रति आकर्षण भी समाप्त होने लगता हैं, मनमे एक अरुचि सी उत्पन्न हो जाती हैं। पाचवें बिन्दु से सम्पर्क टूटने पर शरीर शिथिल और कमजोर होने लग जाता है। एक स्थान को छोड़कर अन्यत्र जाने की भी इच्छा नही होती। सदैव मौन रहने की ही इच्छा रहती हैं। छठें बिन्दु से संबंध भंग होने पर सोच विचार और निर्णय करने क्षमता का ह्रास हो जाता हैं। किं कर्तव्यविमूढ़ को स्थिति उत्पन्न हो जाती हैं। श्वास-प्रश्वास की गति में भी शिथिलता उत्पन्न होने लगती हैं सातवें बिन्दु से सम्पर्क टूटते ही व्यक्ति गहरी निद्रा की स्थिति में चला जाता हैं और उसी अवस्था में उसकी मृत्यु हो जाती हैं।

जो योगी, साधकगण स्थूल शरीर को छोड़कर अपने सूक्ष्म शरीर द्वारा यात्रा करते हैं उनका संबंध कैसे जुड़ा रहता है अपने स्थूल शरीर से? मेरी इस जिज्ञासा का समाधान करते हुए ज्योत्स्नामयी ने कहा - रजतरज्जु द्वारा और जो योगी, साधकगण अपने स्थूल शरीर को सुरक्षित छोड़कर सैकड़ों वर्ष तक सूक्ष्म शरीर द्वारा साधना करते हैं उनकी बात अलग हैं। वे हठ योग द्वारा स्थूल शरीर को इतना साध लेते हैं इतना सक्षम बना लेते हैं और बना लेते हैं इतना योग्य की सभी मिलन बिन्दुओं से सूक्ष्म शरीर का संबंध तोड़ भी लेते हैं और जोड़ भी लेते हैं समयानुसार। वे दोनों कलाओं से परिचित होते हैं, तोड़ने की कला से भी और जोड़ने के कला से भी, सूक्ष्म शरीर के अलग होने पर स्वभावतः स्थूल शरीर को नष्ट हो जाना चाहिए, जैसा कि प्राकृतिक नियम है, लेकिन ऐसा होता नहीं। इसलिए कि स्थूल और सूक्ष्म शरीर के बीच में जो छाया शरीर हैं उसका अस्तित्व स्थूल शरीर के साथ बराबर बना रहता है (इस संबंध में विशेष ज्ञान को लिए पढ़े अभौतिक सत्ता में प्रवेश ले० अरुण कुमार शर्मा) भले ही सैकड़ों वर्ष क्यों न व्यतीत हो जाय, वह नष्ट नहीं होगा, बराबर बना रहेगा स्थूल शरीर के साथ। एक बात और यहाँ समझ लेना चाहिए कि सम्पर्क बिन्दु के रूप में मैंने जिन चक्रों और उनकी शक्तियों की चर्चा की हैं - वे सब सूक्ष्म शरीर में हैं स्थूल शरीर में तो उनके केवल सम्पर्क बिन्दु के स्थान मात्र हैं। जो स्पष्ट दिखलायी देते हैं।

एक विषय थोड़ा अधूरा छूट जाता है और वह हैं - असहज मृत्यु यानी अप्राकृतिक मृत्यु? किसी भयंकर दुर्घटना के कारण, एकाएक हृदय गति के बन्द हो जाने के कारण, इन दोनों के अतिरिक्त फांसी से, विष से और पानी में डूबने के कारण मृत्यु जब होती हैं - तो उस अवस्था में एकाएक सूक्ष्म शरीर अलग नहीं होता हैं। उसे अलग होने में समय लगता हैं और जब तक सूक्ष्म शरीर अलग नहीं होता तब तक सच्चे अर्थो में मृत्यु भी नहीं होती। वह अवस्था बड़ी ही विषम और दारुण होती है। घटना घटने के बाद सर्वप्रथम नाभि के निकट जो कान्टेक्ट फील्ड हैं - उससे सूक्ष्म शरीर का संबंध टूटता हैं। उसके पश्चात अन्य कान्टेक्ट फील्डों से और अन्त में भंग होता हैं संबंध उसका हृदय के निकट के 'कान्टेक्ट फील्ड' से। और तब होती है वास्तविक मृत्यु। दुर्घटना घटने और वास्तविक मृत्यु होने के बीच समय की कोई सीमा नही हैं दो से आठ घंटे भी लग सकते हैं और इससे अधिक भी।

रात्रि का दूसरा प्रहर भी समाप्त होने वाला था। वातावरण की निस्तब्धता और गहरी हो गयी थी। चारो ओर सायं-सायं हो रहा था? ज्योत्स्नामयी अपने स्थान से उठी और बोली - 'अब मेरे जाने का समय हो गया हैं। तुम वापस लौट जाओ और मेरा प्रणाम कहना लामा रिनचेन से। इतना कहकर वह आगे बढ़ने लगीं।

मैं भी पीछे-पीछे चलने लगा उनके। अब तक ज्योत्स्नामयी की गति तीव्र हो गयी थी। काफी दूर हो गया मैं उनसे। एकाएक खड़ा हो गया मैं एक स्थान पर। ऐसा लगा मानों किसी अदृश्य शक्ति ने रोक दिया हो मुझे आगे बढ़ने के लिए। और फिर उसी स्थान पर खड़े-खड़े एक अद्‌भुत और चमत्कारपूर्ण दृश्य देखा मैंने - कुछ दूर तक ज्योत्स्नामयी को जाते हुए देखता रहा मैं। उसके पश्चात उनके शरीर को आकाश में ऊपर उठते हुए देखा मैंने। उनका शरीर ९० अंश का कोण बनाकर तीव्र गति से उत्तर दिशा की ओर बढ़ने लगा था अब और उसमें से शुभ्र धवल प्रकाश निकल रहा था उस समय। वह अलौकिक प्रकाश कभी सिकुड़ता था तो कभी काफी फैल जाता था। अन्तिम रूप में पहाड़ों के उत्तुंग हिमाच्छादित शिखरों के ऊपर देखा मैंने उनके शरीर को और उसके पश्चात उस महान योगात्मा का पार्थिव 'अस्तित्व विलीन हो गया शून्य में।' ऐसा दृश्य मैंने पहली बाद देखा था तिब्बत प्रवास काल में। आकाश में उस दिशा की ओर मुंह बाये आश्चर्यचकित सा न जाने कब तक देखता रहा मैं और फिर किसी प्रकार चल कर गुम्फा में आया। लामा रिनचेन मेरी प्रतीक्षा कर रहे थे उसे समय। सब कुछ बतला दिया मैंने उनको और अन्त में जब ज्योत्स्नामयी के आकाश गमन की बात बतलायी तो वे उसे सुनकर थोड़ा गम्भीर हो गये। क्यों वे गम्भीर हो गये यह समझ में नही आया।

दूसरे दिन प्रातःकाल रत्नेश्वर चैतन्य और राजेश्वरी माँ के साथ निकल पड़ा मैं अपनी अगली यात्रा पर। लगभग दोपहर होते-होते चीना गाँव पहुँच गये हमलोग। भोटियों और नेपालियों की बस्ती थी वह गाँव। दो तीन बौद्ध मन्दिर भी थे गाँव में। वहाँ थोड़ा विश्राम कर आगे के लिए रवाना हो गये हम लोग। मार्ग में प्रकृति की अद्‌भुत छटाओं से भरपूर दृश्य देखने के लिए मिले मुझे। जहाँ एक ओर देवदार और बांस के घने जंगलों की लम्बी श्रृंखला थीं वही दूसरी ओर धरती पर प्रकृति की हरीतिमा भी बिखरी हुई थी चारो ओर। विभिन्न प्रकार के पक्षियों के कलरव से गूंज रहा था वातावरण। कहीं-कहीं झरने भी मिले और मिली ऊंचे-ऊंचे पहाड़ों की गोद से निकल कर उन झरनों में गिरने वाली जल धारा भी। बड़ा ही अद्‌भुत अलौकिक और सूरम्य वातावरण था पूरे मार्ग का। मन बार-बार कहता था बस, यही कहीं हमेशा के लिए ठहर जाए, किसी वृक्ष की घनी छाया के तले एक झोपड़ी बना ले और उसी झोपड़ी में पूरा जीवन व्यतीत कर दें अपना। पूरे तीन घंटे लगातार चलने के बाद कोसी नदी की एक शाखा पर बना लोहे की जंजीरो पर झूलता हुआ एक पुल मिला। पुल के निकट ही कोसी की धारा वज्र रौरव करती हुई ऊंचे पहाड़ के ऊपर से गिर रही थी नीचे पुल बराबर हिल रहा था। उसकी रक्षा के लिए उस पर रंग बिरंगी झण्डियों के रूप में देवताओं की स्थापना

की गयी थीं। पुल के उस पार डाम गांव था। किसी प्रकार हमलोगों ने उस अनवरत झूलते हुए पुल को पार किया। पार करते समय बराबर भय लगा रहा - कहीं गिर कर कोसी की धारा में जल समाधि न हो जाय। लेकिन ऐसा हुआ नहीं। सूरज अब छिपने लगा था पहाड़ों की ओट में। थोड़ी चढ़ाई थी और उसके बाद लम्बा ढलान था। वहाँ भी प्रकृति की मनोरम छटा बिखरी हुई थी चारो ओर धरती पर। जगह-जगह बिच्छु के काटेदार पौधो की भी भरमार थीं। यदि किसी प्रकार उन पौधों का स्पर्श हो जाय तो बिच्छु के डंक लगने जैसी पीड़ा होती हैं जो लगातार कई दिनों तक बनी रहती हैं। ढलान से उतरने के बाद थोड़ा आगे बढ़ने पर पहाड़ों से टकराती फेन उगलती और भयंकर अट्टहास करती, कोसी की प्रबल बेगवती धारा दिखलायी दी। किसी नदी का कोई ऐसा भी रूप होगा - इसकी कल्पना सपने में भी नहीं की थी मैंने। काफी चौड़ी धारा थी उस वेगवती नदी की। और उसका गर्जन पहाड़ों से टकरा कर भय का संचार कर रहा था वातावरण में जैसे।

नदी से थोड़ा हटकर डाम गांव था। नेपालियों, गोरखों और भोटियों का मिला जुला गांव था वह। लगभग दो-तीन हजार की आबादी रही होगी गांव की। वहाँ भी दो तीन बौद्ध मन्दिर थे। राजेश्वरी माँ के एक शिष्य लामा के निवास पर रात्रि व्यतीत किया हम लोगों ने। दूसरे दिन नित्य क्रिया से निवृत्त होकर बाजरे की रोटी और मक्खन का जलपान किया सभी ने और फिर आगे बढ़े। एक घंटे के बाद कोसी नदीं पर बने उस पुल पर पहुँच गये - जो तिब्बत और नेपाल की सीमा है।

राजकुमारी सी च्यांग की आत्मा से भेंट

सीमा पार करते ही रत्नेश्वर चैतन्य के कई नेपाली शिष्य मिल गये। सभी ने अपने गुरु का भव्य स्वागत किया। उनको अपने गुरु के आगमन की सूचना कैसे प्राप्त हुई थी। यह मेरे लिए आश्चर्य की बात थीं। उन शिष्यों में एक शिष्या भी थी रत्नेश्वर चैतन्य की। नाम था मणिमाला। पारिवारिक और सम्पन्न महिला थी मणिमाला। निकट ही उनका भव्य निवास स्थान था। मैं शीघ्र से शीघ्र राजेश्वरी माँ के साथ पोखरा चला जाना चाहता था, लेकिन तीन चार दिन मणिमाला के अनुरोध पर ठहरना पड़ा मुझे वहाँ। उनका मकान काफी बड़ा था। सामने बाग बगीचा था, जिसमें विभिन्न प्रकार के फूलों की क्यारियाँ थी उनके अतिरिक्त फलों के भी कई वृक्ष थे। मुझे ठहरने के लिए जो कमरा मिला था उसकी बड़ी-बड़ी खिड़कियां बाग की ओर ही खुलती थी। बड़ी शान्ति थी वहाँ। सायंकाल होते ही अपने कमरे में चला गया और खिड़कियों को खोल दिया मैंने। और उनके

खुलते ही पहाड़ और जंगलों का स्पर्श करती हुई बरसाती हवा का झोकां कमरे के भीतर आकर बिखर गया एक बारगी। सामने बाग था और उसके बाद विस्तृत मैदान और जहाँ मैदान समाप्त होता था, वहीं से शुरु हो जाती थी पहाड़ों की लम्बी और अन्त हीन सिलसिला और उसी के साथ-साथ शुरु हो जाती थी ऊँचे-ऊँचे घने वृक्षों की श्रृंखला भी। बड़ा ही मनोरम और आत्मस्पर्शी प्राकृतिक वातावरण था उस पर्वतीय स्थान का।

सांझ की स्याह चादर पसर गयी थी अब उस वातावरण में। विचित्र-सी उदासी भरी खिन्नता बिखरने लगी थी धीरे-धीरे चारो ओर। कृष्ण पक्ष की पंचमी का चांद निकल आया था सुदूर पर्वतों और जंगलों के पीछे से। अपने कमरे मैं मौन साधे चुपचाप बैठा उसी उदास चांद की ओर अपलक निहार रहा था मैं। और तभी किसी की उपस्थिति का आभास प्रतीत हुआ मुझे अपने निकट। एक अनर्वचनीय किन्तु सुपरिचित नारी गन्ध से भर उठा मेरा नासापुट। एक बारगी चौक पड़ा मैं। सिर घुमाकर देखा, कोई नहीं था वहाँ। कमरा तो भीतर से बन्द था। बाहर से किसी के आने का प्रश्न ही नही था। सहसा वह सुपरिचित गंध अत्यधिक तीव्र हो उठा वातावरण में और उसी अवस्था में एक अति कोमल ओर अति स्निग्ध स्वर सुनाई दिया मुझे। क्या भूल गये मुझे आप? आपने तो वचन दिया था कि कभी भी भूल न सकूंगा मैं आपको...?

यह सुनकर सन-सना उठा मेरा पूरा शरीर। जाना पहचाना-सा लगा मुझे वह कोमल स्वर। निश्चय ही रुपकुमारी सीच्यांग की वाणी थी वह। बिजली की तरह कौंध सा गया मठ का सारा दृश्य मस्तिष्क में एक बारगी। राज कुमारी सी च्यांग की लावण्यमयी कंचन काया धूम गयी क्षण भर के लिए मानस पटल पर। और उसी के साथ कानो में गूंज उठी उनका कातर स्वर भी।

मैं कुछ आगे सोचता कि तभी खिड़की के पास एक धूम्राकृति धीरे-धीरे प्रकट होने लगी। और कुछ ही क्षणों के बाद वह आकृति स्थूल काया में परिवर्तित हो गयी। वह काया राजकुमारी सीच्यांग की थी? वही देहयष्टि वहीं रूप, लावण्य, और वही देव दुर्लभ सौन्दर्य कहीं कोई अन्तर नहीं एक भटकती हुई अतृप्त आत्मा ने अपने सूक्ष्म शरीर के आधार पर अपने स्थूल शरीर की रचना कैसे की थी। यह देखकर घोर आश्चर्य हुआ था मुझे उस समय। अद्‌भुत विलक्षण और अविश्वसनीय था सूक्ष्म से स्थूल में परिवर्तन का वह दृश्य। कुछ विचित्र सा अनुभव कर रही थी मेरी आत्मा उस समय। कौन भला कह सकता था कि सैकड़ों वर्ष की एक अशरीरी विदेही आत्मा अपने स्थूल शरीर में मेरे सामने उपस्थित हैं।

कुछ क्षण तक अपलक निहारती रही राजकुमारी सीच्यांग फिर मन्द स्वर में बोली उस दिन से हर क्षण आपके साथ रही हूँ मैं। कभी कोई ऐसा क्षण नहीं आया जब मेरा अस्तित्व पृथक हुआ हो आपसे। तिब्बत की सीमा लांघकर मैं सदैव के लिए मुक्त हो गयी कापालिक बज्रेश्वरानन्द के तांत्रिक चंगुल से। इसके लिए आभारी हूँ और हूँ कृतज्ञ मैं आप के प्रति लेकिन किन शब्दों में अपने आभार को और अपनी कृतज्ञता को प्रकट करू आप के सामने यह मेरी समझ में नहीं आ रहा हैं मैं थोड़ा हंस कर बोला - इसके लिए आपको चिन्तित होने की आवश्यकता नहीं। मैंने तो अपने मानव धर्म का पालन किया हैं। मेरे सहयोग से आपकी आत्मा मुक्त हुई इससे अधिक कौन सा पुण्य हो सकता हैं मेरे लिए भला। आप ही बतलाइये? 'हाँ! अब तो आपका जन्म सम्भव है न?'

हैं तो सम्भव - राजकुमारी सीच्यांग पूर्ववत् मन्द स्वर में बोली-लेकिन कब और कहाँ जन्म लूंगी यह मैं नहीं बतला सकती, क्योंकि यह प्रकृति के अधिकार में हैं। वह जहाँ मेरे योग्य गर्भ देखेगी वहीं मेरे जन्म की व्यवस्था कर देगी वह। परनतु जब तक मैं अशरीरी अवस्था में रहूंगी - राजकुमारी सी च्यांग थोड़ा रूक कर आगे बोली तब तक किसी न किसी रूप में आपकी अवश्य भौतिक सहायता करुंगी। जैसे आपने अपने वचन का पालन किया वैसे ही मैं भी करुंगी अपने वचन का पालन। अच्छा अब मैं जाती हूँ आज्ञा दें।

मैंने देखा - राजकुमारी सीच्यांग का स्थूल शरीर धीरे-धीरे अपने स्थान पर पिघलने लगा मोम की तरह। थोड़ी ही देर बाद स्थूल के साथ उनका सूक्ष्म अस्तित्व भी विलीन हो गया अदृश्य में। मेरा मन विषण्ण हो उठा एक बारगी। पूरी रात सो न सका मैं। बार-बार राजकुमारी की मोहक सौन्दर्य आकर्षक व्यक्तित्व और वांकी छवि उभर आती थी मानस पटल पर। यहाँ यह कहना असंगत न होगा कि राजकुमारी ने अपने भी वचन का पालन किया। पूरे चौदह वर्ष तक उनकी आत्मा ने अगोचर रूप से मेरी सहायता की और सहयोग दिया मुझे समय-समय पर। जिसके फलस्वरूप लौकिक और पारलौकिक दोनों क्षेत्रों में भारी सफलता प्राप्त की मैने इसमें सन्देह उसके पश्चात सब कुछ बन्द हो गया। जिससे यह समझते देर न लगी कि अब राजकुमारी की आत्मा सदेही हो गयी हैं, निश्चय ही कहीं जन्म ले लिया है उसने। लेकिन कहाँ? इसका उत्तर आज तक नहीं प्राप्त हुआ है मुझे।

अपनी शिष्य मण्डली से घिरे हुए थे रत्नेश्वर चैतन्य। पूरे दो मास रहना था। उसके पश्चात लौटना था उनको काठमाण्डू। तीसरे दिन मणिमाला से विदा ली और रत्नेश्वर चैतन्य का चरण स्पर्श किया और राजेश्वरी माँ के साथ पोखरा के लिए चल पड़ा मैं। तीन दिन की कठिन चढ़ाई के बाद पोखरा के दर्शन हुए।

चारो ओर ऊँचे-ऊँचे पहाड़ों से घिरा एक छोटा-सा कस्बा, नेपालियों और गोरखाओं का बाहुल्य। वर्षा हो रही थी उस समय वहाँ। अब थोड़ा विश्राम करना चाहिए तुम्हें। पूरे तीन साल तक भटकते ही तो रहे हो। आश्विन तक यही रहो, काठमाण्डू की शक्ति पूजा देखकर जाना। वर्षा काल में काठमाण्डू से नीचे जाना खतरा है। भूस्सखल की सम्भावना बराबर बनी रहती हैं। राजेश्वरी माँ एक प्रकार से ठीक ही कह रही थीं। शरीर पूरी तरह शिथिल हो गया मेरा। कमजोर भी हो गया था अत्यधिक। मस्तिष्क भी काम नही कर रहा था ठीक से। अनुरोध टाला न गया मुझसे राजेश्वरी माँ का।

चारो ओर से बड़े-बड़े वृक्षों से घिरे हुए एक ऊँचे स्थान पर अपना आश्रम बनाया था राजेश्वरी माँ ने। आश्रम में छोटे बड़े चार कमरे थे। उनकी कई शिष्य शिष्यायें थीं। किसी प्रकार कोई वैसे अभाव नहीं था। दस-बारह दिनों के बाद तन-मन चैतन्य होने पर एक दिन ज्योत्स्नामयी की चर्चा की मैंने। और यह भी कहाँ कि मुझे बुलाया हैं उन्होंने। ठीक हैं - राजेश्वरी माँ बोली - जाना चाहते हो तो जा सकते हो - लेकिन बहुत ऊपर हैं उनकी गुफा। मार्ग भी दुर्गम है। अकेले नही जा सकोगे तुम।

आप चिन्ता न करे - मैंने कहा - केवल आप वहाँ की थोड़ी भौगोलिक स्थिति समझा दे मुझे। पहुँच जाऊँगा मैं।

भौगोलिक स्थिति अनमने मन से समझा दी मुझे राजेश्वरी माँ ने। उन्हे भेजने की इच्छा नहीं थी। अन्त में बोली वह - शीघ्र लौटना और मेरे पास आना। तुमको लेकर काठमाण्डू चलूंगी मैं। वास्तव में मार्ग अति दुर्गम था। खड़ी चढ़ाई थी। काले-भूरे बादलों से अटा था आकाश लेकिन वर्षा की सम्भावना कम थी। पूरा दिन चलता रहा मैं और अन्त में एक ऐसे स्थान पर पहुँचा। जहाँ चारो ओर पहाड़ ही पहाड़ था। कोई मार्ग ही नहीं था आगे जाने के लिए। सांझ की स्याह चादर फैलने लगी थी उस उदास और निर्जन पर्वतीय वातावरण में। पानी कभी भी बरस सकता था। चारो ओर सायं-सायं करने लगा था। रात्रि में कहीं सिर छिपाने के लिए भी स्थान नही था। भयभीत हो उठा मेरा मन। हे भगवान। क्या करुं अब? कहाँ जाऊँ? कौन देगा आश्रय इस विरान उदास और निर्जन पाषाण प्रदेश में? घबराकर चारो ओर सिर घुमा-घुमा कर देखने लगा मैं? और तभी नजर एक व्यक्ति पर पड़ी। सन्यासी सा प्रतीत हो रहा था वह। मैं उसके निकट चला गया। मुझे देखते ही वह मुस्कराकर बोला - आप माताजी के दर्शन के लिए आये है न? मैंने सिर हिलाकर कहा - हाँ। वह मुझे अपने साथ लेकर थोड़ी ही दूर पर स्थित एक गुफा में ले गया। काफी लम्बी थी वह गुफा। भीतर बहुत दूर जाने के बाद एक काफी लम्बा चौड़ा स्थान मिला। गुफा के भीतर प्रकाश कहाँ से आ रहा

था यह मेरी समझ में नहीं आया। उस लम्बे-चौड़े स्थान के सामने एक बहुत बड़ा हाल नुमा कमरा था। उसी कमरे में मुझे मिली ज्योत्स्नामयी माँ। मुस्कराकर स्वागत किया मेरा। उस सन्यासी के अतिरिक्त दो तीन लोग और थे गुफा में। सभी साधक प्रतीत हुए मुझे। वहाँ किसी वस्तु का अभाव नही था। आवश्यक वस्तुएं उपलब्ध थीं। लेकिन एक बात अवश्य थी उस रहस्यमयी गुफा में मुझे ऐसा लगा मानो मैं किसी दूसरे संसार में आ गया हूँ। जिस संसार में अब तक था और जिस संसार से अभी तक परिचित था - वह स्वप्न सा प्रतीत हो रहा था मुझे इसके अतिरिक्त और न जाने कैसी-कैसी अनुभूति हो रही थी उस समय। बतला नही सकता मैं।

आकाशगामिनी विद्या का रहस्य

मैं आकाशगामिनी विद्या के रहस्य से परिचित होने के लिये आया था वहाँ। लामा रिनचेन ने बतलाया था कि ज्योत्स्नामयी माँ सिद्धहस्त हैं इस विद्या में। जब मैंने इस संबंध में ज्योत्स्नामयी से जिज्ञासा प्रकट की तो एक बारगी मुस्करा पड़ी वह। बोली - तुमने मेरे अतिरिक्त तिब्बत में अवसर मिलने पर कभी कदा योगियों को आकाश गमन करते हुए अवश्य देखा होगा। क्या अभी भी सन्तोष नहीं हुआ।

सन्तोष की बात अलग हैं वह तो है ही लेकिन जब कभी तिब्बत यात्रा के संबंध में कोई पुस्तक मैं लिखूंगा उस समय उन आकाशचारी योगियों का वर्णन अवश्य किया जायेगा प्रसंगवश। सामान्य दृष्टि से निस्सन्देह अविश्वसनीय प्रतीत होगा वह विषय लोगो को उसी स्थिति से जन मानस को उबारने के लिए उस रहस्यमयी योग विद्या के संबंध में कुछ जानने के लिए इच्छुक हूँ मैं। तुमने ठीक कहा, स्वाभाविक हैं यह, निश्चय ही कुछ ऐसे अलौकिक विषय हैं, जिन पर साधारण लोग विश्वास कर सकने में असमर्थ होते हैं? थोड़ा रुक कर ज्योत्स्नामयी माँ आगे बोली - आकाश गामिनी विद्या अति प्राचीन हैं। हर युग में इस विद्या का अस्तित्व रहा है। इस विद्या की अपनी तकनीक हैं, जो उस तकनीक से परिचित हैं वह आकाशमार्ग से सर्वत्र विचरण कर सकता हैं। ऊँचे-ऊँचे पहाड़ मीलों लम्बी नदियाँ और वन्य जन्तुओं से भरे जंगल - कोई भी उसकी यात्रा में बाधक नही बन सकते। प्राचीन साहित्य में इस विद्या से संबंधित बहुत सी कथाएं हैं। व्यास पुत्र शुक देव आकाशगामिनी विद्या द्वारा ही सम्पूर्ण जम्बू द्वीप की यात्रा की थी। नारद, हनुमान, नल-नील आदि भी आकाश गामिनी विद्या से परिचित थे। रावण तो इस विद्या का आचार्य ही था। उसने आकाश गामिनी विद्या की तकनीक के आधार पर पुष्पक विमान भी बनाया था। इसी प्रकार हेमवती विद्या द्वारा अथाह स्वर्ण राशि का निर्माण कर पूरी लंका नगरी को ही सोने का बना डाला था उसने। रावण को इसके अतिरिक्त

देह सिद्धि भी प्राप्त थी। इसके लिए उसने ऐसा पारद सिद्ध किया था जिसको नाभि में रखने पर वह जन्म-मृत्यु के चक्र से मुक्त हो सकता था। ऐसे सिद्ध पारद को अमृत कहा गया हैं। जब राम ने अपने वाण से रावण की नाभि में स्थिति पारद को नष्ट कर दिया तभी उसकी मृत्यु सम्भव हो सकी।

महाकाव्य युग तक तो आकाशगामिनी विद्या से सर्वसाधारण लोग एक प्रकार से परिचित थे। लेकिन उसके बाद इस विद्या का लोप होने लगा धीरे-धीरे। इसका एक मात्र कारण था उसे गुप्त रखने की प्रवृत्ति। गुरु की वर्षो तक कठोर सेवा करने के बाद ही इस विद्या को पाया जा सकता था। इतनी कठिनाईयों से प्राप्त विद्या किसी अन्य को आसानी से बतलाने के लिए कोई तैयार नहीं होता था। स्थिति यहाँ तक गम्भीर थी कि तक्षशिला जैसे ख्याति प्राप्त विश्वविद्यालय में भी यह विद्या सिद्धान्त के रूप में ही पढ़ाई जाती थी। कुछ ही आचार्य व्यावहारिक रूप से करके दिखाने में समर्थ थे।

दूसरी शताब्दी में उत्तर भारत के आर्यावर्त प्रदेश में नागवंश के अनेक ऐसे प्रतापी राजा हुए - जिन्होंने इस रहस्यमयी विद्या को पुनर्जीवित करने का प्रयास किया। उसी समय रुहेलखण्ड के राजा वासुकी के असाधारण प्रतिभाशाली पुत्र नागार्जुन ने यह विद्या पादलिप्तपुर के आचार्य पादलिप्त से प्राप्त किया - जो नित्य ही आकाशमार्ग से समस्त तीर्थो की यात्रा किया करते थे। राजकुमार होते हुए भी नागार्जुन ने गुरु की इतनी कठोर सेवा की कि गुरु ने भी उनको योग्य समझ कर आकाश गमन का एक-एक रहस्य भली भांति शिष्य को समझा दिया। इसके पश्चात शालिवाहन नरेश की पत्नी चन्द्रलेखा को भी नागार्जुन अपने यहाँ ले आते थे। इसी विद्या द्वारा आकाश मार्ग से।

गुप्त काल के यशस्वी सम्राट चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के शासन काल में 'व्याडि' नामक एक आचार्य ने अकथ परिश्रम करके आकाश गामिनी विद्या प्राप्त की थी। वह सम्राट को यह विद्या देना चाहते थे, लेकिन किसी कारणवश न दे सके। उन्होंने इस विषय पर एक पुस्तक भी लिखी थी जो आज लुप्त हो गयी हैं।

धूँ धू कर जलती रही प्राचीनतम विद्याएँ

अब तक मैंने जो कुछ सुना उससे यह स्पष्ट हो गया कि ज्योत्स्ना माँ आकाश गामिनी विद्या की सिद्ध साधिका ही नही उसके इतिहास से भी भली भांति परिचित हैं। और ज्ञाता हैं उसके शास्त्र से भी। थोड़ा रुक कर आगे कहना शुरु किया उन्होंने इसके पश्चात आकाश गामिनी विद्या स्पष्ट उल्लेख नही मिलता। इसका कारण यह था कि इससे संबंधित साहित्य नष्ट हो गये। हिन्दू कुश पर्वत श्रेणी

को पार कर वर्वर असभ्य आक्रमणकारी यहाँ आये। उनहोंने मन्दिरों, आश्रमों और विश्वविद्यालयों के अथाह धन और ज्ञान को लूटा। दुर्लभ पुस्तकों और पाण्डुलिपियों को आग की लपटों में झोंक दिया। सबसे बड़ी क्षति नालन्दा विश्वविद्यालय की हुई। पूर्व मध्यकाल में एक मात्र यही एक विश्वविद्यालय बचा था। जहाँ अनेक प्राचीन और रहस्यमयी विद्याएं जीवित थीं। आचार्य गौड़पाद, अनंग वज्र, गोरखनाथ चर्पटी नाथ, नागसेन आदि उस युग के असाधारण प्रतिभाशाली विद्वान थे। बाणभट्ट के अनुसार सिद्ध तपस्वियों का साधना स्थल श्री पर्वत था - जो वर्तमान नागार्जुन कांजा आन्ध्रप्रदेश के निकट नरहल्ल पर्वत हैं।

बारहवी शताब्दी में कुतुबुद्दीन ऐबक के सेनाध्यक्ष मुहम्मदबिन बख्तियार ने नालन्दा विश्वविद्यालय को तोड़फोड़ कर खण्डहरों में बदल दिया। ग्रन्थागारों में आग लगा दी। प्राचीन पाण्डुलिपियों में लिपिबद्ध दुर्लभ विद्याएं महीनो तक धूं-धूं कर जलती रही। आचार्यो को खोज-खोज कर उनका वध कर दिया गया। इस नृशंस हत्याकांड में जो विद्वान बच गये, उन्होंने हिमालय और तिब्बत के गिरि गहरो और दुर्गम पहाड़ो में शरण ली। उन्हीं विद्वानों के कारण कुछ प्राचीन विद्याएं जीवित बची रह सकी। आकाश गामिनी विद्या उन्हीं में से एक थी।

आज भी हिमालय और तिब्बत में आकाश गामिनी विद्या जीवित है।

यह कहना अतिश्योक्ति न होगी कि आज भी हिमालय और तिब्बत के सुरम्य घाटियों में प्राचीन विद्याओं के गौरव से मण्डित अनेक सिद्ध पुरुष आज भी निवास कर रहे है। सिद्ध पारद द्वारा उन्होंने शरीर को काल के बन्धनों से मुक्त कर लिया है। आकाश गामिनी विद्या द्वारा वे इच्छानुसार यत्र-तत्र विचरण करते हैं। सामान्यत: उन्हें देख पाना सम्भव नहीं हैं, किन्तु इसमे तनिक भी सन्देह नही कि कुछ पुण्यात्मा और संस्कारी लोगो को उनके प्रत्यक्ष दर्शन हुए हैं। आठ-दस वर्ष पूर्व हालीउड की अभिनेत्री शर्ल मैक्लिन भूटान आदि पर्वतीय प्रदेशों की यात्रा पर गयी थीं। उनके संस्मरणों में भूटान के एक लामा का उल्लेख आया हैं। शर्ल ने उस पीत वस्त्र धारी भिक्षु को आकाश में उड़ते हुए प्रत्यक्ष अपनी आंखों से देखा था। उस आश्चर्यजनक और अविश्वनीय दृश्य को देखकर शर्ल के मुख से निकल पड़ा - काश आज न्यूटन या आंइस्टिन यहाँ होते तो शायद वे अपने गुरुत्वाकर्षण के लम्बे चौड़े शोध ग्रन्थों को फाड़कर फेंक देते।

यह एक सशक्त प्रमाण है कि आज भी आकाश गामिनी विद्या जीवित हैं। ऐसे भी कुछ दुर्लभ मनुष्य पृथ्वी पर विद्यमान हैं जो इस विद्या को अच्छी तरह जानते हैं बल्कि इसके द्वारा इच्छानुसार यात्रायें भी करते हैं।

थोड़ा रुककर कुछ सोचती हुई ज्योत्स्नामयी माँ बोली - लगभग सौ वर्ष पूर्व काशी में ऐसे ही एक महापुरुष से मेरा परिचय हुआ था जो आकाश गामिनी विद्या के ज्ञाता थे।

काशी में - आश्चर्य के पूछा मैंने?

हाँ, काशी में, वे महाशय नित्य आकाश मार्ग से कामरुप की यात्रा करते थे कामाख्या देवी के दर्शन के लिए। उन्होंने ही मुझे आकाश गामिनी विद्या का रहस्य बतलाया था और उसका प्रशिक्षण भी दिया था। आज भी उनका अस्तित्व हैं। कभी-कभी आकाश मार्ग से यहाँ भी उपस्थित होते हैं।

यह सुनकर और अधिक आश्चर्य और कौतूहल हुआ मुझे, पूछा - नाम क्या उनका और काशी में रहते कहाँ हैं वह?

यह सब मत पूछिए - यह कह कर चल गयी ज्योत्स्नामयी माँ।

आकाश गमन गुटिका

चौदहवीं और अट्ठारहवीं शताब्दी के बीच चिकित्सा शास्त्र पर कुछ पुस्तकें लिखी गयीं। इन रचनाकारों ने पारद से एक ऐसी गुटिका के निर्माण की विधियां लिखी हैं जिससे आकाशगमन यानी खेचरत्व की सिद्ध प्राप्त हो जाती हैं। वास्तव में ये पुस्तकें प्राचीन विद्याओं की स्मृति मात्र हैं। जिन्हें संकलित करना रचनाकारों ने अपना कर्तव्य समझा। कुछ प्राचीन विधियां अभी ज्ञात हैं, यदि उन्हें सही ढंग से प्रयोग मे लाया जाय तो आकाश में उड़ने की शक्तिप्राप्त हो सकती है। ऐसी ही एक विधि आठवी शताब्दी में शंकराचार्य के गुरु श्रीमद्भगवत्गोविन्दपादाचार्य द्वार लिखी गयी है। (देखे रस हृदय तंत्र) उनकी विधि के अनुसार बनी गुटिका खेचरी गुटिका कहलाती है। खेचरी गुटिका को मुख में रखते ही अपना प्रभाव वह दिखाती है। गोविन्दपादाचार्य की विधि कठिन अवश्य है क्योंकि खेचरी गुटिका बनाने की विधि इसमे सूत्र रूप में हैं। गुरु के बिना इसे सफलतापूर्वक कर पाना शायद ही सम्भव हो सके। पारद को धूम बंधी भी बना सकना अत्यन्त कठिन हैं। फिर तत्वों के पारण, मारण क्रिया भी कोई नहीं जानता। यदि पुस्तकों की सहायता से ये क्रियायें की भी जाय तब भी सिद्ध गुरु की आवश्यकता बनी रहेगी। लेकिन विद्वान एवं विनम्र रस शास्त्री अपने विवेक की सहायता से तथा कठोर परिश्रम कर इस क्रिया को सफलतापूर्वक सम्पन्न कर सकते हैं।

उड़ने की शक्ति का रहस्य

आकाश गमन की शक्ति दो प्रकार से प्राप्त होती है - पारद गुटिका द्वारा और खेचरी मुद्रा की सिद्धि द्वारा। पहला तंत्र का विषय है और दूसरा है योग

का विषय। किन्तु प्रश्न यह है कि पारद में उड़ने का विचित्र गुण कैसे पैदा होता है? क्या इसे समझाया जा सकता हैं? यदि इसका सिद्धान्त समझ में आ जाय तो फिर आसानी से पारद गुटिका बनाई जा सकती हैं।

मेरे इस जिज्ञासा का समाधान करती हुई ज्योत्स्नामयी माँ बोली - सम्पूर्ण जगत पांच तत्वों से मिल कर बना है। समस्त वस्तुएं दो प्रकार की हैं - जड़ और चेतन। चेतन वस्तुओं में एक अनिवार्य बात यह है कि इनमें पाचों मूल तत्व किसी न किसी अनुपात में उपस्थित रहते हैं। तथा उनका अनुपात बदलता रहता है। जड़ वस्तुओं में ये पांचो मूल तत्व प्राय: एक साथ नहीं पाये जाते। यदि किसी वस्तु में मिलते भी हैं तो उनका अनुपात बदलता नहीं। यदि ऐसी विधि ज्ञात हो जाय कि पांचो मूल तत्व रखने वाले जड़ वस्तु में तत्वों का अनुपात बदला जा सके तो वस्तु चेतन प्राणी की तरह व्यवहार कर सकती हैं। इस परिकल्पना को पारे पर साकार करने का प्रयत्न किया गया। क्योंकि इस दुर्लभ पदार्थ में पांचो तत्व उपस्थित थे। अन्य पदार्थों का इस पर चमत्कारी प्रभाव भी पड़ता था। ऋषियों ने सोचा - अगर प्रकृति पांच मूल तत्वों से मिलकर बनी है तो पृथ्वी पर भी ऐसे पांच पदार्थ अवश्य होंगे - जिनमें अलग-अलग पांचो तत्वों के गुण हों। कठोर परिश्रम द्वारा अन्त में वे पांच पदार्थ खोज ही लिए गये। आकाश तत्व के सारे गुण अभ्रक में पाये गये। पांचो पदार्थों को पारा के साथ मिला कर परीक्षा की गयी तो वास्तव में पता चला कि वही पारा अब अत्यन्त विचित्र और कुछ चेतन जैसी रहस्यमयी शक्तियों से परिपूर्ण हो गया है। उदाहरणार्थ जब पारे से उड़ने की शक्ति ऋषियों ने पैदा करनी चाही तो उन्हें ज्ञात हुआ कि पारे में आकाश तत्व यानी अभ्रक का योग विशेष रूप से करना पड़ता है - यानी जैसे गुण चाहिए वैसे ही गुण वाले पदार्थों का एक विशेष मेल बस। फिर क्या था, रहस्य का दरवाजा खुल गया और पारे से वही आठो सिद्धियां और नौ निवधियां प्राप्त कर ली गयी। जो किसी योगी के परिश्रम करने पर भी एक ही जन्म में नहीं मिल पाती।

वैज्ञानिक दृष्टि में

आधुनिक विज्ञान के आधार पर पारे के आकाश गमन की व्याख्या कर पाना बहुत कठिन है। ऋषियों का तरीका एक सीमा तक रसायन, नाभिकीय, भौतिकी तथा तत्व ज्ञान (मेटाफिजिक्स) का मिला जुला रूप था। फिर भी क्वाण्टम भौतिकी के आधार पर अंशत: इसे समझाया जा सकता है।

क्वाण्टम यांत्रिकी के अनुसार पारे के परमाणु के नाभिक में प्रोटान अस्सी तथा न्यूट्रान एक सौ बीस होते हैं। यह एक ऐसा तत्व हैं जिससे आगे के तत्वों

में नाभिक उत्तरोत्तर कमजोर होता जाता हैं। तथा पीछे के तत्वों से नाभिक मजबूत होता जाता है। अब यदि पारे के परमाणुओं का संयोग अभ्रक जैसे धन विद्युतीय पदार्थ से कर दें तो अभ्रक और पारे के परमाणुओं के बीच दो 'बल' काम करेगा – एक तो हटाव बल और दूसरा आणविक बल। इस कारण पारा वद्ध हो जायेगा और अग्नि का उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा।

अब यदि पारे के साथ चुम्बक पत्थर तथा तांबा, सोना आदि के परमाणुओं का संयोग काराया जाय तो प्रबल खिंचाव के कारण कुछ इलेक्ट्रान नाभिक के भीतर पहुच जाते हैं और पारे के भौतिक गुणों में परिवर्तन आ जाता है। ये अतिरिक्त कण नाभिक के भीतर पहुच कर प्रोट्रान और न्यूट्रानों के अनुपातों को बदलते हैं। जब यह अनुपात 1, 3, 5 से अधिक हो जाता है तो पारा 'रेडियो एक्टिव' बन जाता हैं। इस प्रकार पारे का नाभिक सूक्ष्म गामा किरणों के उत्सर्जन का एक एक स्थायी स्रोत बन जाता हें।

अब जब पारे का नाभिक ऊर्जा के स्रोत की भांति भी व्यवहार करे और अभ्रक के परमाणुओ द्वारा वैक्ष्युत हठाव का भी अनुभव करे तो इन दोनों विपरीत बलों के कारण उसका जड़त्व समाप्त हो जाता हैं तथा उसमें संलग्न वस्तुओं का जड़त्व शून्य करने की क्षमता भी आ जाती हैं।

इस तरह पारे से आकाश गमन की क्रिया पूर्ण होती हैं। प्राचीन और आधुनिक दोनों दृष्टिकोणों से विचार करके यही निष्कर्ष निकलता है कि पारा से आकाश गमन सम्भव है। प्राचीन ग्रन्थों में दिया गया आकाश गमन का वर्णन भी कल्पना नही है। यह वास्तव में एक सत्य और पूर्णत: वैज्ञानिक है तकनीक है।

जड़ी बूटी का चमत्कार

लगभग एक सप्ताह ज्योत्स्नामयी माँ के सानिध्य में रहा मैं। इस अवधि में आकाशगमन के अतिरिक्त अन्य रहस्यमयी गुह्य विद्याओं पर उनसे मेरी चर्चा हुई। जिन्हें स्थानाभाव के कारण यहाँ लिपिबद्ध कर सकने में असमर्थ हूँ मैं। लेकिन इस अवधि में मैं भलीभांति समझ गया कि ज्योत्स्नामयी माँ एक उच्चकोटि की लेकिन रहस्यमयी योग साधिका थी इसमें सन्देह नहीं। और उन्होंने अपने गुरु से खेचरी क्रिया उपलब्ध की थी जिसकी सहायता से आकाश गमन करती थी वे इच्छानुसार। उन्होंने बतलाया कि पारद बल से, खेचरी बल से केवल भौतिक क्षेत्रों की ही यात्रा सम्भव हैं। अभौतिक सत्ता में प्रवेश इनके द्वारा सम्भव नहीं। जिस योगी को स्थूल शरीर से सूक्ष्म शरीर अलग करने की कला ज्ञात है वही विशेष खेचरी क्रिया द्वारा अभौतिक सत्ता में सूक्ष्म शरीर द्वारा प्रवेश कर सकता है।

पहाड़ों पर होने वाली वर्षा समाप्त हो चुकी थी। लेकिन नीचे स्थान-स्थान पर मार्ग में पानी भरा हुआ था। मुझे अब लौटना आवश्यक था। ज्योत्स्ना माँ बोली - चिन्ता की बात नहीं। गजानन देव तुमको बिना किसी कष्ट के किशोरी माँ के आश्रम तक पहुँचा देगा। गजानन देव उसी सन्यासी का नाम था - जो पहली बार मिला था मुझे।

दूसरे दिन प्रातः काल गजानन देव पास के पर्वतीय जंगलो से बहुत सी जड़ी बूटी और लताएं ले आया और उन्हें कूट पीस कर उसका घोल तैयार किया। उस घोल को तो आधा स्वयं पीया और शेष आधा मुझे पिलाया। घोल थोड़ा कड़वा अवश्य लगा लेकिन पी गया मैं। घोल क्यों पीया और मुझे भी क्यों पिलाया - इस संबंध में कुछ नहीं बतलाया उसने।

दोपहर के समय ज्योत्स्नामयी माँ से विदा ली, उनका चरण स्पर्श कर आशीर्वाद लिया उनका मैंने और चल पड़ा पोखरा के लिए गजानन देव के साथ। चलते समय लगा जैसे फूल की तरह हल्का हो गया है मेरा पूरा शरीर। एक नवीन स्फूर्ति का संचार भी हो गया शरीर में। लगता था जैसे मैं भूमि पर नहीं बल्कि भूमि के ऊपर अधर में चल रहा हूँ लगभग यही स्थिति गजानन देव की भी थी। उस समय मुझे घोर आश्चर्य हुआ जब कि पूरे दिन के मार्ग को केवल दो ही घंटे में पूरा कर पहुँच गया मैं पोखरा। न थकान का अनुभव हुआ और न तो स्फूर्ति में ही कमी आयी।

किशोरी माँ अस्वस्थ हो गयी। ज्वर हो आया था उन्हें। सारा शरीर तप रहा जैसे। अपने आसन पर लेटी हुई थीं। मुझे देखकर उठ बैठी, बोली - काठमाण्डू न जा सकूंगी मैं तुम्हारे साथ इस अवस्था में। गजानन पहुँचा देगा तुमको। किशोरी माँ का स्वर कांप रहा था। जैसे! मैं उनके सिरहाने बैठ गया और बोला - आप चिन्ता न करे। गजानन को लेकर चला जाऊँगा मैं काठमाण्डू। यह कह कर किशोरी माँ का पैर दबाने लगा मैं धीरे-धीरे। लगा जैसे स्वयं साक्षात् जगदम्बा का ही चरण दबा रहा हूँ मैं। मन को और आत्मा को बड़ी शान्ति मिल रही थी उस समय।

थोड़ी देर बाद किशोरी माँ बोली अरे अब, बस कर। लगता हैं पैर दबाकर मेरी साधना ले लेगा तू सब। फिर हंसने लगी। सहसा उन्हें कुछ याद आया, बोली-कल एक नवयुवती तुमको खोजती हुई आयी थीं। यहाँ। बहुत सुन्दर थी वह। अपने साथ एक गठरी लायी थी तुमको देने के लिए। कहने लगी काशी वाले बाबा को दे देना यह गठरी। भूल आये थे शरहद पर अपनी गठरी। कई बार नाम पूछा लेकिन नाम नहीं बतलायी, सिर झुकाये मौन साधे चली गयी न जाने कब। बड़ी ही रहस्यमयी लगी थी वह युवती मुझे।

अद्‌भुत चमत्कार

युवती ... गठरी ... कैसी गठरी? सोचने लगा मैं ... शरहद पर कौन गठरी छोड़ आया था? मेरे पास तो कोई गठरी नहीं थी। किशोरी माँ के एक शिष्य ने मेरे सामने ला कर एक बड़ी-सी गठरी रख दी। खोलकर देखा मैने। घोर आश्चर्य से भर उठा मैं। गठरी के भीतर दो ऊनी शाल थे, दो धोतियां थी दो रेशमी चादर थे और थे दो कीमती कम्बल भी। इन सबके अतिरिक्त हाथी छाप वाले सौ-सौ के बीस नोट भी थे बिल्कुल नये-नये। न जाने कब तक भौचक्का-सा देखता रहा उन सारे सामानों को मैं। कौन थी वह युवती? और उसी समय एक सुपरिचित सुगंध बिखर गयी मेरे अस्तित्व के चारो ओर। समझते देर न लगी फिर मुझे। वह युवती और कोई नहीं राजकुमारी सीच्यांग थी। एकाएक मेरी आँखे भर-भरा आयीं। मुझे कपड़े और रूपये की अति आवश्यकता थी। यदि राजकुमारी सीच्यांग की अगोचर सहयोग न मिला होता तो इस कंगाल को भला कौन पूछता नेपाल में? जब वाराणसी से चला था तो सात सौ पैसठ रूपये की गर्मी थी। अब वह गर्मी नहीं रह गयी थी। जेब में कुल तीन रूपये बारह आने शेष बचे थें।

गठरी उठाया। किशोरी माँ के चरणों का स्पर्श कर आशीर्वाद लिया और चल पड़ा गजानन देव के साथ काठमाण्डू के लिए। इस बार भी चमत्कार हुआ। पोखरा से काठमाण्डू की लम्बी यात्रा न जाने कब और कैसे पूरी हो गयी समझ में नहीं आया। जब मैं काठमाण्डू पहुँचा उस समय रात के आठ बजे थे। गजानन देव के एक परिचित के यहाँ रात्रि व्यतीत कर प्रात: वाग्मती में स्नान और माँ गुह्येश्वरी का दर्शन करना न भूला। गजानन देव जब जाने लगा तो मैंने उससे यह पूछे बिना न रह सका कि इतनी लम्बी कष्टदायिनी पहाड़ी और जंगली यात्रा कैसे इतने कम समय में पूरी हो गयी?

मेरी बात सुनकर हंसने लगा गजानन देव। थोड़ा रूक कर बोला - जड़ी बूटी का जो घोल पीया गया था न चलते समय। उसी का प्रभाव था सब। अच्छा नमस्कार। अब मैं वापस चला यह कर गजानन देव मुड़ा और चला गया। कुछ दूर तक उसे जाते हुए देखता रहा मैं।

और अब अन्त में

अर्धरात्रि का समय।

शरद् पूर्णिमा का रुपहला चांद नीले आकाश में काफी ऊपर आ गया था। उसकी धवल चांदनी पसरी हुई थी चारों तरफ धरती पर। उदास और निस्तब्ध वातावरण को भेदती हुई अपने समय की सबसे अधिक द्रुतगामी ट्रेन ब्लू मेल अपनी

गति से आगे बढ़ता जा रहा था। प्रथम श्रेणी के कम्पार्टमेन्ट की खिड़की के पास बैठा मैं चांद को अपलक निहार रहा था गालो पर हाथ धरे। और सोच रहा था पूरे तीन वर्ष सात मास की जीवन मरण दायिनी हिम यात्रा और उस यात्रा की आध्यात्मिक तथा दर्शनिक उपलब्धियों का यह दीर्घ कथा - प्रसंग क्या यहीं समाप्त हो जायेगा?

'नहीं ऐसा नहीं हो सकता। मेरे जैसा आध्यात्मिक उद्देश्य लेकर भविष्य में कभी न कभी तिब्बत की हिम भूमि पर निश्चय ही कोई आकुल और अशान्त व्यक्ति के पदचिन्ह अंकित होंगे इसमें सन्देह नहीं, और निश्चित ही वह मुझसे कहीं अधिक यहाँ की प्रच्छन्न और अप्रच्छन्न आध्यात्मिक सम्पत्ति विपुल मात्रा उपलब्ध करेगा, इसमे भी सन्देह नहीं। इतनी लम्बी अवधि के हिम प्रवास का समय कब और कैसे व्यतीत हो गया, पता ही न चला। जहाँ शरीर क्लान्त, शिथिल और अति दुर्बल हो गया था, वहीं मन, स्थिर और शान्त हो गया था अपने आप। लगा जैसे अपने आपमे पूर्ण तृप्त हो गया हो वह। लेकिन आत्मा तो अभी भी अतृप्त ही थी। क्योंकि आत्मा का भोजन एक मात्र ज्ञान है। ज्ञान को वह जितना अर्जित करती जाती हैं उतनी ही उसकी क्षुधा बढ़ती ही जाती हैं। इसमें सन्देह नहीं। कब और किस जन्म में मेरी आत्मा तृप्त होगी और कब किस जन्म में उसकी क्षुधा शान्त होगी? समझ में नहीं आता। छोटे-छोटे बादलों के रुई जैसे सफेद टुकड़े चांद को चारो ओर चक्कर काट रहे हैं और उन्हें को देखते-देखते आंखे बन्द कर लेता हूँ मैं और न जाने कब झपकी लग जाती हैं मुझे और उसी अर्ध तन्द्रिल अवस्था में अपने सामने मुस्कराती हुई खड़ी देखता हूँ महातपस्विनी योगसिद्ध दिव्यमाया की छवि को। जैसे मन ही मन वह कह रही हो प्रतीक्षा करिए, समय आने पर अवश्य मैं मिलूंगी आपसे। जैसे मैंने भी मन ही मन कहा - अवश्य प्रतीक्षा करुंगा मैं।

पं. अरुण कुमार शर्मा की अन्य महत्वपूर्ण मौलिक कृतियाँ

- तीसरा नेत्र
  (प्रथम एवं द्वितीय खण्ड)
- मारण पात्र
  संशोधित एवं परिवर्धित संस्करण (अधिक पृष्ठ और अधिक सामग्री)
- कुण्डलिनी शक्ति
- परलोक विज्ञान
- अभौतिक सत्ता में प्रवेश
- मरणोत्तर जीवन का रहस्य
- आकाश चारिणी
  (योग तंत्र कथा प्रसंग)
- काशी का वह रहस्यमय तांत्रिक सन्यासी
  (रहस्यमय तांत्रिक कथा)
- काल पात्र
  (योग तंत्र के गूढ़ और गोपनीय प्रसंग)
- शव साधना
  (तंत्र मंत्र कथा प्रसंग)
- मै छली गयी
  (रहस्यमय तांत्रिक कथा)
- तिब्बत की वह रहस्यमयी घाटी
  (तंत्र मंत्र कथा प्रसंग)
- मृतात्माओं से सम्पर्क
  (भूत प्रेत कथा प्रसंग)
- वह रहस्यमय कापालिक मठ
  (तंत्र मंत्र कथा प्रसंग)

पुस्तक प्राप्ति स्थान -

आगम निगम संस्थान

बी. 5/23, अवधगर्बी, हरिश्चन्द्र रोड, वाराणसी, यू.पी.

दूरभाष : 0542 - 312293